6

# आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रन्थावली



सम्पादक

ओमप्रकाश सिंह

आ. रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के पहले व्यवस्थित समालोचक के रूप में समादृत हैं। उन्होंने पहली बार हिन्दी साहित्य-शास्त्र को ठोस आधार प्रदान किया है। आ. शुक्ल के लेखन की शुरुआत नाटक, कविता, कहानी, निबन्ध और अनुवाद से हुई थी। हिन्दी शब्दसागर के सहायक सम्पादक के रूप में सफल कोशकार का परिचय भी उन्होंने अपने प्रारम्भिक साहित्यिक जीवन में ही दे दिया था। हिन्दी के अलावा आ. शुक्ल ने अंगरेजी में भी कुछ लेख, समीक्षाएँ आदि लिखी थीं। यह जरूर है कि आलोचक और साहित्य के इतिहासकार के रूप में उनकी जितनी चर्चा हुई, उतनी अन्य रूपों में नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि हम समीक्षक और साहित्य के इतिहासकार आ. रामचन्द्र शुक्ल से तो परिचित हुए पर कवि, जीवनीकार, अनुवादक रामचन्द्र शुक्ल से या तो अपरिचित रहे या परिचय भी हुआ तो दूर-दूर से।

आ. शुक्ल ने लिखा बहुत पर उनके लेखन का एक बड़ा भाग साहित्य जगत के सामने न आ सका। उनके अनेक लेख पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों में दबे रह गए थे और कुछ तो प्रकाशित भी न हो सके थे। आ. शुक्ल की हस्तलिखित सामग्री के गायब हो जाने की बात आज भी उनके साहित्यिक उत्तराधिकारी करते हैं। यदि आ. शुक्ल का सम्पूर्ण लेखन सामने होता तो न इतने विवाद उठते और न ही उन पर तरह-तरह के आरोप लगते। आज के अनेक विवादों और आरोपों का जवाब उनके अप्रकाशित और असंकलित लेखन में मौजूद था पर वह लोगों के सामने न था।

आ. शुक्ल ग्रन्थावली की योजना कई बार बनी पर ग्रन्थावली छप न सकी। नागरी प्रचारिणी सभा ने तो अपने यहाँ से प्रकाशित उनकी पुस्तकों को ग्रन्थावली का कोई न कोई भाग बना दिया था। इसी तरह सम्पूर्ण निबन्धों के प्रकाशन की बात हुई थी, शुक्ल परिवार से मैटर भी आया पर संग्रह न आया। ऐसे समय में आ. रामचन्द्र शुक्ल की ग्रन्थावली का प्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण काम है।

आठ भागों की इस ग्रन्थावली में आ. रामचन्द्र शुक्ल का सम्पूर्ण प्रकाशित-अप्रकाशित लेखन समाहित है। ग्रन्थावली के प्रकाशन से आ. शुक्ल पर फिर से बातचीत शुरू होगी। इससे अनेक विद्वानों की राय भी बदलेगी, इसमें दो मत नहीं।

# आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रन्थावली-6

# आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रन्थावली-6

## अनुवाद

विश्वप्रपंच
मेगास्थिनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन
राज्यप्रबन्ध शिक्षा

*सम्पादक*
**ओमप्रकाश सिंह**



प्रकाशन संस्थान
नयी दिल्ली-110002

# इस भाग में

इस भाग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा अनूदित तीन पुस्तकें दी जा रही हैं—'विश्वप्रपंच', 'मेगास्थिनीज का भारतवर्षीय वर्णन' और 'राज्यप्रबन्ध शिक्षा'। 'विश्वप्रपंच' जर्मनी के विख्यात प्राणितत्त्ववेत्ता हैकल की पुस्तक 'रिडल आव् द यूनिवर्स' का हिन्दी अनुवाद है। अर्न्स्ट हैकल (1834-1919) प्रसिद्ध प्रकृतिवादी और डारविन के सिद्धांतों के गहरे समर्थक थे। डारविन के सिद्धांतों के समर्थन में उनकी अनेक पुस्तकें निकली थीं जिनमें रिडल आव् द यूनिवर्स' को सर्वाधिक ख्याति मिली। इस पुस्तक का अंगरेजी अनुवाद जोजफ मैककैब ने किया था। आ. शुक्ल ने अंगरेजी अनुवाद से हिन्दी अनुवाद किया था। इस पुस्तक में हैकल ने आत्मा की अमरता तथा ईश्वर के सर्वव्यापी स्वरूप का वैज्ञानिक तर्कों के आधार पर खंडन किया है। आ. शुक्ल का यह अनुवाद विश्वप्रपंच नाम से 1920 ई. में प्रकाशित हुआ था।

'मेगास्थिनीज का भारतवर्षीय वर्णन' पुस्तक 1905 ई. में प्रकाशित हुई थी। इसकी भूमिका के अंत में 10 जुलाई 1905 की तारीख लिखी है। चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस की संधि इतिहासप्रसिद्ध है। इस संधि के अनुसार सिल्यूकस ने काबुल के दक्षिण का सारा देश और अपनी कन्या चन्द्रगुप्त को देना स्वीकार किया और चन्द्रगुप्त ने अपने राजदरबार में एक यूनानी राजदूत रखना स्वीकार किया। सिल्यूकस ने मेगास्थिनीज को राजदूत बनाकर पाटलिपुत्र भेजा। वह पाँच वर्षों तक चन्द्रगुप्त के दरबार में रहा और भारतवर्ष का विवरण 'टा इंडिका' (Ta Indica) शीर्षक से लिखा। समय के प्रवाह में Ta Indica तो लुप्त हो गई पर यूनानी तथा रोमन ग्रंथों में इसके उद्धृत अंश सुरक्षित थे। इन्हीं अंशों को इकट्ठा करके डॉ. श्वानबक ने पुस्तक का रूप दिया। यह पुस्तक 'मेगास्थिनीज इंडिका' के नाम से जानी जाती है। आ. शुक्ल ने डॉ. श्वानबक की इसी पुस्तक

का अनुवाद 'मेगास्थिनीज का भारतवर्षीय वर्णन' नाम से किया है।

राजा सर टी. माधवराव ऐसे व्यक्ति थे जो अपने नीतिबल और व्यवथा कौशल के लिए जाने जाते हैं। देशी राज्यों के प्रबंध में उनकी गहरी गति थी। उनके प्रयास से ट्रावंकोर और बड़ौदा राज्यों की खराब दशा में सुधार हुआ था। आगे चलकर ये दोनों राज्य खूब उन्नति किए। देशी राज्यों की स्थिति में कैसे सुधार हो सकता है, राज्यों का अच्छा संचालन कैसे हो सकता है, इस संदर्भ में उनकी एक पुस्तक है—'माइनर हिंट्स'। आ. शुक्ल ने इसी पुस्तक का अनुवाद 'राज्यप्रबन्ध शिक्षा' नाम से किया है।

आप देखेंगे कि इस भाग में अनूदित कृतियाँ कालक्रमानुसार नहीं रखी गई हैं। 'विश्वप्रपंच' 1920 ई. में छपी थी, पर इसे पहले रखा गया है। इसी तरह 'मेगास्थिनीज का भारतवर्षीय वर्णन' और 'राज्यप्रबन्ध शिक्षा' क्रमशः 1905 और 1913 में छपी थीं। अगर प्रकाशन वर्ष को आधार बनाकर पुस्तकों का क्रम निर्धारित किया गया होता तो वह दूसरा होता। पुस्तकों का क्रम प्रकाशन वर्ष से न रखकर विषय की गम्भीरता और महत्त्व के अनुसार रखने की छूट मैंने ली है। हाँ यह जरूर है कि यथास्थान प्रकाशन वर्ष के उल्लेख पर भी पूरा ध्यान दिया गया है। इति।

अक्टूबर 2006 **—ओमप्रकाश सिंह**

# विषय सूची

## विश्वप्रपंच

## मेगास्थिनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन



### पुस्तक 1

## पुस्तक 2



## पुस्तक 3

**पुस्तक 4**

## राज्यप्रबन्ध शिक्षा

# अनुवाद

# विश्वप्रपंच

# प्रथम संस्करण का वक्तव्य

आज जर्मनी के जगद्विख्यात प्राणितत्त्ववेत्ता हैकल की परम प्रसिद्ध पुस्तक 'रिडल् आव् द यूनिवर्स' हिन्दी पढ़नेवालों के सामने रखी जाती है। यह अनात्मवादी आधिभौतिक पक्ष का सिद्धान्त ग्रन्थ है। इसमें नाना विज्ञानों से प्राप्त उन सब तथ्यों का संग्रह है जिन्हें भूतवादी अपने पक्ष के प्रमाण में उपस्थित करते हैं। जिस समय यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ योरप में इसकी धूम सी मच गई। अकेले जर्मनी में दो महीने के भीतर इसकी 9000 प्रतियाँ खप गईं। योरप की सब भाषाओं में इसके अनुवाद निकले। अँगरेजी की तो लाखों कॉपियाँ पृथ्वी के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक पहुँच गईं। इस पुस्तक ने सबसे अधिक खलबली पादरियों के बीच डाली जिनकी गालियों से भरी हुई सैकड़ों पुस्तकें इसके प्रतिवाद में निकलीं।

पुस्तक में आधुनिक दर्शन और विज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाली जिन जिन बातों का उल्लेख है उन सब की थोड़ी बहुत चर्चा भूमिका में इसलिए कर दी गई है जिसमें अभिप्राय समझने में सुबीता हो। पुस्तक के भीतर भी स्थान स्थान पर टिप्पणियाँ लगा दी गई हैं।

भाषा के सम्बन्ध में इतना कह देना अनुचित न होगा कि उसे केवल हिन्दी या संस्कृत जाननेवाले भी अपनी विचारपद्धति के प्रायः अनुरूप पाएँगे। कौन सा वाक्य किस अँगरेजी वाक्य का अक्षरशः अनुवाद है इसका पता लगाने की जरूरत किसी को न होगी।

—रामचन्द्र शुक्ल

# भूमिका

गत शताब्दी में योरप में ज्यों ज्यों भौतिक विज्ञान, रसायन, भूगर्भविद्या, प्राणिविज्ञान, शरीरविज्ञान इत्यादि के अन्तर्गत नई नई बातों का पता लगने लगा और नए नए सिद्धान्त स्थिर होने लगे त्यों त्यों जगत् के सम्बन्ध में लोगों की जो भावनाएँ थीं वे बदलने लगीं। जहाँ पहले लोग छोटी से छोटी बात के कारण को न पाकर उसे ईश्वर की कृति मान सन्तोष कर लेते थे वहाँ चारों ओर नाना विज्ञानों[1] के द्वारा कार्य कारण की ऐसी विस्तृत श्रृंखला उपस्थित कर दी गई कि किसी को बीच ही में ठिठकने की आवश्यकता न रह गई। ज्ञानदृष्टि को बहुत दूर तक बढ़ाने के लिए मार्ग खुल गया। दूरदर्शक, सूक्ष्मदर्शक, रश्मिविश्लेषक[2] आदि यन्त्रों की सहायता से

---

1. विज्ञान ऐसे विषयों का ज्ञान है जो किसी न किसी प्रकार हमारी इन्द्रियों को प्रत्यक्ष होते हैं। यह शब्द हमारे शास्त्रों में कई अर्थों में आया है। बौद्ध लोग विज्ञान का अर्थ प्रत्यय या भाव लेते हैं जो क्षण क्षण पर उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। गीता में ज्ञान और विज्ञान शब्द कई जगह साथ साथ आए हैं। सातवें अध्याय में भगवान् कहते हैं—'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः'' अर्थात् 'विज्ञान' समेत इस पूरे ज्ञान को मैं तुझसे कहता हूँ। रामानुज ने अपने भाष्य में 'ज्ञानम्' का अर्थ किया है 'मद्विषयमिदं ज्ञानम्' और विज्ञानम् का अर्थ किया है 'विविक्ताकार विषयज्ञानम्।' प्रकृति के नाना रूपों का जो ज्ञान है वही विज्ञान है। आगे चलकर भगवान् ने मन, बुद्धि और अहंकार के सहित पाँचों भूतों को गिना कर कहा है कि यह मेरी अपरा प्रकृति है इससे भिन्न जगत् को धारण करने वाली जीवस्वरूपिणी मेरी परा प्रकृति है। इसी अपरा प्रकृति की व्याख्या आधुनिक विज्ञानों का विषय है जिसके अन्तर्गत भौतिक विज्ञान, रसानक, मनोविज्ञान आदि सब हैं। परा प्रकृति परा विद्या या परदर्शन (मेटाफिजिक्स) का विषय है।
2. ईथर में उत्पन्न आलोकतरंग छोटाई बड़ाई के हिसाब से अनेक प्रकार के होते हैं। इसी छोटाई बड़ाई के हिसाब से आलोक रेखाएँ अनेक रंगों की होती हैं। किसी ओर से आते हुए प्रकाश की किरनों को यदि हम झाड़ के लटकन के तिकोने शीशे में देखें तो उसमें अनेक रंग दिखाई पड़ते हैं। बात यह है कि उसके कोनों पर किरनें विकीर्ण हो जाती हैं जिससे भिन्न भिन्न रंगों की आलोक रेखाएँ अलग अलग दिखाई देने लगती हैं। रश्मिविश्लेषक यन्त्र में भी किरनें इसी प्रकार विकर्ण की जाती हैं जिससे भिन्न भिन्न रंगों की रेखाएँ पड़ जाती हैं। किस प्रकार के द्रव्य से किस प्रकार की रेखाएँ आती हैं और →

हमारी दृष्टि अत्यन्त विस्तृत और सूक्ष्म हो गई। दूरदर्शक यन्त्रों द्वारा अन्तरिक्ष के बीच अनन्त लोकपिंडों का पता लगा, उनकी स्थिति के क्रम का आभास मिला और रश्मिविश्लेषक यन्त्र द्वारा यह प्रत्यक्ष हो गया कि जिन मूलभूतों या द्रव्यों से हमारी पृथ्वी बनी है उन्हीं द्रव्यों से सब लोकपिंड बने हैं, उनमें कोई अतिरिक्त द्रव्य नहीं है। पहले पृथ्वी, जल, वायु आदि के आगे लोगों की दृष्टि नहीं जाती थी अब रसायन शास्त्र के विश्लेषणों द्वारा जल और वायु आदि की योजना करनेवाले मूलभूतों या द्रव्यों तक हमारी पहुँच हो गई है। भौतिक विज्ञान ने समस्त जड़ जगत् को द्रव्य और गति शक्ति का कार्य सिद्ध कर दिया है।

द्रव्य[1] को नाना रूपों में हम अपने चारों ओर देखते हैं। हवा, पानी, पत्थर, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र इत्यादि सब द्रव्य के ही भिन्न भिन्न रूप हैं। द्रव्य में हम गति भी देखते हैं। हवा का चलना, पानी का बहना, पत्थर का लुढ़कना, पत्ते का गिरना, लपेटी हुई कमानी का खुलना, कोयले का दहकना, बारूद का भड़कना सब गति के ही नाना रूप हैं। द्रव्य और गतिशक्ति इन्हीं दो को लेकर अपनी सूक्ष्म परीक्षाओं द्वारा वैज्ञानिक समस्त व्यापारों के कारण आदि की व्याख्या करते हैं। जिस प्रकार द्रव्य एक अवस्था से दूसरी अवस्था में—ठोस से द्रव, द्रव से वायव्य, वायव्य से द्रव, द्रव से ठोस अवस्था में—लाया जा सकता है उसी प्रकार गतिशक्ति भी एक रूप से दूसरे रूप में लाई जा सकती है। गति ताप के रूप में परिवर्तित हो सकती है, ताप विद्युत् के रूप में, विद्युत् ताप और प्रकाश के रूप में। राँगे और ताँबे को जोड़कर अगर एक कोना गरम करें और दूसरे को ठंढा रखें तो बिजली पैदा हो जायगी। चकमक के क्षेत्र में किसी धातु को घुमाने से भी बिजली उत्पन्न होती है। यदि वेग से आते हुए पत्थर के गोले को हम दूसरे पत्थर से बीच ही में रोक लें तो पहले पत्थर की गतिशक्ति रुकने से क्या हुई? क्या नष्ट हो गई? नहीं, वह ताप के रूप में परिवर्तित हो गई। दो वस्तुओं की रगड़ से जो गरमी पैदा होती है उसका अनुभव हमें नित्य होता है। इस गरमी के पैदा होने का मतलब यही है कि रगड़ की जो गति है उसने ताप का रूप धारण कर लिया। कोई शक्ति क्रियमाण होकर एक द्रव्यखंड

---

→ किस प्रकार के द्रव्य किस प्रकार की रेखाओं को लीन कर लेते हैं यह मालूम होने से वैज्ञानिक इन रेखाओं की परीक्षा द्वारा इसका पता लगा लेते हैं कि यह आनेवाला प्रकाश किस द्रव्य से होकर आ रहा है। इसी युक्ति से दूर से दूर के ग्रहों, नक्षत्रों आदि से आते हुए प्रकाश की परीक्षा करके वे बताते हैं कि उनमें कौन कौन से मूल द्रव्य हैं। सूर्य के वायुमण्डल में चाँदी, लोहा, सीसा, राँगा, जस्ता, अलुमीनम, सोडियम, पोटासियम, कारबन (अंगारक), हाइड्रोजन आदि 36 मूल द्रव्यों का होना स्थिर किया गया है। इसी प्रकार ग्रहों के सम्बन्ध में समझिए जो सूर्य की अपेक्षा कहीं अधिक निकट है।

1. द्रव्य शब्द का अर्थ केवल भूतसमष्टि के अर्थ में समझिए। वैशेषिक में द्रव्य के अन्तर्गत काल, दिक्, आत्मा और मन भी हैं, पर इसके अन्तर्गत नहीं।

से दूसरे खंड में जाते जाते अन्त में ताप के रूप में होकर आकाश द्रव्य में लय को प्राप्त हो जाती है।

शक्ति या तो निहित वा अव्यक्त रूप में रहती है अथवा व्यक्त वा क्रियमाण रूप में। दोनों छोर मिलाकर पकड़े हुए बेत, पहाड़ की ढाल पर अड़े हुए पत्थर, चाभी दी हुई पर न चलती हुई घड़ी, सूखने के लिए फैलाए हुए कोयले, बोरे में कसी हुई बारूद में जो छटकने, चलने, दहकने और भड़कने की शक्ति है वह अव्यक्त वा निहित है। बेत के छटकने, पत्थर के लुढ़कने, घड़ी के चलने, कोयले के दहकने और बारूद के भड़कने पर वही शक्ति व्यक्त वा क्रियमाण कहलावेगी। गति-शक्ति दो प्रकार की क्रियाएँ करती हैं। यह द्रव्य के पिंडों, अणुओं और परमाणुओं को एक दूसरे की ओर खींचती है अथवा उनको एक दूसरे से हटाकर अलग अलग करती है। पिंडों की एक दूसरे को खींचने की शक्ति लोहे और चुम्बक तथा सूर्य और ग्रहपिंडों आदि के आकर्षण में देखी जाती है। अणुओं के परस्पर मिलने से पिंड, परमाणुओं के परस्पर मिलने से अणु और विद्युदणुओं के परस्पर मिलने से परमाणु बनते हैं। इसी प्रकार जहाँ ठोस वस्तु द्रव्य के रूप में आ रही हो, या द्रव्य वस्तु वाष्प या वायव्य रूप में आ रही हो वहाँ यह समझना चाहिए कि विश्लेषण शक्ति अर्थात् अलग करनेवाली शक्ति कार्य कर रही है। शक्ति के सम्बन्ध में यह समझ रखना चाहिए कि यद्यपि द्रव्य के समान उसमें गुरुत्व नहीं होता पर उसके वेग की मात्रा का हिसाब होता है। सेर भर पत्थर उठाने में जितनी शक्ति लगती है दो सेर बोझ उठाने में उससे दूनी शक्ति लगेगी। चलती हुई वस्तुओं का धीमा और तेज होना, गरमी का घटना बढ़ना हम नित्य ही देखते हैं।

द्रव्य के अन्तर्गत कोई 78 मूल द्रव्य या मूलभूत माने गए हैं जिनमें कुछ धातुएँ हैं जैसे, सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, सीसा, राँगा, पारा, निकल, जस्ता, अलुमीनम कुछ और खनिज हैं जैसे, गन्धक, संखिया, सुरमा, मगनीशिया, और कुछ वायव्य द्रव्य हैं जैसे, ऑक्सिजन, हाइट्रोजिन, नाइट्रोजन इत्यादि। ये ही 78 मूल द्रव्य आधुनिक रसायन शास्त्र के अनुसार मूल उपादान हैं जिनके परमाणुओं के योग से जगत् के नाना प्रकार के पदार्थ बने हैं। अतः जितने ये मूल द्रव्य हैं उतने ही प्रकार के परमाणु हुए। एक प्रकार के परमाणु के साथ दूसरे प्रकार के परमाणु के मिलने से एक तीसरे रूप के द्रव्य का प्रादुर्भाव होता है—जैसे ऑक्सिजन और हाइड्रोजन नामक मूल द्रव्यों के परमाणुओं के योग से जल की उत्पत्ति होती है। पर ध्यान रखना चाहिए कि यह परिणाम एक विशिष्ट मात्रा में परमाणुओं के मिलने से होता है। जैसे जल का यदि हम रासायनिक विश्लेषण करें तो उसमें हमें 16 भाग ऑक्सिजन गैस और 2 भाग हाइड्रोजन गैस[1] मिलेगा। इसी प्रकार यदि हम नमक का विश्लेषण करें तो हमें

1. जस्ते को तेजाब में गला कर यह गैस निकाली जा सकती है।

हमें $35\frac{1}{3}$ भाग क्लोराइन और 23 भाग सोडियम मिलेगा। परमाणुओं का मिश्रण ही रासायनिक मिश्रण कहलाता है।[1] परमाणुओं के मिलने से ही रासायनिक क्रिया होती है। भिन्न भिन्न परमाणुओं की भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रवृत्ति होती है जिसके अनुसार कुछ परमाणु कुछ परमाणुओं के साथ मिलते हैं और कुछ के साथ नहीं। इसी को रासायनिक प्रवृत्ति या राग कहते हैं।

परमाणु हैं क्या? नमक का एक टुकड़ा लीजिए और देखिए तो वह अत्यन्त सूक्ष्म कणों से मिलकर बना हुआ पाया जायगा। इन कणों के तब तक और टुकड़े करते जाइए जब तक टुकड़ों में नमकपन बना रहे। इस प्रकार जब टुकड़े अन्तिम दशा को पहुँच जायँ अर्थात् ऐसे टुकड़े हो जायँ जिनके और टुकड़े करने से उनमें नमक का गुण न रह जायगा तब हम ऐसे टुकड़ों को अणु कहेंगे। ये अणु नमक ही रहेंगे। फिर इन अणुओं के भी यदि हम और टुकड़े करेंगे तो वे परमाणु होंगे और नमक न रह जायँगे अर्थात् उनमें से कुछ क्लोराइन के परमाणु होंगे और कुछ सोडियम के। इसी से कहा जाता है कि क्लोराइन और सोडियम के रासायनिक मिश्रण से—अर्थात् परमाणुओं के मिश्रण से—नमक बनता है। अतः नमक एक यौगिक पदार्थ है, मूल द्रव्य नहीं। पर यदि हम मूल द्रव्यों में से कोई एक लेकर उसका परमाणुओं तक विश्लेषण करें तो हमें उसी द्रव्य के परमाणु मिलेंगे और किसी द्रव्य के साथ दूसरे मूल द्रव्य किस प्रकार और किस परिमाण में मिलते हैं तथा मिलने से क्या परिणाम होते हैं इन सब बातों का विचार करनेवाला शास्त्र रसायनशास्त्र कहलाता है। भौतिक विज्ञान द्रव्य के सामान्य गुण तथा गतिशक्ति के नियमों और विधानों का निरूपण करता है। इस प्रकार आजकल प्राकृतिक विज्ञान की दो प्रधान शाखाएँ हैं।

परमाणु नाम पड़ा क्यों? पहले लोगों की धारणा थी कि परमाणु द्रव्य के सूक्ष्मत्व की चरम सीमा है। परमाणु के और टुकड़े हो ही नहीं सकते। परमाणु अखंड तथा नित्य हैं। दार्शनिकों ने तो परमाणु की कल्पना अनवस्था से बचने के लिए ही की थी। पहले लोगों को परमाणुओं के बनने बिगड़ने या खंड खंड होने के प्रमाण नहीं मिले थे। पर इधर युरेनियम, रेडियम आदि कई नए मूल द्रव्यों के मिलने से ऐसे प्रमाण भी मिल गए। उनके परमाणुओं की परीक्षा से पता चला कि भारी परमाणु

1. साधारण मिश्रण से रासायनिक मिश्रण भिन्न होता है। साधारण मिश्रण में दो पदार्थों के अणु ही देखने में मिले मालूम होते हैं, पर दोनों पदार्थ अलग अलग पहचाने जा सकते हैं। पर रासायनिक मिश्रण में एक के अणुओं के परमाणु निकल निकल कर दूसरे के अणुओं के निकले हुए परमाणुओं से मिल जाते हैं जिससे एक तीसरे पदार्थ की उत्पत्ति होती है। जैसे, गन्धक के चूर्ण के साथ लौहचूर्ण मिला कर यों ही रख दें तो यह साधारण मिश्रण होगा। इसी मिश्रण को यदि खूब तपावें जिससे अणु टूट जायँ और परमाणु अलग अलग हो जायँ तो दोनों के परमाणुओं के मिलने से एक नए प्रकार के पदार्थ की उत्पत्ति होगी। यह मिश्रण रासायनिक होगा।

के कण अत्यन्त वेग से उड़ते जाते हैं और फिर मिलकर हलके परमाणु बनाते जाते हैं। ये कण विद्युदणु कहलाते हैं। इन्हीं के मिलने से परमाणुओं की योजना होती है।

मूलभूत और परमाणु की कल्पना इसी रीति पर हमारे यहाँ के वैशेषिक दर्शन में भी हुई है। द्रव्यखंड के टुकड़े करते करते हम ऐसे टुकड़ों तक पहुँचेंगे जिनके और टुकड़े यदि हम करें तो वे अगोचर हो जायँगे। ये ही अगोचर टुकड़े परमाणु होंगे तथा इनके और टुकड़े न हो सकेंगे। वैशेषिक के अनुसार परमाणु नित्य और अक्षर हैं। इन्हीं की योजना से सब पदार्थ बनते हैं और सृष्टि होती है। आकाश को छोड़ जितने प्रकार के भूत होते हैं उतने ही प्रकार के परमाणु होते हैं—यथा, पृथ्वीपरमाणु, जलपरमाणु, तेजपरमाणु और वायुपरमाणु। परमाणु रूप में, आकाश के समान, शेष चारों भूत भी नित्य हैं। आधुनिक विज्ञान ने पृथ्वी, जल और वायु को द्रव्य का अवस्थाभेद सिद्ध किया और तेज को गतिशक्ति का एक रूप मात्र। अतः परमाणु भी चार प्रकार के नहीं, अठहत्तर प्रकार के ठहराए गए। कुछ लोग नई बातों के साथ पुरानी बातों का अविरोध सिद्ध करने के लिए भूतों को ठोस, द्रव, वायव्य और अतिवायव्य अवस्थाओं के सूचक मात्र कहने लगे हैं। पर परमाणुओं के वर्गीकरण की ओर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो सकता है कि वैशेषिक का अभिप्राय अवस्था-भेद नहीं है गुणभेद के अनुसार द्रव्यभेद ही है—जैसे, जल में सांसिद्धिक या स्वाभाविक द्रवत्व का गुण है अतः वह एक मूल द्रव्य है। पर आधुनिक रसायनशास्त्र ने जल को किस प्रकार यौगिक सिद्ध किया है यह ऊपर कहा जा चुका है। मूलभूतों और परमाणुओं का सम्बन्ध वैशेषिक ने उसी रीति से निर्धारित किया है जिस रीति से आधुनिक रसायनशास्त्र ने किया है। यह हमारे लिए कम गौरव की बात नहीं है। ब्योरा ठीक न मिलने के कारण इस पर परदा डालने की जरूरत नहीं।

वैशषिक में दो परमाणुओं के योग को द्व्यणुक कहते हैं। आगे चल कर ये ही द्व्यणुक अधिक संख्या में मिलते जाते हैं जिससे नाना प्रकार के पदार्थ बनते हैं—जैसे, तीन द्व्यणुकों से त्रसरेणु, चार द्व्यणुकों से चतुरणुक इत्यादि। कारणगुणपूर्वक ही कार्य के गुण होते हैं अतः जिस गुण के परमाणु होंगे उसी गुण के उनसे बने पदार्थ होंगे। पदार्थों में जो नाना भेद दिखाई पड़ते हैं वे सन्निवेश भेद से होते हैं। तेज के सम्बन्ध से वस्तुओं के गुण में बहुत कुछ फेरफार हो जाता है—जैसे, कच्चा घड़ा पकने पर लाल हो जाता है।

परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता। परमाणु की बात छोड़ दीजिए, अणुओं की सूक्ष्मता भी कल्पनातीत है। तीव्र से तीव्र सूक्ष्मदर्शक यन्त्र उनका दर्शन नहीं करा सकते। उनका निरूपण उनके कार्यों द्वारा गणित आदि के सहारे से ही किया जाता है। जल का ही अणु लीजिए जो इंच के $\frac{1}{5000,000,00}$ भाग के बराबर होता है। अब इस अणु की योजना करने वाले परमाणुओं की सूक्ष्मता का इसी से अन्दाजा कर लीजिए।

विद्युदणु तो उनसे भी सूक्ष्म हैं। हिसाब लगाया गया है कि हाइड्रोजन के एक परमाणु में 16000 और रेडियम के एक परमाणु में 160000 विद्युदणु होते हैं। इन विद्युदणुओं के बीच का अन्तर उनकी सूक्ष्मता के हिसाब से बहुत अधिक होता है—उतना ही होता है जितना सौरजगत् के ग्रहों के बीच होता है[1]। अपने परमाणु-जगत् के अन्तरिक्ष में ये परस्पर शक्ति-सम्बद्ध होकर निरन्तर उसी प्रकार वेग से भ्रमण करते रहते हैं जिस प्रकार सौर जगत् में ग्रह उपग्रह भ्रमण करते हैं। इसी का नाम है भवचक्र। परमाणु के भीतर भी वही व्यापार हो रहा है जो ब्रह्मांड के भीतर। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' वाली बात समझिए। जो गतिशक्ति आकर्षण और अपसारण के रूप में छोटे से द्रव्यखंड के परमाणुओं को परस्पर सम्बद्ध रखकर भ्रमण कराती है वही समस्त जगत् में नक्षत्रों, ग्रहों और उपग्रहों को अपने पथ पर रखकर चक्कर खिलाती है। शक्ति की इसी दोमुँही चाल से जगत् की स्थिति है। यदि शक्ति अपने एक ही रूप में कार्य करती तो जगत् की यह अनेकरूपता न रहती, या यों कहिए कि जगत् ही न रहता। यदि आकर्षण-क्रिया ही स्वतन्त्र रूप से चलती, उसे बाधा देने वाली अपसारिणी क्रिया न होती तो अखिल विश्व के समस्त परमाणु खिंच कर एक केन्द्र पर मिल जाते और विश्व एक ऐसा अचल, जड़ और ठोस गोला होता जिस पर न नाना प्रकार के पदार्थ होते, न जीवजन्तु और पेड़ पौधे होते और न कोई व्यापार होता। इसी प्रकार यदि केवल अपसारिणी क्रिया ही होती तो विश्व के समस्त परमाणु अलग अलग बिखरे होते, मिलकर जगत् की योजना न करते।

द्रव्य और शक्ति (गति) का नित्य सम्बन्ध है। एक की भावना दूसरे के बिना हो नहीं सकती। न शक्ति के बिना द्रव्य रह सकता है और न द्रव्य के आश्रय के बिना शक्ति कार्य कर सकती है। अपने चारों ओर जो कुछ हम देखते हैं वह सब द्रव्य और शक्ति का ही कार्य है। कोई द्रव्यखंड लीजिए, शक्ति ही से उसकी स्थिति ठहरेगी। जमीन पर पड़ा हुआ एक ढेला ही लीजिए। आपके देखने में तो वह महा जड़ और निष्क्रिय है। पर विचार कर देखिए तो गतिशक्ति की क्रिया बराबर उसमें हो रही है, बल्कि यों कहिए कि उसी क्रिया से ही उसकी स्थिति है। वह जमीन पर पड़ा क्यों है? पृथ्वी की आकर्षणशक्ति से। वह ढेले के रूप में क्यों है? उसके अणु आकर्षणशक्ति द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं।

द्रव्य और शक्ति दोनों अक्षर और अविनाशी हैं। वे अपने एक रूप से दूसरे रूप में जा सकते हैं, पर नष्ट नहीं हो सकते। उनका अभाव नहीं हो सकता। सिद्धान्त

---

1. परमाणुओं के बीच अन्तर की धारणा न होने के कारण वैशेषिक को 'पौलुपाक' नाम का विलक्षण मत ग्रहण करना पड़ा। इस मत के अनुसार घड़ा आग में पड़कर लाल इस प्रकार होता है कि अग्नि के तेज से घड़े के परमाणु अलग अलग हो जाते हैं, फिर लाल होकर मिल जाते हैं। घड़े का यह बिगड़ना और बनना इतने सूक्ष्म काल में होता है कि कोई देख नहीं सकता। न्याय वाले परमाणुओं के बीच अन्तर मान कर ऐसी कल्पना नहीं करते।

यह कि विश्व में जितना द्रव्य है उतना ही सदा से है, और सदा रहेगा—उतने से न घट सकता है, न बढ़ सकता है। इसी प्रकार शक्ति को भी समझिए जो द्रव्य में समवेत है। यह दार्शनिक अनुमान नहीं है, परीक्षासिद्ध सत्य है। मोमबत्ती जल कर नष्ट नहीं हो जाती, धुएँ के रूप में अर्थात् वायव्य रूप में हो जाती है। यदि इस वायव्य पदार्थ को लेकर हम तौलें तो उसकी तौल मोमबत्ती की तौल के बराबर होगी। शक्ति की अक्षरता की परीक्षा इस प्रकार हो सकती है कि किसी बोझ के उठाने में हम कुछ शक्ति व्यय करें और उस शक्ति को ताप के रूप में लाकर ताप की मात्रा नाप लें। फिर कभी उसी बोझ को उठाने में उतनी ही शक्ति लगा कर और उसे ताप के रूप में परिवर्तित करके ताप की मात्रा नापें। ताप की दोनों मात्राएँ समान होंगी।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु भी एक दूसरे को आकर्षित कर रहे हैं और ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदि विशाल लोकपिंड भी। उनके बीच आकर्षण शक्ति बराबर कार्य कर रही है। ग्रहों, नक्षत्रों आदि के बीच जो भारी अन्तर है वह प्रत्यक्ष ही है। अणुओं, परमाणुओं आदि के बीच कितना अन्तर रहता है, यह ऊपर बतलाया ही जा चुका है। यह अन्तर क्या शून्य है? यदि शून्य है तो आकर्षणशक्ति की क्रिया होती किस प्रकार है? क्योंकि ऊपर कहा जा चुका है कि द्रव्य के आश्रय के बिना शक्ति कार्य ही नहीं कर सकती। न्यूटन भी, जिसने योरप में पहले पहल आकर्षण शक्ति का पता पाया था, इस असमंजस में पड़ा था। अन्तरिक्ष के बीच केवल आकर्षणशक्ति कार्य करती हो सो भी नहीं। सूर्य की गरमी और सूर्य का प्रकाश बराबर हम तक पहुँचता है। ताप और प्रकाश भी गतिशक्ति के ही रूप हैं। अतः क्या ये भी शून्य से ही होकर गमन करते हैं। यह हो नहीं सकता। शक्ति के कार्य करने के लिए मध्यस्थ द्रव्य अवश्य चाहिए। इसलिए वैज्ञानिकों को द्रव्य के ऐसे रूप का आरोप करना पड़ा जो अखंड, अनन्त, विभु और विश्वव्यापक हो, जो अण्वात्मक न हो। इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म अखंड और व्यापक द्रव्य का नाम उन्होंने ईथर रखा। आप आकाश द्रव्य कह लीजिए[1] क्योंकि प्रकाश के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है भी। यह सीसे

---

1. वैशेषिक ने आकाश को दिक् (स्पेस) से अलग माना है और उसे भूतों के अन्तर्गत किया है। दिक् किसी वस्तु का समवायिकारण नहीं हो सकता, पर आकाश शब्द का समवायिकारण है। न्याय में उपादान को ही समवायिकारण कहा है, जैसे कपड़े के लिए सूत और कुण्डल के लिए सोना। वैशेषिक के भाष्यकार प्रशस्तपाद ने भी कहा है कि द्रव्यों में जो समवाय रहता है वह तादात्म्य रूप से ही। अतः 'आकाश शब्द का समवायिकारण है' इस बात को यदि आधुनिक भौतिक विज्ञान के शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि 'आकाश द्रव्य की तरंगों से ही शब्द बनते हैं'। आधुनिक भौतिक विज्ञान में शब्द वायुतरंग रूप सिद्ध हुए हैं, क्योंकि आकाश के रहते भी वायु के बिना शब्द नहीं होता। आकाशद्रव्य के तरंगों से प्रकाश की उत्पत्ति होती है। आजकल की इस बात को यदि हम अपने दर्शन के शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि 'आकाश प्रकाश का समवायिकारण है'।

के गोले के परमाणुओं के बीच भी फैला है और ग्रहों-नक्षत्रों के बीच के अन्तरिक्ष में भी। इससे खाली कोई जगह नहीं। यह सर्वत्र अखंड और एकरस है।

ईथर को दिक् के समान एक शून्य कल्पना न समझना चाहिए। इसमें घनत्व है, यह भूतद्रव्य का ही एक सूक्ष्म रूप है। वैज्ञानिकों ने हिसाब लगाया है कि इसका घनत्व जल के घनत्व का $\frac{936}{1000,000,000,000,000,000,000}$ है। 105 कोस की ऊँचाई पर वायुमण्डल भी इतना ही पतला है। उसके आगे वह और भी पतला है[1]। ईथर उसकी अपेक्षा कम पतला है। यह सारा हिसाब किताब ऊपर ही ऊपर से प्रकाश और ताप के व्यापार से लगाया गया है। ईथर पकड़ में आने वाला द्रव्य नहीं, यह एक अग्राह्य पदार्थ है। वैज्ञानिकों ने इसकी परीक्षा केवल प्रकाश के वाहक के रूप में की है। प्रकाश और ताप का प्रवाह तरंगों के रूप में चलता है। यदि कोई मध्यस्थ नहीं तो ये तरंगें कैसी? विद्युदाकर्षण और अपसारण की व्याख्या भी इस प्रकार के मध्यवर्ती द्रव्य के बीच किसी स्थान पर दबाव मानने से ही अच्छी तरह होती है। विद्युत्प्रवाह की समस्या का समाधान भी मध्यस्थ द्रव्य का स्पन्दन माने बिना ठीक ठीक नहीं हो सकता। चुम्बक की क्रिया भी किसी मध्यस्थ द्रव्य में भँवर या मरोड़ पड़ने के कारण मालूम होती है। सारांश यह कि यह मानना पड़ता है कि प्रकाश और ताप आदि का वहन करने वाला कोई एकरस प्रवाह रूप पदार्थ अवश्य है जिसमें तरंगें उठती हैं, भँवर पड़ते हैं। जिस प्रकार जल में किसी ठोस पदार्थ के पड़ने पर किनारे हटने और फिर आ जाने का गुण है उसी प्रकार ईथर में भी है। पर यह साधर्म्य होते हुए भी जल में और इसमें बहुत अन्तर है। जल अणुमय है, यह अखंड और सर्वगत है। जल ही क्या ग्राह्य द्रव्य मात्र से इसके गुण भिन्न हैं। यद्यपि घनत्व, लचक, अखंडत्व आदि इसके गुण प्रकाश और ताप आदि के व्यापारों द्वारा निरूपित हुए हैं पर यह है किस प्रकार का अभी तो ठीक ठीक समझ में नहीं आया है, आगे की नहीं कह सकते।

लार्ड केलविन ने इसी ईथर को जगत् का उपादान ठहराया है। उन्होंने कहा कि समस्त ग्राह्य द्रव्यखंड इसी ईथर के भँवर मात्र हैं।[2] सर विलियम कुक्स ने भी सब प्रकार के द्रव्यों या परमाणुओं का आधारभूत एक ही महाभूत माना है जिसके और सब परिणाम हैं। इस प्रकार जगत् के मूल प्राकृतिक उपादान की एकता विज्ञान

1. पृथ्वी से 12 योजन के आगे जो वायु है उसका हमारे यहाँ के प्राचीन ग्रन्थों में 'प्रवह' नाम है। 12 योजन तक 'आवह' वायु है।
2. तैत्तिरीयोपनिषद् में भी परमात्मा से पहले पहल आकाश की उत्पत्ति कही गई है, फिर आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। "आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी"।

में स्वीकृत हुई। हैकल ने जिस रूप में इस सिद्धान्त को लिया है उसके अनुसार ईथर महाभूत की साम्यावस्था के प्रथम भंग का परिणाम है अर्थात् साम्यावस्था भंग होने पर कुछ द्रव्य तो अण्वात्मक ग्राह्य रूप में आ जाता है और शेष कुछ और सूक्ष्म होकर अपने अग्राह्य और अखंड रूप में ही रहता है जिसे ईथर कहते हैं। पर किस प्रकार ईथर में भँवर पड़ते हैं और पहले पहल अणुओं का विधान होता है, किस प्रकार एक निर्विशेष महाभूत विशेषत्व की ओर प्रवृत्त होता है, किस प्रकार प्रकृति की साम्यावस्था भंग होती है यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। यह एक समस्या रह सी जाती है। रहने दीजिए, यह औरों के काम की है।

विज्ञान की दृष्टि से जगत् की उत्पत्ति इस प्रकार निरूपित हुई है। अपनी साम्यावस्था भंग होने के पीछे द्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म नीहारिका के रूप में बहुत दूर तक फैला रहा। संयोजक शक्ति द्वारा द्रव्य-विस्तार के अणु खिंच कर परस्पर मिलने लगे जिससे संचित वियोजक या अपसारिणी शक्ति छूट पड़ी और दो रूपों में व्यक्त होकर कार्य करने लगी—अणुचालक और पिंडचालक। अणुचालक गति द्वारा अणुओं में एक प्रकार का स्पन्दन या दोलन सा होने लगा। यह गति ताप और प्रकाश के रूप में व्यक्त होकर फैली। पिंडचालक गति द्वारा अणुओं से बने हुए पिंड लट्टू की तरह घूमते हुए गोल परिधि या मण्डल बाँधकर चक्कर लगाने लगे। इसी प्रकार नक्षत्रों, ग्रहों, उपग्रहों आदि की व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। सौर जगत् की उत्पत्ति का विधान इसी रूप में निश्चित किया गया है। इस विधान को अब अपने सौर जगत् पर घटा कर देखिए कि नीहारिकामंडल से सूर्य और नाना ग्रहों-उपग्रहों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई।

ज्योतिष्क नीहारिकामंडल पहले अत्यन्त वेग से घूमता हुआ गोला था। अणुओं के केन्द्र की ओर आकर्षित होने से वह क्रमशः भीतर की ओर सिमट कर जमने लगा जिससे उसके किनारे घूमते हुए नीहारिका के वलय या छल्ले रह गए। केन्द्र की ओर सिमटा हुआ द्रव्य हमारा सूर्य हुआ। नीहारिकावलय भी क्रमशः जमकर गोलों के रूप में हुए और केन्द्रस्थ द्रव्य (सूर्य) से अलग होकर उसके चारों ओर वेग से घूमने लगे। ये ही पृथ्वी, मंगल, बुध आदि ग्रह हुए। इनके जमने पर भी किनारे छल्ले रह गए जो क्रमशः जम कर इन ग्रहों के उपग्रह हुए—जैसा कि चन्द्रमा हमारी पृथ्वी का है। जो छल्ला केन्द्रस्थ द्रव्य से जितनी दूरी पर था उससे जम कर बना हुआ पिंड उतनी ही दूरी पर से उसकी परिक्रमा करने लगा। जिस ग्रह के किनारे जितने छल्ले थे उसके उतने ही चन्द्रमा हुए। जैसे, बृहस्पति की परिक्रमा करनेवाले आठ चन्द्रमा हैं। जितने ग्रह हैं सब एक अवस्था में नहीं हैं। ग्रहपिंड केन्द्रस्थ द्रव्य समूह या सूर्य से छूट कर अलग होने पर ज्वलन्त वायव्य अवस्था से जम कर अपरिमित ताप से युक्त ज्वलन्त द्रव द्रव्य—जैसे, गरमी से पिघलकर पानी से भी पतला होकर बहता हुआ लाल लोहा—के रूप में हुए। क्रमशः उनका ऊपरी तल ठंढा होकर जमता गया और ठोस पपड़ी के रूप में होता गया। जो

ग्रह जमते जमते सारा ठोस हो गया अर्थात् जिसकी सब गरमी निकल गई वह मुर्दा हो गया; उसमें, जल, वायु आदि कुछ नहीं रह गया। हमारा चन्द्रमा इसी अवस्था में है। पृथ्वी का ऊपरी तल तो ठोस पपड़ी के रूप में हो गया है, पर बहुत गहराई तक नहीं। इसके भीतर वही ज्वलन्त द्रव द्रव्य मौजूद है जो अपना अस्तित्व ज्वालामुखी के स्फोट और भूकम्प आदि द्वारा प्रकट करता रहता है। बृहस्पति अभी ज्वलन्त द्रव अवस्था से क्रमशः जमना आरम्भ कर रहा है। मंगल पृथ्वी से भी अधिक जमकर ठोस हो चुका है। शनि और बृहस्पति दोनों अब तक वलयवेष्ठित हैं। ये सब बातें तो अच्छे अच्छे दूरवीक्षण यन्त्रों की सहायता से ही देखी जा सकती हैं। पर रंगों के हिसाब से भी तारों और ग्रहों की अवस्था का मोटा अन्दाज हो सकता है। जो ग्रह काला और कान्तिहीन दिखाई दे उसे समझना चाहिए कि मर चुका है। फिर जब किसी और तारे से वह टक्कर खायगा तब उसमें नए तेज और नई शक्ति का संचार होगा और दूसरे लोकपिंड की सृष्टि होगी। ज्वलन्त नीलाभ ग्रहों को पूर्ण यौवनावस्था में समझना चाहिए। कुछ विशेषताओं से युक्त लाल तारों को समझना चाहिए कि वे क्रमशः नाश को प्राप्त हो रहे हैं। जो ज्वालाखंड जितना ही बड़ा था उसके ऊपरी तल के ठंढे होकर द्रवरूप में आने और फिर और जमकर ठोस होने में उतना ही अधिक काल लगा है। अभी हमारा सूर्य वायव्य और द्रव अवस्था में ही है। भीतर तो वह जलती हुई वायु अर्थात् ज्वाला या लपट के रूप में है जिसके प्रचण्ड ताप का अनुमान तक हम लोग नहीं कर सकते पर उसके ऊपर का तल कुछ गरमी निकल जाने से जम कर वायव्य से ज्वलन्त द्रव द्रव्य के रूप में आ गया है।

पृथ्वी का यह ठोस तल जिस पर हम लोग बसते हैं धीरे-धीरे परत पर परत जमने से कई करोड़ वर्षों में बना है। इन परतों का जमना उस कल्प से आरम्भ हुआ है जिस कल्प में पृथ्वी की पपड़ी इतनी ठंढी पड़ गई कि उसके ऊपर भाप की जो गहरी तह चढ़ी थी—जैसी कि बृहस्पति में अब तक दिखाई देती है—वह जमी और जल का आविर्भाव हुआ, समुद्रों की सृष्टि हुई। नदियों का जल किस प्रकार पहाड़ों और ऊँचे स्थानों की मिट्टी या चट्टानों को काट काट कर अपने मार्ग में इधर उधर रेत और मिट्टी की तह पर तह जमाता जाता है इसे प्रायः सब लोग जानते हैं। समुद्र भी सदा इसी व्यापार में लगा रहता है और अपने तटों की मिट्टी या चट्टानों को काट काटकर अपने गर्भ में बिछाता जाता है। सारांश यह कि जल का यह कार्य ही है। आदिकाल से ही वह ऊँचे स्थानों की चट्टानों को रेत, मिट्टी आदि के रूप में अपने नीचे बिछाता चला आ रहा है। यदि पृथ्वी पर केवल जल ही कार्य करता होता तो पृथ्वी का सारा तल कब का जल के भीतर हो गया होता और इस पृथ्वी के गोले के ऊपर जल ही जल होता, सूखी जमीन कहीं न होती। पर पृथ्वी के ठोस आवरण के भीतर तो अभी द्रव्य अग्नि का गोला ही है जो ऊपर पपड़ी छोड़ता हुआ

क्रमशः ठंढा होता चला जाता है। अतः गर्भस्थ प्रचंड ताप की शक्ति दबाव पाकर समय समय पर पपड़ी के रूप में जमे हुए आग्नेय द्रव्य तथा पिघली हुई चट्टानों को बड़े वेग से ऊपर की ओर फेंका करती है जिससे बड़े बड़े पहाड़ निकलते हैं और कम गहरे समुद्रों का तल भी सूखे स्थल के रूप में उठा करता है। भूकम्प, ज्वालामुख पर्वतों के स्फोट इसी आभ्यन्तर ताप के प्रभाव से होते हैं। भूकम्प के धक्कों से कहीं एकबारगी समूचा पहाड़ निकल पड़ा है, कहीं पहाड़ी की पहाड़ी नीचे धँस कर गायब हो गई है। ये सब भूगर्भस्थ ताप के उग्र व्यापार हैं जिन पर हमारा ध्यान जाता है। पर ये व्यापार बराबर इतने धीरे धीरे भी होते रहते हैं कि हमें जान नहीं पड़ते हैं। पृथ्वी के नाना भागों की परीक्षा करने से देखा जाता है कि कोई खंड क्रमशः ऊपर की ओर उठ रहा है और कोई नीचे की ओर धँस रहा है। इस प्रकार जल को नई-नई परतें जमाने के लिए बराबर सामग्री मिलती जाती है।

नीचे के आग्नेय द्रव्य के ऊपर आने और पिघले हुए द्रव्य के ठंढे होकर जमने से जो चट्टानें बनी हैं उन्हें अग्न्युपल या बिना परत की चट्टानें कहते हैं। जल के भीतर थिरा कर परत पर परत जमने से जो चट्टानें (चट्टान शब्द से अभिप्राय उन सब ढेरों या तहों से है जिनसे पृथ्वी का ठोस ऊपरी तल बना है—क्या पत्थर, क्या मिट्टी, क्या रेत, क्या कोयला, क्या खरिया सब। भूगर्भविद्या में चट्टान शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है) बनी हैं उन्हें वरुणस्तर या परतवाली चट्टानें कहते हैं। ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि परतवाली चट्टानें आग्नेय चट्टानों के ही ध्वंस या चूर्ण से बनी हैं। जल के भीतर बनी हुई इन्हीं परतवाली चट्टानों की परीक्षा द्वारा भूगर्भवेत्ता पृथ्वी के नाना कल्पों और युगों का विभाग करते और जन्तुओं की उत्पत्ति का क्रम सूचित करते हैं। बात यह है कि इन्हीं की तहों के बीच पूर्व कल्प के जीवों के अवशेष (जैसे, अस्थिपंजर, पेड़ों के धड़ और डालियाँ आदि) या उनके अस्तित्व के चिह्न (जैसे, पक्षियों के पैरों के चिह्न, कीड़ों के खोदे हुए बिल, पूर्वयुग के मनुष्यों के बनाए हुए पत्थर के हथियार इत्यादि) मिलते हैं। सबसे प्राचीन कल्प के अर्थात् सबसे पहले बननेवाले स्तरों में शुक्तिवर्ग के क्षुद्र कीटों से लेकर सबसे निम्नकोटि की मछली (अर्थात् अत्यन्त क्षुद्र कोटि के रीढ़वाले जन्तु) तक के अवशेष मिलते हैं। इनसे पीछे के स्तरों में मछलियों, सरीसृपों, पक्षियों तथा दूध पिलानेवाले जन्तुओं के पंजर मिलते हैं। जन्तुओं के अवशेष से भी विशिष्ट पदार्थों की चट्टानें बनती हैं—जैसे, खरिया मिट्टी की चट्टानें जो समुद्र में रहनेवाले अत्यन्त सूक्ष्म कृमियों की ठोस खोलड़ी के तह पर तह जमने से बनती हैं। पत्थर का कोयला क्या है? पूर्वयुग के पेड़ पौधों के अवशेष जो तह पर जमते गए वे ही आभ्यन्तर ताप की तरंगों के योग से कोयले के थक्के के रूप में हो गए। चट्टानों के जमने का हिसाब लगा कर भूगर्भवेत्ता पृथ्वी की प्राचीनता का अनुमान करते हैं। जैसे, पेड़ों की पचास पुश्त की लकड़ी के जमने से एक फुट मोटा कोयले का थक्का बनता है। कोयले की तह की मोटाई बारह हजार फुट तक

मानी गई है। यदि पेडों की हर एक पीढ़ी के लिए दस दस वर्ष भी रख ले तो इस हिसाब से बारह हजार फुट कोयला जमने में कम से कम छः करोड़ वर्ष लगे होंगे।

पृथ्वी की उत्पत्ति हुए कितना काल हुआ इस विषय में भूगर्भवेत्ताओं और भौतिक विज्ञानियों में थोड़ा मतभेद है। भूगर्भवेत्ता पृथ्वी का कालनिर्णय उस हिसाब से करते हैं जिस हिसाब से चट्टानों की तहें पानी के नीचे जम रही हैं या बरसाती पानी और नदियों के बहाव से जमीन के ऊपर की मिट्टी कट रही है। वे यह मानकर चलते हैं कि जिस गति से पृथ्वी पर परिवर्तन आज हो रहे हैं उसी गति से पहले भी बराबर होते आए हैं। पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सम्भव है बहुत से परिवर्तन जिनके लिए उन्होंने लाखों वर्ष रखे हैं विप्लव के रूप में बात की बात में हुए हों। भूगर्भवेत्ताओं के हिसाब से उस काल को बीते दस करोड़ वर्ष के लगभग हुए होंगे जिसमें पहले पहल पानी के भीतर जमनेवाली चट्टानों की तह पड़ी और मूल आदिम अणुजीवों का प्रादुर्भाव हुआ। भौतिक विज्ञान वाले सूर्य के ताप की उत्पत्ति के और गति के विचार से, तथा जिस हिसाब से पृथ्वी का ऊपरी तल ठंढा होता गया है उसके विचार से और कम काल बताते हैं। एक दूसरी आधुनिक युक्ति सृष्टिकालनिर्णय की यह है कि प्रतिवर्ष नदियों का जो जल समुद्र में जाता है उसके द्वारा समुद्रजल में नमक की वृद्धि किस हिसाब से होती है इसका परता बैठा कर आरम्भकाल निकाले। इस हिसाब से भी नौ दस करोड़ वर्ष आते हैं।

भूगर्भवेत्ता पृथ्वी पर जीवोत्पत्ति से लेकर आज तक के काल को चार मुख्य कल्पों में बाँटते हैं–

**प्रथम कल्प**–पौधों में सिवार, काई और पुष्पहीन पौधे। जन्तुओं में स्पंज, मूँगे, शुक्तिवर्ग के कीड़े, कीटपतंग, ढालदार मछली जो रीढ़वाले जन्तुओं में सब से निम्न कोटि की है।

**द्वितीय कल्प**–पेड़ों में खजूर, ताड़ इत्यादि जिनकी बाढ़ भीतर की ओर से सीधे ऊपर की ओर को होती है और जिनके धड़ में लकड़ी, हीर और छाल का स्पष्ट भेद नहीं होता। जन्तुओं में समुद्र में रहनेवाली विशाल आकार की छिपकलियाँ, पक्षी, पक्षियों और स्तन्य जीवों के बीच के अंडज स्तन्य (दूध पिलाने वाले), अजरायुजों और जरायुजों के बीच के अजरायुज पिंडज (आजकल के कंगारू से मिलते जुलते) जीव।

**तृतीय कल्प**–बड़े भारी जरायुज जन्तु। मनुष्य के आकार के बनमानुस।

**चतुर्थ कल्प**–हाथी की तरह के पर उससे बहुत बड़े और रोएँदार मैमथ आदि जन्तु। मनुष्य तथा वे सब जीव जो आजकल पाए जाते हैं।

किस प्रकार एक जाति के जन्तु या पौधे से क्रमशः दूसरी जाति के जन्तुओं और पौधों की उत्पत्ति होती गई है इसका निरूपण विकास सिद्धान्त द्वारा किया गया है। इस पृथ्वी के पूर्वकल्पों में न जाने कितने ऐसे जन्तु हो गए हैं जिनका वंश लुप्त

हो गया है, जो अब कहीं नहीं मिलते, पर जिनकी ठटरियाँ जमीन के नीचे दबी मिलती हैं। मैमथ इसी प्रकार का जन्तु हो गया है जो हाथी के रूप का था पर उससे बहुत बड़ा और रोएँदार होता था। बीस-बीस हाथ लम्बी ऐसी काँटेदार छिपकलियों की ठटरियाँ मिली हैं जो हवा में उड़ती थीं। अब वे भीमकाय और भयंकर जन्तु पृथ्वी पर नहीं रह गए। एक प्रकार के जन्तु से दूसरे प्रकार के जन्तु एकबारगी तो उत्पन्न नहीं हो गए। दोनों के बीच की वंशपरम्परा में ऐसे जन्तु रहे होंगे जिनमें थोड़े बहुत दोनों के लक्षण रहे होंगे। इस प्रकार के मध्यवर्ती जन्तु कुछ तो अब भी मिलते हैं और कुछ की ठटरियाँ भूगर्भ में मिलती हैं। इन ठटरियों से प्राणिविज्ञानविदों को एक प्रकार के जन्तु से दूसरे प्रकार के जन्तु की उत्पत्ति की शृंखला जोड़ने में बड़ा सहारा मिलता है। जैसे, विकास सिद्धान्त द्वारा स्थिर हुआ है कि पंजेवाले जन्तुओं से ही क्रमशः घोड़े आदि टापवाले जन्तुओं का विकास हुआ है, पर आजकल घोड़े की तरह का कोई ऐसा जन्तु नहीं मिलता जिसमें उँगलियों के चिह्न हों। पर घोड़े की तरह के ऐसे जन्तुओं की ठटरियाँ मिली हैं जिनके पैरों में उँगलियाँ या उँगलियों के चिह्न हैं। वे घोड़ों के पूर्वज थे।

जीवधारियों के सम्बन्ध में पहले लोगों की धारणा थी कि जितने प्रकार के जीव आजकल हैं सब एकसाथ सृष्टि के आरम्भ में ही उत्पन्न हो गए थे अर्थात् जितने प्रकार के जीवों के ढाँचे आदि में थे वे सब बिना किसी परिवर्तन के अबतक ज्यों के त्यों चले आ रहे हैं। डारविन ने इस विश्वास का खंडन किया और 'विकास सिद्धान्त' की स्थापना करके यह सिद्ध कर दिया कि ये अनेक प्रकार के ढाँचों के जो इतने जीव दिखाई पड़ते हैं, सब एक ही प्रकार के अत्यन्त सादे ढाँचे के क्षुद्र आदिम जीवों से, क्रमशः करोड़ों वर्ष की वंशपरम्परा के बीच, स्थिति के अनुसार अपने अवयवों से भिन्न भिन्न परिवर्तन प्राप्त करते हुए और उत्तरोत्तर भेदानुसार अनेक शाखाओं में विभक्त होते हुए उत्पन्न हुए हैं। इसी विकास क्रम के अनुसार मनुष्य जाति भी पूर्व युग के उन जीवों से उत्पन्न हुई जिनसे बन्दर, बनमानुस आदि उत्पन्न हुए—अर्थात् बनमानुसों और मनुष्यों के पूर्वज एक ही थे। इस विकासवाद से बड़ी खलबली मची। इसकी बात जनसाधारण के विश्वास और धर्मपुस्तकों की पौराणिक सृष्टिकथा के विरुद्ध थी। हमारे यहाँ भी पुराणों में योनियाँ स्थिर कही गई हैं और उनकी संख्या भी चौरासी लाख बता दी गई है। गरुड़पुराण में तो प्रत्येक वर्ग की योनियों की गिनती तक है।[1] डारविन ने यह अच्छी तरह सिद्ध करके दिखा दिया कि एक जाति के जीवों से ही क्रमशः दूसरी जाति के जीवों की उत्पत्ति हुई है। योनियाँ स्थिर नहीं हैं, स्थितिभेद के अनुसार असंख्य पीढ़ियों के बीच उनके अवयवों आदि

---

1. एकविंशति लक्षाणि ह्यंडजाः परिकीर्तिता।
स्वेदजाश्च तथैवोक्ता उद्भिजास्तत्प्रमाणतः।। (गरुड़पुराण, अ.2)

में परिवर्तन होते आए हैं जिससे एक योनि के जीवों से दूसरी योनि के जीवों की शाखा चली है। जिस 'जात्यंतरपरिणाम' को एक व्यक्ति में तीव्र परिणाम के रूप में पतंजलि ने अपने योगदर्शन में प्रकृति की पूर्णता से सम्भव बतलाया था[1] उसी को डारविन ने मृदु परिणाम के रूप में वंशपरम्परा के बीच प्रकृति का एक नियम सिद्ध किया।

यह 'जात्यन्तरपरिणाम' होता किस प्रकार है? 'वंशपरम्परा' और 'प्राकृतिक ग्रहण' के नियमानुसार। वंशपरम्परा का नियम यह है कि जो विशेषता किसी जीव में उत्पन्न हो जाती है वह पीढ़ी दर पीढ़ी चली चलती है और क्रमशः अधिक स्पष्ट होती जाती है। किसी जीव में कोई नई विशेषता उत्पन्न कैसे होती है? परिस्थिति के अनुसार। जिस स्थिति में जो जीव पड़ जाते हैं उसके अनुकूल उनके अंग और उनका स्वभाव क्रमशः होता जाता है। नई स्थिति में जिन अंगों के व्यवहार की आवश्यकता नहीं रह जाती वे निष्क्रिय होते होते कई पीढ़ियों के पीछे लुप्त हो जाते हैं। जिन अवयवों का जिस रूप में व्यवहार आवश्यक हो जाता है उस रूप के व्यवहार के उपयुक्त उनके ढाँचे में भी फेरफार हो जाता है। ऐसा एक दो दिन में नहीं होता, असंख्य पीढ़ियों के बीच मृदु परिणाम के रूप में क्रमशः होता जाता है। परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होना बराबर देखा भी जाता है। एक प्रकार का साँप होता है जो बालू में अण्डे देता है। उसे यदि पिंजड़े में बन्द करके रखते हैं तो वह बच्चे देने लगता है, अर्थात् अण्डज से पिंडज हो जाता है। जो विशेषता एक बार उत्पन्न हो जाती है वह बराबर पीढ़ी दर पीढ़ी चली चलती है और बढ़ती जाती है। जन्तुओं के व्यापारी इस बात को जानते हैं। वे प्रायः ऐसा करते हैं कि किसी जाति के कुछ जन्तुओं में औरों से कोई विलक्षणता देख उन्हें चुन लेते हैं और उन्हीं के जोड़े लगाते हैं। फिर उन जोड़ों से जो जन्तु उत्पन्न होते हैं उनमें से भी उनको चुनते हैं जिनमें वह विलक्षणता अधिक होती है। इस रीति से वे कुछ पीढ़ियों पीछे एक नए रूपरंग और ढाँचे का जन्तु उत्पन्न कर लेते हैं। जंगली (गोले) नीले कबूतर से अनेक रंग ढंग के पालतू कबूतर इसी तरह पैदा किए गए हैं। यह तो हुआ मनुष्य का चुनाव या 'कृत्रिम ग्रहण'। इसी प्रकार का चुनाव या ग्रहण प्रकृति भी करती है जिसे 'प्राकृतिक ग्रहण' कहते हैं। दोनों में अन्तर यह है कि मनुष्य अपने लाभ के विचार से जन्तुओं को चुनता है, पर प्रकृति का चुनाव जन्तुओं के लाभ के लिए होता है।

---

1. जात्यंतर परिणामः प्रकृत्यापूरात्। (42।-योगदर्शन)
नदीश्वर नाम का कोई व्यक्ति उसी शरीर में मनुष्य से देवता हो गया था। किस प्रकार एक योनि का जीव दूसरी योनि का जीव हो सकता है यही इस सूत्र में बताया गया है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि पतंजलि का अभिप्राय एक व्यक्ति को योन्यतरप्राप्ति है। डारविन ने असंख्य पीढ़ियों में जाकर ऐसा परिणाम होना बताया है।

'प्राकृतिक ग्रहण' का अभिप्राय यह है कि जिस परिस्थिति में जो जीव पड़ जाते हैं उस स्थिति के अनुरूप यदि वे अपने को बना सकते हैं तो रह जाते हैं, नहीं तो नष्ट हो जाते हैं। प्रकृति उन्हीं जीवों को रक्षा के लिए चुनती है जिनमें स्थितिपरिवर्तन के अनुकूल अंग आदि हो जाते हैं।

ह्वेल को ही लीजिए। उसके गर्भ की अवस्थाओं का अन्वीक्षण करने से पता चलता है कि वह स्थलचारी जन्तुओं से क्रमशः उत्पन्न हुआ है। उसके पूर्वज पानी के किनारे दलदलों में रहते थे। क्रमशः ऐसी अवस्था आती गई जिससे उनका जमीन पर रहना कठिन होता गया और स्थितिपरिवर्तन के अनुसार उनके अवयवों में फेरफार होता गया यहाँ तक कि कुछ काल (लाखों वर्ष समझिए) पीछे उनकी सन्तति में जल में रहने के उपयुक्त अवयवों का विधान हो गया—जैसे, उनके अगले पैर मछली के डैनों के रूप में हो गए, यद्यपि उनमें हड्डियाँ वे ही बनी रहीं जो घोड़े, गदहे आदि के अगले पैरों में होती हैं। कई प्रकार के ह्वेलों में पिछली टाँगों का चिह्न अब तक मिलता है। जीवों के ढाँचों में बहुत कुछ परिवर्तन तो अवयवों के न्यूनाधिक व्यवहार के कारण होता है। अवस्था बदलने पर कुछ अवयवों का व्यवहार अधिक करना पड़ता है, कुछ का कम। मनुष्य को ही लीजिए जिसकी उत्पत्ति बनमानुसों से मिलते-जुलते किसी जन्तु से धीरे धीरे हुई है। ज्यों ज्यों दो पैरों के बल खड़े होने और चलने की वृत्ति उसमें अधिक होती गई त्यों त्यों उसके दोनों पैर चिपटे, चौड़े और दृढ़ होते गए और एँड़ी पीछे की ओर कुछ बढ़ गई। उसी पूर्वज जन्तु से बनमानुसों की भी उत्पत्ति हुई है। बनमानुस से मनुष्य के शरीर के ढाँचे में तो उतना अधिक भेद नहीं पड़ा, पर अन्तःकरण या मस्तिष्क की वृद्धि बहुत अधिक हुई।

दार्शनिक अनुमान के रूप में तो विकाससिद्धान्त बहुत प्राचीन काल से पूर्व और पश्चिम दोनों ओर चला आ रहा है। एक अव्यक्त मूल प्रकृति से किसी प्रकार क्रमशः जगत् का विकास हुआ है, सांख्य में इसका प्रतिपादन किया गया है। यूनानी तत्त्ववेत्ता भी जगत् का विकास इसी प्रकार मानते थे। पर वैज्ञानिक निश्चय और दार्शनिक अनुमान में बड़ा भेद होता है। दार्शनिक संकेत मात्र देते हैं और वैज्ञानिक ब्योरों की छानबीन करते हैं। जिस समय डारविन ने प्राणियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकास सिद्धान्त को बहुत से प्रत्यक्ष प्रमाणों से पुष्ट करके प्रकाशित किया उस समय बहुत से लोग विशेषतः पादरी लोग उसके विरोध में खड़े हुए। पर साथ ही बहुत से वैज्ञानिक नए नए प्रमाणों द्वारा उसे पुष्ट करने में तत्पर हुए। जरमनी के जगत्प्रसिद्ध प्राणिविद्या विशारद अध्यापक हैकल इनमें मुख्य थे। उन्होंने सन् 1866 में, अर्थात् डारविन की पुस्तक प्रकाशित होने के 6 वर्ष पीछे, 'प्राणियों की शरीररचना' नामक एक बहुत बड़ा ग्रन्थ प्रकाशित किया जिसमें अनेक नए नए अनुसंधानों के आधार पर यह अच्छी तरह दिखाया गया है कि इस पृथ्वी पर क्रम क्रम से एक ढाँचे के जीव से दूसरे ढाँचे के जीव लाखों वर्ष की मृदु परिवर्तन परम्परा के प्रभाव

से बराबर उत्पन्न होते आए हैं। हैकल ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुजीवों से लेकर मनुष्य तक आने वाली शृंखला ही उत्पत्तिक्रम से दिखाकर सन्तोष नहीं किया बल्कि विकास को विश्वव्यापक नियम निश्चित करके निर्जीव, सजीव, जड़, चेतन सभी व्यापारों को उसके अन्तर्गत बताया। अब आजकल तो प्रत्येक विभाग के वैज्ञानिक अपने अपने विषय का निरूपण विकासक्रम के अनुसार ही करते हैं।

इस पृथ्वी पर जल की उत्पत्ति किस प्रकार हुई यह ऊपर कहा जा चुका है। जल ही में जीवनतत्त्व की उत्पत्ति हुई। जल ही में उस सजीव या सेन्द्रिय[1] द्रव्य का प्रादुर्भाव हुआ जिसे कललरस कहते हैं। जिन्हें हम सजीव व्यापार कहते हैं–जैसे, आपसे आप चलना, खाना, पीना, बढ़ना, आहार की ओर दौड़ना, छूने से हटना–वे सब इसी अद्भुत द्रव्य की क्रियाएँ हैं। इसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म सजीव कणिका भी ये सब व्यापार करती है। यह अण्डे की जरदी से मिलता जुलता मधु के समान चिपचिपा दानेदार द्रव्य है जो अणुजीव के रूप में जल के भीतर भी इधर उधर घूमता फिरता पाया जाता है और छोटे बड़े सब प्राणियों के शरीर में भी। इसकी गूढ़रचना अंगारक (कारबन), अम्लजन गैस (आक्सिजन), नत्रजन गैस और हाइड्रोजन गैस द्वारा संघटित द्रव्यों के विलक्षण मेल से हुई। इन द्रव्यों में अंगारक ही मुख्य है। रासायनिकों की परीक्षा से ये ही चार मूल द्रव्य इसमें मुख्यतः पाए गए। जल, गन्धक, फासफर का अंश भी कुछ रहता है। यद्यपि अपने विश्लेषण द्वारा रासायनिक इस अद्भुत द्रव्य के मूल उपादानों को जान गए हैं पर वे उनके द्वारा संघटित अणुओं की विलक्षण योजना को कुछ भी नहीं समझ सके हैं।

विकाससिद्धान्त के अनुसार इस सजीव द्रव्य की उत्पत्ति निर्जीव द्रव्य से माननी पड़ती है। पर कोई रासायनिक आज तक अपनी योजना द्वारा इसे उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हुआ। यह केवल सजीव प्राणियों–जन्तुओं और पौधों–में ही पाया जाता है। यह जब पाया जाता है तब शरीर (बिन्दुरूपी शरीर ही सही) रूप में ही जीवन के व्यापार करता पाया जाता है, निर्जीव द्रव्यों से बनता हुआ कहीं नहीं पाया जाता। इससे बहुत से लोग इसकी उत्पत्ति निर्जीव द्रव्य से नहीं मानते। विकासवाद के प्रसिद्ध निरूपक हक्सले तक ने कह दिया कि इस प्रकार की उत्पत्ति के प्रमाण नहीं मिलते। पर अधिकांश वैज्ञानिक इस प्रकार की उत्पत्ति मानना अनिवार्य समझते हैं। वे यह तो मान नहीं सकते कि आदि से ही ऐसे जटिल द्रव्य की योजना चली आ रही है या सजीवता एक अभौतिक तत्त्व के रूप में कहीं से टपक पड़ी है। अभी सन् 1912 में ब्रिटिश असोसिएशन के सामने शरीर विज्ञान के प्रसिद्ध आचार्य (एडिनबरा के) अध्यापक शेफर ने कहा है–

---

1. सेन्द्रिय चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्।–चरक।

'सजीव द्रव्य उत्पन्न कर देने की सम्भावना उतनी दूर नहीं है जितनी साधारणतः समझी जाती है। इच्छानुसार सजीव द्रव्य उत्पन्न किया जाने लगे तो भी आकार और व्यापार में परस्पर भिन्न जो इतने असंख्य प्रकार के जीव दिखाई पड़ते हैं विज्ञान के परीक्षालयों में उनके तैयार होने की कोई आशा नहीं की जा सकती। यदि सजीव द्रव्य तैयार किया जा सकेगा, जिसमें मुझको कोई सन्देह नहीं है, तो वह द्रव्य के उबाले हुए अर्क से नहीं। चाहे आज तक काम में लाई गई युक्तियों और प्रमाणों पर हमें विश्वास न हो पर यह हमें मानना पड़ेगा कि निर्जीव द्रव्य से सजीव द्रव्य तैयार करने की सम्भावना है।'

निर्जीव द्रव्य से सजीव द्रव्य उत्पन्न होता कहीं पाया नहीं जाता इसी बात की पुकार सुनकर हैकल को यह मानना पड़ा है कि निर्जीव द्रव्य से सजीव द्रव्य इस पृथ्वी पर केवल एक बार आरम्भ में उत्पन्न हुआ, उसके उपरान्त वह वंशवृद्धि क्रम से उत्तरोत्तर बढ़ता गया। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में अध्यापक शेफर ने कहा–

'यदि हम यह मान लेते हैं कि पृथ्वी के इतिहास में केवल एक ही बार निर्जीव से सजीव का विकास हुआ है तो प्राणतत्त्व सम्बन्धिनी समस्याओं के अन्तिम समाधान की कोई आशा नहीं रह जाती। पर क्या हमें ऐसा मान लेना उचित है कि पृथ्वी पर केवल एक ही बार, वह भी न जाने किस शुभ संयोग से, निर्जीव द्रव्य से सजीव द्रव्य का विकास हुआ और प्राणतत्त्व की प्रतिष्ठा हुई? ऐसा मानने का कोई कारण न देख अन्त में यही धारणा पक्की ठहरती है कि निर्जीव से सजीव का विकास एक ही बार नहीं कई बार हुआ है और कौन जाने अब भी हो रहा हो।'

जीवों का विकासक्रम दिखाने के पहले यह कह देना आवश्यक है कि जन्तु और पौधे दोनों सजीव सृष्टि के अन्तर्गत हैं, दोनों में जीव है। पहले लोग समझते थे कि जन्तु चर हैं और पौधे अचर। मनुस्मृति में लिखा है 'उद्भिजाः स्थावरास्सर्वे बीजकांडप्ररोहिणः।' पर वास्तव में चर अचर का भी भेद नहीं है। बहुत से ऐसे जन्तु हैं जो अचर हैं जैसे, स्पंज, मूँगा आदि और बहुत से ऐसे सूक्ष्म समुद्री पौधे होते हैं जो बराबर चलते-फिरते रहते हैं। बहुत से ऐसे पौधे होते हैं जो जन्तुओं के समान मक्खियों आदि का शिकार करते हैं, उन्हें अपनी पत्तियों में बन्द करके पचा जाते हैं। जन्तुओं और पौधों में मूलभेद नहीं है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण खुमी (कुकुरमुत्ते) की जाति के कुछ समुद्री पौधों में मिलता है जिनके बीजकण जन्तु के रूप में अलग होकर अपनी रोइयों से पानी में तैरते फिरते हैं और कुछ दिन पीछे किसी चट्टान आदि पर जम जाते हैं और पौधे के रूप में होकर बढ़ते हैं। यह बात तो बहुत से लोग जानते ही हैं कि पौधों में भी पाचनक्रिया होती है और वे भी साँस लेते हैं। पर पहले लोग जन्तुओं में यह विशेषता समझते थे कि उनमें पाचन के लिए अलग कोठा (पेट) होता है, वे अम्लजन वा प्राणदवायु साँस द्वारा खींचते हैं और अंगारक (कारबन) वायु निकालते हैं तथा उनमें संवेदन सूत्रात्मक विज्ञानमय कोश होता है।

पर अब ऐसे क्षुद्र कोटि के जन्तुओं का पता है जिनमें पेट, मुँह आदि कुछ नहीं होता और कई ऐसे पौधे देखे गए हैं जिनमें ये अंग होते हैं। पहले लोगों को केवल उच्च कोटि के जन्तुओं का ही ज्ञान था जिनका खाद्य ठोस होता है और जिनके लिए पक्वाशय और मुँह की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार पेड़ पौधों में भी लोग उन्हीं को जानते थे जिनका आहार वायव्य या द्रव होता था। अब मांसाशी पौधों की पत्तियों की परीक्षा करने से ज्ञात हुआ है कि उनमें काँटों की तरह सूक्ष्म ग्रन्थियाँ होती हैं जिनमें पित्तरस रहता है (जैसे जन्तुओं के यकृत और आँतों की ग्रन्थियों में)। यहीं तक नहीं अंकुरित बीजों में जन्तुओं के पाचनरस का सा विधान देखा जाता है और बीजदल में जो खाद्य द्रव्य रहता है वह उसी प्रकार पचकर बीज को पुष्ट करता है जिस प्रकार पेट में भोजन पचता है। हरे पौधे प्रकाश में तो अंगारकवायु का विश्लेषण करके अम्लजन वायु छोड़ते हैं, पर अँधेरे में इसका उलटा करते हैं—अर्थात् जन्तुओं के समान अम्लजन का ग्रहण और अंगारक का विसर्जन करते हैं।

अब रहा संवेदन। संवेदन का सबसे आदिम रूप है प्रतिक्रिया, अर्थात् किसी पदार्थ के साथ सम्पर्क होते ही शरीर में भी एक विशेष प्रकार का क्षोभ या क्रिया (गति) उत्पन्न होना। यह प्रतिक्रिया अचेतन व्यापार मानी जाती है, अर्थात् यह ज्ञानपूर्वक नहीं होती—जैसे आँख के पास किसी वस्तु के जाते ही पलकों का आप से आप बन्द हो जाना, दूसरी ओर ध्यान रखने पर पैर में कुछ छू जाते ही पैर का आप से आप हट या सिमट जाना इत्यादि। अत्यन्त क्षुद्र कोटि के जीवों में संवेदन इसी प्रतिक्रिया के रूप में ही माना जाता है। लजालू आदि पौधों में तो यह प्रतिक्रिया स्पष्ट देखी जाती है। और सब पौधों के भीतर भी इसी प्रकार की प्रतिक्रिया होती है पर वह सूक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं पड़ती। जिस प्रकार अणुजीव छू जाने पर संकुचित हो जाते हैं उसी प्रकार पौधों के घटक भी करते पाए जाते हैं। पौधों की जड़ों की नोकें अत्यन्त संवेदनग्राहिणी होती हैं। जहाँ उन पर सम्पर्क आदि द्वारा संवेदन हुआ कि वह एक घटक से दूसरे घटक में उसी प्रकार पहुँचता है जिस प्रकार क्षुद्र जन्तुओं में। फूल पत्तों में सोने जागने की गति देखी ही जाती है जो प्रकाश के प्रभाव से होती है। प्रकाश का प्रभाव जिस प्रकार हमारे संवेदनविधान या विज्ञानमय कोश पर पड़ता है उसी प्रकार पौधों के संवेदनविधान पर भी। कमल आदि बहुत से फूलों का दिन का प्रकाश पा कर खिलना और रात को बन्द हो जाना एक प्रसिद्ध बात है। मनु ने भी उद्भिजों की गिनती जीवों या प्राणियों में की है और उनमें अन्तस्संज्ञा मानी है, यथा—तमसा बहुरूपेणा वेष्टितः कर्महेतुना। अंतस्संज्ञा भवन्त्येते सुख दुःख समन्विता॥ अध्यापक जगदीशचन्द्र बसु ने तो पौधों के सुख दुःख आदि के संवेदन को अर्थात् उनके संवेदनसूत्रों में उत्पन्न क्षोभ को अपने सूक्ष्म और अद्‌भुत यन्त्रों द्वारा प्रत्यक्ष दिखा दिया है। यहीं तक नहीं उन्होंने अपनी खोज और आगे बढ़ाई है। उन्होंने धातुओं में भी संवेदन के क्षोभ का आभास दे कर निर्जीव और सजीव

के बीच समझे जाने वाले भेदभाव को बहुत कुछ मिटा दिया है। अध्यापक शेफर ने भी अपने व्याख्यान में कहा था कि 'आजकल के नए नए अनुसंधानों से यह सूचित हुआ है कि निर्जीव और सजीव में जितना भेद प्रतीत होता है वास्तव में उतना भेद नहीं है और इन दोनों का एक सामान्य लक्षण स्थापित होने की सम्भावना बढ़ गई है।'

अत्यन्त क्षुद्र कोटि के जन्तुओं और पौधों में तो प्रायः सब बातों में समानता पाई जाती है। पर ज्यों ज्यों हम उन्नत पौधों की ओर आते हैं त्यों त्यों उनमें जन्तुओं से विभिन्नता अधिक मिलती जाती है। इससे स्पष्ट है कि एक ही सजीव द्रव्य वा कललरस से जन्तुओं और उद्भिजों दोनों की उत्पत्ति हुई पर आरम्भ ही से उद्भिजों की शाखा अलग हो गई और उनकी विकासपरम्परा अलग चली। यह भेद पौधों में उस हरित धातु के कारण पड़ा जो उनके कललरस में मिली रहती है और जिसके कारण पेड़ पौधों का रंग हरा दिखाई पड़ता है। यह हरितधातु वास्तव में कललरस का ही एक विकार है जो जन्तुओं के कललरस में नहीं होता। अत्यन्त क्षुद्र कोटि के कुछ कृमियों में यह बहुत थोड़ी मात्रा में पाई जाती है, पर जन्तुओं में इसका अभाव ही समझना चाहिए। इस धातु में से इसका हरा रंग निकाला भी जा सकता है। शिशिर ऋतु में पत्तियों के रंग का बदलना इसी रंग के फटने के कारण होता है।

पौधों और जन्तुओं में बड़ा भारी भेद आहार का है। ऊपर कहा जा चुका है कि पौधों का आहार वायु और मिट्टी आदि मिले हुए जल के रूप में होता है। जिस प्रकार ये वायव्य द्रव्यों को विश्लिष्ट करके अपना ठोस अंग बनाते हैं उसी प्रकार मिट्टी आदि को सजीव धातु के रूप में लाते हैं। इस प्रकार अदृश्य रूप में और निर्जीव को सजीव द्रव्य में परिणत करने की शक्ति पेड़ पौधों में ही है जन्तुओं में नहीं जिनका भोजन किसी न किसी जीवधारी का शरीर ही होता है, चाहे जन्तु का हो चाहे वनस्पति का। पौधों में यह अद्भुत शक्ति उक्त हरित धातु के ही कारण होती है[1]। जड़ों से जो जल पौधे खींचते हैं और पत्तियों के सूक्ष्म छिद्रों से जो अंगारक वायु भीतर लेते हैं उन्हें यह धातु सूर्य की गरमी पाकर विश्लिष्ट कर देती है जिससे अम्लजन वायु तो निकल जाती है उदजन वायु (हाइड्रोजन) और अंगारक रह जाता

---

1. छत्राक या खुमी की जाति के पौधों (कुकुरमुत्ता, ढिगरी, भूफोड़, भुकड़ी इत्यादि) में हरित धातु नहीं होती। इससे उनका रंग भी हरा नहीं होता और उनमें उद्भिद्धर्म भी नहीं होता। वे मिट्टी, पानी आदि निर्जीव द्रव्यों को अपने शरीर की धातु के रूप में नहीं ला सकते। उनका पोषण मिट्टी और पानी से नहीं हो सकता। उनके पोषण के लिए किसी जीव का अर्थात् पौधे या जन्तु का शरीर चाहिए। इससे वे जब उगेंगे तब सड़ी लकड़ी के ऊपर या ऐसी जगह जहाँ की मिट्टी में मरे हुए जन्तुओं या पौधों के शरीरांश मिले होंगे। बरसात में फलों आदि के ऊपर जो सफेद सफेद भुकड़ी जम जाती है वह इसी जाति के पौधों का समूह है। दाद के चकत्तों में इन्हीं का समूह समझिए। सड़ाव और खमीर का कारण भी खुमी की जाति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुजीव हैं।

हैं। इन दोनों से मिलकर यह उन अंगारक मिश्रणों को घटित करती है जो शरीर धातु कहलाते हैं और जिनसे पौधों के घटक, तन्तुजाल आदि बनते हैं। जन्तु ऐसा नहीं करते। वे जल, क्षार, वायु, मिट्टी आदि निर्जीव द्रव्यों को खाकर सजीव द्रव्यों के रूप में नहीं ला सकते। वे पौधों से ही शरीर धातु बनी बनाई प्राप्त करते हैं। पेड़ पौधे ही जड़ द्रव्य से इस धातु का निर्माण करते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कललरस की उत्पत्ति जल में ही हुई। इसी कललरस के अत्यन्त सूक्ष्म कण जो स्वतन्त्र रूप से जीवों के मूल व्यापार करते हैं घटक कहलाते हैं। उनमें कुछ तो मधुबिंदुवत् खुले ही रहते हैं, कुछ के ऊपर झिल्ली होती है, कुछ के बीच में एक बहुत सूक्ष्म गुठली सी होती है और कुछ सर्वत्र समान वा एकरस होते हैं। इन्हीं घटकों के योग से पौधों और जन्तुओं के शरीर संघटित हुए हैं। इन घटकों को अणुशरीर समझिए क्योंकि ये जिस प्रकार जीवधारियों के शरीर में तन्तुजाल के रूप में गुछे पाए जाते हैं उसी प्रकार जीव के रूप में समुद्र या गड्ढों आदि के जल में भी चलते फिरते पाए जाते हैं। इन्हीं अणुशरीरों की योजना से छोटे बड़े सब शरीर बने हैं–क्या जन्तुओं के, क्या पेड़ पौधों के[1]। शुक्रकीटाणु और रजःकीटाणु भी एक विशेष प्रकार के सूक्ष्म घटक मात्र हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि घटक अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। कुछ तो इतने सूक्ष्म होते हैं कि एक इंच के लाखवें भाग के बराबर भी नहीं होते। जैसे कुछ अणूद्भिद्। कुछ इतने बड़े होते हैं कि बिना खुर्दबीन की सहायता के भी देखे जा सकते हैं। पर अधिकांश घटक या घटकरूप जीव अच्छे सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के बिना नहीं दिखाई पड़ते। जो जीव एकघटक मात्र हैं वे एकघटक जीव या अणुजीव कहलाते हैं और जिनका शरीर दो या अधिक घटकों का होता है वे बहुघटक जीव कहलाते हैं।

आदि में एकघटक अणुजीव ही जल में उत्पन्न हुए जिनका शरीर एकघटक मात्र था। एकघटक अणूद्भिद् अब भी समुद्र, ताल आदि के जल में पाए जाते हैं। उनमें स्त्री पुं. भेद नहीं होता, उनकी वृद्धि बीज से नहीं होती विभाग द्वारा होती है। अणुरूप एकघटक पौधे छोटे बड़े कई प्रकार के होते हैं। इन अणूद्भिदों के पहले पहल परस्पर मिलकर एक शरीर बनाने से अत्यन्त क्षुद्र कोटि के बिना फूलवाले पौधे हुए, जैसे, सेवार, काई, भुकड़ी, खुमी इत्यादि जिनमें खुले हुए अंकुरबिंदु उत्पन्न होते हैं। इन खुले हुए अंकुरबिंदु वाले पौधों से फर्न आदि आवरणयुक्त अंकुरबिंदुवाले पौधे हुए। इन अंकुरबिंदुवाले पौधों की वृद्धि गर्भकेसर और परागकेसर द्वारा नहीं होती, ये निष्पुष्प पौधे हैं। इनमें अंकुरबिंदु निकलते हैं जिनसे अंकुरित होकर नए पौधे उत्पन्न होते हैं। पर कुछ गूढ़लिंग निष्पुष्प पौधे ऐसे भी होते हैं जिनमें यद्यपि स्त्री पुं. अवयव

---

1. चरक ने भी शरीर के परमाणुरूप सूक्ष्म अवयव माने हैं। शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वादीतसौक्ष्म्यादंतीन्द्रियत्वाच्च। –चरक 7

(गर्भकेसर, परागकेसर) अलग अलग नहीं होते पर जन्तुओं के शुक्रकीटाणु और रजःकीटाणु के समान स्त्री पुं. घटक अलग अलग होते हैं। अंकुरबिंदुवाले पौधों से क्रमशः फूलवाले अर्थात् स्त्री पुं. अवयववाले पौधे हुए जिनमें गर्भाधान गर्भकेसर के बीच परागकेसर के पराग के पड़ने से होता है। गर्भकेसर और परागकेसर ही वास्तव में पुष्प हैं, रंगीन दल या पंखड़ी नहीं। अत्यन्त निम्न श्रेणी के फूलवाले पौधों में पंखड़ियाँ नहीं होतीं। फूलवाले पौधों में पहले देवदार आदि खुले बीज के पौधे हुए फिर उनसे आवरणयुक्त बीजवाले तृण, लता, गुल्म, वृक्ष इत्यादि हुए।

इसी प्रकार जन्तुओं में सबसे मूल जन्तु अणुरूप ही हुए। अणुजीव अब भी समुद्र या तालों में पाए जाते हैं और अत्यन्त सूक्ष्म कलल बिंदु मात्र होते हैं। ये बहुत अच्छे सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा ही दिखाई पड़ सकते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म अणुरूप ऐसे जीवों को छोड़ जिनके व्यापार आदि स्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं हो सके हैं सबसे सादा और सूक्ष्म जीव जिसके कार्यकलाप देखे जा सकते हैं, मोनरा है। यह जल में पाया जाता है। इसका सारा शरीर मधुबिंदुवत् सर्वत्र समान होता है, उसमें पेट, मुँह, आँख, कान, नाक, हाथ, पैर इत्यादि अलग अलग अंग नहीं होते। इन अंगों से जो व्यापार होते हैं वे आवश्यकतानुसार इस जन्तु के प्रत्येक भाग से सम्पादित होते हैं। जीवों के व्यापार तीन हैं—पोषण, प्रजनन और वाह्यविषय ग्रहण। मोनरा प्रत्येक भाग से अपना आहार भीतर ले सकता है, प्रत्येक भाग से पचा कर निकाल सकता है, प्रत्येक भाग से वायु को खींच और छोड़ सकता है। यह अपने चारों ओर जिधर आवश्यक होता है उधर लम्बे लम्बे शंकु या पदाभास निकालता है। इसका शरीर मधुबिन्दुवत् तो होता ही है जिधर शंकु या पदाभास निकलते हैं उसी ओर को ढल पड़ता है। इसी प्रकार यह चलता है और अपने शिकार या आहार (जल में मिले हुए अत्यन्त सूक्ष्म अणूद्भिद् या जन्तु) को छोप लेता है। शरीर का प्रत्येक भाग आहार चूस सकता और मल बाहर निकाल सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अत्यन्त क्षुद्र कोटि के जीवों में स्त्री पुं. विधान नहीं होता। उनकी अमैथुन सृष्टि होती है। अब मोनरा में प्रजनन या वृद्धि किस प्रकार होती है यह देखिए। जो मोनरा आहार आदि पाकर खूब पुष्ट होता है वह कुछ अधिक लम्बा हो जाता है और उसका मध्य भाग पतला पड़ने लगता है, यहाँ तक कि बहुत कम रह जाता है और जन्तु बीच से दो भागों में विभक्त दिखाई पड़ता है। अन्त में मध्य से टूट कर दोनों भाग अलग अलग हो जाते हैं अर्थात् दो नए जन्तु होकर अपना जीवन आरम्भ करते और बढ़ते हैं। इस प्रकार पूर्व जन्तु का व्यक्तित्व या जीवन समाप्त हो जाता है और उसके स्थान पर दो नए जन्तु हो जाते हैं। ऐसे प्रजनन विधान को विभाग कहते हैं।

जन्तुओं का प्रधान लक्षण वह क्रिया है जो उनमें वाह्य वस्तुओं के सम्पर्क से उत्पन्न होती है, जैसे ईथर या आकाश द्रव्य की लहरों का सम्पर्क जिसका ग्रहण

नेत्रेन्द्रिय में प्रकाश रूप से होता है, वायु की तरंगों का सम्पर्क जिसका ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय में शब्द रूप से होता है, स्थूल पदार्थों का सम्पर्क जिसका ग्रहण त्वचा को स्पर्श रूप से होता है। मोनरा को अलग अलग अवयव या इन्द्रियाँ नहीं होतीं। पर इससे यह न समझना चाहिए कि वह वाह्य विषयों का ग्रहण नहीं करता। भिन्न भिन्न विषयों का ग्रहण उसमें सर्वत्र समान रूप से होता है। यह ग्रहण चाहे अत्यन्त सूक्ष्म वा अल्प हो; पर होता अवश्य है। किसी वस्तु से छू जाने पर उसका शरीर सुकड़ जाता है। इस प्रकार स्पर्श का संवेदन उसमें प्रत्यक्ष देखा जाता है।

मोनरा से कुछ उन्नत कोटि का जीव अमीबा (अस्थिराकृति अणुजीव) है जिसमें एकरूपता या निर्विशेषत्व (एक भाग से दूसरे भाग में कोई विशेषता न होना) का भंग और अनेकरूपता का कुछ कुछ आरम्भ होता है। मोनरा का शरीर मधुबिन्दुवत् सर्वत्र एकरूप होता है पर अमीबा के शरीर पर अत्यन्त महीन झिल्ली का आवरण होता है और भीतर कललरस के बीच में एक सूक्ष्म गुठली सी होती है जो यद्यपि कललरस की ही होती है पर अधिक तीव्र होती है। इस गुठली के अतिरिक्त कललरस के बीच झिल्ली से घिरा हुआ एक खाली स्थान भी होता है जो सुकड़ता और फैलता रहता है। मोनरा के समान इसकी गतिविधि और पाचन क्रिया भी कललरस की ही गति और क्रिया से होती है। अत्यन्त सूक्ष्म अणुजीव या पौधे अथवा उनसे कुछ बड़े जीवों के शरीरखंड जो जल में रहते हैं और आहार के रूप में इसके भीतर जाते हैं, उनके सार भाग को तो कललरस अपनी ही क्रिया से अपने में मिला लेता है और शेष भाग को बाहर निकाल देता है। इसका चलना भी कललरस ही की क्रिया से होता है अर्थात् जिस ओर शंकु या पदाभास निकलते हैं उस ओर सारा कललरस अर्थात् शरीर ढल पड़ता है। इसी प्रकार यह अपना मार्ग निकालता चला जाता है। जल में जहाँ रेत या मिट्टी के सूक्ष्म कण होते हैं वहाँ यह उन्हें बड़ी सफाई से बचा जाता है। पदाभासों के निकालने का कोई निश्चित स्थान न होने से इसका आकार स्थिर नहीं होता।

ऊपर कहा जा चुका है कि कललरस का अत्यन्त सूक्ष्म कण जो प्राणियों के सब आवश्यक व्यापार स्वतन्त्र रूप से कर सकता है, घटक कहलाता है और मोनरा या अमीबा इसी प्रकार का एक घटक मात्र है। अतः ये दोनों एकघटक जीव या अणुजीव कहलाते हैं। इसी प्रकार के घटकों के योग से सब जन्तुओं के शरीर बने हैं। मनुष्य के रक्त की श्वेत कणिकाएँ जो अच्छे सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा ही देखी जा सकती हैं, अमीबा से मिलती जुलती होती हैं और उसी के समान सब व्यापार करती हैं। मोनरा और अमीबा अत्यन्त सादे ढाँचे के जीव हैं। इनके अतिरिक्त छोटे बड़े और अनेक प्रकार के एकघटक अणुजीव होते हैं जिनमें से कुछ तो इतने बड़े (एक इंच के 100वें भाग के बराबर) होते हैं कि आँख से अच्छी तरह दिखाई पड़ सकते हैं। बहुत से अणुजीव जल में से चूने आदि का संग्रह करके अपने ऊपर कड़ी

खोलड़ी बनाते हैं। कुछ अणुजीवों की खोलड़ियाँ बहुत ही सुन्दर और चित्रविचित्र होती हैं। जब वे अणुजीव मर जाते हैं तब खोलड़ियाँ गिर कर पानी के तल में बैठ जाती हैं। खरिया मिट्टी ऐसे ही जीवों की खोलड़ियों के तह पर तह जमने से बनती है।

जैसा कि पहले कह आए हैं अणुजीवों में जोड़े नहीं होते; उनकी वृद्धि अमैथुनविधान से होती है—अर्थात् कुछ अणुजीवों में तो यह होता है कि एक जीव के बीच से दो खंड होकर दो अलग अलग जीव हो जाते हैं; और कुछ के शरीर पर अंकुरबिन्दु निकलते हैं जो अलग होकर और बढ़कर स्वतन्त्र जीव हो जाते हैं। पर कुछ उन्नत कोटि के अणुजीव ऐसे भी होते हैं जिनमें मैथुनविधान अपने मूलरूप में देखा जाता है। वे पुछल्लेवाले अणुजीवों में से हैं और बहुत से मिल कर चक्र या छत्ता बना कर रहते हैं। इस छत्ते के अन्तर्गत अनेक जीव रहते हैं। तरुणावस्था प्राप्त होने पर कुछ जीव छत्ते से अलग हो जाते हैं और मिलकर एक अलग कीटाणुचक्र बनाते हैं और कुछ अलग अलग बढ़कर गर्भांड के रूप में हो जाते हैं। कीटाणुचक्र का प्रत्येक कीटाणु पुछल्लेदार सूक्ष्म कीट होता है (मनुष्य आदि जरायुज जन्तुओं के शुक्रकीटाणु भी इसी प्रकार के होते हैं) जो गर्भांड रूप कीट से बहुत छोटा होता है। पुछल्लेदार पुं. कीटाणुचक्र से छूटने पर अपने पुछल्लों को लहराते हुए जल में इधर उधर तैरने लगते हैं पर गर्भांड रूप स्त्री कीटाणु अचल भाव से स्थिर रहते हैं। एक एक गर्भांड रूप स्त्री कीटाणु को अनेक पुं. कीटाणु जा घेरते हैं और अन्त में एक उसके भीतर घुसकर संयुक्त हो जाता है। इस प्रकार संयोग हो जाने पर दोनों मिलकर एक अण्डे का आकार धारण करते हैं। अण्डे के भीतर का कललरस विभागक्रम द्वारा अनेक कणों में विभक्त हो जाता है। अण्डे के फूटने पर ये कण बाहर निकलकर तैरने लगते हैं। थोड़े ही दिनों में इन्हें पुछल्ले निकल आते हैं और ये पूरे जन्तु होकर इधर उधर तैरते फिरते हैं। इन पुछल्लेवाले जीवों का शरीर सर्वत्र समान नहीं होता, सूक्ष्म त्वक् और पुछल्ले के अतिरिक्त आहारमिश्रित जल के प्रवेश के लिए एक विवर भी होता है जिसे मुँह कह सकते हैं।

जीवोत्पत्ति का आरम्भ मोनरा और अमीबा के समान अत्यन्त सादे ढाँचे के कललबिंदु रूप अणुजीवों से हुआ जिनके शरीर का सारा भाग वाह्य भूतों के भिन्न भिन्न प्रकार के सम्पर्कों को समान रूप से ग्रहण करता था, प्रत्येक भाग प्रत्येक व्यापार कर सकता था। फिर असंख्य पीढ़ियों के पीछे होते होते यह हुआ कि जिस भाग पर स्थिति के अनुसार सम्पर्क अधिक हुआ उसमें अभ्यास के कारण सम्पर्क अधिक ग्रहण करने की विशेषता उत्पन्न हुई। इस गुणविकास के साथ ही उस भाग की आकृति में भी परिवर्तन हुआ। जैसे, मोनरा का शरीर जल में पड़े हुए मधुबिंदु के समान सर्वत्र एकरूप था और उसके चारों ओर वाह्यभूतों के अण्वात्मक प्रवाहों का आघात पड़ता था। यह आघात पहले ऊपरी सतह पर पड़ कर तब भीतरी कललरस की कणिकाओं पर प्रभाव डालता था। अतः स्थिति के अनुसार जिनमें उक्त आघात

का ग्रहण अधिक हुआ उनके ऊपरी तल में और कललरस के भीतरी कणों की स्थिति में, भौतिक और रासायनिक नियमों के अनुसार विशेषताएँ उत्पन्न होने लगी। ये विशेषताएँ बराबर वृद्धि को प्राप्त होती गईं यहाँ तक कि अमीबा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके ऊपर झिल्ली का आवरण होता है और भीतर कललरस के बीच एक गुठली तथा फैलने और सुकड़नेवाला एक खाली स्थान होता है।

बहुत से अणुजीव मिल कर एक समूहपिंड या छत्ता सा बना लेते हैं। समूहचक्र में बद्ध रहने पर भी प्रत्येक जीव अलग अलग कीटाणु होते हैं, सब मिल कर एक जीव या एक शरीर नहीं हो जाते। ये समूहपिंड या चक्र इस प्रकार बनते हैं। चक्रबद्ध अणुजीवों में जो वृद्धिविधान होता है उसमें मोनरा और अमीबा के समान पूरा विभाग नहीं होता। एक अणुजीव का शरीर जब दो भागों में विभक्त होने लगता है तब मोनरा या अमीबा के समान दोनों भाग अलग अलग नहीं हो जाते, कललरस के एक सूत्र द्वारा एक दूसरे से लगे रहते हैं। फिर वे दोनों भाग अपनी पूरी बाढ़ पर पहुँचने पर उसी प्रकार दो दो भागों में विभक्त हो जाते हैं। इसी क्रम से एक जीव से अनेक जीव हो जाते हैं जो एक दूसरे से लगे रहते हैं। इस प्रकार के समूहचक्र के कीटाणु सब एक ढाँचे के होते हैं और प्रायः अलग अलग कोशों में रहते हैं।

समूहचक्र या छत्ते की योजना के अतिरिक्त एक और भी घनिष्ठ और गूढ़तर योजना होती है जिससे एक शरीर या समवायपिंड की उत्पत्ति होती है। इसमें बहुत से अणुजीवरूप घटक मिल कर एक शरीर या जीव हो जाते हैं। अणु जीवों को छोड़ और सब प्राणियों के शरीर बहुत से घटकों की ऐसी ही गूढ़ योजना से बने हैं। बड़े से बड़े जीवों का शरीर वास्तव में घटकों या अणुजीवों की एक ऐसी सुव्यवस्थित बस्ती है जिसमें एक प्रकार की एकता आ गई है। शरीर संघटित करने में घटकों की जो योजना होती है उसमें सब घटक मिल कर एक तन्तुपटल के रूप में हो जाते हैं और भिन्न भिन्न भागों में कार्यानुसार भिन्न भिन्न आकृतियाँ धारण करते हैं। जन्तुओं की पेशियाँ, हड्डियाँ, नसें, शिराएँ, संवेदन सूत्र इत्यादि सब अणुजीवरूप घटकों की योजना से संघटित हैं।

आरम्भ में अणुजीवरूप घटक मिल कर झिल्ली के रूप में हुए अतः सब से सादे और आदिम कोटि के बहुघटक जीव दुहरी या तिहरी झिल्ली के कोश के अतिरिक्त और कुछ नहीं थे। स्पंज या मुर्दा बादल इसी प्रकार के जीव हैं। ये समुद्र की चट्टानों आदि पर जमे रहते हैं, चल फिर नहीं सकते और कई प्रकार के होते हैं। स्लेट पोंछने के लिए लड़के जो स्पंज रखते हैं उसे बहुतों ने देखा होगा। स्पंज का शरीर छिद्रमय कोश मात्र होता है जिसके भीतर बहुत सी नलियाँ होती हैं। सूक्ष्म जीवों से पूर्ण जल मुखविवर से होकर भीतर जाता है और नलियों के द्वारा चारों ओर घूम कर सारे घटकों का पोषण करता है। इन नलियों के अतिरिक्त और अलग अलग अवयव नहीं होते और ये नलियाँ भी भिन्न भिन्न कार्यों के लिए भिन्न भिन्न नहीं होतीं,

सब समान रूप से जलवहन का कार्य करती हैं। ऐसा नहीं होता कि पाचन के लिए अलग नलियाँ हों और जलप्रवाह के लिए अलग। स्पंजों की वंशवृद्धि अमैथुनविधान से भी होती हैं और मैथुनविधान से भी। जिन निम्न कोटि के स्पंजों की वृद्धि अमैथुनविधान से होती है उनके शरीर पर कुड्मल या अंकुरबिंदु उत्पन्न होते हैं जो अलग होकर बढ़ते और पूरे जीव हो जाते हैं। बतलाने की आवश्यकता नहीं कि ये कुड्मल स्वतन्त्र घटक होते हैं जो विभागपरम्परा द्वारा एक से अनेक होकर शरीर की योजना करते हैं। मैथुनविधान वाले स्पंजों में पुं. घटक और स्त्री घटक एक ही जीव के भीतर होते हैं; उसी प्रकार जैसे अधिकांश पौधों में गर्भकेसर और परागकेसर एक ही फूल में होते हैं। पुरुष घटक फूट कर अनेक छोटे कणों में विभक्त हो जाता है। एक एक कण बढ़ कर पुछल्लेदार कीटाणु; जैसा कि शुक्रकीटाणु होता है, हो जाता है। स्त्रीघटक बढ़ कर गर्भांड के रूप में हो जाता है। स्पंज के शरीर के भीतर ही पुरुष कीटाणु गर्भांडरूप कीटाणु में प्रवेश करता है। संयोग के उपरान्त एकीभूत पिंड भीतर ही भीतर कुछ काल तक बढ़ता है, फिर बाहर निकल कर डिंभकीट के रूप में रोइयों के सहारे जल में तैरता फिरता है, और अन्त में किसी चट्टान पर जमकर बढ़ते बढ़ते स्पंज के रूप में हो जाता है।

स्पंज से उन्नत कोटि के जीव छत्रक, मूँगे आदि होते हैं जिनके शरीर में अवयवविधान कुछ अधिक होता है। उनके मुखविवर के नीचे एकबारगी खाली जगह नहीं पड़ती बल्कि नली के आकार का एक स्रोत थोड़ी दूर तक होता है, पक्वाशय अलग होता है, शिकार पकड़ने के लिए बहुत सी भुजाएँ होती हैं।

छत्रक कृमि की उत्पत्ति विलक्षण रीति से होती है। समुद्र या झील आदि में लकड़ी के तख्तों या चट्टानों पर रुई की तरह कोमल एक प्रकार के कृमियों का समूहपिंड जमा मिलता है जो देखने में बिलकुल पौधे के आकार का होता है। इसे खंडबीज कहते हैं क्योंकि यदि इसके कई खंड कर डालें तो प्रत्येक खंड बढ़ कर पूरा कृमिपिंड हो जाता है। इसके प्रधान खंड में से जगह जगह शाखाएँ निकली होती हैं जो सिरे पर चौड़ी होकर गिलास के आकार की होती हैं। इसी गिलास के भीतर असली कृमि बन्द रहता है, केवल उसकी सूत की सी भुजाएँ इधर उधर बाहर निकली होती हैं। अचरपिंड में बद्ध रहने वाले ये कृमि केवल नली के आकार के होते हैं। इनमें संवेदनसूत्र और इन्द्रियाँ आदि नहीं होतीं, संवेदन शरीरभर में होता है। पर कुछ शाखाओं के सिरों पर कुड्मलों का गुच्छा सा होता है। जब कुड्मल अपनी पूरी बाढ़ को पहुँच जाता है तब एक स्वतन्त्र जीव होकर खंड से अलग हो जाता है और चर जन्तु के रूप में इधर उधर तैरने लगता है। इसी को छत्रक कृमि कहते हैं। यह खुमी (छत्राक) के छाते के आकार का होता है और इसके चारों ओर चाबुक के आकार की लम्बी लम्बी भुजाएँ निकली होती हैं। इसके पेटे (नतोदर भाग) के बीचोबीच एक चोंगा सा निकला होता है जिसके सिरे पर मुँह होता है। इस चोंगे की जड़

से कई नलियाँ छाते की तीलियों की तरह निकल कर उस नली से मिली होती हैं जो मँडरे पर मंडलाकार होती है। मुँह के भीतर जो भोजन जाता है वह चोंगे के भीतर पचकर नलियों के द्वारा सारे शरीर में फैल कर पोषण करता है। मँडरे पर से जो भुजाएँ निकली होती हैं उनमें से आठ ऐसी होती हैं, जिनके मूल में एक एक सूक्ष्म गुठली सी होती है जिसे हम संवेदनग्रन्थि कह सकते हैं। इन इन्द्रियों या अवयवों से दिशा का ज्ञान होता है। सारांश यह कि छत्रक कृमि अपने जनक खंडबीज कृमि से बहुत अधिक उन्नत होता है। इसमें नेत्रबिन्दु के भी आभास होते हैं, संवेदनग्रन्थियों का भी विधान होता है। खंडबीज कृमि में स्त्री पुरुष विधान नहीं होता, कुड्मल विधान होता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। पर उसी से उत्पन्न छत्रक कृमि में स्त्री पुरुष अलग अलग होते हैं। नर के शुक्रकीटाणु जल में छूट पड़ते हैं और जल के प्रवाह द्वारा मादा के गर्भाशय में जाकर गर्भकीटाणु को गर्भित करते हैं। गर्भाधान के उपरान्त गर्भकीटाणु शीघ्र डिंभकीट के रूप में प्रवर्द्धित होकर अलग हो जाते हैं और कुछ दिनों तक जल में तैरते फिरते हैं। पीछे किसी चट्टान, लकड़ी के तख्ते आदि पर जम जाते हैं और धीरे धीरे बढ़कर पूरे खंडबीज कृमि हो जाते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इन्हीं खंडबीज कृमियों से फिर छत्रक कृमि की उत्पत्ति होती है। सारांश यह कि खंडबीज कृमि से छत्रक की उत्पत्ति और छत्रक से खंडबीज कृमि की उत्पत्ति होती है। प्रजनन के इस विधान को इतरेतर जन्म या 'योन्यंतर विधान' कहते हैं।

छत्रक कृमि से बारीक ढाँचा उन चिपटे केंचुओं का होता है जो कुछ रीढ़वाले जन्तुओं के यकृत और अँतड़ियों में होते हैं। भेंड़ के यकृत में पत्ती के आकार का जो चौड़ा चिपटा कीड़ा होता है उसके शरीर की ओर ध्यान देने पर दाहिने और बायें दो समविभक्त पार्श्व स्पष्ट दिखाई देंगे। कल्पित विभाग रेखा के दोनों ओर बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप से प्रायः एक ही प्रकार के ढाँचे पाए जायँगे। इस प्रकार की रचना को अर्द्धांग योजना कहते हैं। कीड़े का अगला भाग चौड़ा होता है जिसके बीचोबीच निकली हुई नोक पर मुँह होता है। मुख की औंठ पर एक मांसल छल्ला सा होता है जिसके द्वारा यह जन्तुओं के यकृत की दीवार से चिपटा रहता है। मुख की ओंठ से थोड़ा और पीछे हट कर पेटे की ओर एक दरार सा होता है जो जननेन्द्रिय का मुख है। इसी के बीचोबीच एक तुंड या ठोंठी सी होती है जो पुं. जननेन्द्रिय है। शरीर के पिछले छोर पर एक मलवाहक छिद्र होता है। मुख के भीतर थोड़ी दूर तक कंठनाल होती है जो आँतों से जा कर मिली होती है। आँतें इसकी अनेक शाखाओं में विभक्त होती हैं जिनमें काले रंग का रस या पित्त भरा होता है। यह पित्तरस उसी जन्तु के यकृत का होता है जिसके भीतर यह कीड़ा पलता है। उसी के पित्त और उसमें मिले हुए द्रव्य से इस कीड़े का पोषण होता है। अन्त्रविधान दाहिनी और बाईं दोनों ओर का अलग अलग होता है। आँतों से मिला हुआ कोई गुदाद्वार नहीं

होता, मुख ही एक द्वार होता है। आँतों के अतिरिक्त जलवाहक नलियों का पूरा जाल होता है। सब से बढ़ कर बात तो यह कि संवेदनसूत्रों का विधान होता है। कंठनाल के पास भेजे का छल्ला सा होता है जिसे हम मस्तिष्क का सादा रूप कह सकते हैं। इसी छल्ले से संवेदनसूत्र पीछे की ओर गए रहते हैं जिनमें दो सूत्र प्रधान हैं जो दाहिने और बायें दोनों ओर होते हैं। देखने सुनने आदि के लिए अलग अलग इन्द्रियाँ नहीं होतीं।

अब इसकी प्रजननप्रणाली पर भी थोड़ा ध्यान दीजिए। स्त्री पुरुष जननेन्द्रियाँ एक ही कीड़े में होती हैं। पुरुष जननेन्द्रिय में अण्डकोश नलिकाएँ, शुक्रवाहिनी नलियाँ और शिश्न तथा स्त्री जननेन्द्रिय में डिंभकोश, गर्भनाली, योनिमुख, अंडपोषक रस की ग्रन्थियाँ और नलियाँ होती हैं। शुक्रकीटाणु द्वारा गर्भित होने पर गर्भांड पोषक रस से घिर जाता है और फिर एक छिलके के भीतर बन्द हो जाता है। बढ़ चुकने पर यह अंडा अंतड़ियों में होता हुआ बाहर निकल जाता है और कुछ दिनों में रोईंदार लम्बे डिंभकीट के रूप में हो जाता है, जिसमें सिर की ठोंठ और दो नेत्रबिंदुओं के अतिरिक्त कोई और भीतरी अवयव नहीं होता। यदि यह जल में पहुँचा तो कुछ काल तक तैरता फिरता है और यदि तर घास के बीच पहुँचा तो रेंगता फिरता है। यदि इसे घोंघा मिल गया तो यह उसके भीतर अपने सिर के बल घुस जाता है और भीतर ही भीतर बढ़कर लम्बी थैली के आकार का हो जाता है। कुछ काल में इस थैली के भीतर घटकगुच्छ उत्पन्न हो जाते हैं। इस घटकगुच्छ के घटक विभागक्रम द्वारा बढ़कर पुछल्लेदार कीटों के रूप में हो जाते हैं और घोंघे के शरीर से बाहर निकल कर घास की पत्तियों पर चिपट जाते हैं। पत्तियों को जब भेड़ें खाती हैं तब ये उनके यकृत में पहुँच जाते हैं और चौड़े चिपटे यकृतकीट के रूप में हो जाते हैं। इन कीटों से कुछ उन्नत रचना मनुष्य के पेट में रहनेवाले लम्बे केंचुओं की होती है। एक प्रकार के और केंचुए होते हैं जो जन्तुओं के शरीर के भीतर नहीं होते, अधिकतर समुद्र में पाए जाते हैं। इन्हें मुँह और आँतों के अतिरिक्त रक्तवाहिनी नाड़ियाँ भी होती हैं। संवेदनग्राही अवयवों का विधान भी और केंचुओं से उन्नत होता है। भेजे के छल्ले के स्थान पर दो बड़ी संवेदनग्रन्थियाँ होती हैं जिन्हें हम मस्तिष्क कह सकते हैं। इसी मस्तिष्क से दो मोटे संवेदनसूत्र पीछे की ओर शरीर की लम्बाई तक गए रहते हैं। आँखें भी होती हैं।

प्राणियों में इन्द्रियों का विधान किस प्रकार हुआ? पहले कहा जा चुका है कि अत्यन्त आदिम कोटि के क्षुद्र जीवों में प्रकाश, शब्द तथा स्थूल पदार्थों का ग्रहण ऊपरी त्वक् पर सर्वत्र समान रूप से होता है। ऊपरी त्वक् सर्वत्र समान रूप से संवेदनग्राही होता है। क्रमशः ऊपरी त्वक् पर विभिन्नताएँ उत्पन्न होने लगीं। कुछ स्थानों में दूसरे स्थानों से कुछ विशेषता प्रकट होने लगी अर्थात् कुछ स्थान वाह्य विषयसम्पर्क को विशेष रूप से ग्रहण करने लगे। क्रमशः अभ्यास द्वारा ये स्थान

सम्पर्कग्रहण में अधिक तीव्र होते गए जिससे वाह्य विषयों का प्रभाव उन पर अधिक पड़ता गया। वाह्य विषयों के अधिक संयोग से उन स्थानों की बनावट में भी कुछ विशेषता आने लगी। फल यह हुआ कि संवेदनग्राही घटक अलग हो गए। उनसे संवेदनसूत्रों की योजना हुई। बाहरी त्वक् पर जहाँ कहीं प्रकाश, शब्द, स्थूल पदार्थ आदि का सम्पर्क हुआ कि इन्हीं सूत्रों के सहारे उसका संवेदन सारे संवेदनसूत्रजाल में दौड़ गया। क्रमशः इन संवेदनसूत्रों का एक केन्द्रस्थल ग्रन्थि के रूप में उत्पन्न हुआ जिसे ब्रह्मग्रन्थि कहते हैं। यही केन्द्रस्थान बड़े जीवों का मस्तिष्क है। वाह्य विषय भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं और उनका ग्रहण भी भिन्न भिन्न प्रकार से होता है। अतः वाह्य त्वक् के संवेदनग्राही स्थानों में भी क्रमशः भेदविधान होने लगा। एक स्थान एक प्रकार का विषय ग्रहण करने में अधिक तीव्र होता गया, दूसरा दूसरे प्रकार का। होते होते यहाँ तक हुआ कि एक प्रकार के विषय का ग्रहण एक ही निर्दिष्ट स्थान पर होने लगा जिससे भिन्न भिन्न इन्द्रियगोलकों का विकास हुआ जो पहले त्वक् की परतों से बने हुए सादे कोशों के रूप में ही प्रकट हुए। जिस स्थान पर अणुप्रवाह के योग से उस रासायनिक क्रिया का विधान होने लगा जिससे गन्ध का अनुभव होता है वहाँ घ्राणेन्द्रिय (नाक) की उत्पत्ति हुई। जहाँ वह रासायनिक क्रिया होने लगी जिससे स्वाद का अनुभव होता है वहाँ रसनेन्द्रिय का विधान हुआ। इसी प्रकार जहाँ आलोकग्रहण की ही भौतिक क्रिया बराबर होने लगी वहाँ उस जटिल यन्त्र का विधान हुआ जिसे आँख कहते हैं और जिसके द्वारा पदार्थों के आकृतिबिम्ब का ग्रहण होता है। विशेष प्रकार की वायुतरंगों का ग्रहण जहाँ होने लगा वहाँ कानों की रचना हुई। इन इन्द्रियों में सूक्ष्म से सूक्ष्म सम्पर्क के ग्रहण की शक्ति का विकास देखा जाता है। घ्राणेन्द्रिय द्रव पदार्थ के अणु के 3000,000,000वें भाग तक का अनुभव कर सकती है। चक्षुरिन्द्रिय एक मिनट में सवा करोड़ मील के लगभग चलने वाली आलोकतरंग का ग्रहण करती है।

अब तक जिन क्षुद्र जन्तुओं का वर्णन हुआ है उनका शरीर यहाँ से वहाँ तक एक होता है, खंडों में विभक्त नहीं होता। उनसे उन्नत कोटि के बहुखंड कीट होते हैं जिनका शरीर बहुत से जोड़ों से मिलकर बना जान पड़ता है; जैसे, मिट्टी के केंचुए, जोंक, कनखजूरे, केकड़े, भिड़, गुबरैले, फतिंगे, चींटियाँ इत्यादि। जन्तुओं की बनावट में ध्यान देने की बात यह है कि मुख ही एक ऐसा द्वार है जिससे पहले पहल वाह्य जगत् का सम्पर्क होता है अतः उसी के पास मुख्य इन्द्रियों का विधान होता है। जो भाग क्रिया में अधिक तत्पर होता है उसी में उस क्रिया सम्पादन के अनुकूल विधान होते हैं। अतः इन बहुखंड जन्तुओं में जो बहुत सादे ढाँचे के होंगे उनमें भी सिर अलग दिखाई देगा जिसमें आँख, कान आदि इन्द्रियद्वार होंगे और भीतर संवेदन का केन्द्रस्वरूप मस्तिष्क वा ग्रन्थि होगी जिससे संवेदनसूत्र पीछे की ओर को गए होंगे। इन कीड़ों के हृदय भी होता है जो लम्बी नली के आकार का और पीठ की

ओर होता है; छाती की ओर नहीं जैसा कि रीढ़वाले बड़े जीवों का होता है। बहुखंड कीटों के साधारणतः दो विभाग किए गए हैं–अपाद और सपाद। मिट्टी के केंचुए, जोंक आदि अपाद कीटों में हैं और झिंगा, केकड़ा, कनखजूरा, गुबरैला, चींटी इत्यादि सपाद कीटों में हैं। सपाद कीटों में षट्पद या पतंग कुल के कीट सबसे अधिक उन्नत होते हैं। चींटी, तितली, गुबरैला, टिड्डी, फतिंगा, किलनी, भौंरा, मक्खी इत्यादि इनके अन्तर्गत हैं। इनमें कुछ को पूरे पर निकलते हैं (जैसे तितली, गुबरैला, टिड्डी), कुछ को अधूरे और कुछ को निकलते ही नहीं (जैसे, किलनी)। कुछ ऐसे भी होते हैं जिनमें नर और मादा में से किसी एक को पर होते हैं, दूसरे को नहीं।

ध्यानपूर्वक देखने से पतंगकुल के कीटों का शरीर तीन खंडों में विभक्त दिखाई पड़ता है–सिर, वक्ष और उदर। किसी किसी कीट (जैसे, भिड़) में तो ये खंड केवल एक पतले तागे से जुड़े मालूम होते हैं। ये तीनों खंड भी कई जोड़ों से मिल कर बने होते हैं। सिरवाले खंड में मुँह पर पकड़ने, काटने या रस चूसने के लिए टूँड़ और आर होते हैं। वक्ष में जो तीन टुकड़े होते हैं उनमें से प्रत्येक में टाँगों का एक एक जोड़ा होता है। टाँगों के अतिरिक्त दोनों ओर पर भी होते हैं। उदरखंड में टाँगें आदि नहीं होतीं, छोर पर डंक तथा अंडवाहक अवयवों का विधान होता है। मुख के भीतर जो स्रोत होता है उसमें कई नलियाँ और थैलियाँ होती हैं। पाचन के लिए कई कोठों की अलग थैली होती है जिसमें पाचनरस की ग्रन्थियाँ होती हैं। यह थैली आँतों से मिली होती है। किसी किसी कीट में इसी थैली से लगा हुआ एक और कोठा होता है जिसमें आरे की तरह के दाँत या दंदाने होते हैं। सिर के नीचे मस्तिष्क का अच्छा विधान होता है। बड़े कीटों के मस्तिष्क में कई लोथड़े होते हैं जिसमें से एक पर आँखों का जटिल ढाँचा स्थित रहता है। इन कीटों की आँख की बनावट बड़ी विलक्षण होती है। एक ढेले के अन्तर्गत हजारों आँखें होती हैं। बड़ी मक्खी को बारह हजार आँखें होती हैं। बहुत से कीटों को इन यौगिक नेत्रों के अतिरिक्त सादी आँखें भी होती हैं और कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें आँखें बिलकुल नहीं होतीं। पतंगकुल के कीटों के संवेदन सूत्र भी उन्नत कोटि के होते हैं, उनमें स्थान स्थान पर ग्रन्थियाँ होती हैं।

पतंगकुल के कीटों में कुछ ही ऐसे होते हैं जिनके बच्चों का आकार अंडे से निकलने पर पूरी बाढ़ के जीवों का सा होता है। अधिकांश कीटों में कायाकल्प होता है अर्थात् अंडे से निकलने पर बच्चों में पूरे कीटों का कुछ भी आकार नहीं होता। डिंभपिंड परिवर्तन की गई अवस्थाओं में होकर तब पूरे अंग और अवयव को प्राप्त करता है। भिड़, गुबरैले, तितली, रेशम के कीड़े इत्यादि इसी प्रकार के जीव हैं। तितली को ही लीजिए। अंडे से निकलने पर उसका बच्चा एक लम्बे ढोले या सूँड़े के आकार का होता है जिसके आगे की ओर छः जोड़दार पैर होते हैं और पीछे की ओर कई बेजोड़ के और भद्दे पैर होते हैं। चबाने के लिए जबड़े भी होते हैं। यह डिंभकीट

कुछ काल तक इसी अवस्था में पेड़ पौधों पर रेंगता फिरता है। इसके उपरान्त यह सूत की तरह कात कर एक कोश बनाता है जिसके भीतर निश्चेष्ट और निःसंज्ञ होकर यह बन्द हो जाता है और कुछ काल तक उसी अवस्था में रहता है। कोश के भीतर ही इसका पूरा कायाकल्प होता है। कायाकल्प का काल जब पूरा हो जाता है तब यह सब अंग अवयवों से युक्त उड़नेवाली तितली होकर निकल आता है।

पतंगकुल के कीट इस बात के प्रमाण हैं कि जटिल और उन्नत अवयवों का विधान छोटे से छोटे जीवों में भी हो सकता है। हाथी का डीलडौल मनुष्य के डीलडौल से बहुत बड़ा होता है पर उसके वाह्य और अन्तःकरण उतनी पूर्णता को प्राप्त नहीं रहते जितने मनुष्य के रहते हैं। बिना रीढ़वाले जन्तुओं में पतंग सबसे अधिक उन्नत इन्द्रियवाले और बुद्धिमान होते हैं। भिड़, मधुमक्खी, चींटी इत्यादि में कैसी संचयबुद्धि होती है, किस कौशल और व्यवस्था के साथ वे समाज बाँध कर रहती हैं। डारविन ने कहा है कि चींटी का मस्तिष्क, जो और कीड़ों के मस्तिष्क से बड़ा होने पर भी आलपीन की नोक का चौथाई भी नहीं होता, संसार में सबसे चमत्कारपूर्ण द्रव्यकण है।

अधिकतर विद्वानों का मत है कि जिन जीवों का लालन पालन माता पिता द्वारा बहुत दिनों तक होता है अर्थात् जो बहुत दिनों तक माता पिता के स्नेह के आश्रित रहते हैं उनमें सहानुभूति और समाजबुद्धि का विकास अधिक होता है; जैसे, बन्दर, बनमानुस, मनुष्य आदि में। चींटी तथा समाज बाँधकर रहनेवाले और कीट भी; जैसे, भिड़, मधुमक्खी आदि, गुबरैले की दशा में बहुत दिनों तक पलते हैं इसीसे उनमें इतनी संघबुद्धि पाई जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस संघबुद्धि का विकास क्रमशः लाखों वर्ष की परम्परा के उपरान्त हुआ है।

बिना रीढ़वाले जन्तुओं में शुक्तिवर्ग के सीप, घोंघे, शंख आदि कोमलकाय जीव भी हैं जो सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से बड़े होते हैं। इस वर्ग के सबसे क्षुद्र कोटि के जीव चट्टानों आदि पर काई के समान जमे रहते हैं। अष्टपद ऐसे बड़े जीव भी इसी वर्ग में हैं जो अपने चारों ओर फैली हुई बड़ी बड़ी भुजाओं या पैरों से बड़े बड़े जन्तुओं को पकड़ लेते हैं। शुक्तिवर्ग के कुछ जीवों के कपाल हृदय आदि अलग अलग अंग नहीं होते। सीप को अलग सिर नहीं होता। इसी सीप के शरीर पर मोती होता है। एक प्रकार केंचुओं के डिंभ सीप के शरीर पर लगकर बन्द हो जाते हैं। जहाँ जहाँ वे बन्द हो जाते हैं वहाँ वहाँ गोल चमकीले उभार या फोड़े पड़ जाते हैं जो काल पाकर मोती के रूप में हो जाते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्तिवर्ग के सब जीव जलचारी हैं और उनके शरीर का ढाँचा उन्नत कोटि का नहीं होता, बहुत सादा होता है। अष्टपद को छोड़ और किसी के शरीर के भीतर किसी प्रकार का ढाँचा (जैसा कि रीढ़वाले जन्तुओं का अस्थिपंजर होता है) नहीं होता। पर उनमें शरीर के ऊपर एक कड़े आवरण की विशेषता होती है जल में मिले हुए चूने आदि द्रव्यों के संग्रह से बनता है।

बिना रीढ़वाले जन्तुओं से रीढ़वाले जन्तुओं में किन किन बातों की विशेषता होती है यह देख लेना चाहिए। पहली बात तो यह है कि बिना रीढ़वाले जन्तुओं में पाचनक्रिया, रक्तसंचार और संवेदनकेन्द्र तीनों के लिए एक ही घट होता है तथा शरीर को धारण करनेवाला ढाँचा जो कुछ होता है, ऊपर ही होता है। यह ढाँचा प्रायः आवरण के रूप में होता है और कड़े पड़े हुए चमड़े के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। पर रीढ़वाले जन्तुओं में दो अलग अलग घट होते हैं। छोटे वा कपालघट में विज्ञानमय कोश का केन्द्र अर्थात् मस्तिष्क और मेरुरज्जु, रहता है और मध्यघट में पाचन और रक्तसंचार के करण (यकृत, आँत और हृदय) होते हैं तथा शरीर को धारण करनेवाला ढाँचा कड़े अस्थिपंजर के रूप में भीतर होता है। इस ढाँचे का सबसे विलक्षण भाग है रीढ़ या मेरुदंड। रीढ़ हड्डी गुरियों की बनी होती है जो मेरुदंड के पूर्वरूप लचीले सूत्रदंड के अवशिष्ट से परस्पर जुड़ी रहती हैं। बनावट की इस विशेषता के कारण सारी रीढ़ आवश्यकतानुसार लच और मुड़ सकती है जिससे रीढ़वाले जन्तुओं को चलने, फिरने, उछलने, कूदने में बड़ी आसानी होती है। मछलियों का झपटना, मेंढकों का कूदना, साँपों का रेंगना, हिरन का चौकड़ी भरना, शेर का उछलना देखने से यह बात ध्यान में आ सकती है। रीढ़वाले जन्तुओं को सजीव हड्डियाँ होती हैं जिनके भीतर रक्त का संचार होता है। वे शरीर के कोमल भागों की रक्षा करती हैं। ढाँचे की इसी विशेषता के कारण ये बिना रीढ़ के जन्तुओं से इतने बढ़े चढ़े होते हैं। बहुखंड कीटों के समान इनका शरीर भी दो समान पार्श्वों दाहिने और बाएँ में बँटा होता है और कई खंडों के जोड़ से बना होता है। इनके शरीर के भी तीन विभाग होते हैं—सिर, वक्ष और उदर। पर चारी अंग (हाथ पैर) चार से अधिक नहीं होते अर्थात् उनका एक एक जोड़ा दोनों ओर होता है—चाहे वह मछली के मुख्य परों के रूप में हो (इन जोड़ेदार परों के अतिरिक्त मछली के और छोटे छोटे पर होते हैं जिनका कोई हिसाब नहीं होता), चाहे चिड़ियों की टाँगों और डैनों के रूप में, चाहे चौपायों के अगले और पिछले पैरों के रूप में और चाहे मनुष्यों के हाथ पैर के रूप में। इन सब जीवों के ढाँचे एक ही आदिम ढाँचे से क्रमशः उत्पन्न हुए हैं।

विकास परम्परा के अनुसार बिना रीढ़वाले जन्तुओं से ही क्रमशः रीढ़वाले जन्तुओं की उत्पत्ति हुई है। पहले बिना रीढ़वाले और रीढ़वाले जन्तुओं के बीच के जीव हुए होंगे जिनके शरीर के भीतर कुछ कुछ पंजराभास प्रकट हुआ होगा। इस प्रकार के कुछ अवशिष्ट जीव अब तक पाए जाते हैं। समुद्र में थैली के आकार का एक जन्तु होता है जो चट्टानों पर चिपटा रहता है। इसके एक मुँह और एक उत्सर्ग छिद्र होता है। मुँह के नीचे साँस लेने की थैली होती है जिसमें बहुत से छेद होते हैं। यह थैली नीचे उदराशय से मिली होती है जिसमें अँतड़ियाँ होती हैं, और झुककर उत्सर्गद्वार तक गई होती हैं। भीतर खींचा हुआ पानी अम्लजन या प्राणदवायु

शरीर में पहुँचा कर इसी द्वार से निकल जाता है। हृदय एक लम्बी नली के आकार का होता है और शरीरघट के पिछले भाग में स्थित होता है। इसका विज्ञानमय कोश एक संवेदनग्रन्थि मात्र होता है जो मुँह और उत्सर्गद्वार के बीच में रहती है। इस संवेदनग्रन्थि की स्थिति में रीढ़वाले जन्तुओं के साथ इसके सम्बन्ध का पता लगता है। पर सबसे बढ़कर प्रमाण अंडे से निकलने पर इसकी वृद्धि के क्रम की ओर ध्यान देने से मिलता है। अंडे से जो डिंभकीट निकलता है वह मेंढक के डिंभकीट (छुछमछली) से बिलकुल मिलता है। दोनों में उन चार विशेष अंगों का विधान होता है जो समस्त रीढ़वाले जन्तुओं में गर्भावस्था से लेकर किसी न किसी अवस्था में पाए जाते हैं। चारों अंग ये हैं–(1) गला और गलफड़ों के छिद्र, (2) मेरुदंडाभास, जो एक चिकने सूत्रदंड की तरह का होता है और रीढ़ का पूर्व रूप है, (3) मस्तिष्क और मेरुरज्जु तथा (4) दर्शनेन्द्रिय जो मस्तिष्क के भीतर होती है। आँखवाले बिना रीढ़ के जन्तुओं की दर्शनेन्द्रिय का संवेदन पटल (प्रकाश ग्रहण करनेवाला भाग) ऊपरी त्वक् से ही उत्पन्न होता है। डिंभकीट अवस्था से आगे चल कर इस समुद्रजन्तु और मेंढक के डिंभकीट एक दूसरे से भिन्न अवस्था को प्राप्त होते हैं। मेंढक का डिंभकीट तो छुछमछली की अवस्था से जलस्थलचारी जन्तु हो जाता है, गलफड़ों के स्थान पर साँस लेने के लिए उसे फेफड़ा उत्पन्न हो जाता है, दुम उसकी गायब हो जाती है और चार पैर निकल आते हैं। अर्थात् जलचर मछली के रूप में जलस्थलचारी मेंढक के रूप में आने में मेंढक के प्राचीन पूर्वजों ने जिन अवस्थाओं को पार किया है, मेंढक के डिंभवृद्धिक्रम में उनकी संक्षिप्त उद्धरिणी देखी जाती है। पर उक्त समुद्रजन्तु का डिंभकीट आगे चलकर भिन्न अवस्था को प्राप्त होता है। उसकी दुम, मेरुरज्जु, संवेदनरज्जु और आँख गायब हो जाती है, मस्तिष्क छोटा सा रह जाता है, गलफड़ों के छिद्र अधिक हो जाते हैं, त्वक् कड़ा हो जाता है और अन्त में वह बिना हाथ पैर और आँख का थैली के आकार का जन्तु होकर अचल पौधे की तरह किसी चट्टान आदि पर जम जाता है और वहीं पौधे की तरह पर उसका पोषण होता है।

थैली के आकार के समुद्री जन्तु से कुछ उन्नत कोटि का एक और जन्तु होता है जिसे अकरोटी मत्स्य (बिना सिर की मछली) कहते हैं। यह देखने में जोंक की तरह का एक झलझलाता हुआ कीड़ा होता है जिसे सिर नहीं होता और आँख भी एक ही होती है। इसके मुँह पर खड़े खड़े सूत से होते हैं जिसके द्वारा यह खाद्यपूर्ण जल भीतर लेता है। यह जल मुँह के नीचे चौड़ी गलनाल में जाकर प्राणदवायु प्रदान करता हुआ उत्सर्गद्वार से होकर निकल जाता है। कोई हृत्पिण्ड न होने के कारण रक्त का संचालन नलियों के आकुंचन द्वारा होता है। इस जन्तु की गिनती रीढ़वाले प्राणियों में की गई है क्योंकि इसे रीढ़ के स्थान पर एक सूत्रदंड होता है, जिसके ऊपर यहाँ से वहाँ तक एक संवेदनसूत्र होता है जो मुँह के पास जा कर कुछ निकला

सा होता है। ऊपर थैली के आकार के जिस समुद्रजन्तु का उल्लेख हो चुका है उसकी संवेदनग्रन्थि यदि लम्बी कर दी जाय तो इसके और उसके संवेदनविधान बिलकुल एक से हो जायँ। इससे सिद्ध होता है कि दोनों एक ही पूर्वज जन्तु से निकले हैं।

अब हम मछलियों को लेते हैं जो रीढ़वाले जन्तुओं में सबसे सादे ढाँचे की समझी जाती हैं। इनमें जो आदिम कोटि की होती हैं जैसे शार्क आदि, उनके भीतर कड़ी हड्डियाँ नहीं होतीं। नरम हड्डी की रीढ़ होती है और पीठ पर दालदार खोलड़ी होती है जिस पर चौखूँटे उभरे हुए खाने कटे होते हैं। और मछलियों के भीतर कड़ी हड्डियों का ढाँचा होता है। मछलियों को साँस लेने के लिए फुप्फुस या फेफड़ा नहीं होता, वे गलफड़ों से साँस लेती हैं। मछलियों से ही विकास परम्परानुसार क्रमशः मेंढक आदि जलस्थलचारी जन्तु उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार बिना रीढ़वाले जन्तुओं और रीढ़वाले जन्तुओं के बीच के जन्तुओं के कुछ नमूने अब तक पाए जाते हैं, उसी प्रकार जलचर मत्स्यों और जल स्थलचारी जन्तुओं के मध्यवर्ती जन्तु भी अब तक मिलते हैं। मछलियों का एक भेद होता है जो उभयश्वासी कहलाता है। उभयश्वासी मछलियों को साँस लेने के लिए गलफड़े भी होते हैं और एक हवा की थैली भी जो फेफड़े का काम देती है। इससे ये मछलियाँ पानी में भी साँस ले सकती हैं अर्थात् जल में मिली हुई अम्लजन वा प्राणदवायु ग्रहण कर सकती हैं, और पानी के बाहर जमीन पर भी। ऐसी दो मछलियाँ पाई गई हैं—एक दक्षिण अमेरिका में और एक आस्ट्रेलिया में। इन दोनों के पर नहीं होते, पर के स्थान पर चार लम्बे लम्बे अंकुर से होते हैं जिन्हें पैरों का पूर्वरूप समझना चाहिए। ये जमीन पर बहुत देर तक रह कर साँस ले सकती हैं। हिन्दुस्तान की बाँग मछली भी बहुत देर तक पानी के बाहर रह सकती है।

इस प्रकार जलचारी और स्थलचारी जन्तुओं के मध्यवर्ती उभयचारी जन्तुओं तक हम पहुँचते हैं जिनमें सबसे अधिक ध्यान देने योग्य है मेंढक। अंडे से फूटने पर मेंढक का डिंभकीट मछली के रूप में आता है, जल ही में रहता है, गलफड़े से साँस लेता है और घासपात खाता है। उसे लम्बी पूँछ होती है, पैर नहीं होते। फिर धीरे धीरे कायाकल्प करता हुआ वह उभयचारी जन्तु का रूप प्राप्त करता है और जालीदार पंजों से युक्त पैरवाला, फेफड़े से साँस लेनेवाला, कीड़ेफतिंगे खाने वाला मेंढक हो जाता है। उन्नत कोटि के समस्त रीढ़वाले प्राणी फेफड़े से साँस लेते हैं जो, जैसा ऊपर दिखाया गया है, गलफड़ों का ही क्रमशः समुन्नत रूप है।

उभयचारी जन्तुओं से ही विकास परम्परा द्वारा सरीसृपों की उत्पत्ति हुई है। इस सरीसृपवर्ग के अन्तर्गत साँप, छिपकली, गिरगिट, मगर, घड़ियाल इत्यादि बहुत से जन्तु हैं। पृथ्वी के एक पूर्वकल्प में इस वर्ग के बड़े बड़े भीमकाय जन्तु होते थे। तीस तीस हाथ लम्बी आरेदार छिपकलियाँ होती थीं जो हवा में उड़ती थीं। धीरे धीरे पृथ्वी पर ऐसे परिवर्तन होते गए जो उनकी स्थिति के प्रतिकूल थे। इस प्रकार

क्रमशः उनका लोप हो गया। अब भूगर्भ के भीतर उनकी ठठरियाँ कभी कभी मिल जाती हैं।

पंजेवाले सरीसृपों से पक्षियों की उत्पत्ति हुई। दोनों में ढाँचे की बहुत कुछ समानता अब तक है—जैसे दोनों में रीढ़ के साथ खोपड़ी एक ही जोड़ से जुड़ी होती है; दो जोड़ों के द्वारा नहीं जैसा कि अधिकांश उभयचरों तथा सब रीढ़वाले जन्तुओं में होता है और खोपड़ी के साथ जबड़े कुछ हड्डियों से इस प्रकार जुड़े रहते हैं कि वे बहुत अधिक खुल सकते हैं। पर इन समानताओं के होते हुए भी पक्षियों के ऊपरी और भीतरी ढाँचे में बहुत कुछ परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं जिनका विधान कई लाख वर्षों के बीच स्थिति के अनुसार क्रमशः होता गया है। सरीसृपों का तीन कोठों का हृदय पक्षियों में आ कर चार कोठों का हो गया जिससे शुद्ध ताजा रक्त शरीर में घूम कर लौटे हुए अशुद्ध रक्त से अलग रहने लगा और शरीर में गरमी रहने लगी। सरीसृपों की केंचुल या खोलड़ी और पक्षियों के पर दोनों ऊपरी त्वक् के विकार हैं। इसी प्रकार दूसरे जन्तुओं के बाल, मुख और खुर भी त्वक् से ही उत्पन्न हैं, त्वक् के ही विकार हैं। इन्द्रियाँ भी ऊपरी त्वक् के ही विकार हैं। एक प्रकार के प्राणियों में ही कुछ के ढाँचों में किसके प्रभाव से ऐसी विशेषताएँ उत्पन्न होती गईं कि उनसे नए नए ढाँचे के जीव उत्पन्न हुए? इसका सीधा उत्तर यही है कि वाह्य सम्पर्क के प्रभाव से। यह सोच कर आश्चर्य अवश्य होता है कि आदिम क्षुद्र अणुजीवों की सूक्ष्म झिल्ली से विज्ञानमय कोशयुक्त उन्नत प्राणियों की कई परतों की विचित्र त्वचा का प्रादुर्भाव हुआ। पर यह भी समझना चाहिए कि यह बात दो चार दिनों में तो हुई नहीं, कई लाख वर्षों के बीच लगातार प्रभाव पड़ते रहने से शनैः शनैः हुई है।

विकासक्रम में सरीसृपों से आगे होने के कारण पक्षियों का मस्तिष्क बड़ा होता है। उनमें बुद्धि का विकास सरीसृपों से कहीं अधिक देखा जाता है। उनमें दृष्टि का विस्तार मनुष्यों से कहीं अधिक होता है। स्मरणशक्ति भी उनकी मनुष्य से बहुत बढ़ चढ़ कर होती है। हजारों कोस समुद्र पार के देशों से होकर एक सी चिड़िया फिर उसी पेड़ वा झाड़ी पर आ जाती है जिस पर पिछले वर्ष उसने घोंसला बनाया था।

पक्षियों से अब हम स्तन्य वा दूध पिलानेवाले जीवों की ओर आते हैं। आदिम रूप के स्तन्य जन्तु पक्षियों से कई बातों में मिलते जुलते हैं। एक तो उन्हें दाँत नहीं होते, दूसरे हृदय और आँतों आदि सबके लिए एक ही कोठा होता है। इस प्रकार के जन्तु अब तक दो ही पाए गए हैं और दोनों आस्ट्रेलिया में, एक तो बत्तखघूँस जिसे बत्तख की तरह कड़ी, चौड़ी चोंच होती है और जिसके पंजों की उँगलियों के बीच झिल्लियाँ होती हैं; दूसरा चींटीखोर जो खरहे के इतना बड़ा होता है। ये दोनों जानवर अंडे देते हैं। अंडे से निकलने पर बच्चे माता का दूध पीकर पलते हैं। सरीसृपों, पक्षियों और स्तन्य जीवों के मध्यवर्ती इन जन्तुओं के वर्ग को अंडज स्तन्य वर्ग

कहते हैं। इस वर्ग से कुछ उन्नत वर्ग में अजरायुज स्तन्य हुए जिनके दो नमूने अब तक मिलते हैं—आस्ट्रेलिया का कंगारू और ओपोसम। ये यद्यपि पिंडज जन्तु हैं पर इनके बच्चे पूरे बने हुए नहीं पैदा होते और बहुत दिनों तक माता उन्हें अपने पेट में बनी हुई एक थैली में रखती है। बाहर निकल कर डोलते हुए बच्चे किसी प्रकार की आहट पाने पर झट थैली में घुस जाते हैं।

तीसरा वर्ग जरायुजों का है जो सब से अधिक उन्नत है और जिसके अन्तर्गत कुत्ते, बिल्ली, हाथी, घोड़े, बन्दर, मनुष्य आदि हैं। इस वर्ग के जन्तुओं में जरायुज की विशेषता होती है जिसके द्वारा भ्रूण गर्भ में ही बढ़ता और अपने आकार को पूर्ण करता है। इनके बच्चे सब अंगों से युक्त हिलते डोलते पैदा होते हैं। इन्हीं जरायुजों की एक शाखा किंपुरुष हैं जिसके अन्तर्गत बन्दर, बनमानुस और मनुष्य हैं। बिना पूँछ के बनमानुसों से मिलते जुलते पूर्वजों से ही क्रमशः विकास परम्परा द्वारा मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ जो भूमण्डल के प्राणियों में सबसे श्रेष्ठ है।

संक्षेप में विकास सिद्धान्त का यही सारांश है जिसे डारविन ने जीवन भर लगातार श्रम करके अनेक प्रमाणों के संग्रह के उपरान्त प्रतिष्ठित किया। डारविन के पीछे अनेक वैज्ञानिकों ने अपने नए नए अनुसंधानों द्वारा इस मत को पुष्ट किया। भूगर्भ के भीतर अतीत युगों के जीवों के पंजरों की जो खोज हुई उससे इस सम्बन्ध में बहुत सहायता मिली। एक वर्ग और योनि के जीवों से दूसरे वर्ग और योनि के जीवों का विधान एकबारगी तो हुआ नहीं, क्रमशः लाखों पीढ़ियों में जाकर हुआ है। किसी योनि के कुछ प्राणियों में स्थिति के अनुरूप औरों से कुछ विशेषताएँ उत्पन्न हुईं जो पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ती गईं यहाँ तक कि लाखों वर्षों की अखंड परम्परा के उपरान्त उनका कुल ही अलग हो गया। इससे यह प्रकट है कि किसी एक ढाँचे के जीव से जब कि दूसरे ढाँचे के जीव की उत्पत्ति हुई है तब ऐसे जीव भी अवश्य होने चाहिए जो दोनों के बीच के हों। ऐसे जीव कुछ तो अब तक वर्तमान हैं और कुछ के पंजर भूगर्भ के भीतर पाए गए हैं। विकास सिद्धान्त के पहले लोगों का विश्वास था कि इस समय पृथ्वी पर जितने प्रकार के जीव हैं सब के सब सृष्टि के आदि में एक साथ ही उत्पन्न किए गए। डारविन ने यह दिखाकर कि एक ही प्रकार के आदिम क्षुद्र जीवों से क्रमशः नाना प्रकार के जीवों का विधान होता आया है, स्थिरयोनि सिद्धान्त का पूर्णरूप से खंडन कर दिया।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म आदिम अणुजीवों से उत्तरोत्तर उन्नत कोटि के जीवों की उत्पत्ति की जो परम्परा स्थूल रूप से ऊपर दिखाई गई है, उसकी संक्षिप्त उद्धरणी प्रत्येक प्राणी के भ्रूण के वृद्धिक्रम में देखी जाती है। जिस प्रकार सृष्टि के करोड़ों वर्षों के इतिहास में एक रूप के जीव से क्रमशः दूसरे रूप के जीव की उत्पत्ति होती आई है, उसी प्रकार प्रत्येक जीव का भ्रूण गर्भ के भीतर या बाहर एक रूप से दूसरे रूप में तब तक आता रहता है जब तक उसका सारा ढाँचा अपने माता पिता के अनुरूप

नहीं हो जाता। कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी जन्तु का भ्रूण समूचा शरीर बनने के पहले जिस क्रम से एक के उपरान्त दूसरा रूप उत्तरोत्तर प्राप्त करता है, वह प्रायः वही क्रम है जिस क्रम से पृथ्वी पर एक ढाँचे के जीव से दूसरे ढाँचे के जीव उत्पन्न हुए हैं। मेंढक को लीजिए जो उभयचारी (जलस्थलचारी) जीव है। पहले दिखाया जा चुका है कि जलचर मत्स्यों से क्रमशः उभयचर जन्तुओं की उत्पत्ति हुई है। अंडे से निकलने पर कुछ दिनों तक मेंढक के बच्चे मछली के रूप में रहते हैं, फिर मेंढक के रूप में आते हैं। पिंडवृद्धि का यह विधान मेंढक में गर्भ के बाहर होता है इससे हमलोग देख सकते हैं। पर बड़े जीवों में पिंडवृद्धि का सारा विधान गर्भ के भीतर होता है—जिस क्रम से सृष्टि के बीच आदिम एकघटक अणुजीवों से आरम्भ होकर एक ढाँचे के जीव से दूसरे ढाँचे के जीव की उत्पत्ति हुई है, उसी क्रम से गर्भस्थ पिंड एक रूप से दूसरा रूप तब तक उत्तरोत्तर प्राप्त करता जाता है जब तक वह उस जन्तु का पूरा आकार प्राप्त नहीं कर लेता जिसका वह भ्रूण होता है। गर्भपरीक्षा द्वारा यह बात देखी जा सकती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि एकघटक अणुजीवों से बहुघटक जीवों की उत्पत्ति हुई है। पहले अत्यन्त क्षुद्र कोटि के जीवों में सब घटक सब प्रकार के कर्म और संवेदन व्यापार करते थे। पर क्रमशः कार्यविभाग द्वारा घटकों में विभिन्नता आती गई। कुछ घटक एक प्रकार के व्यापार करने लगे और कुछ दूसरे प्रकार के। इस प्रकार उनके ढाँचे भी एक दूसरे से भिन्न हुए। आँख के घटक, कान के घटक, नाक के घटक, नाड़ियों के घटक, आँतों के घटक, संवेदनसूत्रों के घटक, मस्तिष्क के घटक भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। स्पंज आदि अत्यन्त क्षुद्र कोटि के जीवों में स्त्री घटक और पुरुष घटक एक ही प्राणी के शरीर में होते हैं। आगे चलकर जो उनसे उन्नत कोटि के जीव हुए उनमें नर और मादा अलग अलग हुए। नर में पुरुष घटक और मादा में स्त्री घटक रहते हैं। पुरुष के शुक्रकीटाणु और स्त्री के रजःकीटाणु इसी प्रकार के घटक हैं। शुक्रकीटाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। एक बूँद वीर्य में ये लाखों होते हैं। ये पुछल्लेदार होते हैं। रजःकीटाणु इनसे बड़े होते हैं अर्थात् एक इंच के 125वें भाग के बराबर होते हैं। समुद्र में पाए जाने वाले पुछल्लेदार अणुजीवों का पहले वर्णन हो चुका है जो तरुणावस्था प्राप्त होने पर दो भिन्न प्रकार के पिंडों में विभक्त हो जाते हैं, एक पुरुष कीटाणुचक्र और दूसरा गर्भांड। पुरुष कीटाणुचक्र का प्रत्येक पुछल्लेदार कीट मनुष्य, कुत्ते, बिल्ली आदि के शुक्रकीटाणु से मिलता जुलता होता है। गर्भांड जल में छूट कर उसी प्रकार अचल रहता है जिस प्रकार प्राणियों के गर्भ के भीतर का रजःकीट या गर्भांड। जल के भीतर किस प्रकार कीटाणुचक्र के कीट और गर्भांड का संयोग होता है यह पहले दिखाया जा चुका है। बहुत से कीट जल में अपने पुछल्लों को लहराते हुए गर्भांड को जा घेरते हैं जिनमें से कोई एक गर्भांड के भीतर प्रवेश कर जाता है। यही गर्भांड का गर्भित होना कहा जाता

है। जैसा संयोग उक्त अणुजीवों में बाहर होता है ठीक वैसा ही मनुष्य आदि प्राणियों में गर्भाशय के भीतर होता है। मनुष्य के ही गर्भ को लीजिए।

गर्भाशय के भीतर जब शुक्रकीटाणु गर्भांड में प्रवेश कर जाता है तब दोनों मिलकर एक घटक हो जाते हैं जिसे अंकुरघटक कहते हैं। यह कललरसपूर्ण एक सूक्ष्म कणिका मात्र; एक इंच के 125वें भाग के बराबर होता है। एकघटक अणुजीवों के समान इसकी वृद्धि भी विभाग द्वारा उत्तरोत्तर होती है। कुछ काल तक तो सब घटक एक गुच्छे के रूप में होते हैं, फिर सब बाहरी सतह पर आकर एक झिल्ली के रूप में मिल जाते हैं और भीतर खाली जगह पड़ जाती है। इस प्रकार एक झिल्ली का खोखला गोला सा बन जाता है। थोड़े ही दिनों में इस गोले की झिल्ली एक ओर से पचक कर धँसने लगती है जिससे दोहरी झिल्ली का एक कटोरा सा बन जाता है। इसको 'द्विकल घट' कहते हैं जिससे क्रमशः सब अंगों और अवयवों का विधान होता है। बाहरी कला या झिल्ली से ऊपरी त्वक् की और संवेदनसूत्रों से संघटित मनोविज्ञानमय कोश की रचना होती है और भीतरी झिल्ली से अंत्रावलि आदि का प्रादुर्भाव होता है। द्विकलघट के भीतर के खाली स्थान को पेट का आदिम रूप समझना चाहिए और उसके सादे छिद्र को मुँह का। हैकल ने सूचित किया कि यही द्विकलघट सब बहुघटक प्राणियों का आदिम रूप है। इसी से विकास परम्परानुसार सब बहुघटक प्राणियों की उत्पत्ति हुई है। उन्होंने स्पंज आदि अब तक पाए जानेवाले द्विकलात्मक सादे जीवों की ओर ध्यान दिलाकर अपने कथन की पुष्टि की।

इस पृथ्वी पर सादे द्विकलघट जीवों से क्रमशः एक दूसरे के उपरान्त जिन जिन ढाँचों के जीव मनुष्य तक आनेवाली उत्पत्ति परम्परा में उत्पन्न हुए हैं उन ढाँचों को गर्भ के भीतर गर्भपिंड उत्तरोत्तर प्राप्त करता हुआ मनुष्य के रूप में आता है। मनुष्य रीढ़वाला जन्तु है और रीढ़वाले जन्तुओं में सबसे आदिम और क्षुद्रकोटि की मछलियाँ हैं। अस्तु, और रीढ़वाले जन्तुओं के समान मनुष्य का विकास भी जलचर पूर्वजों से क्रमशः हुआ है। इसी से आरम्भ में मनुष्य के मूलपिंड में भी जलचरों के समान गलफड़े होते हैं जो आगे चलकर गायब हो जाते हैं। हृदय भी पहले पहल सुकड़ने फैलनेवाला एक सादा कोठा मात्र होता है जैसा कि क्षुद्र कीटों का होता है। पीठ की रीढ़ पूँछ के रूप में दूर तक बढ़ी होती है। आगे चलकर जब हाथ पैर का ढाँचा तैयार होता है तब पहले पैर का अँगूठा लम्बा होता है और हाथ के अँगूठे के समान इधर उधर सब उँगलियों पर उसी प्रकार जा सकता है जिस प्रकार बन्दरों और बनमानुसों का। प्रसव के दो तीन महीने पहले हथेलियों और तलवों को छोड़ सारे शरीर में रोएँ रहते हैं। गर्भ से बाहर आने पर भी बच्चे का सिर और अंगों के हिसाब से कुछ बड़ा होता है और हाथ भी कुछ लम्बे होते हैं। नाक में बाँसा (बीचोबीचवाली ऊपर की हड्डी) न होने के कारण वह चिपटी होती है। ये सब लक्षण बनमानुसों के हैं। एक ढाँचे के जीव से दूसरे ढाँचे के जीव उत्पन्न होने की करोड़ों

वर्ष की परम्परा की उद्धरणी नौ महीनों के भीतर इस प्रकार संक्षेप में हो जाती है। गर्भविधान में किसी एक अवस्था में पहुँचे हुए पिंड सब जीवों के समान होते हैं। यदि हम मनुष्य, कुत्ते और कछुवे के दो महीने के पिंड को लेकर देखें तो उनमें कुछ भी अन्तर न पावेंगे, उनका ढाँचा एक ही होगा।

विकासनियम की चरितार्थता पहले सजीव सृष्टि (जन्तु और वनस्पति) में ही दिखाई गई। फिर वैज्ञानिकों ने उसे लेकर सम्पूर्ण जगद्विधान पर घटाया और नाना रूपों के पदार्थों को एक ही मूलरूप के द्रव्य से उत्तरोत्तर उत्पन्न सिद्ध किया। इस प्रकार विकास एक विश्वव्यापक नियम माना जाता है। नाना मतों और सम्प्रदायों की पौराणिक सृष्टिकथाओं का इस सिद्धान्त से सर्वथा विरोध है। वे इस विकासवाद के अनुसार असंगत ठहरती हैं; क्योंकि वे सम्पूर्ण चराचर सृष्टि का एक ही समय में ईश्वर द्वारा उसी प्रकार रचित बतलाती हैं जिस प्रकार कोई कारीगर नाना प्रकार की वस्तुएँ बना कर सजाता है।

इसी विकासवाद को लेकर हैकल आदि ने अपने प्रकृतिवाद या अनात्मवाद की प्रतिष्ठा की है जिसका विरोध पौराणिक कथाओं तक ही नहीं रह जाता बल्कि सारे ईश्वरवादी या आत्मवादी दर्शनों तक पहुँचता है। विकाससिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी अधिकांश दर्शन नित्य चेतन तत्त्व मानते हैं और उसकी भावना कई प्रकार से करते हैं। हैकल चैतन्य को द्रव्य का एक परिणाम कहते हैं जिसका विकास जन्तुओं के मस्तिष्क ही में होता है। उनका कहना है कि आत्मा शरीरधर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अतः उसे शरीर से पृथक् एक अभौतिक नित्य तत्त्व मानना भूल है। शरीर के साथ ही उसकी भी इतिश्री हो जाती है। अन्तःकरण को अपने व्यापारों का जो बोध होता है वही चेतना है। जिस प्रकार विषयसम्पर्क द्वारा इन्द्रियों और संवेदनसूत्रों में कई प्रकार के क्षोभ होते हैं उसी प्रकार मस्तिष्क में जाकर उनके द्वारा उत्पन्न संकारों का बोध भी होता है। अतः चेतना भी भौतिक अन्तःकरण का ही व्यापार है जो उस करण के नष्ट होने पर नष्ट हो जाती है। विकाससिद्धान्त को लेकर हैकल ने दिखाया है कि अत्यन्त क्षुद्र कोटि के जन्तुओं में, जिनमें संवेदनसूत्रों और मस्तिष्क आदि का पूरा विधान नहीं होता, अन्तःकरणव्यापार चेतन अवस्था को नहीं पहुँचे रहते। उनमें अत्यन्त सादी चाल के संवेदनव्यापार होते हैं जिनके अनुसार उनके शरीर का आकुंचन, प्रसारण और संचालन आदि होता है पर उनके अन्तःकरण में उस अवयव का विधान न होने के कारण, जिसमें संवेदनव्यापार का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उनमें चेतना का अभाव होता है। पर विकास परम्परा में ज्यों ज्यों हम उन्नत कोटि के प्राणियों की ओर आते हैं त्यों त्यों उसका उत्तरोत्तर अधिक विधान पाते हैं। अतः चैतन्य कोई नित्य और अपरिच्छिन्न सत्ता नहीं, वह परिणामशील है और उसमें घटती बढ़ती होती है।

यहाँ पर स्थूल मनोविज्ञानमय कोश का अर्थात् उस शरीरविधान का जिसके

द्वारा संवेदना और मनोव्यापार होते हैं, थोड़ा वर्णन आवश्यक है। शरीर का कोई भाग यदि खोला जाता है तो हम देखते हैं कि बहुत से मोटे, महीन तन्तुओं और सूत्रों का घना जाल फैला है। ये तन्तु और सूत्र कई प्रकार के दिखाई देते हैं—कोई लाल, कोई नीले, कोई सफेद। उनमें से लाल और नीले डोरे तो रक्तवाहिनी नलियाँ हैं जो पोली होती हैं। जो ठोस सफेद डोरे दिखाई देते हैं वे ही संवेदन सूत्र हैं। ये बहुत दृढ़ होते हैं। इन्द्रियों पर पड़ा हुआ सम्पर्क प्रभाव इन्हीं से होकर मस्तिष्क में पहुँचता है और संस्कार उत्पन्न करता है तथा उस संस्कार द्वारा उत्पन्न क्षोभ फिर इन्हीं सूत्रों से प्रवाह के रूप में चलकर मांसपेशियों में गति उत्पन्न करता है और अंगों को प्रेरित करता है। इन सूत्रों का मूलकेन्द्र मस्तिष्क और उससे मिला हुआ मेरुरज्जु है जो रीढ़ के बीचोबीच होता हुआ बराबर नीचे की ओर को गया है। यह मेरुरज्जु भेजे और तन्तुओं की बनी हुई मोटी बत्ती की तरह का होता है और कपाल में पहुँच कर मस्तिष्क के लोथड़ों के रूप में फैला रहता है। यही बत्ती (मेरुरज्जु) और लोथड़े (मस्तिष्क) संवेदन के केन्द्र हैं जिनसे संवेदनसूत्र निकलकर अनन्त शाखाओं प्रशाखाओं में विभक्त होते हुए मोटे महीन डोरों के रूप में शरीर के प्रत्येक भाग में फैले रहते हैं।

रीढ़ की गुरियों की प्रत्येक सन्धि पर मेरुरज्जु के संवेदन सूत्रों के दो दो जोड़े दो ओर को जाते हैं। रीढ़ के पीछे से जो सूत्र निकलते हैं वे अन्तर्मुख या संवेदनात्मक सूत्र कहलाते हैं। उनसे होकर इन्द्रिय सम्पर्कघटित अणुक्षोभ भीतर केन्द्र वा मस्तिष्क की ओर जाता है और उसमें पहुँच कर संवेदन उत्पन्न करता है। रीढ़ के आगे से जो सूत्र निकले होते हैं वे बहिर्मुख या गतिवाहक सूत्र कहलाते हैं, क्योंकि संवेदनजनित प्रेरणा उन्हीं से हो कर मांसपेशियों की ओर आती है और अंगों में गति उत्पन्न करती है। मेरुरज्जु से निकल कर ये दोनों प्रकार के सूत्र ज्यों ज्यों आगे चलते हैं त्यों त्यों उत्तरोत्तर अनेक पतली शाखाओं में फैलते जाते हैं, यहाँ तक कि त्वचा में जाकर उनका ऐसा घना जाल फैला होता है कि शरीर के किसी स्थान पर महीन से महीन सुई की नोक चुभाई जाय तो भी वह किसी न किसी संवेदनसूत्र को अवश्य पीड़ित करेगी। इस प्रकार शरीर का सारा तल तारबर्की के घने जाल द्वारा मस्तिष्क से सम्बद्ध है।

अब मस्तिष्क की बनावट देखिए। मस्तिष्क कई भागों में विभक्त है जिन सबके ठीक ठीक व्यापारों का पता नहीं लग सका है। मुख्य विभाग चार हैं—

1. **मज्जादल**—मेरुरज्जु जहाँ से कपाल के भीतर पहुँचता है वहाँ चौड़ा हो गया है। यही अंश मज्जादल है। यहीं से चेहरे की ओर जानेवाले तथा हृदय और फेफड़े की क्रिया सम्पादित करनेवाले सूत्र निकले होते हैं। इसी से इस पर आघात लगने से मनुष्य नहीं बचता।

2. मज्जादल से थोड़ा ऊपर चल कर तन्तुओं का एक छोटा लच्छा सा मिलता है जिसे सेतुबन्ध कहते हैं।

3. इसी से लगा हुआ बगल में एक छोटा लोथड़ा सा निकला होता है जिसे छोटा मस्तिष्क कहते हैं। इसका ठीक ठीक क्या कार्य है इस पर मतभेद है। जहाँ तक जान पड़ता है शरीर की कुछ गतियों का विधान इसके द्वारा होता है। यह तो प्रत्यक्ष देखा गया है कि इसे हटाने से पीछे फिरने की शक्ति जाती रहती है, यद्यपि कुछ दिनों में वह फिर हो जाती है।

4. सब के ऊपर चल कर वह बड़ा लोथड़ा मिलता है जो सारे कपाल में फैला है। यही प्रधान मस्तिष्क है। देखने में यह सफेद और भूरा मिला हुआ मुलायम गूदा सा जान पड़ता है। भूरा अंश सूक्ष्म घटों या घटकों के मेल से बना होता है और सफेद अंश सूक्ष्म तन्तुओं के मेल से। छोटी बड़ी बहुत सी दरारों के कारण मस्तिष्क का तल अखरोट की गिरी की तरह बिलकुल खुरदुरा होता है। सबसे बड़ी दरार लोथड़े के बीचोबीच से जाकर उसे दाहिने और बाएँ दो भागों में विभक्त करती है। इसके अतिरिक्त और बहुत सी दरारें होती हैं। इस बड़े मस्तिष्क के ऊपरी तल पर जो संवेदनसूत्रगत घटक होते हैं वे स्मृति और धारणा के करण प्रतीत होते हैं जो संवेदनसूत्रों द्वारा प्राप्त संस्कारों को धारण और पुनरुद्भूत करते हैं।

मनुष्य का मस्तिष्क और जन्तुओं के मस्तिष्क की अपेक्षा बहुत अधिक खुरदुरा होता है, उसमें उभार अधिक होते हैं। निम्नकोटि के जन्तुओं का मस्तिष्क प्रायः समतल होता है। सारा मस्तिष्कपिंड रक्तवाहिनी नाड़ियों के घने जाल से गुछा रहता है इससे तोल में शेष शरीर के चालीसवें भाग के बराबर होने पर भी वह प्रवाहित रक्त का पंचमांश ग्रहण करता है। प्रायः सब लोग जानते हैं कि मानसिक श्रम में कितनी शिथिलता आती है और ताजा रक्त पहुँचने की कितनी आवश्यकता होती है। निद्रा की अवस्था में रक्त मस्तिष्क से नीचे उतरा रहता है। इससे सूचित होता है कि मस्तिष्क के व्यापार में शरीरशक्ति का व्यय होता है!

मस्तिष्क के मूल से संवेदनसूत्रों के दो जोड़े निकलकर दो ओर गए होते हैं। पहला जोड़ा तो घ्राणेन्द्रिय की ओर जाता है और दूसरा जोड़ा थोड़ा और नीचे से निकलकर चक्षुरिन्द्रिय की ओर जाता है। चेहरे की ओर जानेवाले और बाकी संवेदनसूत्र मज्जादल से निकले हुए होते हैं। उनमें से पाँचवाँ जोड़ा चेहरे की त्वचा तथा जीभ और जबड़ों की गतिविधि का सम्पादन करता है। आठवाँ जोड़ा श्रवणेन्द्रिय से मिला रहता है और नौवाँ रसनेन्द्रिय से। इनके अतिरिक्त जो संवेदनसूत्र और नीचे से अर्थात् रीढ़ के भीतर गए हुए मेरुरज्जु से निकले होते हैं वे स्पर्शसंवेदनात्मक और गत्यात्मक सूत्र हैं जो शरीर के सब भागों में जा कर फैले होते हैं।

वाह्य विषयों को भिन्न भिन्न रूपों से ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि भिन्न भिन्न इन्द्रियों तक आए हुए संवेदनसूत्रों के छोरों की रचना और व्यवस्था भिन्न भिन्न प्रकार की हो। नेत्रगत संवेदनसूत्रों के सिरे प्रकाश ग्रहण करने के उपयुक्त हैं, श्रवण के वायुतरंग ग्रहण करने के, त्वक् के स्पर्श ग्रहण करने के, इसी प्रकार

और भी समझिए। पर अभी तक शरीर विज्ञानियों का इस विषय में एकमत नहीं हुआ है कि विशेष विशेष विषयों के ग्रहण के लिए संवेदनसूत्रों में क्या क्या विशेषताएँ कहाँ तक होनी चाहिए।

ऊपर जिस अन्तःकरण या मनोव्यापारयन्त्र का वर्णन हुआ है वह मनुष्य आदि उन्नत प्राणियों का है। विषयसम्पर्क होने से अंगों में गति इस प्रकार होती है। नेत्र, त्वक्, रसन आदि इन्द्रियों अर्थात् अन्तर्मुख संवेदनसूत्रों के विशेष विशेष प्राप्यकारी छोरों पर विषयसम्पर्क होते ही एक प्रकार का विकार या संस्कार उत्पन्न होता है जो गतिप्रवाह के रूप में मस्तिष्क में पहुँचता है। उसके वहाँ पहुँचते ही संवेदना जाग्रत होती है। इस संवेदना के कारण प्रेरणा उत्पन्न होती है जो गतिवाहक सूत्रों द्वारा बाहर की ओर पलट कर किसी अंग को हिलाती है। यदि किसी का पैर अचानक मेरे पैर के ऊपर पड़ जाय तो मैं अपना पैर बिना इच्छा या संकल्प के भी झट हटा लूँगा।

सम्पर्क पाकर अंगों में गति उत्पन्न होने के लिए चेतना की आवश्यकता नहीं। अणुजीवों तथा और क्षुद्र कोटि के जीवों में मस्तिष्क और संवेदनसूत्रों का विधान नहीं होता। अणुजीव तो कललरस की सूक्ष्म कणिका मात्र होते हैं। पर वे भी छू जाने पर सुकड़ते या हटते हैं। उनकी यह क्रिया चेतन नहीं, प्रतिक्रिया मात्र है। क्षुद्र जीवों के शरीर पर बाहरी सम्पर्क या उत्तेजन से उत्पन्न क्षोभ गतिवाहक के रूप में कललरस के अणुओं द्वारा भीतर केन्द्र में पहुँचता है, और वहाँ से प्रेरणा के रूप में बाहर की ओर पलट कर शरीर में गति उत्पन्न करता है। वस्तुसम्पर्क के प्रति यह एक प्रकार की अचेतन क्रिया है जो ज्ञानकृत या इच्छाकृत नहीं होती, केवल कललरस के भौतिक और रासायनिक गुणों के अनुसार होती है, जैसे, छूने से लजालू की पत्तियों का सिमटना, क्षुद्र कीटों का अंग मोड़ना या हटना इत्यादि। चेतनाविशिष्ट पूर्ण अन्तःकरण से युक्त मनुष्य आदि बड़े जीवों में भी यह अचेतन प्रतिक्रिया होती है। उनमें विषयसम्पर्कजनित इन्द्रियसंस्कार अन्तर्मुख संवेदनसूत्रों द्वारा भीतर की ओर जाता है पर मस्तिष्क तक नहीं पहुँचता, बीच ही से मेरुरज्जु या और किसी स्थान से बहिर्मुख गत्यात्मक सूत्रों द्वारा पलट पड़ता है और अंग विशेष में गति उत्पन्न करता है। जैसे, आँख के पास किसी वस्तु के आते ही पलकें आप से आप बिना इच्छा या संकल्प के गिर पड़ती हैं। यह अकसर देखा गया है कि आदमी का मेरुरज्जु टूट गया है और शरीर के निचले भाग में चेतन वेदना नहीं रह गई है पर तलवे को सहलाने से पैर सिमटता रहा है।

यही अचेतन प्रतिक्रिया सबसे आदिम और सादा संवेदन है जो कललरस की वृत्ति है और सूक्ष्म से सूक्ष्म अणुजीवों से लेकर बड़े से बड़े जीवों तक में पाई जाती है। यह संवेदन और गति ज्ञान वा चेतना पर अवलम्बित नहीं। प्राणिमात्र में यह होती है। हैकल आदि प्राणिविज्ञानविदों का मत है कि प्रतिक्रिया चेतन व्यापार नहीं

है—वह ज्ञान और संकल्प द्वारा नहीं होती। अतः क्षुद्र अणुजीवों आदि में जो संवेदन अर्थात् वाह्य विषयों का ग्रहण होता है वह जड़ वा अचेतन है—अर्थात् उसी प्रकार होता है जिस प्रकार निर्जीव पदार्थों में पदार्थ विशेष के संसर्ग से गति या स्फोट होता है जैसे, बारूद का चिनगारी पाकर भड़कना, लोहे का चुम्बक पाकर उसकी ओर चलना। जिन जीवों में संवेदनसूत्र तो होते हैं पर मस्तिष्क के रूप में केन्द्रीभूत नहीं होते उनमें भी, इन जीवविज्ञानियों के अनुसार, संवेदन निःसंज्ञ या अचेतन दशा में ही होते हैं। चेतना उन जीवों से आरम्भ होती है जिनमें मस्तिष्क या अन्तःकरण की रचना होती है। सारांश यह कि क्षुद्र जीवों में चेतना नहीं होती, आगे चलकर कुछ उन्नत कोटि के जीवों से ही चेतना मिलने लगती है।

उपर्युक्त निरूपणों के आधार पर आधिभौतिक पक्ष के अनात्मवादी तत्त्ववेत्ता आत्मा की ऐकान्तिक स्वतन्त्र सत्ता अस्वीकार करते हैं। वे चेतना को एक शरीरधर्म मात्र कहते हैं जिसका विकास उसी प्रकार होता है जिस प्रकार और और भौतिक गुणों का। शरीर के साथ वह भी बढ़ती, विकृत होती और अन्त में नष्ट होती है। आत्मा भूतों से परे कोई नित्य और अपरिच्छिन्न सत्ता नहीं, वह मस्तिष्क की ही वृत्ति है। मस्तिष्क के बिना चेतन व्यापार असम्भव है। अनात्मवादी भूतों से परे आत्मा की सत्ता का अस्तित्व 'गतिशक्ति की अक्षरता' और 'द्रव्य की अविचलता' के सिद्धान्त द्वारा असिद्ध कहते हैं। गतिशक्ति की अक्षरता का सिद्धान्त, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह है कि गतिशक्ति जितनी है उतनी ही रहती है, परिणाम द्वारा वह घट बढ़ नहीं सकती। यदि भौतिक शरीर जो व्यापार करता है उससे चेतना को भिन्न मानें तो इसका मतलब यह है कि संवेदनसूत्रों के क्षोभ के रूप में जो भौतिक क्रिया होती है वह अभौतिक चेतन क्रिया के रूप में परिवर्तित हो जाती है[1] अर्थात् उतनी गतिशक्ति नहीं रह जाती, उसका क्षय हो जाता है। यह बात भौतिक विज्ञान से असिद्ध है। द्रव्य की अविचलता का सिद्धान्त यह है कि कोई द्रव्यखंड जब तक भौतिक गतिशक्ति द्वारा अवरुद्ध या विचलित न होगा तब तक या तो एक सीध में बराबर चला चलेगा या अचल रहेगा। जितने भौतिक व्यापार होते हैं सब दिग्बद्ध होते हैं, दिक ही में उनकी अभिव्यक्ति होती है। इन व्यापारों को दिक से अनवच्छिन्न किसी सत्ता द्वारा प्रेरित या उत्पन्न नहीं मान सकते। अतः न तो शरीर को ही चलानेवाली कोई अभौतिक सत्ता है, न जगत् को। व्यापारों के प्रेरक या उत्पादक भौतिक व्यापार ही हो सकते हैं, यह विज्ञान का एक अखंड सिद्धान्त है। इन सब प्रमाणों से सिद्ध

---

1. यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि विज्ञान में केवल समवायि कारण ही माना जाता है, निमित्त नहीं। जैसे, यदि किसी स्थिर गोले को हमने हाथ के धक्के से चला दिया तो इस गति के कारण की मीमांसा इसी प्रकार होगी कि हाथ की गतिशक्ति जाकर गोले की गतिशक्ति के रूप में परिणत हो गई। जितने व्यापार सृष्टि में होते हैं सबका कारणनिरूपण विज्ञान इसी प्रकार करेगा।

है कि चेतनाशक्ति भी एक भौतिक शक्ति है। संवेदनसूत्रों और मस्तिष्क के व्यापारों के हिसाब से ही चेतना के व्यापारों का होना इस बात को प्रत्यक्ष प्रकट करता है।

आत्मसत्तावादी इन बातों का इस प्रकार उत्तर देते हैं। पहली बात तो यह कि शक्ति की अक्षरता का जो सिद्धान्त है उसकी पहुँच वहीं तक समझनी चाहिए जहाँ तक मनुष्य परीक्षा कर सका है। दूसरी बात यह है कि आत्मसत्ता संकल्प द्वारा भौतिक शरीर में संचित गतिशक्ति की मात्रा में वृद्धि या न्यूनता नहीं करती, केवल निमित्तरूप से यह भर निश्चय कर देती है कि वह कौन सा रूप धारण करे, किस ओर प्रवृत्त हो। शक्ति का वेग या मात्रा और बात है और किसी विशेष ओर को उसकी प्रवृत्ति और बात। गति और विधि में जो भेद है उसे समझ लेना चाहिए। आत्मा केवल विधि का निर्णय करती है, गति की न वृद्धि करती है, न क्षय। अपने अंगों को जिस ओर जितनी बार चाहें हम बिना किसी भौतिक कारण के केवल आत्मसंकल्प द्वारा हिला सकते हैं। इससे सिद्ध है कि आत्मसत्ता भूतों से परे और स्वतन्त्र है। कोई अभौतिक सत्ता भौतिक गतिविधि पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकती, इसके प्रमाण में जो 'द्रव्य की अविचलता' का सिद्धान्त उपस्थित किया जाता है, आत्मवादी उसके प्रतिवाद में गणितज्ञों का गतिशास्त्र सम्बन्धी यह निरूपण पेश करते हैं—'कोई द्रव्यखंड जिस दिशा को जा रहा है उस पर जिस शक्ति का पथ समकोण बनाता हुआ होगा वह शक्ति उस द्रव्यखंड का पथ बिना गतिशक्ति के व्यय या वृद्धि के बदल सकती है'। इसी रूप से आत्मसत्ता भी चलते द्रव्य की दिशा में, बिना उसकी शक्ति की वृद्धि या ह्रास किए, फेरफार कर सकती है। इस प्रकार आत्मस्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में आधिभौतिक पक्ष की जो शंकाएँ हैं उनका समाधान हो सकता है।

ह्यूम आदि कुछ दार्शनिकों ने बौद्धों के समान क्षणिक ज्ञान को ही आत्मा या मन कहा। क्षण क्षण पर बदलनेवाले ज्ञानों अथवा विज्ञानों से भिन्न उनका अधिष्ठान रूप कोई स्थिर या एक ज्ञाता नहीं है। भिन्न भिन्न ज्ञानों के बीच एक स्थिर 'अहम्' का जो भान होता है वह एक आरोप मात्र है क्योंकि उसकी उत्पत्ति किसी इन्द्रियज ज्ञान या संस्कार से नहीं है। मन या आत्मा क्षणिक चेतन अवस्थाओं की परम्परा का ही नाम है। इस मत में मिल आदि तत्त्वज्ञों को यह अनिवार्य बाधा दिखाई दी कि संस्कारों की परम्परा को अपने परम्परा होने का बोध क्यों कर होता है। प्रो. जेम्स ने भी अपने मनोविज्ञान में कहा है कि प्रत्येक क्षण में आया हुआ भाव या ज्ञान ही भावुक या ज्ञाता है। एक क्षण का अहंभाव विगत क्षण के अहंभाव से भिन्न होता है, पर भिन्न होने पर भी उसका उत्तराधिकारी या संग्राहक होता है। वह पिछले क्षण का भाव भी अपने से पूर्ववर्ती भाव का संग्राहक था, अतः उसके संग्रह के साथ उससे पिछले भाव का भी संग्रह समझ लेना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं

कि यह सब चक्कर सम्बन्धसूत्र के अभाव की पूर्ति के लिए काटना पड़ा है। विकासवाद की पद्धति के अनुसार आजकल मनोविज्ञान के अधिकतर ग्रन्थ मनोव्यापारों के क्रमविधान की ही मीमांसा करते हैं, सत्ता के विचार में प्रवृत्त नहीं होते। ये व्यापार किसके हैं, शरीर से अलग कोई आत्मसत्ता है या नहीं, इन बातों को वे अपने विषय–जिसे वे शुद्ध विज्ञान की एक शाखा मानते हैं, से अलग सत्तादर्शन या पराविद्या का विषय बतलाते हैं। यहाँ तक कि मनोविज्ञान के बहुत से ग्रन्थों में अब आत्मा शब्द भूल कर भी नहीं आने पाता, जहाँ तक हो सकता है बचाया जाता है।

सब ज्ञानों का ज्ञाता कोई एक है जो क्षण क्षण पर उदय होने वाले नाना ज्ञानों के बीच भी सदा वही रहता है, इस बात के विरुद्ध प्रमाण में वह विलक्षण मानसिक रोग भी उपस्थित किया जाता है जिसे 'दोहरी चेतना' या 'छाया' कहते हैं। इसमें एक व्यक्ति कभी कभी बिलकुल दूसरे व्यक्ति का सा आचरण करने लगता है, उसका व्यक्तित्व एकदम बदल जाता है। किसी देवता या भूत प्रेत का सिर पर आना इसी प्रकार का रोग है। इस रोग के कई विलक्षण दृष्टान्त योरप में भी देखे गए हैं। फेलिडा नाम की एक लड़की सन् 1848 में पैदा हुई। 14 वर्ष तक तो उसकी दशा ठीक रही। सन् 1865 में वह एक दिन एकबारगी बेहोश हो गई। कुछ देर में जब उसे होश हुआ तब उसकी प्रकृति एकदम बदली हुई पाई गई। पहले वह चुप्पी, हठी, शान्त तथा मन्द बुद्धि और चेष्टा की थी, पर बेहोशी के पीछे वह हँसमुख, चंचल और तीव्र बुद्धि की हो गई। इस दूसरी अवस्था में उसे अपनी पहली अवस्था की सब बातों का स्मरण था और देखने में वह सब प्रकार भली चंगी थी। कुछ महीनों पीछे बेहोशी का दूसरा दौरा हुआ और वह फिर अपनी पहली अवस्था को प्राप्त हो गई। इस अवस्था में उसे अपनी दूसरी अवस्था की बातों का कुछ भी स्मरण नहीं था। जब तक वह रही बारी बारी से ये दोनों अवस्थाएँ उसकी होती रहीं। अतः यह कहा जा सकता है कि उसकी दो अलग अलग चेतनाएँ या आत्माएँ थीं। इसी सम्बन्ध में वे व्यापार भी ध्यान देने योग्य हैं जिन्हें 'प्रतिक्रिया' और 'गौण चेतना' कहते हैं। सोने में यह प्रायः देखा जाता है कि छूने से पैर हट जाता है, यद्यपि इस व्यापार का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। जब ध्यान किसी दूसरी ओर लगा रहता है तब सब इन्द्रियाँ खुली रहने पर भी हमें कभी कभी शब्द, स्पर्श, दृश्य का ज्ञान नहीं रहता। कोई बैठा लिख रहा है। बाहर जो शब्द हो रहा है, उँगलियों से जो वह कलम पकड़े हुए है, उसका उसे कुछ भी ज्ञान नहीं है। जब मैं जानबूझकर ध्यान ले जाऊँगा तभी उन बातों का ज्ञान होगा। एक ओर जोर जोर से पढ़ते जाना और दूसरी ओर अर्थ भी ग्रहण करते जाना, बाजे पर उँगली रख रख कर बजाते भी जाना और गाते भी जाना, विभक्त चेतना के व्यापार हैं। इस प्रकार के युगपद् मनोव्यापार यह सूचित करते हैं कि चेतना की प्रधान धारा

से अलग होकर गौण धारा भी चलती है। अतः चेतना के एक अखंड, निर्विकार, सदा एकरस आत्मा होने का प्रमाण नहीं मिलता।[1]

आत्मवादी कहते हैं कि यदि मन केवल चेतन अवस्थाओं की परम्परा मात्र होता, यदि क्षणिक ज्ञानों का ही नाम मन होता तो विचार, तर्क, आत्मनिरीक्षण आदि असम्भव होते। तर्क के लिए यह आवश्यक है कि भिन्न भिन्न अवयवों को व्यवस्थित करने वाली कोई एक सत्ता हो। ज्ञानकृत पुनरुद्भावना और स्मृति के लिए पूर्व प्रत्ययों के साथ वर्तमान प्रत्ययों का मिलान करनेवाला कोई एक स्थिर द्रष्टा चाहिए। इस समय मैं यह सोच रहा हूँ कि मैं कल घूमने गया था, पारसाल प्रयाग में था, इत्यादि। इसका मतलब यही है कि कल घूमने और पारसाल प्रयाग में रहने का अनुभव करने वाला वही था जो इस समय सोच रहा है। यदि मन और आत्मा क्षणिक ज्ञानों का ही नाम होता तो यह असम्भव होता[2]। यदि आधिभौतिक पक्ष के लोग यह कहें कि स्थूल भौतिक मस्तिष्क ही अधिष्ठान रूप में इन भिन्न भिन्न ज्ञानों का समाहार करने वाला है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि शरीरविज्ञानी कहते हैं कि और और घटकों

---

1. मस्तिष्क के विवरण में दिखाया जा चुका है कि सम्पर्क पाकर अंग को हटाना, किसी वस्तु को पकड़ना आदि व्यापार बड़े जीवों में मस्तिष्क और संवेदनसूत्रों की क्रिया से होते हैं। संवेदनसूत्रों द्वारा जब स्पन्दन मस्तिष्क में पहुँचता है तब गतिवाहक सूत्रों में स्पन्दन होता है जो अंगविशेष में पहुँच कर उसे हिलाता है। यदि अंगव्यापार चेतना संकल्प द्वारा उत्पन्न नहीं है तो प्रतिक्रिया मात्र है, शुद्ध अन्तःकरण (मस्तिष्केन्द्र) का व्यापार नहीं। हमारे यहाँ के दार्शनिक इसे मन का व्यापार न कहेंगे, इन्द्रियों का स्थूल व्यापार कहेंगे। इन्द्रियाँ मन से सम्बद्ध होकर जो व्यापार करेंगी उसी को वे मनोव्यापार के अन्तर्गत लेंगे। मन के एकत्व का प्रतिपादन करते हुए नैयायिक मन के युगपद् व्यापार असम्भव कहते हैं। उनका कहना है कि एक क्षण में एक ही ज्ञान होता है। अतः बाजा बजाते हुए गाने में जो एक साथ दो दो मनोयोग कहे गए हैं उनके बीच वे सूक्ष्म कालान्तर की कल्पना करेंगे।
2. पाश्चात्य आत्मवादी मनोविज्ञानियों के आत्मसत्ता सम्बन्धी ये प्रमाण वे ही हैं जो न्याय में दिए गए हैं।

   दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् 3।1।1
   
   तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भवादप्रतिषेधः 3।1।7
   
   सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् 3।1।7

   इसी प्रकार स्मृति का व्यापार भी प्रमाण में लाया गया है—

   तदात्मगुण सद्भावादप्रतिषेधः 3।1।14

   बात यह है कि जिस प्रकार पाश्चात्य ग्रन्थों में मन और आत्मा के व्यापारों में कोई भेद नहीं किया गया है उसी प्रकार न्याय में भी अन्तःकरण विशिष्ट आत्मा का ही विचार हुआ है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि आत्मा के ही व्यापार कहे गए हैं।

   पर सांख्य और वेदान्त में शुद्ध आत्मा अकर्ता कहा गया है। उसमें कोई व्यापार नहीं, वह द्रष्टा मात्र है। व्यापार करता है मन, आत्मा तो केवल उसके व्यापारों का साक्षी या देखनेवाला है। जैसे, मैं कुछ सोच रहा हूँ या स्मरण कर रहा हूँ। यह सोचना या स्मरण करना आत्मा का व्यापार नहीं, आत्मा का तो केवल यह ज्ञान है कि 'मैं यह सोच रहा हूँ' या 'मैं स्मरण कर रहा हूँ'। शुद्ध चैतन्य का लक्षण यही है।

के समान मस्तिष्क के घटक भी अपनी उत्पत्तिपरम्परा के अनुसार अल्पकाल में ही बदल जाते हैं। इससे सिद्ध है कि कोई एक परिणामरहित सत्ता है जो सब अवस्थाओं में एक रूप बनी रहती है। चेतना की यह एकता ही चेतन सत्ता की एकता का प्रमाण है। आत्मा एक वस्तु या सत्ता है, द्रव्यगुण या वृत्तिमात्र नहीं है यह बात तो सिद्ध हुई। अब यह सत्ता अभौतिक है—भूतों से परे है—इसके प्रमाण में आत्मवादी जो कहते हैं वह भी थोड़े में सुन लीजिए।

विकास सिद्धान्त पर लक्ष्य रखने वाले मनोविज्ञानी कहते हैं कि इन्द्रियज ज्ञान या संवेदन ही मूल उपादान हैं जिनके पुनरुद्भावन, समाहार और मिश्रण द्वारा जाति या सामान्य, जैसे, गोत्व, पशु आदि की भावना, विचार, तर्क, संकल्प विकल्प आदि की योजना होती है। आत्मवादियों का कहना है कि ये उन्नत वृत्तियाँ संवेदनों से सर्वथा भिन्न कोटि की हैं। पहली बात तो यह कि संवेदन न तो अपने अस्तित्व का आप अनुभव कर सकता है, न पदार्थों के गुणों से जाति की भावना कर सकता है और न दूसरे संवेदनों के साथ अपने सम्बन्ध का बोध कर सकता है। हमारे सामने एक नारंगी रखी है। यों ही हमारी दृष्टि उस पर पड़ रही है और हमें उसके वहाँ रहने भर का ज्ञान है। यहाँ तक तो संवेदन या इन्द्रियज ज्ञान हुआ। अब हम उसकी ओर ध्यान देते हैं—अर्थात् मन या आत्मा को उसकी ओर प्रवृत्त करते हैं। अब हमें उसकी गोलाई की, रंग की और स्वाद की भावना होती है और हम इन गुणों को दूसरे फलों के गुणों से मिलाते हैं।[1]

शुद्ध गुणों की यह भावना और उनका मिलान करनेवाला संवेदन से भिन्न कोई दूसरा ही है। दो वस्तुओं अर्थात् उनसे प्राप्त इन्द्रियज संवेदनों को आगे रखकर देखनेवाला उन दोनों संवेदनों से भिन्न होना चाहिए। इसी प्रकार सामान्य और जाति की भावना भी इन्द्रियज ज्ञान से परे है और एक अभौतिक सत्ता का आभास देती है। इन्द्रियों द्वारा जो कुछ हमें ज्ञान होता है वह विशेष का ही। हमें राम, गोपाल आदि विशेष मनुष्यों, हरे, पीले आदि विशेष रंगों, भूखे को अन्नदान आदि विशेष व्यापारों का ही प्रत्यक्ष होता है; मनुष्य, रंग, दया आदि सामान्यों का नहीं जो देशकाल से परे हैं। समस्त भौतिक व्यापार देशकाल के भीतर होते हैं, अतः ये अभौतिक व्यापार हैं। ये व्यापार किसी वस्तु या सत्ता के हैं, अतः वह वस्तु या सत्ता भी भूतों से परे ठहरी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मनोविज्ञान की ओर से आत्मा के खंडनमंडन की बात अब नहीं उठती, अब सत्ता का विषय ही उससे अलग कर दिया गया है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे इस बात का पता लग सकता है कि विकास सिद्धान्त का प्रभाव कितनी विद्याओं पर पड़ा है और उन्होंने किस प्रकार अपनी व्यवस्था

---

1. न्याय की परिभाषा में 'कोई वस्तु सामने है' इस इतने ज्ञान को निर्विकल्पक और 'वस्तु यह है, ऐसी है, वैसी है' इस ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहते हैं।

इस सिद्धान्त के अनुकूल की है। जगत की उत्पत्ति, जीवों की उत्पत्ति, मनोविज्ञान, कर्त्तव्यशास्त्र, इतिहास, धर्माधर्म, समाजशास्त्र सबकी व्याख्या विकास पद्धति का अवलम्बन करके की गई है। भाषा की उत्पत्ति का क्रम अनेक जर्मन भाषातत्त्वविदों ने अपनी पुस्तकों में दिखाया है। जेगर ने लिखा है कि बनमानुसों से मिलते जुलते पूर्वजों से उत्पन्न मनुष्य में दो पैरों पर खड़े होने की विशेषता सबसे अधिक हुई जिससे उसे श्वास की क्रिया या प्राणवायु पर पूरा अधिकार हो गया। इसी विशेषता से उसमें वर्णात्मक वाणी की सामर्थ्य आई। आजकल ऐसा ही कोई होगा जो इतिहास लिखने में इस बात का ध्यान न रखता हो कि किसी जाति के बीच ज्ञान, विज्ञान, आचार, सभ्यता इत्यादि का विकास क्रमशः हुआ है। इन सबको पूर्णरूप में लेकर किसी जाति के जीवन का आरम्भ नहीं हुआ है। इसी प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान के ग्रन्थ शुद्ध बद्ध पूर्ण चेतन आत्मा को लेकर नहीं चलते। जो पशुओं की चेतन प्रवृत्ति से आरम्भ नहीं भी करते वे भी इन्द्रियसंवेदन की क्रमशः योजना से आरम्भ करके भावों और विचारों तक पहुँचते हैं। विकास के आधिभौतिक अनुयायियों का कहना है कि जैसे और सब वस्तुओं का वैसे ही मन या मानसिक वृत्तियों का भी संघटन वाह्य जगत् के नियमों के अनुकूल होता है। अन्तर्जगत् या आध्यात्मिक जगत् की भूतों से परे कोई सत्ता नहीं है। विचार और वस्तुव्यापार का जो समन्वय दिखाई पड़ता है वह वस्तुव्यापार के ही प्रतिबिम्ब के कारण। अद्वैत आत्मवादी जर्मन दार्शनिक इसका उलटा मानते हैं।

इसी प्रकार धर्माधर्म या कर्त्तव्यशास्त्र की नींव भी लोकरक्षा और फलतः आत्मरक्षा पर डाली गई है। एक मूल रूप से क्रमशः अनेक रूपों की उत्पत्ति, एक सादे ढाँचे से अनेक जटिल ढाँचों का उत्तरोत्तर विधान, यही विकास का सारांश है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार यह असिद्ध है कि मनुष्य ऐसा प्राणी सृष्टि के आदि में ही एकबारगी उत्पन्न हो गया, उसी प्रकार यह भी असिद्ध है कि मनुष्य जाति के बीच धर्म, ज्ञान और सभ्यता आदिम काल में भी उतनी ही या उससे बढ़ कर थी जितनी आजकल है। आधुनिक मत यही है कि मनुष्य जाति असभ्य दशा से उन्नति करते करते सभ्य दशा को प्राप्त हुई है। अत्यन्त प्राचीन लोगों को बहुत अल्प विषयों का ज्ञान था। धीरे धीरे उस ज्ञान की वृद्धि होती गई है। इसी प्रकार धर्मभाव भी पहले बहुत स्वल्प और सादे रूप में था, पीछे सामाजिक व्यवहारों की वृद्धि के साथ साथ उसका भी अनेक रूपों में विकास होता गया।

लोकव्यवहार और समाजविकास की दृष्टि से ही धर्म और आचार की व्याख्या की गई है, परलोक और अध्यात्म की दृष्टि से नहीं। दूसरों के प्रति जो आचरण हम करते हैं उसी में अच्छे और बुरे का आरोप हो सकता है। व्यवहारसम्बन्ध से ही क्रमशः सदसद्विवेक बुद्धि उत्पन्न हुई है। व्यवहारसम्बन्ध जीवननिर्वाह के लिए आवश्यक था। परस्पर मिलकर कार्य करने में उन बातों की प्राप्ति अधिक सुगम

प्रतीत हुई जिनसे सबको समान लाभ था। एक ही पूर्वज से उत्पन्न अनेक परिवार इसी समान हित की भावना से प्रेरित होकर कुलबद्ध होकर रहने लगे। एक व्यक्ति के जिस कर्म से सबका जितना हित या अहित होता—अर्थात् सबको जितना सुख या दुःख प्राप्त होता—उसी हिसाब से उस कर्म की स्तुति या निन्दा होती। इस प्रकार 'कुल धर्म' की स्थापना हुई। पहले प्रत्येक कुल को दूसरे कुलों से बहुत लड़ाई भिड़ाई करनी पड़ती थी अतः आदिम काल में यह धर्म स्वरक्षार्थ ही था। इस धर्म के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वार्थवृत्ति और इच्छा पर कुछ अंकुश रखना पड़ता था। यदि प्रत्येक मनुष्य मनमाना कार्य करने लगे, दूसरों का कुछ भी ध्यान न रखे, तो धर्मव्यवस्था और उसके आधार पर स्थित समाज व्यवस्था नहीं रह सकती। अतः किसी समाज को बद्ध रखने के लिए यह धर्मव्यवस्था आवश्यक है। चोरों और डाकुओं तक के दल में यह धर्मव्यवस्था पाई जाती है। चोर चाहे दुनियाभर का माल चुराया करें पर अपने दल के भीतर उन्हें धर्मव्यवस्था रखनी पड़ती है। वे यदि आपस में अन्याय और बेईमानी करने लगें तो उनका दल टूट जाय। अतः सिद्ध हुआ कि लोक या समाज को धारण करनेवाला धर्म है। इसी से कहा गया है कि 'धर्मो रक्षति रक्षितः'।

डारविन ने अपने 'मनुष्य की उत्पत्ति' नामक ग्रन्थ में विस्तार के साथ दिखाया है कि साथ रहने से उत्पन्न परस्पर सहानुभूति की स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा, मनुष्य किस प्रकार दूसरों की प्रसन्नता और साधुवाद की कामना और उस कामना के अनुसार बहुत से कार्य करने लगा। क्षुधा, इन्द्रियसुख, प्रतिकार इत्यादि की निम्न कोटि की वासनाएँ यद्यपि प्रबल होती थीं, पर तुष्टि के उपरान्त उनका जोर नहीं रह जाता था। किन्तु संग की वासना सदा बनी रहती थी, मनुष्य अकेला रहनेवाला प्राणी नहीं। संग का अर्थ है सहानुभूति अतः सहानुभूति का भाव अधिक स्थायी रहता था। यदि कोई मनुष्य निम्न कोटि की वासनाओं के वशीभूत होकर कोई ऐसा कार्य कर बैठता जिससे दूसरों को अप्रसन्नता होती तो वह शान्त होने पर उसके लिए पश्चात्ताप करता। विकासवाद की व्याख्या के अनुसार धर्म कोई अलौकिक, नित्य और स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। समाज के आश्रय से ही उसका क्रमशः विकास हुआ है। धर्म का कोई ऐसा सामान्य लक्षण नहीं बताया जा सकता जो सर्वत्र और सब काल में—मनुष्य जाति की जब से उत्पत्ति हुई तब से अब तक—बराबर मान्य रहा हो। समाज की ज्यों ज्यों वृद्धि होती गई त्यों त्यों धर्म की भावना में भी देशकालानुसार फेरफार होता गया। कोई समय था जब एक कुल दूसरे कुल की स्त्रियों को चुराना या लड़कर छीनना अच्छा समझता था। देवताओं की वेदियों पर नरबलि देने में किसी के रोंगटे खड़े नहीं होते थे। बाइबिल में इसके कई उल्लेख हैं, शुनःशेप की वैदिक गाथा भी एक उदाहरण है। उद्दालक और श्वेतकेतु का आख्यान इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है। ये दोनों वैदिक काल के ऋषि थे। एक दिन उद्दालक, उनकी स्त्री और उनके पुत्र श्वेतकेतु बैठे थे। एक आदमी आया और श्वेतकेतु की माता को लेकर

चलता हुआ। श्वेतकेतु को बहुत बुरा लगा। पिता ने पुत्र को यह कहकर शान्त किया कि यह सनातन धर्म है—एष धर्मः सनातनः—ऐसा सदा से होता आया है। श्वेतकेतु ने नियम किया कि जो स्त्री एक पति को छोड़कर जायगी उसे भ्रूणहत्या का पाप होगा और जो पुरुष पतिव्रता को छीन कर ले जायगा उसे भी पातक लगेगा।

इसी प्रकार दीर्घतमस् ऋषि ने भी अपनी स्त्री के आचरण पर क्रुद्ध होकर शाप दिया था कि 'अब से कोई स्त्री, चाहे उसका पति जीता हो या मर गया हो, दूसरे पुरुष से संसर्ग न कर सकेगी'। स्त्रियों के लिए जो पातिव्रत्य पहले 'दीर्घतमस् का शाप' था वही आगे चलकर एकमात्र धर्म हुआ। इस बात की पुष्टि महाभारत के अन्य स्थलों से भी होती है। आदि पर्व में कुन्ती के प्रति जो उपदेश है उसमें लिखा है कि प्राचीन समय में केवल ऋतुकाल में पातिव्रत्य आवश्यक था—

**ऋतावृतौ, राजपुत्रि, स्त्रिया भर्त्ता पतिव्रते।**
**नातिवर्त्तव्यमित्येवं धर्मं धर्मविदो विदुः॥**
**शेषेष्वन्येषु कालेषु स्वातंत्र्यं स्त्री किलार्हति।**
**धर्ममेवं जनाः सन्तः पुराणां परिचक्षते॥**

राक्षसविवाह, नियोग इत्यादि उसी असभ्य काल के स्मारक हैं। तात्पर्य यह कि दूसरे जनपदों को लूटना, दूसरे कुल की स्त्रियों को छीनना, नरवध इत्यादि पहले अधर्म नहीं समझे जाते थे। असभ्य जंगली जातियों में अबतक ये बातें प्रचलित हैं पर सभ्य जातियों के बीच अब ये बहुत बुरी समझी जाती हैं। धर्म का विकास धीरे धीरे समाज की उन्नति के साथ हुआ है। अतः विकासवादियों के अनुसार इहलोक या समाज से परे धर्म कोई नित्य और स्वतःप्रमाण पदार्थ नहीं है।

तत्त्वज्ञवर हर्बर्ट स्पेंसर ने विकास सिद्धान्त की जो दार्शनिक स्थापना की है उसमें धर्मतत्त्व की भी विस्तृत मीमांसा है। स्पेंसर ने अणुजीवों से लेकर मनुष्य तक सब प्राणियों का सूक्ष्म निरीक्षण करके अन्त में यही सिद्धान्त स्थिर किया 'परस्पर साहाय्य की प्रवृत्ति' धर्म की मूल प्रवृत्ति है जो सजीव सृष्टि के साथ ही व्यक्त हुई और उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करती गई। यह प्रवृत्ति आदि में सन्तानोत्पादन और सन्तानपालन के रूप में प्रकट हुई। एकघटात्मक अणुजीवों में स्त्री पुरुष भेद नहीं होता। उनकी वंशवृद्धि विभाग द्वारा होती है। अतः हम कह सकते हैं कि सन्तान के लिए दूसरे के लिए—अणुजीव अपने शरीर को त्याग देता है। इसी प्रकार आगे के उन्नत श्रेणी के जोड़ेवाले जीव अपनी सन्तान के लालनपालन के लिए स्वार्थ त्याग करने में प्रसन्न होते हैं। यही प्रवृत्ति बढ़ते बढ़ते इस अवस्था को पहुँचती है कि लोग अपनी सन्तति के सहायतार्थ ही नहीं, अपने जाति भाइयों के सहायतार्थ भी सुख से स्वार्थ का त्याग करते हैं। अस्तु, सब जीवों में श्रेष्ठ मनुष्य को इसी प्रवृत्ति के उत्कर्षसाधन में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भाव की प्राप्ति के प्रयत्न में—लगा रहना चाहिए।

यहाँ पर कह देना आवश्यक है कि विकास सिद्धान्त रूप में विज्ञान की सब शाखाओं में स्वीकृत हो गया है। पर ये शाखाएँ अपने अन्वेषणों में निरन्तर उन्नति करती जाती हैं; इससे जिन बातों को पूर्व पीढ़ी के विकासवादी अपने प्रमाण में लाए हैं उनके ब्योरों में इधर बहुत कुछ फेरफार हुआ है। बहुत से भौतिक विज्ञानियों ने परमाणु के भी अवयवों या विद्युदणुओं तक पहुँचकर यह कहना आरम्भ कर दिया है कि द्रव्य वास्तव में विद्युत् का ही संघातविशेष है, विद्युच्छक्ति का ही एक रूप है। इस बात को मान लें तो द्रव्य और शक्ति का द्वन्द्व तो मिट गया। द्रव्य शक्ति की ही एक विशेष अभिव्यक्ति या रूप ठहरा। यदि सब कुछ शक्ति ही है तो बाकी क्या बचा? बाकी बचा ईथर (आकाश द्रव्य) जिसके विषय में हम अभी तक बहुत कम बातें जान सके हैं। इस प्रकार 'ईथर और शक्ति' पर आकर अब विज्ञान अड़ा है।

ईथर है किस प्रकार का, इसे समझने के लिए वैज्ञानिक बुद्धि लड़ा रहे हैं। पृथ्वी जो ईथर के बीच घूमती है तो क्या सचमुच उसे चीरती हुई घूमती है। यदि चीरती हुई घूमती है तो इस रगड़ का परिणाम बड़ा भारी होगा। चलती हुई वस्तु यदि बराबर रगड़ खाती हुई जायगी तो उसका वेग बराबर धीमा होता जायगा। इससे पृथ्वी अपने वेग के बल से सूर्य से दूर जो मण्डल बाँधकर भन्नाटे के साथ घूम रही है, कभी न कभी वह मण्डल टूट जायगा और वह सूर्य पर जा पड़ेगी। पर आजकल के गणितज्ञ ज्योतिषी इसकी उलटी कल्पना करने लगे हैं। वे कहते हैं कि जो स्थूल द्रव्य हम देखते हैं उससे कहीं अधिक घनत्व और शक्तिसंचय ईथर में है। वह ठोस सीसे से भी न जाने कितने लाख गुना ठोस होगा। पृथ्वी आदि जो स्थूल लोकपिंड हैं उन्हें ईथर के बीच बीच में खाली या खोखले स्थान समझिए।

अस्तु, अब ईथर और शक्ति में क्या सम्बन्ध है, यह देखना है। यह बड़ी ही गूढ़ समस्या है। ईथर के सम्बन्ध में जो मोटी धारणा बँधती है वैज्ञानिक कहते हैं वह ठीक नहीं है। हम यह समझते हैं कि ईथर एक निष्क्रिय अखंड सूक्ष्म भूत का विस्तार है जिस पर या जिसके आश्रय से द्रव्य क्रिया (आकर्षण, प्रकाशप्रवाह) करता है। सर आलिवर लाज कहते हैं यह खयाल गलत है। ईथर गतिशक्ति का अनन्त भांडार है। परमाणुगत शक्ति के समान यह शक्ति भी पकड़ में नहीं आती। यदि पकड़ में आ जाय तो इससे बात की बात में प्रलय उपस्थित किया जा सकता है।

हैकल ने अपने ग्रन्थ में जगह जगह 'प्रकृति के नियम' या 'परम तत्त्व के नियम' की झड़ी बाँध दी है। यह वाक्य बहुत ही भ्रामक हो गया है। लोग इसका बहुत ही अतिव्याप्त अर्थ लेते हैं। 'दो और दो चार होते हैं' यह भी प्रकृति का नियम, और 'गतिशक्ति का क्षय नहीं होता' यह भी प्रकृति का नियम। 'दो और दो चार होते हैं' इसे प्रकृति का नियम नहीं कहना चाहिए। प्रकृति के जितने परिणाम या व्यापार होते हैं वे इस गणित के नियम के आधार नहीं, उनपर यह अवलम्बित नहीं,

उनसे यह सर्वथा स्वतन्त्र है। यह चिन्तन का नियम है, इसका सम्बन्ध चित् से है। जिसे हम प्रकृति का नियम कहते हैं वह सत्य भी हो सकता है, असत्य भी। जितने दिक्कालखंड तक हमारी पहुँच है वह उतने ही के बीच के व्यापारों से संग्रह किया हुआ है। पर तर्क और गणित के जो नियम हैं वे अपरिहार्य सत्य हैं, उनके अन्यथा होने की भावना त्रिकाल में नहीं हो सकती। वाह्य जगत् पर वे निर्भर नहीं, उससे सर्वथा स्वतन्त्र हैं। वे स्वतःप्रमाण हैं। भौतिक विज्ञान में जो 'प्रकृति के नियम' कहलाते हैं उनकी सत्यता भौतिक व्यापारों या परिणामों के सम्बन्ध में ठीक उतरने पर अवलम्बित है।

जगद्विकास का सिद्धान्त यही प्रतिपादित करता है कि प्रकृति परिणामपरम्परा में एक अवस्था मात्र है। 'प्रकृति के नियमों' के सम्बन्ध में हम लाख कहा करें कि वे सब काल और सब देश को देख कर निरूपित हुए हैं पर हम अपनी बात का पूर्ण निश्चय नहीं करा सकते।

इसमें सन्देह नहीं कि विकास सिद्धान्त के नियमों की चरितार्थता के लिए वैज्ञानिक निरन्तर प्रयत्न करते जा रहे हैं जिससे मार्ग की कठिनाइयाँ बहुत कुछ दूर होती जा रही हैं। निर्जीव से सजीव द्रव्य की उत्पत्ति को ही लीजिए। अब लोग यह देखने लगे हैं कि रासायनिकों को सजीव द्रव्य की योजना में अबतक जो असफलता होती आई है वह इस कारण कि सजीव द्रव्य के मूल आदिम रूप की उन्हें ठीक धारणा ही नहीं रही है। वे अमीबा (अणुजीव) या अणूद्भिद को आदिम रूप मान कर चले हैं। पर अमीबा या अणूद्भिद् को जिस जटिल रूप में हम देखते हैं वह लाखों वर्ष की विकासपरम्परा का परिणाम है। अतः सजीव द्रव्य का आदिम रूप इन दोनों से कहीं सूक्ष्म और सादा रहा होगा। अणुजीव और अणूद्भिद दोनों का आहार सजीव द्रव्य है। अतः ये आदिम नमूने कभी नहीं हो सकते। सजीव द्रव्य का आदिम रूप उद्भिदों का सा रहा होगा जो निर्जीव द्रव्य को सजीव द्रव्य (शरीरधातु) में परिणत कर सकते हैं। प्रथम जीवोत्पत्ति जल में ही हुई इसका एक नया प्रमाण एक फरासीसी शरीरविज्ञानी ने उपस्थित किया है। उसने कहा है कि रक्त में लवण आदि का योग उसी हिसाब से है जिस हिसाब से पूर्वकाल के समुद्रजल में रहा होगा।

पहले के वैज्ञानिकों का परमाणुओं के भीतर की गतिशक्ति की ओर ध्यान नहीं था, इससे द्रव्य की मूल व्यष्टियों के व्यापार को समझने के लिए उन्हें शक्ति का बाहर से आरोप करना पड़ता था। पर अब, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रेडियम के मिलने से परमाणु के भीतर विद्युच्छक्ति के केन्द्रों का पता मिल गया है जिससे सजीव और निर्जीव द्रव्य का अन्तर बहुत कुछ कम हो गया है। कुछ विशेष प्रकार के परमाणु किण्व या खमीर; जो वास्तव में सूक्ष्मातिसूक्ष्म किण्वाणुओं या अणूद्भिदों द्वारा संघटित होता है, का काम करते हैं। आजकल कई रासायनिकों ने विशेष परमाणुओं के योग से ही (महुए, आटे, राई आदि सजीव द्रव्य के अवशेषों

से तो लोग बहुत दिनों से बनाते आते हैं) मदसार (अलकोहल) और कुछ सादे प्रकार के प्रोटीन (शरीर धातु) तक संघटित कर लिए हैं। ये द्रव्य पहले पौधों या जन्तुओं के शरीर द्रव्य में ही पाए जाते थे इससे लोग समझते थे कि ये शरीर के भीतर ही बन सकते हैं। पहले इन शरीरद्रव्यों से सम्बन्ध रखनेवाले रसायनशास्त्र का अलग विभाग था। पर अब यह भेद नहीं रहा। रसायनशास्त्र से शरीरद्रव्य और साधारणद्रव्य का भेद अब उठ गया।

किण्वसम्बन्धी रसायन बराबर उन्नति करता जा रहा है। कई प्रकार के किण्व या खमीर, पौधों या जन्तुओं से प्राप्त शरीरद्रव्य के आश्रय के बिना, कुछ मूल द्रव्यों के परमाणुओं के योग से बना लिए गए हैं। सजीव द्रव्य की उत्पत्ति के पास तक यही विधान पहुँच सका है, और इसीसे बहुत कुछ आशा है। सजीवता वा जीवन वास्तव में किण्वपरम्परा ही है[1]। जितने सजीव पदार्थ हैं सबके शरीर में किण्व वर्तमान है। किण्वक्रिया के बन्द होते ही जीव मर जाते हैं। गर्भपिंड से लेकर जीवों की जो अंगवृद्धि होती है वह अंकुर घटक के भीतर किण्वविधान के ही अनुसार।

जात्यन्तर परिणाम के अन्तर्गत प्राणियों के ढाँचे के भेदविधान के सम्बन्ध में डारविन ने जो निरूपण किया था उस पर भी इधर बहुत कुछ छानबीन हुई है। प्रो. बेटसन ने इस विषय का उत्पत्तिविज्ञान के नाम से अलग ही विचार किया है। उन्होंने कहा है कि भेदविधान दो प्रकार के होते हैं–(1) अखंड वा व्यापक और (2) विशिष्ट। डारविन ने अपने प्राकृतिकग्रहण सिद्धान्त में केवल प्रथम का विचार किया है, दूसरे का नहीं। पर कुछ भेद जो जात्यन्तर के लक्षण माने जाते हैं एक ही पुश्त में साधारण भेदविधान द्वारा उपस्थित हो सकते हैं। सच पूछिए तो उत्पन्न प्राणी के लक्षणों में से बहुत थोड़े ऐसे होते हैं जो माता पिता के धातुगत लक्षणों से संघटित होते हैं। इन लक्षणों की प्राप्ति भी कुछ बँधे नियमों के अनुसार होती है। जैसे, यदि माता पिता में से किसी में कोई लक्षणविशेष नहीं है तो किसी सन्तति में वह लक्षण न होगा। यदि दोनों में कोई एक लक्षण वर्तमान है तो सब बच्चों में वह पाया जायगा। यदि कोई लक्षण माता पिता में से एक ही में है, दूसरे में नहीं तो आधे लड़कों में वह होगा आधे में नहीं। इसमें एक बात जो ध्यान देने की है वह यह है कि लक्षण की एक स्थिर मात्रा रहती है जैसे यदि माता पिता में से एक ही में कोई लक्षण है तो आधे सन्तानों में ही वह लक्षण जायगा।

विकासवाद जगत् की समस्याओं के सम्बन्ध में हमारा कहाँ तक समाधान करता है चलती नजर से यह भी देख लेना चाहिए।

जगत् के सम्बन्ध में दो प्रकार की जिज्ञासा हो सकती है–(1) यह जगत्

1. पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्वानि तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते। तेषु विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति।–चार्वाक। (सर्वदर्शनसंग्रह)।

क्या है, अर्थात् इसकी मूल सत्ता किस प्रकार की है? (2) जगत् के नाना व्यापार किस प्रकार होते हैं? उस गति का विधान कैसा है जिसके अनुसार नाना पदार्थ अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हुए हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि विकाससिद्धान्त का सम्बन्ध असल में दूसरे प्रश्न से है। उसी का उत्तर उसके निरूपण देते हैं। सत्ता की मीमांसा विकास का विषय नहीं। पर दार्शनिक प्रवृत्ति रखने वाले हैकल ऐसे विकासवादी नाना व्यापारों को सत्ता के लक्षण मान उसके अनुमान में भी प्रवृत्त होते हैं।

इस जगत् के अन्तर्गत दो प्रकार के व्यापार देखने में आते हैं—भौतिक और मानसिक। इन दोनों के उत्तरोत्तर क्रमविधान का वैज्ञानिक निरूपण विकासवाद करता है। इन निरूपणों को दो दृष्टियों से हम देख सकते हैं—द्वैत दृष्टि से और अद्वैत दृष्टि से।

द्वैत पक्ष यह है कि भूत और आत्मा अर्थात् अन्तःकरण विशिष्ट आत्मा, दो सर्वथा पृथक् सत्ताएँ हैं। भौतिक व्यापार और मानसिक व्यापार दोनों एक ही नहीं हैं। अद्वैत पक्ष दो प्रकार का है—(क) आधिभौतिक और आध्यात्मिक। आधिभौतिक अद्वैतवाद केवल एक महाभूत की सत्ता मानता है और आत्मा या मन को उसी का एक गुण या अभिव्यक्ति विशेष कहता है। इसके अनुसार आत्मा कोई अलग तत्त्व या सत्ता नहीं। हैकल ने स्पिनोजा के जिस तत्त्वाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है वह इससे विशेष भिन्न नहीं। हैकल के अनुसार भौतिक और मानसिक एक ही परमतत्त्व के दो पक्ष या रूप हैं। एक ही तत्त्व या सत्ता की अभिव्यक्ति दो रूपों में होती है—द्रव्य या भूत के रूप में तथा गति शक्ति या आत्मा के रूप में। अर्थात्, आत्मा एक प्रकार की गति या शक्ति का ही नाम है। जिस प्रकार पानी का बहना, हवा का चलना, बारूद का भड़कना आदि गतिशक्ति के रूप हैं उसी प्रकार बोध करना और सोचना विचारना भी। हैकल की अद्वैत सत्ता चेतन नहीं, उसके सिद्धान्त में चेतना एक गुणपरिणाम है जो अनेक परिणामों के उपरान्त उत्पन्न होता है और फिर नष्ट हो जाता है। यह वैज्ञानिक या आधिभौतिक अद्वैतवाद है।

(ख) आध्यात्मिक अद्वैतवाद केवल आत्मसत्ता ही मानता है। उसके अनुसार चैतन्य ही एकमात्र सत्ता है। भौतिक जगत् या उसके नाना रूपों को वह आत्मा के विविध भावमात्र कहता है। आधुनिक दर्शन में इसी मत की प्रधानता है। इसे योरप का वेदान्त कह सकते हैं। इसके प्रतिष्ठाता जर्मनी में हुए हैं।

प्रकृति में जितने व्यापार या परिणाम हम देखते हैं, द्वैत या अद्वैत दृष्टि के अनुसार उनके दो प्रकार के कारण हम सोच सकते हैं—निमित्त कारण और समवायिकारण। द्वैत पक्ष के अनुसार जितने व्यापार होते हैं, सब किसी निमित्त या उद्देश्य से होते हैं, और उद्देश्य को धारण करनेवाला कारण भूतों से परे है। भूतातीत नियन्ता या विश्वविधायक आत्मा माननेवाले समस्त भौतिक क्रियाओं को उद्देश्य द्वारा प्रेरित मानते हैं। ये समवायिकारणों को निमित्त कारण के अधीन मानते हैं। जो विधायक आत्मा

को भूतसमष्टि विश्व में समवेत या ओतप्रोत मानते हैं, वे भी इन्हीं के अन्तर्गत लिए जा सकते हैं क्योंकि अद्वैतवादियों के अन्तर्गत वे नहीं आ सकते। आधिभौतिक अद्वैतवादी कहते हैं कि समवायिकरण ही मानने से प्रकृति के सब व्यापारों की सम्यक् व्याख्या हो जाती है, उद्देश्य रखनेवाले किसी निमित्त कारण को मानने की आवश्यकता नहीं। भूतद्रव्य और उसकी गतिशक्ति द्वारा ही जगत् का विकास होता है। वे किसी भूतातीत नियन्ता का अस्तित्व नहीं स्वीकार करते और न आत्मा को कोई नित्य चेतन पदार्थ मानते हैं। सम्पूर्ण व्यापार द्रव्य और उसकी गतिशक्ति द्वारा आप से आप होते हैं।[1]

आधिभौतिक पक्षवालों को चेतना की व्याख्या में अड़चन पड़ती है। सर्वथा जड़ से चेतन की उत्पत्ति वे समाधानपूर्वक नहीं समझा सकते हैं। इस बाधा से बचने के लिए वे दो निकास निकालते हैं। कुछ लोगों को तो ईथर के समान एक अत्यन्त सूक्ष्म मूल मनोभूत—जो प्रकृति या प्रधान भूत का ही एक विकार है; या आत्मभूत की कल्पना करनी पड़ी है जिससे प्राणियों के मन या आत्मा की योजना हुई है। कुछ लोग प्रत्येक भूतखंड में किसी न किसी रूप का संवेदन मानते हैं और कहते हैं कि अणुओं और परमाणुओं के परस्पर आकर्षण और अपसारण को संवेदन का मूलरूप समझना चाहिए। हैकल के सिद्धान्त में इन दोनों का मेल है।

विकासवाद को दार्शनिक रूप हर्बर्ट स्पेन्सर द्वारा ही प्राप्त हुआ है। उसी ने उसके नियमों को विश्वव्यापक रूप दिया है। उसने विकास की परिभाषा इस प्रकार की है—'एकरूपता या निर्विशेषता से अनेकरूपता या सविशेषता की ओर, अव्यक्त से व्यक्त की ओर गति का नाम विकास है।' इस गति का कारण द्रव्य में समवेत है। भौतिक शक्ति के व्यापक नियमों द्वारा ही इसका विधान होता है। उससे परे किसी और शक्ति की प्रेरणा अपेक्षित नहीं। निर्विशेषता या साम्यावस्था क्षणिक होती है और एक कारण से अनेक कार्य होते हैं, अतः विकास अनिवार्य है। गतिशक्ति के संयोजक और वियोजक जो दो रूप हैं उन्हीं के द्वन्द्व का परिणाम चला चलता है। इस परिणाम परम्परा की प्रवृत्ति दोनों शक्तियों के साम्य की ओर रहती है, अतः विकास या विकृति के नाना रूप कभी न कभी प्रकृतिस्थ होकर नष्ट होंगे। प्रकृति से फिर विकृति होगी। यह क्रम बराबर चला चलता है।

इन नियमों का निरूपण करके स्पेन्सर ने इन्हें जड़ जगत् की उत्पत्ति और सजीव सृष्टि के विकास पर घटाया है। मन या अन्तःकरण के विकास को भी इन्हीं

---

1. सांख्य में भी प्रधानभूत या प्रकृति का स्वभाव ही परिणाम कहा गया है, उसमें प्रवृत्ति आपसे आप होती है, किसी की प्रेरणा से नहीं। प्रकृति जड़ है, अतः यह प्रवृत्ति भी अचेतन है—
वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिप्रधानस्य॥ —कारिका 57

नियमों के अन्तर्गत करके उसने समाज के विकास की मीमांसा की है। बाह्य विषयों के साथ अन्तर्व्यापारों के सामंजस्य का ही नाम जीवन है। जीवों की उत्पत्ति परम्परा में जब यह सामंजस्य एक विशेष जटिल अवस्था को पहुँच जाता है तब मन (चेतना जिसकी वृत्ति है) का प्रादुर्भाव होता है। शक्तिसंयुत द्रव्य के साथ साथ कोई नित्य चेतन सर्वसत्ता भी ओतप्रोत भाव से रहती है, इस विषय में उसने कुछ नहीं कहा है। चेतना को उसने उन्हीं प्राणियों में माना है जिनमें संवेदनसूत्रों और मस्तिष्क का पूर्ण विधान होता है। चेतना को उसने कोई ऐकान्तिक अखंड सत्ता न कहकर एक यौगिक व्यापार ही कहा है जिसकी गूढ़ योजना अत्यन्त सादे और सूक्ष्म अव्यक्त संवेदनों के योग से होती है। स्मृति, संकल्प, विवेचना, मनोवेग इत्यादि सब वृत्तियाँ इन्हीं आदिम मूल संवेदनों के सम्बन्धभेद से संघटित हैं। अन्तःकरण वृत्तियों के नाना रूपों की संप्राप्ति बाह्य विषयों के साथ सामंजस्य प्रयत्न द्वारा होती है; दिक्सम्बन्धी,[1] धर्मसम्बन्धी आदि जो सांसिद्धिक भाव कहे जाते हैं वे पूर्वजों के अनुभव की अखंड परम्परा द्वारा प्राप्त हुए हैं। जिन कार्यों से सुख का अनुभव हुआ वे प्राणी के लिए लाभदायक और जिनसे दुःख का अनुभव हुआ वे हानिकारक पाए गए। अतः कुछ कार्यों के आभास से प्रसन्नता और कुछ के आभास से भय वा विरक्ति, मस्तिष्क या अन्तःकरण में संस्कार रूप में मूलबद्ध होती गई और पीढ़ी दर पीढ़ी चली आई। आरम्भ में यह हानिलाभ का विचार या कार्यकारण का भाव स्पष्ट था पर क्रमशः वह दब गया, अर्थात् कुछ कार्यों के साक्षात्कार से आनन्द और कुछ के साक्षात्कार से भय वा विरक्ति, बिना हानिलाभ या परिणाम आदि की भावना के यों ही बद्धसंस्कार के रूप में होने लगी। बहुत छोटे गोद के बच्चे को जब हम क्रूर आकृति बनाकर डाँटते हैं तब वह रोने लगता है और जब हँस हँसकर बुलाते हैं तब प्रसन्न होता है। उस बच्चे को कार्यकारण के अनुमान की शक्ति नहीं रहती, वह यह नहीं जानता कि क्रूर आकृति का परिणाम चपत या प्रसन्न आकृति का परिणाम मीठा दूध है। वह जो भय या आनन्द प्रकट करता है उसका कारण उस अन्तःकरण द्रव्य में बद्ध संस्कार है जिसकी परम्परा लाखों पीढ़ियों से बच्चे तक चली आई है।

---

1. रेखागणित के निरूपण दिक् सम्बन्धी होते हैं, जैसे, 'केवल दो रेखाएँ कोई स्थान नहीं घेर सकतीं, 'दो समानान्तर रेखाएँ कभी नहीं मिल सकतीं।' ऐसे निरूपणों को भी ह्यूम आदि संवेदनवादी दार्शनिकों ने स्वतःसिद्ध न कह कर अनुभव सिद्ध बतलाया है। यह देखते देखते कि दो रेखाएँ कोई स्थान नहीं घेर सकतीं, दो समानान्तर रेखाएँ कभी नहीं मिलतीं, मनुष्य जाति के भीतर लाखों पीढ़ियों से जो संस्कार बँधा चला आया है उसी के कारण ये बातें स्वतः सिद्ध सी जान पड़ती हैं। आत्मसत्तावादी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन्हें इन्द्रियज संवेदनो से प्राप्त नहीं मानते। वे कहते हैं कि हमारा जो यह निश्चय है कि ऐसा होना त्रिकाल में और किसी लोक में सम्भव नहीं, वह बाह्य पदार्थों या व्यापारों द्वारा उत्पन्न परिमित ज्ञानों से प्राप्त नहीं हो सकता। वह दिक् काल आदि से अपरिच्छिन्न सत्ता का लक्षण है।

इस प्रकार आदिम काल में ही मनुष्य जाति के बीच यह संस्कार जम गया कि जिन कार्यों से औरों की आकृति क्रूर हो जाय उनसे बचना और जिनसे प्रसन्न हो उन्हें करना चाहिए। अर्थात् आरम्भ में भय और आनन्द द्वारा ही उपादेय और अनुपादेय का भाव उत्पन्न हुआ। यही मूलभय क्रमशः देवभय आदि के रूप में और मूल आनन्द देवतुष्टि या स्वर्ग आदि के आनन्द के रूप में विकसित हुआ। दयाधर्म के सम्बन्ध में आधिभौतिक विकासवादियों का कहना है कि उसकी उत्पत्ति सहानुभूति से है जिसका विकास समाज बाँधकर रहनेवाले प्राणियों में स्वाभाविक है। एक प्रकार का आहार विहार रखनेवाले प्राणी जब एक दूसरे के समक्ष एक ही प्रकार के मनोद्गार प्रकट करते हैं तब उन मनोद्गारों के सम्बन्ध में भी एक प्रकार का मानसिक सहयोग स्थापित हो जाता है। यही सहानुभूति है जिसके कारण मनुष्य दूसरे को पीड़ा पहुँचाने से बचता है और दूसरे की पीड़ा देखकर दुखी होता है। सौन्दर्य की ओर जो प्रवृत्ति पाई जाती है वह एक प्रकार की फालतू वृत्ति या क्रीड़ावृत्ति है जो प्रयोजन से अधिक मानसिक वृत्तियों के विकास के कारण उत्पन्न होती है।

स्पेन्सर ने शरीर विकास और समाज विकास का तारतम्य दिखाकर कहा है कि जिस प्रकार प्राणी की जीवनयात्रा उपस्थित वाह्य विषयों के साथ आभ्यन्तर वृत्तियों का सामंजस्यप्रयत्न है, उसी प्रकार प्राणियों की समष्टि या समाज की जीवनयात्रा भी। अतः वह युग आवेगा जब यह सामंजस्य पूर्ण रूप से स्थापित हो जायगा और मनुष्य जीवन आनन्दमय हो जायगा।

स्पेन्सर ने विकास की जो व्याख्या की है वह आधिभौतिक ही है। सब प्रकार की चेतना को उसने मूल संवेदनों से संघटित बताया है जो सूत्रों की अणुस्पन्दन रूप गति के सहगामी हैं। पर उसने यह भी कहा है कि इन संवेदनों को हम उसी भौतिक गति का रूप नहीं कह सकते जिसे हम चारों ओर देखते हैं। विषय और विषयी को, ज्ञाता और ज्ञेय को किसी प्रकार एक नहीं समझते बनता।[1] इस प्रकार भूतक्रिया और मनोव्यापार का पृथकत्व स्वीकार करते हुए भी उसने दोनों को एक ही अज्ञेय सत्ता के दो पक्ष या रूप कहा है। पर इस रीति से अद्वैतपक्ष पर आने पर भी द्रव्य और मन का आत्मा की पृथक् भावना द्वारा उसका द्वैतवाद लक्षित होता है। हैकल के समान उसने जड़ और चेतन व्यापारों को एक ही नहीं कहा है, दोनों को अलग रखा है। हैकल ने परमतत्त्व के जो दो पक्ष कहे हैं वे द्रव्य और गतिशक्ति—जिसके अन्तर्गत संवेदन, संकल्प विकल्प, आत्मबोध आदि मनोव्यापार भी हैं—हैं। स्पेन्सर ने अज्ञेय सत्ता के जो दो पक्ष कहे हैं वे गतिशक्तियुक्त द्रव्य और मन हैं। 'मन (चेतन अवस्थाएँ और संवेदनसूत्रों की भौतिक क्रिया एक ही वस्तु के विषयी और विषय अर्थात् ज्ञातृ और ज्ञेय दो पक्ष हैं। दोनों के एक ही वस्तु

1. ज्ञेयं ज्ञेयमव ज्ञाता ज्ञातैव न ज्ञेयं भवति—गीता, शंकर भाष्य 13/3।

के रूप में या विभाव होने का प्रमाण उनका नित्य सम्बन्ध है। वह वस्तु या सत्ता जिसके ये दोनों पक्ष हैं, ज्ञेय पक्ष में नहीं आ सकती।

इस प्रकार वस्तु या सत्ता के विवेचन में उसने अपने को भूतवादी कहे जाने से यह कहकर बचाया है कि 'एक अज्ञेय सत्ता है जो भौतिक और मानसिक या आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में अभिव्यक्त होती है'। इस अज्ञेय सत्ता को उसने प्रायः शक्ति के नाम से अभिहित किया है जो कहीं कहीं (उसी के ग्रन्थ में) भौतिक गतिशक्ति से भिन्न नहीं जान पड़ती। स्पेन्सर की अज्ञेय मीमांसा के साथ उसकी विकास की व्याख्या मेल नहीं खाती। सच पूछिए तो उसका विकासवाद उसके अज्ञेयवाद पर प्रतिष्ठित ही नहीं है। सत्ता के विवेचन में उसने जो निरूपण किए हैं उनसे उसने विकास की व्याख्या में कुछ भी काम नहीं लिया है। न तो उसने यह बताया है कि अज्ञेय सत्ता क्यों देशकाल के भीतर अभिव्यक्त होती है और न यह कहा है कि वह क्यों पहले जड़ जगत् के रूप में व्यक्त हुई, पीछे चैतन्य रूप में।

यहाँ तक तो हर्बर्ट स्पेन्सर की बात हुई। अब यह देखना चाहिए कि विकासवाद जगत् की व्याख्या में कहाँ तक पहुँचा है। विकासवाद भौतिक और मानसिक दोनों व्यापारों की परिणामपरम्परा की व्याख्या करता है और इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् की समस्या को अपने अन्तर्भूत करता है। पर बहुत सी बातें ऐसी रह जाती हैं जिनके सम्बन्ध में हमारा ठीक ठीक समाधान नहीं होता। कुछ उदाहरण लीजिए। विकासवाद यह नहीं बता सका है कि क्यों एक पुरातन प्रधान भूत निर्विशेषता से सविशेषता की ओर, एकरूपता से अनेकरूपता की ओर प्रवृत्त होता है, प्रकृति की विकृति का कारण क्या है। इसी प्रकार जड़ से चेतन की उत्पत्ति का ब्योरा भी वह स्पष्ट रीति से नहीं समझा सका है।

अब प्रश्न यह होता है कि क्या विकासवाद जगत् के समस्त व्यापारों के मूल की सम्यक् व्याख्या कर देता है? सच पूछिए तो उसकी पहुँच की भी हद है। शरीरविकास और आत्मविकास को ही लीजिए। शरीरव्यापार और मनोव्यापार दोनों में, एक ही प्रकार के नियमों की चरितार्थता, दोनों का साथ साथ उत्तरोत्तरक्रम से विकास, दिखाया गया है सही, पर दोनों एक नहीं सिद्ध हो सके हैं। विकासवाद के सारे निरूपण मन या आत्मा की प्रथमोत्पत्ति नहीं समझा सके हैं। और तो जाने दीजिए किस प्रकार संवेदनसूत्र का भौतिक (स्थूल) स्पन्दन संवेदन के रूप में परिणत हो जाता है यही रहस्य नहीं खुलता। इस प्रकार का और कोई परिणाम भौतिक जगत् में देखने में नहीं आता। इस कठिनता को कुछ लोग यह कहकर दूर किया चाहते हैं कि द्रव्य के प्रत्येक परमाणु में एक प्रकार की अन्तःसंज्ञा या अव्यक्त संवेदन होता है जो आकर्षण और अपसारण के रूप में प्रकट होता है। पर हम तो चेतना अर्थात् मन की अपने ही संस्कारों के बोध की वृत्ति—की उत्पत्ति जानना चाहते हैं जिससे यह अन्तःसंज्ञा भिन्न है। हैकल ने मस्तिष्क के भीतर प्रतिबिम्ब या संस्कार ग्रहण करनेवाला जो

एक प्राप्यकारी अवयव बताया है उससे भी चेतना का व्यापार समझने में सुबीता नहीं होता। केवल यही कह देने से कि एक वस्तु पर प्रतिबिम्ब पड़ता है यह समझ में नहीं आ जाता कि वह वस्तु यह बोध भी करती है कि मुझ पर प्रतिबिम्ब पड़ रहा है या प्रतिबिम्ब इस प्रकार का है।[1]

ऐसी बातों में हमारा समाधान विकासवाद द्वारा नहीं होता। विकासवाद केवल गोचर व्यापारों की पूर्वापरपरम्परा या स्फुरणक्रम मात्र दिखाता है। ये सब व्यापार किसके हैं, वस्तु या सत्ता का शुद्ध (इन्द्रियनिरपेक्ष) स्वरूप क्या है यह वह नहीं बताता। वह केवल तटस्थ लक्षण कहता है, स्वरूप लक्षण नहीं। अतः सत्ता के विवेचन के लिए हमें विज्ञान क्षेत्र से निकलकर परा विद्या या शुद्ध दर्शन की ओर आना पड़ता है।

यह जगत् क्या है? इसकी सत्ता का वास्तव स्वरूप क्या है? इस सम्बन्ध में दर्शन में दृष्टिभेद से तीन पक्ष हैं—(1) भूतवाद या लोकायत मत जिसके अनुसार शरीर या भूत ही एकमात्र सत्ता है; (2) अद्वैत आत्मवाद या भाववाद। अद्वैत आत्मवादियों में कुछ लोग तो आत्मा को एक वस्तु या सत्ता मानते हैं और कुछ लोग बौद्धों के समान क्षणिक विज्ञानों या चेतन अवस्थाओं को ही मानते हैं। पर दोनों दल के लोग भौतिक शरीर या वाह्य जगत् की स्वतन्त्र सत्ता अस्वीकार करते हैं। (3) वाह्यार्थवाद,[2] जो भूत और आत्मा दोनों को भिन्न सत्ताएँ मानकर वाह्य जगत् को वास्तविक कहता है।

1. भूतवाद के अनुसार जो कुछ है वह भूत ही है, जिसे हम आत्मा कहते हैं वह उसकी व्यापारसमष्टि या गुणविशेष मात्र है। यद्यपि हैकल ने अपने मत का नाम भूतवाद नहीं रखा है पर है वह भूतवाद ही। जगत् के मूल उपादान या प्रधान

---

1. यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार वैज्ञानिकों ने 'शक्ति की अक्षरता' के सिद्धान्त को लेकर यह प्रतिपादित किया है कि न भौतिक शक्ति किसी अभौतिक शक्ति के रूप में परिणत हो सकती है और न कोई अभौतिक शक्ति भौतिक शक्ति में कोई वृद्धि (अतिशय) या विकार कर सकती है। मनोविज्ञानियों ने इसी आधार पर यह सिद्धान्त स्थिर किया कि शरीरव्यापार और मनोव्यापार एक दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते अर्थात् उनमें कार्यकारण सम्बन्ध नहीं, वे दोनों समानान्तर (साथ साथ पर अलग अलग) चलते हैं। जब आधिभौतिक अद्वैतवादी इस बात को अपनी ओर यह सिद्ध करने के लिए ले गए कि जगत् किसी आत्मसत्ता या चेतन का कार्य नहीं है और प्राणियों के प्रयत्न किसी अभौतिक सत्ता द्वारा प्रेरित या उत्पन्न नहीं होते तब ईश्वरकर्तृत्ववादी इसके खंडन के प्रयास में लगे (दे. भूमिका पृ. 48-50, पर हमारे यहाँ वेदान्त में क्रिया मात्र से शुद्ध चैतन्य (ज्ञान) की भावना अलग होने से उपर्युक्त वैज्ञानिक सिद्धान्त स्वीकृत हैं। उपदेशसाहस्री की टीका (10।112) में स्पष्ट लिखा है कि 'सन्निहिताध्यक्ष कृतातिशयः बुद्ध्यादेर्नास्त्येव'। यह भी खोल कर लिखा गया है कि बुद्ध्यादि जड़ क्रिया और ज्ञान में केवल 'समकालाभिव्यक्तिधर्म' के सिवा और कोई सम्बन्ध नहीं है। यह वेदान्त का 'साइको फ़िजिकल पैरेललिज्म' है।
2. एवं वाह्यार्थवादमाश्रित्य समुदायाप्राप्त्यादिषु दूषणेषूद्भावितेषु विज्ञानवादी बौद्ध इदानीं प्रत्यवतिष्ठते।—सूत्र 28 पर, शंकर भाष्य।

भूत तक पहुँचकर उसने उसका नाम परमतत्त्व रखा जो नित्य है और अपने नित्य नियमों से बद्ध है। उस परमतत्त्व की अभिव्यक्ति द्रव्य और गतिशक्ति दो रूपों में होती है। मूल वृत्ति या प्रवृत्ति ही उसका संवेदन (जड़ संवेदन)[1] है जिसके कारण वह स्थान स्थान पर घनीभूत होकर अनेकत्व की ओर प्रवृत्त हुआ। परमाणुओं की प्रवृत्ति में वह कुछ और अधिक व्यक्त हुआ। शुक्र कीटाणुओं और रजःकीटाणुओं में हैकल ने घटकात्मा कहा, गर्भांड में अंकुरात्मा, पौधों में तत्त्वात्मा और जन्तुओं में सूत्रात्मा। इस प्रकार संवेदन को भूत का व्यापक गुण मानकर उसने अपने सिद्धान्त का नाम भूतवाद न रखकर तत्त्वाद्वैतवाद रखा। पर उसका यह संवेदन जड़ ही है अतः उसका जड़ाद्वैतवाद वास्तव में भूतवाद ही है। चैतन्य की असंहत नित्य सत्ता का स्वीकार उसमें नहीं है। उसके संवेदन को यदि हम एक प्रकार का आत्मव्यापार मान भी लें तो भी वह क्रिया या गुणमात्र ही है, वस्तु या सत्ता नहीं।

भारतवर्ष का चार्वाक या लोकायत मत भी इसी प्रकार का था जो चैतन्यविशिष्ट देह के अतिरिक्त आत्मा की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं स्वीकार करता था[2]। चार्वाकों का कहना था कि जिस प्रकार किण्व या खमीर से मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार देहाकारपरिणत भूतचतुष्टय से चैतन्य उत्पन्न होता है। भूतों के इस संयोग विशेष के नष्ट होने पर वह भी नष्ट हो जाता है।

2. योरप में अध्यात्मवाद या भाववाद का आरम्भ डेकार्ट के इस सूत्र से समझना चाहिए कि 'मैं बोध करता हूँ इसलिए मैं हूँ।' उसने कहा—जो कुछ बोध आत्मा को होता है वह अपने भावों या प्रत्ययों का ही। अतः यदि किसी सत्ता का पूर्ण निश्चय है तो आत्मसत्ता का। पर ईश्वर की कृपा से आत्मा के प्रत्ययों या भावों द्वारा हम दो प्रकार की सत्ताओं—दिग्बद्ध वस्तु (भूत) और ज्ञातृवस्तु या आत्मा—का अनुमान कर सकते हैं। सच पूछिए तो अद्वैत आत्मवाद का आधार कांट ने खड़ा किया। उसी ने ज्ञान के मूल की विस्तृत परीक्षा की। वाह्य जगत् का ज्ञान हमें किस प्रकार होता है? संवेदन द्वारा, अर्थात् हमारे अन्तःकरण वा मन में वस्तुसत्ता के प्रभाव से एक संस्कार उत्पन्न होता है और मन उसी का बोध करता है। जैसे, स्पर्श का जो ज्ञान है वह वस्तुतः दबाव का ज्ञान नहीं है उस दबाव की भावना करने वाले संस्कार या संवेदन का ज्ञान है। वर्ण का जो ज्ञान होता है वह वास्तव में वर्ण का ज्ञान नहीं है, वर्ण के उस संवेदन का ज्ञान है जो अन्तःकरण या मन में ही होता है। अर्थात्, मन को जिन रूपों का बोध होता है वे उसी के रूप हैं, किसी बाहरी वस्तु के नहीं। प्राप्त संवेदनों को देश काल के साँचे में ढालकर ही मन उनका ग्रहण करता है।

मनुष्य के ज्ञान की परीक्षा करके कांट ने यह निर्धारित किया कि उसका

---

1. उपनिषदों में इसे प्राणशक्ति कहा है जिससे चैतन्य भिन्न है।
2. चैतन्यविशिष्ट देह एवात्मा, देहातिरिक्ति आत्मनि प्रमाणाभावात्।—चार्वाक (सर्वदर्शनसंग्रह)

कितना अंश बाहर से प्राप्त होता है और कितना मन में पहले ही से आधार या मूल के रूप में वर्तमान रहता है। ये आधार या मूल चित् के स्वरूप ही हैं, ये स्वतः प्रमाण हैं, इनके बोध या निश्चय के लिए किसी प्रकार का अनुमान या तर्क नहीं करना पड़ता है। इस प्रकार ज्ञान के कुछ स्वरूपसिद्ध मूलाधार मानकर कांट ने इन्द्रियसंवेदन, मनन और प्रज्ञा या बुद्धि में उनको क्रमशः दिखलाया है। प्रत्यक्ष या इन्द्रियज ज्ञान में मूलाधार दिक् और काल दिक् हैं और इन्हीं दो मूल स्वरूपों के भीतर सब प्रकार का प्रत्यक्ष (इन्द्रियज) ज्ञान सम्भव है। मनन या अनुमान में मूलाधार कुछ वर्ग या खंड होते हैं जिनमें प्राप्त संवेदनों या विषयों को बाँटकर मन अपने अनुमान को फैलाता है। तीन तीन भेदों से युक्त ये वर्ग चार हैं—परिमाण, गुण, सम्बन्ध और प्रकार। इन चार रूपों में से किसी एक में आ जाने पर ही मन किसी वस्तु या विषय का ग्रहण कर सकता है। जो बातें इनमें नहीं आ सकतीं वे तर्क या अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं हो सकतीं। अतः परमाणु, शून्य, ईश्वर, दैव आदि असिद्ध हैं। प्रज्ञा या बुद्धि के सांसिद्धिक स्वरूप हैं तीन भाव—ईश्वर, आत्मा और जगत्। बुद्धि इन्हें केवल विचार की व्यवस्था के लिए अपनी ओर से प्रदान करती है, इनका बोध नहीं करती। इनके द्वारा अनुमान के वर्गविधान परिमिति के कारण खंडित नहीं रह जाने पाते। ये प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा प्राप्त परिमित और बद्धज्ञान को अपरिमित और स्वतन्त्र (वाह्यनिरपेक्ष) ज्ञान का स्वरूप देकर ज्ञान को पूर्णता और एकता तक पहुँचाते हैं। जैसे; इन्द्रियज्ञान द्वारा जो देशकाल का आरोप होता है उसे लेकर देशकालगत सब विषयों को एककर बुद्धि उसका नाम जगत् रखती है। अनुमान के जो खंड हैं उन सबको मिलाने से आत्मा का भाव बनता है। कारणता को लेकर सबसे आदि कारण को हम ईश्वर कहते हैं। पर अनुमान के वर्गों से जिस प्रकार हमें अपने से वाह्य वस्तु का जैसा विविक्त ज्ञान होता है, प्रज्ञा या बुद्धि के इन आरोपित भावों से वैसे ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। बुद्धि अपनी ओर से इनका आरोप भर करती है, विषय रूप में ग्रहण नहीं करती। इन भावों से केवल इतना ही होता है कि अनुमान के जो वर्गात्मक खंड हैं वे चरमावस्था को पहुँच जाते हैं, बस। ईश्वर, आत्मा और जगत् क्या हैं यह बुद्धि नहीं स्थिर कर सकती। इस प्रकार कांट ने दिखाया है कि प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रज्ञा के जो सांसिद्धिक स्वरूप अर्थात् देश, काल, वर्ग तथा ईश्वर, आत्मा और जगत् हैं वे वाह्य वस्तु के स्वरूप नहीं हैं, मन के स्वरूप हैं जिनमें लाकर वह वाह्य जगत् को देखता है। बुद्धि आदि द्वारा वाह्य जगत् का जो बोध होता है वह नामरूपात्मक है, वास्तव नहीं है। इन्द्रिय और मन अपने रंगों में रँगकर जिन रूपों में जगत् को देखता है, उनसे स्वतन्त्र उसकी वास्तव सत्ता किस प्रकार की है यह ज्ञान शुद्ध बुद्धि द्वारा नहीं हो सकता। अपनी 'शुद्ध बुद्धि की परीक्षा' में कांट ने ईश्वर, जगत् और आत्मा के पक्ष विपक्ष के प्रमाणों का खंडन किया है।

शुद्ध बुद्धि की परीक्षा के उपरान्त कांट ने कर्मसंकल्परूपिणी 'व्यवसायात्मिका

बुद्धि' को ले लिया है जिसके द्वारा कर्म होते हैं। कर्मक्षेत्र में आकर हम नामरूपात्मक जगत् से परे वस्तुतत्त्व तक पहुँच जाते हैं। संकल्पित कार्यावली हमारे मन में उत्पन्न होकर वाह्य जगत् में अभिव्यक्त होती है। कर्मसंकल्पवृत्ति ही चित् के वास्तव स्वरूप को सूचित करती है। यह न तो बुद्धि से बद्ध या नियन्त्रित है और न वाह्य जगत् नियमों से। इसपर आदेश रखनेवाले केवल नित्य और सर्वगत धर्मनियम (कैटेगारिकल इंपरेटिव्स) हैं। ये धर्मनियम व्यवसायात्मिका बुद्धि के स्वप्रवर्तित नियम हैं। कर्मसंकल्पवृत्ति का यह आत्मशासन (आटोनामी आव् द विल) हमें नामरूपात्मक दृश्य जगत् से अगोचर चिन्मय जगत् में ले जाता है जहाँ हमें धर्मनियम, स्वतन्त्र अमर आत्मा और ईश्वर का अस्तित्व मिल जाता है। इसी धर्मशासन द्वारा कांट ने ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन किया है। जीवन का चरम मंगल क्या है? न अकेला धर्म; न अकेला सुख। धर्म का सुख से कोई स्वतःसिद्ध सम्बन्ध नहीं। जीवन के चरम मंगल में धर्म और सुख दोनों की पराकाष्ठा है। अब इन दोनों का संयोग होता कैसे है? इसके लिए ईश्वर का अस्तित्व मानना पड़ता है। ईश्वर दोनों के बीच संयोग का स्थापक है। इसी प्रकार आत्मा का अमरत्व भी मानना पड़ता है। धर्म पराकाष्ठा और सुख की पराकाष्ठा के साधन के लिए यह अल्पकालिक जीवन काफी नहीं है। अतः अनन्त जीवन मानकर चलना पड़ता है।

कुछ लोगों को व्यवसायात्मिका बुद्धि सम्बन्धी इस निरूपण का, कांट के दर्शन की मूलभित्ति के साथ विरोध दिखाई पड़ता है। पहले तो उसने यह कहा कि प्रत्यक्षानुभव के रूप में जिन मानस संस्कारों की उपलब्धि होती है उन्हें लेकर बुद्धि जो कुछ निरूपित करेगी वह भी मानस वस्तु होगी, चित् का ही स्वरूप होगा; पीछे उसने कहा कि धर्म की व्यवस्था के लिए वह वास्तव (चित्तनिरपेक्ष) पदार्थों का आरोप करती है। पर यदि देखा जाय तो कांट ने वास्तव सत्ता के अस्तित्व की जगह यह कहकर पहले से ही रख ली थी कि मानस संस्कार अज्ञेय वस्तुसत्ता के प्रभाव से होते हैं, और बहुत सम्भव है कि चित् के इन स्वरूपों की तह में जो वस्तुसत्ता है वह इन्हीं के कुछ मेल में हो। जो हो, इतना तो निर्विवाद है कि कांट ने चित् या प्रमाता से वाह्य किसी अज्ञेय वस्तुसत्ता का अस्तित्व माना है। उसके दर्शन में वाह्यार्थवाद की कुछ गन्ध बनी हुई है।

सच पूछिए तो कांट का सबसे बड़ा काम 'शुद्ध बुद्धि की परीक्षा' ही है जिसके द्वारा उसने वाह्यार्थज्ञान के सामान्य अवयवों देश, काल और कार्यकारणसम्बन्ध के वाह्य अस्तित्व का प्रतिषेध किया। योरप में अद्वैत आत्मवाद का मूलाधार यही हुआ। नीचे संक्षेप में कुछ प्रमाण उद्धृत किए जाते हैं।

## दिक् कोई वाह्य वस्तु नहीं, चित् का ही स्वरूप है

1. दिक् का ज्ञान बाहर से नहीं आता क्योंकि जो कुछ प्रत्यक्षानुभव हमें होता है

दिक् की भावना पहले करके तब होता है। प्रत्यक्षानुभव है क्या? मन अपने कुछ संवेदनों को अपने से वाह्य वस्तु से प्राप्त मानता है। इस आन्तर और वाह्य के ज्ञान में देश का ज्ञान पहले से मिला हुआ है। इसी प्रकार वस्तुभेद के ज्ञान में परत्व अपरत्व का देशसम्बन्धी ज्ञान मिला हुआ है।

2. वाह्य जगत् का जो चित्र अपने मन में हम धारण करते हैं उसमें से हम सब कुछ निकाल सकते हैं, पर देश को नहीं अलग कर सकते। जगत् के जितने पदार्थ हैं सब के बिना हम जगत् की भावना कर सकते हैं पर देशशून्य जगत् की भावना हमारे चित्त में हो ही नहीं सकती।

3. शुद्ध देश के सम्बन्ध में जो निरूपण होते हैं वे अनिवार्य होते हैं, उनका अन्यथा सम्भव नहीं। जैसे किसी वस्तु तक पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि उसके और हमारे बीच जो देशखंड है वह तै किया जाय। इसी प्रकार किसी जगह न होना या एकसाथ दो जगहों पर होना असम्भव है। थोड़े विचार से यह स्पष्ट हो सकता है कि इस प्रकार के निश्चय उन निश्चयों से सर्वथा भिन्न हैं जो बराबर देखते देखते निरन्तर अभ्यास द्वारा हमें प्राप्त होते हैं। अनुभव केवल हमें यही बता सकता है कि अबतक ऐसा नहीं हुआ है, यह निश्चय नहीं करा सकता कि त्रिकाल में ऐसा नहीं हो सकता।

4. रेखागणित के सब निरूपण नित्य और अपरिहार्य सत्य के रूप में होते हैं, अतः वे बार-बार के अनुभव से प्राप्त नहीं हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये निरूपण शुद्ध देशसम्बन्धी होते हैं।

5. प्रत्येक वाह्य अनुभव भिन्न भिन्न संवेदनों (आत्मा या मन की अलग अलग अवस्थाओं या संस्कारों) के योग से होता है, जिनका मेरे साथ तो सम्बन्ध होता है पर परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः उनको जोड़नेवाला सम्बन्धसूत्र चित् से बाहर नहीं है, उसके भीतर है। यह सम्बन्धसूत्र देश है जो हमारे चित्त का ही भाव या स्वरूप है।

6. दिक् अनन्त है। हमें इस बात का पूरा निश्चय है कि सौर जगत् क्या अनेक सौर जगतों से परे, जहाँ तक न दूरबीन की पहुँच है और न हमारे अनुभव की, दिक् बराबर चला गया है। यह अनुभव की बात नहीं, अनन्तता का अनुभव हमें बाहर से प्राप्त हो नहीं सकता।

## काल कोई वाह्य वस्तु नहीं, चित् का ही स्वरूप है

1. काल की भावना जगत् से नहीं प्राप्त होती क्योंकि प्रत्येक प्रत्यक्षानुभव में काल की भावना पहले से मिली रहती है। प्रत्यक्षानुभव में यह आवश्यक है कि संवेदन एकसाथ हों या आगे पीछे। एकसाथ या आगे पीछे होने का यह भाव कालसम्बन्धी है।

2. मान लीजिए कि जगत् की सारी गति, सारे व्यापार—घड़ियों के चलने से लेकर पृथ्वी आदि ग्रहों के घूमने तक, जिनसे हम काल नापते हैं बन्द हो जायँ, फिर भी काल बराबर चला चलेगा, एक क्षण के उपरान्त दूसरा क्षण आता रहेगा। सब प्रकार के प्रत्यक्षानुभव के लुप्त हो जाने पर भी काल की भावना बराबर बनी रहेगी।

3. कालसम्बन्धी निरूपण अपरिहार्य होते हैं, उनका अन्यथा सम्भव नहीं। जैसे किसी भविष्य काल तक रहने के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान काल और उस काल के बीच जितना काल है उतने में रहा जाय, न कम में न अधिक में। विगत क्षण का लौटना असम्भव है। इस प्रकार के निश्चय किसी प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त नहीं। कालिदास को कुछ लोग ई. पू. का मानते हैं और कुछ लोग चतुर्थ शताब्दी का। यदि कोई कहे कि दोनों सम्भव है तो वह विक्षिप्त समझा जायगा।

4. अंकगणित के निरूपण भी इसी प्रकार अपरिहार्य होते हैं। यह शास्त्र काल सम्बन्धी है क्योंकि यह गिनने की संक्षिप्त विधि मात्र है। गिनना एकाई का कई बार निर्धारण है जिसके लिए हम भिन्न भिन्न संकेत रख लेते हैं। 'कई बार' यह काल परम्परा का भाव है अतः अंकगणित कालसम्बन्धी शास्त्र है। उसके अपरिहार्य निरूपण काल का वाह्यनिरपेक्षत्व सिद्ध करते हैं।

5. प्रत्येक प्रत्यक्षानुभव कुछ काल तक मन के प्रभावित होने पर होता है। यह काल चाहे कितना ही अल्प हो कई सूक्ष्म खंडों के योग से बना होता है जिनके बीच कई सूक्ष्म अनुभव होते हैं। आत्मा के ये सूक्ष्म अनुभव मुझसे सम्बन्ध रखते हैं पर एक दूसरे से नहीं। वह सूत्र जिसमें वे पिरोए जाकर एक समवाय ज्ञान उत्पन्न करते हैं काल है जो अनुभवों द्वारा प्राप्त नहीं होता, चित्त द्वारा प्रयुक्त किया जाता है।

6. काल अनादि और अनन्त है। हमें यह पूर्ण निश्चय है कि काल बराब्रर था और बराबर रहेगा। हमारा यह निश्चय किसी अनुभव द्वारा प्राप्त नहीं, यह चित् से ही आता है।

## कार्यकारणसम्बन्ध वाह्य विषय नहीं, चित् का ही स्वरूप है

जैसे दिक् वस्तुओं के अवस्थान की चित्तप्रयुक्त व्यवस्था है और काल परम्परा की, उसी प्रकार कार्यकारणभाव वस्तुओं के क्रिया या व्यापार की व्यवस्था है जिसे चित्त अपनी ओर से प्रदान करता है। प्रत्येक कार्यविशेष का निर्धारण प्रत्यक्षानुभव द्वारा होता है, पर कार्यकारणभाव, जिसके बिना क्रिया या व्यापार की भावना सम्भव नहीं, अन्तरात्मा से ही आता है। प्रमाण—

1. चित् का स्वरूप ही ऐसा है कि यदि किसी व्यापार का चित्र उसमें उपस्थित होता है तो उसका सम्बन्ध बिना किसी कारण से लगाए वह रह ही नहीं सकता। प्रत्येक प्रत्यक्षानुभव में कार्यकारणभाव समवेत रहता है। बाहर से जो कुछ हमें प्राप्त

होता है वह अन्तःकरण का संवेदनसूत्रों द्वारा संहत संस्कार मात्र है। यदि हमारे मन में कार्यकारणभाव का साँचा न होता तो उस संस्कार के द्वारा वाह्य वस्तु के होने का कुछ भी ज्ञान न होता। इसी भाव के द्वारा हम संस्कार को कार्यरूप से ग्रहण करते हैं और अपने से बाहर दिक् में उसके कारण का अवस्थान (स्थूल भूत के रूप में) करते हैं। कार्यकारण के भाव बिना वाह्य जगत् की प्रतीति का असम्भव होना ही इस बात का प्रमाण है कि यह भाव हमें बाहर से प्राप्त नहीं होता, बुद्धि द्वारा ही प्राप्त होता है।

2. शुद्ध कार्यकारणभाव का चित्र हमारे मन में उपस्थित नहीं हो सकता, विषय रूप में जब वह उपस्थित होगा तब देशकाल के योग में अर्थात् भूत के रूप में। भूत वास्तव में देशकालंव्यवस्थित कार्यकारणभाव का ही नाम है। इस भूत का भाव परिहार्य, अपरिहार्य दोनों है। इस भूत का भाव हम चित्त से निकाल सकते हैं, पर जो भूत है उसका प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव मन में नहीं धारण कर सकते। भूत के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव (उत्पत्ति और नाश) की धारणा का असम्भव होना इस बात को सूचित करता है कि हम उपस्थित भूत के अस्तित्व को अपने मन से किसी प्रकार निकाल नहीं सकते। अतः वह आत्मसत्ता से स्वतन्त्र नहीं है, अर्थात् भूत भी चित् द्वारा ही प्रदत्त भाव है।

3. कार्यकारणभाव अपरिहार्य है। किसी कार्य का कारण क्या है, इसका अनिश्चय हमें हो सकता है पर कोई कारण है इसका निश्चय अवश्य रहता है। यदि कार्यकारणभाव हमें प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त होता तो जैसे और सब प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त नियमों (जैसे, नित्य सबेरे सूर्य का उदय होना) की वैसे ही इसकी भी अन्यथा भावना हो सकती। बार बार के प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त नियमों की भावना अपरिहार्य नहीं, कार्यकारण का भाव अपरिहार्य है। अतः वह प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त नहीं है।

4. भौतिक विज्ञान के जो नियम प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त हुए हैं उन सबको यदि निकाल दें तो कोई क्रिया नहीं रह जायगी, क्रिया की सम्भावना, अर्थात् कार्यकारणभाव मात्र रह जायगी, दिक् काल द्वारा व्यवस्थित होने पर जिसकी प्रतीति भूत के रूप में होती है। भूत की यह अक्रिय और सक्रिय भावना अपरिहार्य है, अतः चित्त प्रदत्त है।

5. जब कि अलग अलग संस्कारों द्वारा दिक् काल का सूत्र नहीं प्राप्त होता तब कार्य और कारण के बीच का सम्बन्धसूत्र अलग अलग प्रत्यक्षानुभवों से कैसे प्राप्त हो सकता है? अतः व्यापार के रूप में शक्ति की जो अभिव्यक्तियाँ होती हैं उन्हें मन ही कार्यकारणभाव की व्यवस्था प्रदान करता है।

6. कार्यकारण परम्परा अनादि और अनन्त है क्योंकि जिस अवस्था को हम आदि मानेंगे उसका परिणाम होने के लिए कोई पूर्व परिणाम मानना पड़ेगा और अनवस्था आ जायगी। अनादि और अनन्त का भाव कभी किसी प्रत्यक्षानुभव द्वारा

प्राप्त नहीं हो सकता। वह चित् का ही स्वरूप है।

अन्तःकरण अपनी इन्हीं तीन व्यवस्थाओं (दिक्, काल और कार्यकारणभाव) द्वारा वाह्य जगत् का चित्र खींचता है। पहले तो वह संवेदनों को कालबद्ध कर पूर्वापर क्रम की भावना करता है। फिर कार्यकारणभाव द्वारा बाहर उसके कारण का आरोप करता है। अन्त में इस कारण को दिग्बद्ध कर भौतिक स्थूल पदार्थ के रूप में उसकी भावना करता है। सारांश यह कि जगत् जो हम देखते हैं वह हमारे चित्त का ही खड़ा किया हुआ स्वरूप है, अर्थात् तत्त्व दृष्टि से मिथ्या है। यही तर्क विलायती वेदान्त का आधार हुआ। कांट के इस निरूपण में चित् से भिन्न उस पर संस्काररूप प्रभाव डालनेवाली अज्ञेय वाह्य सत्ता का स्वीकार है। अतः वाह्यार्थवाद का कुछ लेश उसमें बना हुआ है। इस अज्ञेय वाह्य सत्ता की भावना उसने शक्तिरूप में की है। एक स्थान पर उसने कहा कि भौतिक पदार्थ और कुछ नहीं 'शक्तिपूरित दिक्खंड' मात्र हैं।

कांट में जो कुछ वाह्यार्थवाद का लेश था उसे फिक्ट ने दूर कर दिया। उसने सूचित किया कि चित् से भिन्न उस पर प्रभाव डालनेवाली कोई वस्तु नहीं है, आत्मा पूर्ण और निरपेक्ष है। वह आपसे आप उन स्वरूपों का उदय करती है जिसकी समष्टि को जगत् कहते हैं; किसी बाहरी वस्तु (भूत, शक्ति, अज्ञेय सत्ता या ईश्वर आदि) के प्रभाव या प्रेरणा से नहीं। जगत् पूर्णतया उसी की रचना है। आत्मा पहले अपना अवस्थान करती है, फिर अपने से भिन्न अनात्मा का और पीछे इस अनात्मा का अपने में अवस्थान करती है। इसी पद्धति से वह जगत् की प्रतीति करती है। अतः जो कुछ सत्ता है वह चैतन्य में ही, चैतन्य के बाहर नहीं[1]। मोहवश आत्मा को इस स्वावस्थान क्रिया का विस्मरण हो जाता है और उसे इस विवर्त द्वारा अनात्मा की भी स्वतन्त्र सत्ता प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार आत्मा के अवस्थानभेद मानकर फिक्ट ने विषय विषयी, ज्ञाता ज्ञेय, प्रमाता प्रमेय में परमार्थभेद नहीं रखा। जिसे कांट ने अज्ञेय वस्तुसत्ता कहा था उसको भी फिक्ट ने विषय रूप में आत्मा का स्वावस्थान ही कहकर ज्ञेय बताया; क्योंकि जब वह आत्मा की ही स्वप्रमिति ठहरी तब उसके लिए अज्ञेय कैसे हो सकती है। इस प्रकार फिक्ट के दर्शन में आत्मसत्ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया।

अद्वैत आत्मवाद या भाववाद में बड़ी भारी अड़चन यह थी कि यदि संसार में जो नाना पदार्थ दिखाई पड़ते हैं वे चित् के भाव ही हैं तो किसी एक वस्तु की समान प्रतीति सब आत्माओं में कैसे होती है, सब लोग एक सूर्य की भावना कैसे करते हैं। कांट की तरह वाह्यसत्ता का कुछ लेश रखने पर तो इसका समाधान यह मानकर हो सकता है कि एक वस्तुसत्ता भिन्न भिन्न आत्माओं में एक ही प्रकार की अलग अलग प्रतीति उत्पन्न करती है। पर उस वाह्य वस्तु को भी चित् का स्वरूप

---

1. नहि आत्मनोन्यत् अनात्मभूत तत्। –तैत्तिरीय भाष्य।

मान लेने पर केवल दो रास्ते रह जाते हैं। या तो यह कहें कि जितनी आत्माएँ हैं उतने ही सूर्य (या सूर्य की प्रतीति) हैं अथवा यह कहें कि आत्मा एक ही है, अनेक नहीं। इंग्लैण्ड के भाववादी दार्शनिक बर्कले ने पहला रास्ता पकड़ा था। पर फिक्ट ने भिन्न भिन्न आत्माओं का प्रत्याख्यान करके भारतीय वेदान्तियों के समान एक ही आत्मा माना। यूरोपीय दर्शन में इस प्रकार एक ही पूर्ण और व्यापक चैतन्य की प्रतिष्ठा हुई।

फिक्ट के पीछे शेलिंग ने प्रतिपादित किया कि एकान्त चैतन्य सत्ता ही ब्रह्म है। जगत् चैतन्य वा ब्रह्म का ही भावविधान है। ब्रह्मसत्ता शाश्वत सर्वव्यापिनी बुद्धिस्वरूपा है। यह सम्पूर्ण जगत् उसी बुद्धि का निरूपण है जिसकी पहले जड़ जगत् के रूप में और फिर होते होते चेतन मनुष्य के रूप में अभिव्यक्ति होती है। विषयी निरन्तर विषय रूप होता रहता है और ऐसी सृष्टि करता है जिसमें विषय और विषयी का एक में पर्यवसान होता है। द्वैत में अद्वैत, भेद में अभेद का यह क्रम ही आकर्षण और अपसारण का मूल है और इसकी उद्धरणी जगत् में बराबर होती रहती है। शेलिंग का कहना है कि विषयी जो विषय हो जाता है वह 'भेद में अभेद' भाव होकर फिर पलटकर अपने में मिलने के लिए ही। जगत् और ज्ञान दोनों का क्रम बुद्धिक्रम है। विषय और विषयी, ज्ञाता और ज्ञेय के भेद का परम चैतन्य या पूर्णबुद्धि में जाकर अभेद हो जाता है। अभेदरूप इस ऐकान्तिक पूर्ण चैतन्य सत्ता का बोध क्योंकर हो सकता है? शेलिंग का कथन है कि प्रज्ञा से।

शेलिंग के इसी 'भेद में अभेद' के ऊपर हेगल ने अपना अद्भुत चमत्कारपूर्ण भवन खड़ा किया जिससे वाह्यार्थवादी इतना घबराते हैं। उसने शेलिंग के इस कथन को अयुक्त बताया कि पूर्ण चैतन्य सत्ता का बोध प्रज्ञा द्वारा हो सकता है। उसने कहा कि संवेदन या इन्द्रियज ज्ञान से ऊपर जो बोध होगा वह अनुमान या तर्कपद्धति द्वारा ही होगा। इसके लिए उसने एक नया आन्तर तर्क खड़ा किया जिसका आधार यह है कि दो जुदी वस्तुएँ यदि समान हों तो गुण की एकता से एक ही हो सकती हैं। इसी तर्कपद्धति द्वारा उसने दिखाया कि किस प्रकार अपरिच्छिन्न सत्ता परिच्छिन्न होकर भी अपरिच्छिन्न बनी रहती है, किस प्रकार चित् का भाव जगत् हो जाता है और फिर आत्मा होकर अपने में लौट आता है, सत् किस प्रकार असत् हो जाता है और फिर अपने में लौट आता है अर्थात् किस प्रकार एक परम चैतन्य विषय विषयी, ज्ञाता ज्ञेय, प्रमाता प्रमेय के भेद की ओर प्रवृत्त होता है और फिर भी अभेद रूप रहता है। इस प्रकार हेगल ने सत् और असत् दोनों का अन्तर्भाव एक परम भाव में किया। हेगल के हाथ में पड़कर जर्मनी का भाववाद चरमसीमा को पहुँच गया।

हेगल के पीछे जर्मनी में शोपेनहावर, हार्टमान, लोज, फेकर, पालसन आदि कई भाववादी दार्शनिक हुए हैं। इनमें से शोपेनहावर ने बौद्ध आदि पूरबी दर्शनों और

उपनिषदों का भी परिशीलन किया था। शोपेनहावर भी कांट का यह निरूपण स्वीकार करके चला है कि वाह्य (नामरूपात्मक, दृश्य) जगत् चित् का भाव या प्रत्यय मात्र है, पर जगत् की जो वस्तुसत्ता है वह कर्मसंकल्पवृत्ति या इच्छास्वरूप है। यह कर्मप्रवृत्ति या कृतिशक्ति उद्देश्यज्ञानपूर्वक चेतन नहीं है, जड़ है। बुद्धि और चेतना क्या इसमें संवेदन तक नहीं, यह सर्वथा जड़ प्रवृत्ति है। इस प्रकार उसने फिक्ट, शेलिंग और हेगल के अनन्तपूर्ण चैतन्य अर्थात् सर्वव्यापिनी चेतनसत्ता का प्रतिषेध किया और कहा कि अन्ध जड़ प्रवृत्ति या इच्छा ही परिणामस्वरूप से हम लोगों में चैतन्य की उत्पत्ति करती है। यह दुःखमय संसार इसी रजोगुणमयी प्रवृत्ति या शक्ति का कार्य है। शोपेनहावर के दर्शन में दुःखवाद भरा हुआ है। कामना की निवृत्ति से ही दुःख की निवृत्ति हो सकती है। शोपेनहावर के अनुयायियों में ही ड्यूसन हुए हैं जिन्होंने वेदान्त आदि भारतीय दर्शनों की भी आलोचना की है।

शोपेनहावर ने सबसे जड़ और दुःखमयी प्रवृत्ति को ही जगत् के मूल में रखा है। उसका यह दुःखवाद जर्मनी में निट्शे ने ग्रहण किया और अपनी चमत्कारपूर्ण अनोखी उक्तियों द्वारा अपने देश में एक इन्द्रजाल सा फैला दिया। वह शोपेनहावर के दर्शन से जड़ प्रवृत्ति या संकल्पशक्ति को लेकर विकासवाद की ओर ले गया और कहने लगा कि जीवन की यही कामना विकास के इस नियम में देखी जाती है कि 'जो जीव समर्थ होते हैं वे ही रह जाते हैं और सब नष्ट हो जाते हैं।' प्रकृति द्वारा जीवित रहने का अधिकार बलवानों को ही प्राप्त है। वे दुर्बलों को संसार से हटाकर अपने लिए—अपने ज्ञान, बल, वैभव आदि के पूर्ण विस्तार के लिए—जगह करें और इस प्रकार 'ग्रहण पद्धति' द्वारा एक मनुष्योपरि योनि का विकास करें। इस मनुष्योपरि योनि के विकास के उन्माद में जर्मनी ने हाल में जो करतब किए उन्हें संसार देख चुका है।

यद्यपि भारतीय वेदान्त की पद्धति योरप की ज्ञानपरीक्षावाली पद्धति से भिन्न है पर अन्त में दोनों दर्शन किस प्रकार एक ही सिद्धान्त पर पहुँचे हैं यह बात ध्यान देने योग्य है। वेदान्त यह मानकर चला है कि क्रिया परिणामिनी है, पर चैतन्य अपरिणामी है। एक क्रिया दूसरी क्रिया के रूप में परिणत होती है पर उन क्रियाओं का ज्ञान सदा वही रहता है। बुद्ध्यादि अन्तःकरण की सब वृत्तियाँ जड़ क्रिया के अन्तर्गत की गई हैं, केवल उनका ज्ञान अविकृत रूप से स्थित कहा गया है। खंडज्ञान या विज्ञान का कारण बुद्ध्यादि क्रिया की विच्युति या विकार है। क्रियानुगत ज्ञाता ज्ञेय रूप में केवल क्रियाओं का ज्ञान करता है, अपने स्वरूप का नहीं जो अखंड, निर्विशेष और परिणामी है। इससे सिद्ध हुआ कि परिणामबद्ध क्रिया या क्रियाबीज शक्ति स्वतन्त्र सत्ता नहीं हो सकती, उसकी अक्षर सत्ता चैतन्य की सत्ता में ही है। शक्ति का जो स्फुरण है उसका अधिष्ठान चैतन्य है। अतः चैतन्य ही एकमात्र शुद्ध सत्ता है। इस स्फुरण व्यापार में ब्रह्म या चैतन्य का ही आभास मिलता है। 'सर्व

विशेषप्रत्यस्तमित स्वरूपत्वात् ब्रह्मणो वाह्यसत्ता सामान्यविषयेण 'सत्य' शब्देन लक्ष्यते'–(तैत्तिरीय भाष्य)। शुद्ध चैतन्यस्वरूप का केवल आभास मिल सकता है। उसका बोध केवल लक्षणा द्वारा हो सकता है साक्षात् सम्बन्ध द्वारा नहीं। जबकि सब प्राकृतिक व्यापार चैतन्य के ही लक्षणाभास हैं और हमें केवल इन्हीं लक्षणाभासों का ही ज्ञान हो सकता है तब इनके अनुसंधान को वेदान्ती अनावश्यक नहीं कह सकते।

इस संक्षिप्त निरूपण से यह स्पष्ट है कि ब्रह्म अनन्त ज्ञानस्वरूप और अनन्त शक्तिस्वरूप दोनों है। इस शक्ति को ब्रह्म का संकल्प ही समझना चाहिए जो अव्यक्त रूप में चैतन्य में अधिष्ठित रहता है। यह एक प्रकार से ज्ञान का ही एक अंग या पक्ष है जिसकी अभिव्यक्ति सर्गोन्मुख गति या क्रिया के रूप में होती है। इसी अर्थ में ब्रह्म या चैतन्य को 'भूतयोनि' (कारण ब्रह्म) कहते हैं। ज्ञाता ज्ञेय रूप से अपना अवस्थान कर क्रियारूप में अपनी संकल्पशक्ति को व्यक्त करता है।

## वाह्यार्थवाद

वाह्यार्थवादी सर्वसाधारण की धारणा का समर्थन करते हुए भूत और आत्मा दो अलग सत्ताएँ मानते हैं। उन्हें दोनों ओर के अद्वैतवादियों के खंडन में प्रवृत्त होना पड़ता है। अद्वैत आत्मवाद की प्रचंड युक्तियों के निराकरण में भी वे प्रवृत्त होते हैं और भूताद्वैतियों की त्रुटियों का भी दिग्दर्शन कराते हैं। जर्मनी में ही ड्यूरिंग आदि कई वाह्यार्थवादियों ने कांट के निरूपण के विरुद्ध प्रयास किया है। वाह्यार्थवादी भी दो प्रकार के हैं। कुछ तो भौतिक जगत् को प्रत्यक्ष नहीं मानते, अनुमान मानते हैं। वे इस युक्ति को मानते हैं कि मन का जो ज्ञान होता है वह अपने ही स्वरूपों या संस्कारों का, पर इन संस्कारों द्वारा इस बात का पूरा अनुमान होता है कि भौतिक जगत् है। शुद्ध वाह्यार्थवादी कहते हैं कि हमें भौतिक जगत् का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, मानसिक संस्कार मध्यस्थ नहीं। इंग्लैंड में रीड, स्टिवर्ट, और हेमिल्टन शुद्ध वाह्यार्थवाद के अनुयायी हो गए हैं। मार्टिना, माइवर्ट और मेकाश आधुनिक अनुयायियों में हैं। इंग्लैंड की स्वाभाविक प्रवृत्ति इसी मत की ओर अधिक है जिसमें न्याय और वैशेषिक के समान ईश्वर, आत्मा और भूत के लिए उसी प्रकार अलग अलग जगह है जिस प्रकार सर्वसाधारण के मन में।

इस मत के समर्थक भाववादियों की इस मूल प्रतिज्ञा को असिद्ध कहते हैं कि मन को जो संवेदन या ज्ञान होता है वह अपने ही संवेदन का न कि वस्तु का। वे कहते हैं कि जिसका ज्ञान होता है वह भौतिक पदार्थ से उत्पन्न भौतिक प्रभाव है, चित् का ही स्वरूप नहीं। यदि जगत् के व्यापारों को हम चित्त के भाव या कल्पना मान लें तो फिर नाना विज्ञानों के जो अन्वेषण हैं वे व्यर्थ हैं। भौतिक व्यापार अपने नियमों के अनुसार तब से बराबर होते आ रहे हैं जबसे उनकी प्रतीति करनेवाले

मनुष्य के चित्त का कहीं पता भी नहीं था। यदि भूत की सत्ता स्वतन्त्र न होती तो एक ही बात का पता दो अलग अलग अन्वेषकों को कैसे लगता। नेपचून नामक ग्रह का पता आडम्स और लवेरियर नामक ज्योतिषियों ने अपनी अपनी स्वतन्त्र गणना के अनुसार एक ही समय में पाया। इस प्रकार वाह्यार्थवादी अनेक युक्तियों से योरोपीय भाववादियों (अद्वैत आत्मवादियों) के निरूपण के प्रत्याख्यान में प्रवृत्त होते हैं। पर सच पूछिए तो वैज्ञानिकों के अनुसंधान का द्वार भाववादी बन्द नहीं करते हैं। सत्ता के पारमार्थिक स्वरूप का जो कुछ उन्होंने प्रतिपादन किया है उसके साथ वाह्यार्थ क्रमविधान का समन्वय भी उन्होंने किया है। कांट ने वस्तुसत्ता को शक्तिस्वरूपा कहा था, शोपेनहावर ने उसी शक्ति को संकल्प कहा। फिक्ट ने उस शक्ति को 'विषयी की विषयरूप से स्वावस्थान' कहकर उसका अधिष्ठान चैतन्य में ही कर दिया था। पहले कहा जा चुका है कि किस प्रकार भौतिक विज्ञान भूत या द्रव्य के मूलरूप का पता लगाते लगाते अन्त में शक्ति तक पहुँच रहा है। कुछ वैज्ञानिक अब कहने लगे हैं कि द्रव्य या भूत का सबसे सूक्ष्म रूप[1] शक्ति ही है। अतः विज्ञान के नाना अनुसंधानों को भाववादी यही समझेंगे कि संकल्प या कृतिशक्ति के स्वरूप का निरूपण हो रहा है। जब कि इस संकल्प या क्रियाबीज की सत्ता भी चैतन्य सत्ता से स्वतन्त्र नहीं, जब कि यह ज्ञान का ही एक विशेष (ज्ञेय) रूप में अवस्थान है, जबकि इसके नाना विशेषों या क्रियाओं की तह में अधिष्ठान रूप से निर्विशेष चैतन्य व्याप्त है तब इस ज्ञेय के द्वारा ज्ञान, चैतन्य या ब्रह्म का ही आभास अध्यात्मवादी क्यों न मानेंगे?

प्रकृति के नाना व्यापारों के अनुसंधान द्वारा ही वैज्ञानिकों को 'भेद में अभेद' इस गूढ़ तत्त्व की उपलब्धि हुई है जो सत्ता सम्बन्धी ज्ञान का मूल है। भूतों की विशेष क्रियाओं के अभ्यास द्वारा ही क्रिया के एक निर्विशेष रूप अक्षर शक्ति तक विज्ञान पहुँचा है, नाना क्रियाएँ जिसकी अभिव्यक्ति मात्र हैं। विज्ञान के किसी क्षेत्र में जाइए वहाँ एक सामान्य अनेक की तह में ओतप्रोत मिलेगा। यही सामान्य सत्ता के स्वरूप का आभास है।

नाना भेदों के बीच जो अभेद मिलता जाय उसे सत्ता के स्वरूप के पास तक पहुँचता हुआ समझना चाहिए। शुद्ध विज्ञान अपने सूक्ष्म अन्वीक्षणों द्वारा सर्वभूत की सामान्य सत्ता, शक्ति तक पहुँच रहा है। ईथर का एक अड़ंगा रह गया है। ईश्वर भी शायद एक दिन शक्तिरूप ही प्रमाणित हो जाय। (अव्यक्तमव्याकृताकाशादिशब्द वाच्यम्—कठ भाष्य)। पहले कहा जा चुका है कि विज्ञान अपनी पद्धति से चैतन्य को इस भूतशक्ति के अन्तर्गत करने में समर्थ नहीं हुआ है। अतः चैतन्य और शक्ति का ही द्वैत अब रह गया है। सांख्य ने जहाँ छोड़ा था वहीं पर विज्ञान ने भी लाकर

1. अक्षरमव्याकृतं नामरूपबीजशक्तिरूपं भूतसूक्ष्मम्।—शांकरभाष्य।

छोड़ दिया है। सांख्य भी पुरुष प्रकृति का सदा सलामत रहनेवाला जोड़ा देख कर लौटा था।

अब इस द्वैत को लेकर दोनों प्रकार के अद्वैतवादी का क्या रूप होगा यह देखना चाहिए। अब या तो आधिभौतिक अद्वैत के अनुसार चैतन्य को शक्ति के अन्तर्भूत करें या अद्वैत आत्मवाद के अनुसार शक्ति को चैतन्य के अन्तर्भूत करें—या तो शक्ति को चैतन्य का अधिष्ठान कहें, अथवा चैतन्य को शक्ति का। हैकल ने परम तत्त्व के भूत और शक्ति जो दो पक्ष कहे थे उनमें से भूत तो प्रायः शक्ति के ही अन्तर्भूत हो गया। अतः उसका परम तत्त्व भी शक्तिरूप ही रह गया। उसने चैतन्य को इस शक्ति का ही एक रूप या क्षणिक परिणाम कहा है। योरप के भाववादी और भारत के वेदान्ती चैतन्य को ही शक्ति का अधिष्ठान कहेंगे जैसा कि वे बराबर कहते आए हैं। आधिभौतिकों या लोकायतिकों की इस युक्ति का उन पर कोई प्रभाव नहीं कि शरीर या मष्तिष्क के विकृत या नष्ट होने से चेतना भी विकृत या नष्ट होती है क्योंकि उनका पक्ष तो यह है कि मस्तिष्क (अन्तःकरण या बुद्ध्यादि जड़ क्रिया) के विकृत या नष्ट होने से केवल वह क्रियाविशेष नष्ट हो जाती है जिसके द्वारा चैतन्य के लक्षण का आभास मिलता है।

जब हैकल आदि कुछ वैज्ञानिक अपने क्षेत्रों से निकल कर ईश्वर, परलोक आदि के खंडन द्वारा ईसाई धर्म पर टूटे तब बहुतों ने अपने मजहब की पौराणिक और स्थूल बातों को किनारे कर हेगल आदि के पूर्णचिद्वाद (फिलासफी आव् एब्सोल्यूट) या ब्रह्मवाद की ही शरण ली जिसकी आधिभौतिकों ने हँसी उड़ाई क्योंकि भाववाद में उनके स्थूल ईश्वर, फरिश्तों, दोजख की आग, पितापुत्र आदि के लिए कहीं ठिकाना नहीं था। कैथलिक सम्प्रदाय के ईसाइयों ने शुद्ध वाह्यार्थवाद का अवलम्बन किया। अधिकांश वैज्ञानिक अपने विषय के बाहर न जा कर संशयवादी रहे, और अब भी हैं। वे चैतन्य और उसकी सत्ता असत्ता के विषय में कुछ कहना नहीं चाहते। डारविन, हक्सले आदि विकासवाद के प्रतिष्ठाता संशयवादी थे, अनीश्वरवादी नहीं। हर्बर्ट स्पेन्सर को भी एक प्रकार का संशयवादी ही कहना चाहिए। पर लार्ड केलविन, सर आलिवर लाज ऐसे कुछ परम प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने लड़ाई में धर्माचार्यों का पूरा साथ दिया है। सर आलिवर लाज इंग्लैण्ड के प्रधान वैज्ञानिकों में से हैं। वे ईश्वर, परलोक, अमरत्व आदि के मण्डन में बराबर दत्तचित रहते हैं। सन् 1913 में ब्रिटिश असोसिएशन के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर सर आलिवर लाज ने 'अखंडत्व' पर जो व्याख्यान दिया था उसका कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

'परलोक आदि का पुराना झगड़ा इधर मुल्तवी है। जिस गढ़ में परलोकवादी ने शरण ली है वह आक्रमण के लिए लोगों को आकर्षित नहीं करता। जिस कोने को दबाकर वह बैठा है उस पर उसका पूरा हक है। अब जो झगड़ा चल रहा है वह वैज्ञानिक दलों के बीच है जिसमें दार्शनिकों का भी योग है। परलोकवादी तो

अब एक कोने में बैठा दूर से आसरा लगाए देख रहा है कि इस झगड़े में कभी न कभी उसके काम की बात निकल आवेगी। वह बैठा बैठा सोचता है कि बहुत सी बातें जिन्हें लोगों ने उतावली करके अधूरे प्रमाण पर ही झूठ ठहराया था वे किसी न किसी रूप में आगे चलकर ठीक प्रमाणित होंगी। इस प्रकार धर्मोपदेशकों (पादरियों) का पुराना द्वेष तो इधर शान्त है।

'भौतिक विद्या में शक्ति पर विवाद चल रहा है। रसायन में अणुओं की बनावट का झगड़ा है। प्राणिविज्ञान में वंश परम्परा के नियमों की छानबीन है। शिक्षापद्धति में बच्चों को अधिक स्वतन्त्रता देने के लाभ बताए जा रहे हैं। राजनीति, और समाजनीति में तो दुनिया की कौन ऐसी बात है जिस पर वाद न हो—केवल 'धन धरती' पर ही नहीं, अदन के पुराने बाग से लेकर स्त्रीपुरुष के परस्पर सम्बन्ध तक पर विवाद छिड़ा हुआ है। इसी प्रकार गणित और विज्ञान की शाखाओं में आजकल का संशयवाद अखंडत्व के सम्बन्ध में है।

'इन सब खंडवादों से बढ़कर गूढ़ और तत्त्वमूलक सब प्रकार के विज्ञानों के आधारों की गहरी परीक्षा है जो आजकल हो रही है। एक प्रकार का दार्शनिक संशयवाद भी बढ़ती पर है जिससे बुद्धि के शुद्ध निरूपण क्रम पर भी अविश्वास किया जा रहा है और विज्ञान की पहुँच भी परिमित बताई जा रही है।

'वैज्ञानिक भी पुराने सिद्धान्तों के खंडन में लगे हैं। एक पूरा अन्यूटनिक सिद्धान्त ही निकाला गया है जिसके आधार हाल में जाने हुए वे परिवर्तन हैं जो प्रकाश के तुल्य वेग से गमन करते हुए पदार्थों में पाए गए हैं। वास्तव में यह पाया गया है कि परिमाण और आकृति वेग की क्रियाएँ या गुण हैं। जैसे जैसे वेग बढ़ता है वैसे ही वैसे परिमाण बढ़ता है और आकृति में फेरफार होता है, पर साधारण अवस्था में हद से ज्यादा सूक्ष्म रूप में। भौतिक विज्ञान के अधिकांश विभागों में सुगमता के स्थान में जटिलता बढ़ती जाती है। आजकल भौतिक विज्ञान में जो मुख्य विवाद चल रहा है उसका झुकाव खंडत्व और अखंडत्व के विषय में है।

'ऊपर से देखने में सृष्टि के बीच पहले हम खंडत्व पाते हैं अर्थात् हम ऐसे पदार्थ देखते हैं जिन्हें अलग गिन सकते हैं। फिर हम वायु तथा और और अन्तरवर्तियों का अनुभव करते हैं और अखंडत्व या प्रवाहित द्रव्य का समर्थन करते हैं। इसके अनन्तर हम अणुओं का पता लगाते हैं और फिर खंडत्व हमारे सामने आता है। तब हम ईथर का पता लगाते हैं और फिर अखंडत्व पर विश्वास करते हैं। पर इसका अन्त यहीं नहीं होने का। अन्तिम परिणाम क्या निकलेगा, या कुछ निकलेगा भी, यह बताना कठिन है। आजकल की प्रवृत्ति तो प्रत्येक पदार्थ को सखंड या अणुमय बताने की है। विद्युत् या विद्युत्प्रवाह भी—सुनकर आश्चर्य होगा—अणुमय प्रमाणित हुआ है और उसके अणु का नाम विद्युदणु रखा गया है। चुम्बकशक्ति तक के अणुमय होने का सन्देह किया गया है और उसकी व्यष्टि या अणु का नाम चुम्बकाणु रख

दिया गया है। प्राणिविज्ञान में घटक रूप में शरीराणुवाद की प्रतिष्ठा थी ही, अब वंश परम्परा के नियमों का अध्ययन कर मेंडल आदि ने बताया है कि वृद्धिकारक घटकों (शुक्रकीटाणु, गर्भांड) में भी संख्या और खंडत्व प्रत्यक्ष है और सन्ततिभेद भी गिने और पहले से बताए जा सकते हैं। जहाँ डारविन के अनुसार अखंड परम्परागत भेद द्वारा ही ढाँचे में फेरफार माना जाता था वहाँ उसके स्थान पर या कम से कम उसके साथ साथ अब आकस्मिक या आगन्तुक रूपान्तर द्वारा विशिष्ट, असम्बद्ध और परम्पराखंडित परिवर्तन माना जाने लगा है। इतने पर भी यह निश्चय है कि अखंडत्व ही विकास सिद्धान्त का मूल है। गतिशक्ति तक अण्वात्मक बताई जाने लगी है। प्रो. प्लांक का शक्त्यणु (क्वांटम) वाद अत्यन्त चित्ताकर्षक—कुछ लोगों की समझ में अत्यन्त प्रबल भी—है। ज्योतिःप्रवाह के भी सखंड और अणुमय सिद्ध होने के लक्षण दिखाई देने लगे हैं। ज्योतिःप्रवाह के अणुमय होने की चर्चा अब उतनी धीमी नहीं है जितनी कि कुछ पहले पड़ गई थी। इस बात में यथार्थता चाहे जितनी हो पर ज्योतिःप्रवाह सम्बन्धी जो विवाद है वह है बड़े महत्त्व का, क्योंकि वह ईथर और द्रव्य के बीच की सबसे अधिक ज्ञात और परीक्षित शृंखला है। ज्योतिःप्रवाह यद्यपि वेगप्रेरित विद्युदणु से ही उत्तेजित होता है पर आगे चलकर वह आकाशतत्त्व ईथर में ही विचरण करता है और एक विशिष्ट वस्तु की तरह सम तथा नियमित गति से गमन करता है। इससे ज्योतिःप्रवाह के द्वारा हम बहुत सी बातें जान सकते हैं।

पर लक्ष्यों को हटाने में धैर्य से काम लेना चाहिए। इन लक्ष्यों में सबसे प्रधान अखंडत्व है। मैं शून्य आकाश में किसी सूक्ष्म से सूक्ष्म भौतिक शक्ति की क्रिया का अनुमान नहीं कर सकता। उसके लिए एक अखंड मध्यस्थ अवश्य चाहिए। ईथर की किसी प्रकार की परीक्षा अत्यन्त दुःसाध्य है। उसके विषय में हम केवल इतना ही जानते हैं कि किस वेग से उसके द्वारा शक्तिप्रवाह गमन करते हैं। वह हमारी पकड़ में नहीं आता। यदि हम उसके बीच से कोई द्रव्य तेजी से ले जायँ तो भी कोई पदार्थघटित सम्बन्ध नहीं मिलता। प्रकाश को लेकर परीक्षा करते हैं तो भी सफलता नहीं होती। जब तक कि प्रकाश की गति हमारे सापेक्ष है तभी तक हम उसका अनुभव कर सकते हैं। पर जहाँ एक द्रव्य की गति दूसरे के सापेक्ष नहीं है वहाँ उसकी गति का कुछ भी पता नहीं चलता। जैसे यदि दो मनुष्य साथ साथ समान गति से गमन करते हैं तो एक को दूसरे की गति नहीं मालूम हो सकती। इसी से कुछ लोगों का यह विचार हो रहा है कि किसी गति को ईथर के सापेक्ष बताना बात ही बात है। इसका पता कभी लग ही नहीं सकता।

हम लोगों का यह युग अत्यन्त सूक्ष्म कल्पनाओं का है। बीसवीं शताब्दी का बड़ा भारी आविष्कार द्रव्य का विद्युत् सिद्धान्त (अर्थात् द्रव्य विद्युत् का ही एक रूप है) है। परिमाण और आकार जो वेग की क्रियाएँ निश्चित हुए हैं वह इसी सिद्धान्त के बल से। इसकी सहायता से हम उन परीक्षाओं को करते हैं जिससे ईथर और

द्रव्य के सम्बन्ध का कुछ कुछ आभास मिलता है। इससे किसी दिन यह भी सम्भव है कि हम विद्युदणुओं की आकृति आदि के परिवर्तनों का भी पता लगा लें क्योंकि यद्यपि वे अत्यन्त सूक्ष्म हैं पर उनकी गति प्रकाश की गति के लगभग है। फिर कौन जाने इसी प्रकार ईथर के गुणों तक हमारी पहुँच हो जाय और अखंडत्व को हम अच्छी तरह समझ सकें।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि अखंडत्व का निर्धारण नाना विशेषों के भीतर एक निर्विशेष का निर्धारण है जिसके द्वारा सत्ता का आभास मिल सकता है। आधुनिक वैज्ञानिक स्थिति की संक्षिप्त समीक्षा कर लॉज ने अन्त में प्राणशक्ति, आत्मा, अमरत्व, परलोक आदि के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए हैं—

'जो बात निश्चित जान पड़ती है वह यह है कि भूत के बिना प्राणशक्ति की कोई भौतिक अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इसीसे कुछ लोगों का यह कहना या इस कहने को पसन्द करना स्वाभाविक ही है कि 'हम भूत में प्रत्येक प्रकार की प्राणशक्ति की सम्भावना और सामर्थ्य देखते हैं'। ठीक है, पर प्रत्येक प्रकार की प्राणशक्ति की नहीं, प्रत्येक प्रकार की प्राणशक्ति की भौतिक अभिव्यक्ति की। क्योंकि प्राणशक्ति हमें भूत द्वारा व्यक्त होने के अतिरिक्त और किस प्रकार व्यक्त हो सकती है? यह भी कहा जाता है कि 'प्राणी में हम रसायन और भूविज्ञान के नियमों के अतिरिक्त और कुछ पाते ही नहीं'। बहुत ठीक, यह भी स्वाभाविक ही है क्योंकि लोग प्राणशक्ति के भौतिक या रासायनिक रूप या व्यक्तता का तो अध्ययन ही कर रहे हैं, स्वयं प्राणशक्ति का अर्थात् मन और चेतना का अध्ययन तो वे करते नहीं हैं, उनको तो वे अपनी छानबीन के बाहर रखते हैं। भूत ही हमारी इन्द्रियों को ग्राह्य है। भूतवाद भौतिक जगत् के उपयुक्त है, पर दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में नहीं, बल्कि चलते हुए व्यापार की व्यवस्था के रूप में, बीच की कारणपरम्परा के अनुसंधान रूप में। इसके परे जो बातें हैं वे दूसरे क्षेत्र की हैं और दूसरे उपायों से मानी जाती हैं। आध्यात्मिक बातों को रसायन और भूतविज्ञान के शब्दों में बताना असम्भव है, इसीसे उनका अस्तित्व ही अस्वीकार किया जाता है, वे केवल भ्रान्तिलक्षण मानी जाती हैं। पर ऐसी अनधिकार मीमांसा अनुचित है।

प्राणशक्ति का पता प्रयोगशालाओं में नहीं लगता। केवल उसकी रासायनिक और भौतिक अभिव्यक्ति ही देखी जाती है, पर यह मानना पड़ेगा कि वह एक विशेषरूप से भूतों का परिचालन करती है। उसे हम तटस्थ (केटेलिटिक=जो स्वयं विकारप्राप्त न होकर भी दो रासायनिक द्रव्यों में विकार उत्पन्न करता है) परिचालक कह सकते हैं। प्राणशक्ति के व्यापारों को समझने के लिए हमें सूक्ष्म जीवों की ओर न जाना चाहिए, स्वयं अपने में उसका अधिक व्यक्त आभास समझ अपने ही अनुभवों की ओर ध्यान देना चाहिए।'

जगत् में चारों ओर क्रमव्यवस्था देखते हुए भी लोग जो नित्य चैतन्य का

अधिष्ठान रूप से अस्तित्व अस्वीकार करते हैं, लाज के अनुसार यह उनकी दृष्टि की संकीर्णता है। उन्होंने कहा है—

प्राकृतिक पदार्थों के भीतर एक गूढ़ रहस्य भरा हुआ है। कट्टर वैज्ञानिक इस विषय में जो बातें बतलाते हैं वे उनकी विद्या की पहुँच के अनुसार ठीक हैं, पर अंशतः। जब हम मोर की पूँछ की चन्द्रिकाओं में रंगों का चित्रविचित्र मेल देखते हैं कि किस प्रकार वे अपनी अपनी जगह पर एक निश्चित नमूने और नक्शे को भरते हुए बैठे हैं तब यह कहना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि ऐसी क्रमव्यवस्था के साथ मेल केवल रासायनिक नियमों द्वारा होता है। फूल गर्भाधान के लिए कीड़ों को आकर्षित करते हैं और फल बीजों को फैलाने के लिए जानवरों को। पर इस सम्बन्ध में इतनी ही व्याख्या काफी नहीं है। फूलों में इतनी सुन्दरता केवल कीड़ों को आकर्षित करने के लिए ही नहीं है। हमें जीवन के लिए जो इतनी हाय हाय रहती है उसे समझना चाहिए। इस प्रयत्न का कोई रहस्य होगा और विकास का कोई उद्देश्य होगा। 'प्राकृतिक ग्रहण सिद्धान्त' जहाँ तक पहुँचता है हेतुनिरूपण करता है। पर यदि इतने सौन्दर्य की आवश्यकता कीड़ों के लिए है तो हम वन, पर्वत, मेघमाला आदि के सौन्दर्य के लिए क्या कहेंगे? उनके सौन्दर्य से कौन सा काम निकलता है, कौन सा लौकिक अर्थसाधन होता है? विज्ञान सौन्दर्य का विवेचन नहीं करता न करे, पर उसका अस्तित्व अवश्य है। मैं केवल इस बात की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि हमारे अनुसंधान में ब्रह्मांड की सारी बातें नहीं आ जातीं। इससे यदि हम निषेष करने चलते हैं और कहते हैं कि भूतविज्ञान और रसायन के ही अन्तर्गत हम सारी बातों को ला सकते हैं तो हम केवल संकीर्ण पांडित्य का दम्भ दिखाते हैं और अपने मनुष्यजन्म के अधिकार की पूर्णता और समृद्धि खोते हैं।

विकास परम सत्य है, बड़े महत्त्व का सिद्धान्त है। सामाजिक उन्नति के लिए हमारे प्रयत्न इसलिए उचित हैं कि हम समष्टि के एक अंग हैं, अंग भी ऐसे जो चेतन हो गए हैं। अतः समष्टि में उद्देश्यविधान का अभाव नहीं हो सकता क्योंकि हम उसके एक अंग होकर अपने आपमें उसका अनुभव करते हैं।...शरीरवियोग के उपरान्त भी आत्मा बनी रहती है। यदि न्याय से पूछा जाय तो मैं केवल इतना ही नहीं कहता कि जो बातें अभी परोक्षवाद के अन्तर्गत समझी जाती हैं वे वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा जाँची और निरूपित की जा सकती हैं बल्कि यहाँ तक कहता हूँ कि जहाँ तक परीक्षा हुई है उससे हमें यही निश्चय हुआ है कि स्मृति और अन्तःकरणवृत्तियाँ भूतसम्बन्ध ही तक परिमित नहीं हैं, संस्कार रूप में वे बराबर बनी रहती हैं। परीक्षा द्वारा मुझे यह प्रतीत होता है कि यद्यपि शुद्ध भूतनिर्लिप्त चैतन्य का साक्षात् ज्ञान हमें नहीं हो सकता पर उसका आभास भौतिक जगत् में दिखाई देता है। अतः वह कुछ घुमाव फिराव के साथ हमारी वैज्ञानिक परीक्षा के अन्तर्गत आ सकता है। कुछ सच्चे और विश्वस्त अन्वेषक आशापूर्वक ज्ञान के एक नए क्षेत्र का आभास दे रहे हैं।

यह हम कभी नहीं कह सकते कि इस लोक में सत्य का प्रादुर्भाव केवल दो एक शताब्दियों से ही होने लगा। वैज्ञानिक काल के पूर्व की प्रतिभा की पहुँच भी बड़े महत्त्व की थी। प्राचीन महात्माओं और कवियों का विश्व की आत्मा के विषय में बहुत कुछ प्रवेश था। हमारी अनुसंधान प्रणाली ऐसी है जिससे किसी अखंड निर्विशेषता का पता नहीं लग सकता। यहाँ पर सापेक्षिकता का सिद्धान्त चलता है। इससे जब तक हमें व्याघात या विभेद नहीं मिलता तब तक हमें कोई परिज्ञान नहीं होता। हम लोग अपने चारों ओर की अन्तर्व्याप्त विभूति को देख सुन नहीं सकते; इतना ही कर सकते हैं कि कालरूपी करघे से निकलकर पूर्णता की ओर अनन्त गति से गमन करते हुए वस्त्र को भूतों से परे उस परमात्मा का परिधान समझें।'

जैसा पहले कहा जा चुका है लाज उन थोड़े से वैज्ञानिकों में से हैं जो संशयवाद से निकलकर ईश्वर परलोक आदि के मंडन में तत्पर रहते हैं। योरप और अमेरिका में कुछ दिनों से परोक्षशक्ति के साधक भी खड़े हुए हैं जो अनेक प्रकार की सिद्धियाँ दिखाकर आत्मसत्ता का अस्तित्व प्रतिपादित करने का उद्योग करते हैं। ये मृत पुरुषों की आत्माओं से बातचीत करने, उनके द्वारा अलौकिक घटनाओं के होने का हाल सुनाया करते हैं। इनकी ओर से कई पत्रपत्रिकाएँ भी निकलती हैं। पर इनमें से अधिकतर छल और प्रवंचना का आश्रय लेते हैं इससे शिक्षितों और वैज्ञानिकों की इनपर आस्था नहीं है। बहुतेरे अन्तःकरण की असामान्य वृत्तियों या अवस्थाओं (जैसे, दोहरी चेतना आदि) को अपने प्रयोग में लाते हैं। पर इन युक्तियों से शिक्षितों का समाधान नहीं होता।

जैसा कि लाज ने कहा है परलोक, आत्मा आदि के प्रत्याख्यान की ओर वैज्ञानिकों की प्रवृत्ति इधर कम हो गई है। 'अपने काम से काम' वाली नीति पर वे चल रहे हैं। पर हैकल के सम्प्रदाय के अनुयायियों और आत्मवादियों के बीच छेड़छाड़ होती रहती है। हैकल की पुस्तक के जिस अँगरेजी भाषान्तर का यह हिन्दी अनुवाद है वह जोजफ मेककैब का किया हुआ है। इन्होंने हैकल का एक जीवनचरित और हैकल पर किए हुए आक्षेपों के उत्तर में एक पुस्तक भी लिखी है। अभी हाल में एक सभा के बीच इनसे और इंगलैण्ड के प्रसिद्ध कहानी लेखक ए. कनन डायल से परलोक आदि विषय पर शास्त्रार्थ हुआ है जो पुस्तकाकार छपा है। ए. कनन डायल पूरे अध्यात्मवादी हैं।

अब तक जो कुछ लिखा गया उससे शिक्षित जगत् के ज्ञान की वर्तमान स्थिति का कुछ आभास मिला होगा और यह स्पष्ट हो गया होगा कि नाना मतों और मजहबों की विशेष स्थूल बातों को लेकर झगड़ा टंटा करने का समय अब नहीं है। सब मतों और सम्प्रदायों में धर्म और ईश्वर की जो सामान्य भावना है उसी का पक्ष अब शिक्षित पक्ष के अन्तर्गत आ सकता है। ईश्वर साकार है कि निराकार, लम्बी दाढ़ीवाला है कि चार हाथवाला, अरबी बोलता है कि संस्कृत, मूर्ति पूजनेवालों से दोस्ती रखता

है कि आसमान की ओर हाथ उठानेवालों से, इन बातों पर विवाद करनेवाले अब केवल उपहास के पात्र होंगे। इसी प्रकार सृष्टि के जिन रहस्यों को विज्ञान खोल चुका है उनके सम्बन्ध में जो प्राचीन पौराणिक कथाएँ और कल्पनाएँ (6 दिन में सृष्टि की उत्पत्ति, आदम हौवा का जोड़ा, चौरासी लाख योनि इत्यादि) हैं वे अब ढाल तलवार का काम नहीं दे सकतीं। अब जिन्हें मैदान में जाना हो वे नाना विज्ञानों से तथ्य संग्रह करके सीधे उस सीमा पर जायँ जहाँ दो पक्ष अड़े हुए हैं–एक ओर आत्मवादी, दूसरी ओर अनात्मवादी; एक ओर जड़वादी, दूसरी ओर नित्य चैतन्यवादी। यदि चैतन्य की नित्य सत्ता सर्वमान्य हो गई तो फिर सब मतों की भावना का समर्थन हुआ समझिए क्योंकि चैतन्य सर्वस्वरूप है। नाना भेदों में अभेददृष्टि ही सच्ची तत्त्वदृष्टि है। इसी के द्वारा सत्य का अनुभव और मतमतान्तर के रागद्वेष का परिहार हो सकता है।

इतिहास से प्रकट है कि आदि में सब देशों के बीच प्रकृति की भिन्न भिन्न शक्तियों और विभूतियों या उनके भिन्न भिन्न अधीश्वरों की भावना हुई और बहुदेवोपासना प्रचलित हुई। कुछ देशों में 'भेद में अभेद' की तत्त्वदृष्टि का क्रमशः विकास हुआ और सब देवों की समष्टि के रूप में एक ईश्वर की प्रतिष्ठा हुई। जिन दो देशों में सबसे पूर्व इस प्रकार स्वाभाविक क्रम से एक ब्रह्म की भावना का विकास हुआ वे भारत और बाबुल थे। भारतीय आर्यो के बीच एक ईश्वर या ब्रह्म की भावना का विकास शुद्ध तत्त्वदृष्टि से हुआ। पहले प्रकृति की भिन्न भिन्न शक्तियों या विभूतियों की उपासना चली, फिर तत्त्वदृष्टि से उन सबका एक में समाहार करके ब्रह्मवाद की स्थापना हुई। संहिताकाल में ही अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र आदि एक ही ब्रह्म के नाना रूप माने जा चुके थे–

इन्द्र, मित्रं, वरुणामग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदंत्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः।

(ऋग्वेद मं 1।2।164।64)

उपनिषत्काल में तो एक ब्रह्म की भावना पूर्णता को पहुँच गई थी और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'नेह नानाऽस्ति किंचन' 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्त के महावाक्यों का पूर्ण रूप से प्रचार हो गया था। ठीक इसी रीति से पृथ्वी पर की अत्यन्त प्राचीन खाल्दी जाति के बीच एक ईश्वर की भावना का विकास हुआ था। ईसा से 2000 वर्ष पूर्व के बाबुल के एक खेल में वहाँ के भिन्न भिन्न देवता एक ही प्रधान देवता मरदक के भिन्न भिन्न रूप कहे गए हैं। एक नमूना देखिए–

नरगल युद्ध का मरदक है। बेल राजसत्ता का मरदक है।
शम्श धर्म का मरदक है। अदु वर्षा का मरदक है।
नबो व्यापार का मरदक है।

जहाँ एकेश्वरवाद का पहले पहल तत्त्वदृष्टि द्वारा स्वाभाविक क्रम से विकास

हुआ वहाँ तो बहुदेववाद के साथ उसका पूरा समन्वय रहा और किसी प्रकार के द्वेष, कलह और उपद्रव का सूत्रपात नहीं हुआ, पर जहाँ उसका कलम लगाया गया वहाँ आफत खड़ी हो गई। उपदेश देने में अधिकारियों का भेद इसीलिए किया जाता है। जब तक अन्तःकरण विकास द्वारा जिस ज्ञान का जो अधिकारी नहीं हो लेता तब तक न वह उसे पूरा पूरा ग्रहण ही कर सकता है, और न अधूरा ग्रहण करके पचा ही सकता है। बाबुल के इस एकेश्वरवाद की कुछ खबर यहूदियों को लगी। फिर क्या था, दर्शन विज्ञानविहीन पुराने यहूदियों की एक शाखा को अपने कुलदेवता 'यहोवा' को दूसरी जातियों के देवताओं से बड़ा प्रकट करने की धुन समाई। जैसे लड़के एक दूसरे से अभिमान के साथ कहते हैं कि हमारा खिलौना तुम्हारे खिलौने से अच्छा है वैसे ही अपने देवता को लेकर वे कहने लगे। पहले यह 'यहोवा' साधारण कुलदेवता था जिसे इसराईल के वंशवाले बलि चढ़ाया करते थे। इसकी शक्ति और इसका ज्ञान बहुत परिमित था। जब मिस्रदेश के राजा ने इसराईलवंशवालों को बहुत सताया तब उन्होंने अपने कुलदेवता की दुहाई दी। यहोवा ने कहा 'अच्छा, आज रात को मैं मिस्रियों का नाश करूँगा। पर एक काम करना, बलिदान करके पहचान के लिए रक्त का छापा अपने दरवाजों पर लगा देना, जिससे उन घरों को मैं बचा जाऊँ। पीछे मूसा की कृपा से यही 'यहोवा' जमीन और आसमान का बनानेवाला खुदा हो गया। मूसाई मत से ही ईसाई मत निकला। यहूदियों और ईसाइयों को इस प्रकार द्वेषवश दूसरी जातियों की निन्दा करने तथा उन्हें पापी और धर्मविमुख कहने का अवसर मिला। ज्ञान की असंस्कृत दशा में मनुष्य ऐसे अवसरों को हाथ से नहीं जाने देना चाहता। दूसरी जातियों के जो आचार व्यवहार और उपासनाविधान (जैसे, मूर्तिपूजन) थे आसमानी किताब में वे पापों की सूची में डाल दिए गए। इस प्रकार अन्तःकरण की इन वृत्तियों से प्रेरित होकर एशिया के पच्छिमी कोने पर जिस एकेश्वरवाद की स्थापना हुई उसके कारण बड़े बड़े अनर्थ संसार में हुए। अरब में पहुँचकर उसने जो रूप धारण किया उसका साक्षी इतिहास है।

उपर्युक्त तीनों अनार्य (शामी) पैगम्बरी मतों में एक ईश्वर की जो प्रतिष्ठा हुई वह तत्त्वचिन्तन के उपरान्त नहीं, अतः उसमें उस व्यापकत्व का अभाव रहा जो उदार दृष्टि के लिए आवश्यक है। बहुदेवोपासना में जो उदार भाव था वह इस एकेश्वरोपासना में जाता रहा। बहुदेवोपासक जगत् में अनेक देवता मानते थे इससे दूसरी जातियों को अपने से भिन्न देवताओं की उपासना करते देख वे द्वेष नहीं मानते थे। दूसरी जाति के देवताओं को ग्रहण करने या अपने देवताओं का नामान्तर समझने तक के लिए वे तैयार रहते थे।[1] पर जिन जातियों के बीच इस पैगम्बरी एकेश्वरवाद

---

1. यूनानी लोग जब पहले पहल भारतवर्ष में आए तब उन्होंने शिव, विष्णु आदि देवताओं को अपने ज्युपिटर, हर्क्युलीज आदि देवताओं के ही रूपान्तर समझा। सभ्य और तत्त्वज्ञानसम्पन्न होने के कारण

→

का प्रचार हुआ वे एक ईश्वर को अपना अलग देवता मानने लगीं जिसका परिचय यदि किसी को हो सकता था तो उन्हीं के पैगम्बरों द्वारा। प्रत्येक पैगम्बरी मत के ईश्वर के साथ साथ एक एक पैगम्बर लगा हुआ है जिसे मानना उस एक ईश्वर के मानने से कम आवश्यक नहीं है।

इस पैगम्बरी एकेश्वरवाद के पहले संसार में मतसम्बन्धी युद्ध नहीं होते थे। भारतीय आर्य, पारसी, खाल्दी, मिस्री, यूनानी और रोमन इत्यादि जो ज्ञानसमृद्ध और सभ्य बहुदेवोपासक जातियाँ थीं उनके बीच कभी इस बात को लेकर युद्ध नहीं हुआ कि हमारा देवता तुम्हारे देवता से बड़ा है, तुम हमारे देवता को मानो। योरप में साहित्य, दर्शन, विज्ञान और शासनकला की जो इतनी उन्नति हुई वह बहुदेवोपासक प्राचीन यूनानियों और रोमनों के प्रसाद से, अनार्य ईसाई मत के प्रसाद से नहीं। ईसाई मत के द्वारा, सच पूछिए, तो ज्ञान की गति में बाधा ही पड़ती रही। संकीर्ण नींव पर पैगंबरी मतों की स्थापना होने के कारण उनके अनुयायियों में व्यापक उदारता का अभाव रहा। उनकी समझ में उन्हें छोड़ और सारे संसार के लोग उनके खुदा के दुश्मन थे। अँगरेज कवि अन्धे मिल्टन तक ने प्राचीन सभ्य जातियों के देवताओं को शैतान की फौज में भरती करके अपने कट्टरपन का—अपनी संकीर्ण मनोवृत्ति का—परिचय दिया है। उसने यह न सोचा कि ईसाई मत के प्रचार के बहुत पूर्व सभ्य मनुष्य जातियों में धर्म, शील और आचार के अत्यन्त उच्च आदर्श प्रतिष्ठित थे।

भारतीय आर्यों के बीच उपनिषत्काल में ब्रह्म की भावना पूर्णता को पहुँच गई थी इससे उसके स्थूल निरूपण से भी किसी प्रकार का विप्लव नहीं हुआ। केनोपनिषद् में ब्रह्म के बोध के सम्बन्ध में एक गाथा है जो शायद ईसाई उपदेशकों को बहुत पसन्द आवे। एक बार एक बड़ा भारी यक्ष प्रकट हुआ। इन्द्र ने अग्नि को उसका परिचय जानने के लिए भेजा। अग्नि से उस यक्ष ने पूछा 'तुम कौन हो और तुम्हारी शक्ति क्या है?' अग्नि ने कहा 'मैं अग्नि हूँ, यदि चाहूँ तो क्षण भर में सब लोकों को भस्म कर सकता हूँ।' यक्ष ने एक तिनका दिखा दिया और कहा—'इसे तो भस्म करो'। अग्नि ने बहुत यत्न किया पर वह तिनका न जला, ज्यों का त्यों रहा। फिर वायुदेवता उस यक्ष के पास गए। यक्ष ने पूछा—'तुम कौन हो और तुम्हारी शक्ति क्या है?' वायु ने कहा—'मैं वायु हूँ, यदि चाहूँ तो क्षण भर में सब कुछ उड़ा सकता हूँ।' यक्ष ने वायु को भी वही तिनका दिखाकर कहा—'इसे तो उड़ाओ'। वायु ने बहुत वेग दिखाया पर वह तिनका जगह से न हटा। अन्त में इन्द्र आप वहाँ गए,

---

→ उनके भाव उदार थे। ईसा से 140 वर्ष पूर्व के तक्षशिला के यूनानी राजा अंटियाल्किडस के राजदूत हेलिआडोरस ने, जो विदिशा के हिन्दू राजा के यहाँ रहता था, वासुदेव प्रीत्यर्थ एक विशाल गरुड़स्तम्भ बनवाया था जो अभी थोड़े दिन हुए बेसनगर (प्राचीन विदिशा) में मिला था। उसकी इस विष्णुभक्ति की निन्दा किसी यूनानी लेखक ने नहीं की है।

पर उनके जाते ही यक्ष अन्तर्द्धान हो गया। इतने में वहाँ 'उमा हैमवती' प्रकट हुईं।उन्होंने बताया कि वह यक्ष ब्रह्म था।

ब्रह्म या ईश्वर की इस स्थूल भावना से भी यहाँ किसी प्रकार का मतोन्माद नहीं उत्पन्न हुआ। बात यह थी कि जब आर्यजाति सम्यक् तत्त्वदृष्टि प्राप्त कर चुकी तब आगे चल कर 'एक' और 'अनेक' को लेकर झगड़ा करने की सम्भावना सब दिन के लिए जाती रही। अधिकारभेद से एक और अनेक की उपासना साथ साथ बराबर चलती रही। एक ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर भी अनेक देवताओं के निमित्त यज्ञादि होते रहे, बन्द नहीं हो गए। अनेकत्व और एकत्व के बीच इस अविरोधबुद्धि ने हिन्दूधर्म के क्षेत्र को आरम्भ ही से ऐसा अपरिमित रखा कि वह व्यक्तिबद्ध न होने पाया, उसमें वह संकीर्णता न आने पाई जो व्यक्ति विशेष के आश्रित पैगम्बरी मतों में देखी जाती है। कर्म, ज्ञान और उपासना तीनों कांडों के परस्पर सम्बद्ध होने से जिस प्रकार एक में ऊँची नीची श्रेणियाँ मानी गईं उसी प्रकार दूसरे में भी। एक सत्य से दूसरे, दूसरे से तीसरे, इस प्रकार छोटे से बड़े, फिर उससे बड़े सत्य की अखंड परम्परा स्वीकृत हो गई। इंग्लैंड के प्रसिद्ध दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर ने भी यही कहा है कि कोई मत कैसा ही हो उसमें कुछ न कुछ सत्य का अंश रहता है। भूतप्रेतवाद से लेकर बड़े दार्शनिक वादों तक सब में एक बात समान रूप से देखी जाती है सब के सब संसार का मूल कोई अज्ञेय और अप्रमेय रहस्य समझते हैं जिसका वर्णन प्रत्येक मत करना चाहता है, पर कर नहीं सकता। इसी बात पर दृष्टि रखने से हिन्दुओं को दूसरी जातियों से अनाचार और अस्वच्छता (अशौच) आदि के कारण चाहे कुछ घृणा रही हो, पर अन्य देवता की उपासना के कारण द्वेष रखने की प्रवृत्ति नहीं हुई। श्रीकृष्ण भगवान् का स्पष्ट कहना है कि येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजंते श्रद्धयान्विताः। तेऽपिमामेव, कौन्तेय, यजंत्यविधिपूर्वकम्। केवल 'अविधि पूर्वकम्' के लिए मारकाट की कोई जरूरत नहीं समझी गई।

प्राचीन आर्य (भारतीय) धर्म में धर्माधर्म ईश्वर की किसी विशेष रूप में भावना या किसी देवता विशेष की आराधना पर नहीं ठहराया गया। वेदव्यासजी ने अत्यन्त उदार भाव से कहा है कि धर्मात्मा पुरुष वर्णाश्रमधर्म (आर्य या हिन्दूधर्म) के बाहर भी हैं। उन्होंने आर्यधर्म को न जानने या न माननेवाली विदेशी जातियों को धर्मशून्य नहीं बताया। श्रीकृष्ण ने कहा है—'ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्'। यही कारण है प्राचीन आर्यों को अपना आचार और अपना विचार दूसरों के गले मढ़ने की उत्कण्ठा नहीं हुई। देशकाल के अनुसार जहाँ जो धर्मव्यवस्था स्थापित थी वहाँ के लिए वे उसी को उपयुक्त समझते थे। उपनिषत्काल में एक ईश्वर या ब्रह्म की भावना परिपक्व होकर पूर्णरूप से जब प्रतिष्ठित हुई तब तक भूमंडल पर शायद बाबुल को छोड़ और कहीं नहीं हुई थी। पर उस एक ईश्वर या ब्रह्म को लेकर प्राचीन आर्य दूसरी सभ्य या असभ्य जातियों का गला काटने के लिए नहीं दौड़े थे। उन्हें

यह पूर्ण ज्ञान था कि यह 'एक' 'अनेक' की समष्टि है अथवा 'अनेक' इस 'एक' के ही आभास हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है 'भेदों में अभेद' दृष्टि ही सच्ची तत्त्वदृष्टि है। इसी के द्वारा सत्ता का आभास मिल सकता है। यही अभेद ज्ञान और धर्म दोनों का लक्ष्य है। विज्ञान इसी अभेद की खोज में है, धर्म इसी की ओर दिखा रहा है।

–रामचन्द्र शुक्ल

पहला प्रकरण

# जिज्ञासा

उन्नीसवीं शताब्दी में अन्त में मानवज्ञान की जो अपूर्व वृद्धि हुई है वह ध्यान देने योग्य है। इसके द्वारा हमारी सारी आधुनिक सभ्यता का रंग ही पलट गया है। हमलोगों ने प्राकृतिक सृष्टि का बहुत कुछ वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर केवल सच्चे और निर्भ्रान्त सिद्धान्त ही नहीं स्थिर किए हैं बल्कि अपने ज्ञान का विलक्षण उपयोग कलाकौशल, व्यापार, व्यवसाय आदि में करके दिखाया है। पर इस ज्ञान के द्वारा हम अपने आचार और व्यवहार में बहुत कम क्या कुछ भी उन्नति नहीं कर सके हैं। इस प्रकार की परस्परविरुद्ध गति के कारण हमारे जीवन में बड़ी भारी अव्यवस्था दिखाई पड़ती है जो आगे चलकर समाज के लिए अनर्थकारिणी होगी। अतः प्रत्येक शिक्षित और सभ्य मनुष्य का कर्तव्य है कि वह मानव जीवन से इस विरोध को दूर करने का प्रयत्न करे। यह तभी होगा जब संसार का वास्तविक और सत्य ज्ञान होगा और उस ज्ञान के अनुसार मानवजीवन के भिन्न भिन्न अंगों की योजना होगी।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में विज्ञान की जो अपूर्ण दशा थी उसकी ओर ध्यान देते हुए यही कहना होगा कि गत 50 वर्षों के बीच विज्ञान ने बड़ी विलक्षण उन्नति की है, विज्ञान के प्रत्येक विभाग में बहुत सी नई नई बातों की जानकारी प्राप्त हुई है। खुर्दबीन के द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं का और दूरबीन के द्वारा बड़ी से बड़ी वस्तुओं का जो परिज्ञान प्राप्त हुआ है वह आज से 100 वर्ष पहले असम्भव समझा जाता था। सूक्ष्मदर्शकयन्त्र के प्रयोग और प्राणिविज्ञान के गूढ़ अन्वेषणों द्वारा क्षुद्र कीटाणुओं के अनन्त भेदों का ही पता नहीं चला बल्कि यह भी जाना गया कि सूक्ष्म घटक[1] ही में सेन्द्रिय या सजीव सृष्टि का वह मूल तत्त्व है जिसकी सामाजिक योजना से सारे प्राणियों का, क्या चर क्या अचर, क्या उद्भिज क्या मनुष्य, शरीर बना है। शरीर विज्ञान के द्वारा अब यह भलीभाँति सिद्ध हो गया है कि एक ही

1. दे. भूमिका।

घटक से अर्थात् सूक्ष्म गर्भांड से बड़े से बड़े अनेक घटक जीवों का विकास होता है। घटक सिद्धान्त के द्वारा हम अब जीवों के उन समस्त आधिभौतिक, रासायनिक और यहाँ तक कि मानसिक व्यापारों का सच्चा रहस्य जान सकते हैं जिनके लिए पहले एक 'अलौकिक शक्ति' या 'अमर आत्मा' की कल्पना करनी पड़ती थी। इस सिद्धान्त के द्वारा रोगों के ठीक निदान में भी चिकित्सकों को बड़ी सहायता मिली है।

इसी प्रकार निरिन्द्रिय (जड़) भौतिक सृष्टिसम्बन्धी आविष्कार भी कम ध्यान देने योग्य नहीं है। दृष्टिविज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, चुम्बकाकर्षण निर्माणविज्ञान जिसके द्वारा अनेक प्रकार की कलें आदि बनती हैं, गतिशक्तिविज्ञान इत्यादि भौतिक विज्ञान की सब शाखाओं की अद्भुत उन्नति हुई है। सबसे बड़ी बात जो विज्ञान ने सिद्ध की है वह अखिल विश्व की शक्तियों की एकता है। तापसम्बन्धी भौतिक सिद्धान्त ने स्थिर कर दिया है कि वे समस्त शक्तियाँ किस प्रकार एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और किस प्रकार एक शक्ति दूसरी शक्ति के रूप में परिवर्तित हो सकती है। किरणविश्लेषण[1] विद्या ने यह बात स्पष्ट कर, दी है कि जिन द्रव्यों से पृथ्वी पर के सारे पदार्थ बने हैं उन्हीं द्रव्यों से ग्रह, नक्षत्र, सूर्य आदि भी बने हैं, उनमें पृथ्वी से परे कोई द्रव्य नहीं है। ज्योतिर्विज्ञान ने हमारी दृष्टि को ब्रह्मांड के बीच बहुत कुछ फैला दिया है और अब हमें अगाध अन्तरिक्ष के बीच लाखों घूमते हुए पिंडों का पता है जो हमारी पृथ्वी से भी बड़े हैं और एक अखंड क्रम के साथ बनते बिगड़ते चले जा रहे हैं। रसायनशास्त्र ने हमें अनेक द्रव्यों का परिज्ञान कराया है जो सबके सब थोड़े से, लगभग 75 मूलद्रव्यों से बने हैं। ये मूलद्रव्य इसलिए कहलाते हैं कि विश्लेषण करने पर इनमें दूसरे द्रव्य का मेल नहीं पाया जाता। इन मूलद्रव्यों में से कोई कोई जीवन व्यापार में बड़े काम के हैं। इनमें से कारबन या अंगारतत्त्व (कोयला) ही से अनन्त प्रकार के सेन्द्रिय पिंडों की योजना होती है। इसी से इसे 'जीवन का रासायनिक आधार' कहते हैं। इन सबसे बढ़कर आधिभौतिक शास्त्र के एक परम गुण का प्रतिपादन है जिसके अन्तर्भूत समस्त भौतिक और रासायनिक गुण हैं। सृष्टि सम्बन्धी इस मूल सिद्धान्त द्वारा यह स्थिर हो चुका है कि द्रव्य और शक्ति (गति) दोनों नित्य हैं और सम्पूर्ण ब्रह्मांड में सदा एकरस रहते हैं। यही सिद्धान्त हमारे तत्त्वाद्वैतवाद का आधार है जिसके द्वारा हम सृष्टिरहस्य के उद्घाटन में प्रवृत्त हो सकते हैं।

इस परमतत्त्व के प्रतिपादन के साथ ही साथ इसका पोषक एक दूसरा आविष्कार भी हुआ जिसे विकासवाद कहते हैं। यद्यपि हजारों वर्ष पहले कुछ दार्शनिकों

---

1. स्पेक्ट्रास्कोप नामक यन्त्र से भिन्न भिन्न प्रकार के किरणों (जैसे सूर्य की, लपट की) परीक्षा की जाती है। किरणों की छोटाई, बड़ाई और रंग से यह जाना जा सकता है कि किस प्रकार के रासायनिक द्रव्यों से वे आ रही हैं।

ने पदार्थों के विकास की चर्चा की थी, पर यह जगत् 'परमतत्त्व के विकास' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है यह उन्नीसवीं शताब्दी में ही पूर्णरूप से स्थिर किया गया। उक्त शताब्दी के पिछले भाग में ही यह सिद्धान्त स्पष्टता और पूर्णता को पहुँचा। इसके नियमों को प्रत्यक्ष के आधार पर स्थिर करने और सम्पूर्ण सृष्टि में इसकी चरितार्थता दिखाने का यश डारविन को प्राप्त है। सन् 1859 में उसने मनुष्य की उत्पत्ति के उस सिद्धान्त को एक दृढ़ नींव पर ठहराया जिसका ढाँचा कुछ कुछ फरासीसी प्राणिवेत्ता 'लामार्क' ने खड़ा किया था और जिसका आभास भविष्यद्वाणी के समान जर्मनी के सबसे बड़े कवि गेटे ने सन् 1799 में दिया था। आज जो हम इस विकासक्रम को तथा सृष्टि के बीच समस्त प्राकृतिक व्यापारों को समझने में समर्थ हुए हैं वह इन्हीं तीन नररत्नों के प्रयत्न का फल है।

प्रकृति के इस परिज्ञान के बल से हमारे जीवन के व्यवहारों में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ है। आज रेल, तार, टेलीफोन आदि के द्वारा हमने जो दिक्काल सम्बन्धी वाधाओं को दूर किया है और भूमंडल के समस्त देशों के बीच व्यापार का जाल फैला कर 'व्यापारयुग' उपस्थित किया है, यह सब भौतिक विज्ञान की उन्नति का, विशेषतः भाप और बिजली की शक्ति के प्रयोग का, प्रसाद है। इसी प्रकार जब फोटोग्राफी द्वारा बात की बात में हम वस्तुओं का तद्रूप चित्र उतरते, कृषि आदि व्यवसायों की इतनी उन्नति होते और क्लोरोफार्म, मरफिया आदि के प्रयोग द्वारा पीड़ा को शमन होते देखते हैं तब हमें रसायन शास्त्र की उन्नति के महत्त्व का ध्यान होता है। पर प्राचीन काल की अपेक्षा हमने इस वर्तमान काल में वैज्ञानिक विषयों में कितनी उन्नति की है यह बात इतनी प्रत्यक्ष है कि अधिक विस्तार की कोई आवश्यकता नहीं।

पर जिस प्रकार हमें आजकल के प्रकृति सम्बन्धी परिज्ञान की उन्नति को देख गर्व और आनन्द होता है उसी प्रकार जीवन के कुछ बड़े बड़े विभागों की दशा देख खेद और सन्ताप होता है। हमारी शासन व्यवस्था, न्याय व्यवस्था और शिक्षा पद्धति, यहाँ तक कि हमारे सारे सामाजिक और आचारसम्बन्धी व्यवहार, अभी तक असभ्य दशा में हैं। न्याय ही को लीजिए जिसे देखते हुए कोई यह नहीं कह सकता कि वह हमारे सृष्टि और मनुष्य सम्बन्धी वर्तमान समुन्नत ज्ञान के उपयुक्त है। नित्य अदालतों में ऐसे ऐसे विलक्षण फैसले होते हैं जिन्हें सुन कर अफसोस आता है। न्यायाधीशों की भूलें अधिकतर इस कारण होती हैं कि ये अच्छी तरह तैयार नहीं रहते। उनकी ठीक शिक्षा नहीं होती। कानून की शिक्षा ही उनकी शिक्षा कहलाती है। पर यह शिक्षा कुछ पारिभाषिक शब्दों और कुछ लोगों के बनाए हुए नियमों की उद्धरणी के अतिरिक्त और है क्या? न तो वे शरीरतत्त्व को जानते हैं और न उसके उन व्यापारों को जिसे 'मन' कहते हैं। उन्हें यह सब जानने के लिए समय कहाँ? उनका समय तो इधर उधर की बातों तथा नजीरों को याद करने में जाता है।

शासन व्यवस्था पर विशेष कहने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि उसकी वर्तमान शोचनीय दशा सब पर विदित है। इस दशा का मुख्य कारण यह है कि वर्तमान शासकवर्ग के लोग उन सामाजिक सम्बन्धों से अनभिज्ञ होते हैं जिनके मूल रूपों का पता जन्तुविज्ञान, विकासवाद, घटकवाद तथा कीटाणुवाद के अध्ययन द्वारा मिलता है। राष्ट्ररूपी समाजशरीर के संघटन और जीवन का ठीक ठीक ज्ञान हमें तभी हो सकता है जब हम उन शक्तियों के संघटन और व्यापार का जिनसे वह बना है, तथा उन घटकों का जिनसे कि प्रत्येक व्यक्ति बना है, वैज्ञानिक परिज्ञान प्राप्त करें। दूसरा बुरा प्रभाव जो शासन संस्थाओं की उन्नति का बाधक है वह मत या मजहब का है। जब तक वैज्ञानिक शिक्षा के प्रचार द्वारा मनुष्य और जगत् की प्राकृतिक स्थिति का परिज्ञान सर्वसाधारण को न कराया जायगा तब तक शासन में उन्नति नहीं हो सकती। राष्ट्र चाहे एकतन्त्र हो चाहे लोकतन्त्र (पंचायती), शासन व्यवस्था चाहे नियन्त्रित हो चाहे अनियन्त्रित इसकी कोई बात नहीं।

सर्वसाधारण की शिक्षा की ओर ध्यान देते हैं तो देखते हैं कि उसकी दशा भी हमारे इस वैज्ञानिक उन्नति के युग के अनुकूल नहीं है। भौतिक विज्ञान, जो कि इतने महत्त्व का है, यदि स्कूलों में पढ़ाया भी जाता है तो गौण रूप से। प्रायः प्रधान स्थान उन मृतप्राय भाषाओं और पुरानी बातों की शिक्षा को दिया जाता है जिनसे अब कोई लाभ नहीं। सारांश यह कि इस बात का जैसा चाहिए वैसा प्रयत्न नहीं हो रहा है कि जतना से अन्धविश्वास दूर हो और लोगों को बुद्धिबल द्वारा सुख और उन्नति का पथ प्राप्त करने का अवसर मिले। सर्वसाधारण अभी उन्हीं पुराने विचारों में बद्ध रक्खे गए हैं जिनकी निःसारता भलीभाँति सिद्ध हो चुकी है। पुराने किस्सेकहानियों और आकाशवाणियों के आगे बुद्धि का कुछ जोर चलने नहीं पाता। क्या धर्म, क्या न्याय, सब इन पुराने बन्धनों से जकड़े हुए हैं।

उपर्युक्त अव्यवस्था के प्रधान कारणों में से एक वह है जिसे हम 'पुरुषवाद' कह सकते हैं। इस शब्द के अन्तर्गत वे समस्त लोकप्रचलित और प्रबल भ्रान्त मत हैं जो मनुष्य को सम्पूर्ण प्रकृति से एक ओर करके उसे चर सृष्टि का दैवनिश्चित परम लक्ष्य बतलाते हैं। इन विचारों के अनुसार मनुष्य सम्पूर्ण सृष्टि से परे और ईश्वरांश है। यदि इन विचारों की अच्छी तरह परीक्षा करें तो जान पड़ेगा कि ये तीन रूपों में संसार में पाए जाते हैं—पुरुषोत्कर्षवादः पुरुषाकारवाद और पुरुषार्चनवाद।

1. पुरुषोत्कर्षवाद का भाव यह है कि मनुष्य सृष्टि का दैवनिश्चित परम लक्ष्य है, वह आदि ही से बड़ा बनाकर भेजा गया है। यह भ्रान्ति मनुष्य के स्वार्थ के अनुकूल है और तीनों शामी पैगम्बरी मतों यहूदी, ईसाई और मुसलमान की सृष्टिकथा से सम्बन्ध रखती है अतः इसका प्रचार भूमण्डल के बहुत बड़े भाग में है।

2. पुरुषाकारवाद भी इन तीनों तथा और अनेक मतों से सम्बन्ध रखता है। यह जगत् की सृष्टि और परिचालन को एक चतुर कारीगर की रचना और एक बुद्धिमान्

राजा के शासन के सदृश बतलाता है इसके अनुसार पृथ्वी को बनाने, धारण करने और चलानेवाला ईश्वर मनुष्य ही की तरह विचार और काम करनेवाला है। फिर तो बनी बनाई बात है कि मनुष्य ईश्वर सदृश्य है। बाइबिल में लिखा है—'ईश्वर ने मनुष्य को अपने ही आकार का बनाया।' प्राचीन सीधे सादे देववाद में देवता मनुष्य ही की तरह रक्त मांस के शरीरवाले समझे जाते थे। प्राचीन देववाद तो किसी प्रकार समझ में आ भी सकता है, पर आजकल का निराकार ईश्वरवाद विलक्षण है जिसमें ईश्वर को एक ऐसा अगोचर या हवाई जन्तु मानकर आराधना की जाती है जो मनुष्यों की तरह विचार करता, बोलता और काम करता है।

3. पुरुषार्चनवाद भी मनुष्य और ईश्वर के व्यापारों के मिलान का फल है। यह मनुष्य में ईश्वरत्व के गुण का आरोप करता है। इसी से आत्मा के अमरत्व का विश्वास उत्पन्न हुआ है और मनुष्य के जड़ (शरीर) और चेतन (आत्मा) दो विभाग किए गए हैं। अब जनसाधारण की यह सनक है कि आत्मा इस नश्वर शरीर में थोड़े दिनों का मेहमान है।

इन तीनों प्रचलित प्रवादों से अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न हुए हैं। जगत् को इस प्रकार मानव व्यापार की दृष्टि से देखना हमारे तत्त्वाद्वैत सिद्धान्त के नितान्त विरुद्ध है और विश्वसम्बन्धी वैज्ञानिक विवेचन से सर्वथा असिद्ध है।

इसी प्रकार द्वैतवाद, जो आत्मा और शरीर अथवा द्रव्य और शक्ति को पृथक् मानता है तथा प्रचलित मतों (मजहबों) के और और विचार भी तत्त्वाद्वैतवाद की विश्वविज्ञान दृष्टि से निःसार ठहरते हैं। उक्त दृष्टि से यदि देखते हैं तो हम निम्नलिखित सिद्धान्तों पर पहुँचते हैं जिनमें से अधिक की आलोचना सम्यक् रूप से हो चुकी है—

1. जगत् नित्य, अनादि और अनन्त है।

2. इसका परमतत्त्व अपने दोनों रूपों, द्रव्य और शक्ति के सहित अनन्त दिक् में व्याप्त है और सदा गति में रहता है।

3. मूल गति का प्रवाह अनन्त काल के मध्य अखंड क्रम से चला करता है। इसमें कहीं सृष्टि से विकृति, कहीं विकृति से सृष्टि बराबर होती रहती है।

4. दिग्व्यापी आकाश द्रव्य (ईथर) के बीच जो असंख्य पिंड फैले हैं वे सबके सब परमतत्त्व के नियमों के अनुसार चलते हैं। यदि एक दिग्विभाग के कुछ घूमते हुए पिंड क्रमशः नाश या लय की ओर जाते हैं तो दूसरे दिग्विभाग में क्रमशः नए नए उत्पन्न होते और बनते हैं। यह क्रम सदा चलता रहता है।

5. हमारा सूर्य इन्हीं असंख्य नश्वर पिंडों में से एक है और हमारी पृथ्वी उन और भी अल्पकालस्थायी छोटे छोटे पिंडों में से है जो इन्हें घेरे हैं।

6. हमारी पृथ्वी को ठंढा होने में बहुत काल लगा है तब जाकर उस पर द्रव्य रूप में जल (जीवोत्पत्ति का पहला आधार) ठहरा है।

7. एक प्रकार के मूल जीव से क्रमशः असंख्य ढाँचे के जीवों के उत्पन्न होने में करोड़ों वर्ष का समय लगा है।

8. इस जीवोत्पत्ति परम्परा के पिछले खेवे में जितने जीव उत्पन्न हुए, रीढ़ वाले जन्तु, विकास या गुणोत्कर्ष द्वारा उन सबसे बढ़ गए।

9. पीछे इन रीढ़वाले जीवों की सबसे प्रधान शाखा दूध पिलानेवाले जीव कुछ जलचरों और सरीसृपों से उत्पन्न हुए।

10. इन दूध पिलानेवाले जीवों में सबसे उन्नत और पूर्णताप्राप्त किंपुरुष शाखा है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य, बनमानुस आदि हैं; जो लगभग 30 लाख वर्ष के हुए होंगे कि कुछ जरायुज जन्तुओं से उत्पन्न हुई।

11. इस किंपुरुष शाखा का सबसे नया और पूर्ण कल्ला मनुष्य है जो कई लाख वर्ष हुए कुछ बनमानुसों से निकला। अस्तु।

12. जिसे हम संसार का इतिहास कहते हैं और जो कुछ हजार वर्षों की सभ्यता का संक्षिप्त वृत्तान्त मात्र है वह इस दीर्घ परम्परा के आगे कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार इस दीर्घ परम्परा का इतिहास भी हमारे सौर जगत् के इतिहास का अत्यन्त क्षुद्र अंश है। इस अनन्त ब्रह्मांड के बीच हमारी पृथ्वी सूर्य की किरण में दिखाई देनेवाले अणु के समान है और मनुष्य सजीव सृष्टि के नश्वर प्रसार के बीच कललरस प्रोटोप्लाज़्म की एक क्षुद्र कणिका मात्र है।

इस विशुद्ध और विस्तृत वैज्ञानिक दृष्टि से जब हम ब्रह्मांड को देखेंगे तब जाकर विश्व के अनेक रहस्यों को समझने का मार्ग पावेंगे, तब जाकर हम समझेंगे कि मनुष्य का स्थान इस सृष्टि के बीच कहाँ है। मनुष्य अहंकारवश अपने को अखिल सृष्टि से अलग करके अपने में 'अमृत तत्त्व' का आरोप करता है। वह अपने को 'ईश्वरांश' और अपने क्षणिक व्यक्तित्व को 'अमर आत्मा' कहता है। यह अहंकार और भ्रम बिना विस्तृत विज्ञानदृष्टि के दूर नहीं हो सकता।

असभ्यों को सृष्टि के अनेक व्यापार पहेली समझ पड़ते हैं। ज्यों ज्यों सभ्यता और ज्ञान की वृद्धि होती जाती है त्यों त्यों इन पहेलियों या समस्याओं की संख्या घटती जाती है, बहुत से व्यापार समझ में आने लगते हैं। अब तत्त्वाद्वैतवाद में केवल एक ही भारी पहेली रह गई है, एक ही 'परमतत्त्व' की समस्या रह गई है। जर्मनी के एक वक्ता ने थोड़े दिन हुए संसार सम्बन्धी ये सात समस्याएँ गिनाई थीं–

1. द्रव्य और शक्ति का वास्तविक तत्त्व।
2. गति का मूल कारण।
3. जीवन का मूल कारण।
4. सृष्टि का इस कौशल के साथ क्रमविधान।
5. संवेदना और चेतना का मूल कारण।

6. विचार और और उससे सम्बद्ध वाणी की शक्ति।

7. इच्छा का स्वातन्त्र्य।

इनमें से पहली, दूसरी और पाँचवीं तो उस वक्ता की समझ में नितान्त अज्ञेय और भूतादि से परे हैं। तीसरी, चौथी और छठीं का समाधान हो सकता है पर अत्यन्त कठिन है। सातवीं के विषय में वह अपना कोई निश्चय नहीं बतला सका।

मेरी सम्मति में जो तीन समस्याएँ भूतों से परे कही गई हैं उनका समाधान हमारे परमतत्त्व विषयक विवेचना से हो जाता है[1] और जो तीन अत्यन्त कठिन बतलाई गई हैं उनका ठीक ठीक उत्तर आधुनिक विकासवाद से मिल जाता है। अब रही सातवीं, इच्छा की स्वतन्त्रता। उसके विषय में विचार करना ही व्यर्थ है क्योंकि वह शुद्ध भ्रम और मिथ्या प्रवाद मात्र है।

इन समस्याओं के समाधान के लिए हमने उसी प्रणाली का अनुसरण किया है जिससे और सब वैज्ञानिक अन्वेषण किए जाते हैं—प्रथम तो प्रत्यक्षानुभव, फिर अनुमान। वैज्ञानिक अनुभव हमें साक्षात्कार और परीक्षा द्वारा प्राप्त होता है जिसमें पहले तो इन्द्रियों के व्यापार से सहायता ली जाती है फिर मस्तिष्क में स्थित अन्तःकरण के व्यापार से। पहले के आधारभूत सूक्ष्म करण इन्द्रियघटक हैं और दूसरे के मस्तिष्क ग्रन्थिघटक। वाह्य जगत् के जो अनुभव हम इन करणों द्वारा प्राप्त करते हैं उनसे मस्तिष्क के दूसरे भाग में भाव बनते हैं जो अनुबन्ध द्वारा मिलकर शृंखला की योजना करते हैं। इस विचारशृंखला की योजना दो प्रकार से होती है—व्याप्तिग्रह अर्थात् यह अनुमान कि जो बात किसी वर्ग की कुछ वस्तुओं के विषय में ठीक है वही उसके अन्तर्गत सब वस्तुओं के विषय में भी ठीक है, और व्यष्टिग्रह अर्थात् यह अनुमान कि जो बात किसी समूह के विषय में ठीक है वही उसके अन्तर्गत किसी एक वस्तु के विषय में भी ठीक है, के रूप में। चेतना, विचार और तर्क आदि सब मस्तिष्क में स्थित ग्रन्थिघटकों के व्यापार हैं। इन सब व्यापारों का अन्तर्भाव 'बुद्धि' शब्द में हो जाता है।

बुद्धि ही के द्वारा हम संसार का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और उसकी समस्याओं को समझ सकते हैं। बुद्धि मनुष्य की बड़ी भारी सम्पत्ति है, मनुष्य और पशु में बुद्धि ही का भेद है। पर मानवबुद्धि इस पद को शिक्षा और संस्कार की उन्नति तथा ज्ञान की वृद्धि द्वारा पहुँची है। इस पर भी कुछ लोगों का ख्याल है कि इस बुद्धि के अतिरिक्त ज्ञान के दो साधन और भी हैं—मनोद्गार और ईश्वराभास (इलहाम)। जहाँ तक शीघ्र हो सके हमें इस भारी भ्रम को दूर कर देना चाहिए। मनोद्गार अन्तःकरण की वह क्रिया है जिसके अन्तर्गत इच्छा, द्वेष, प्रवृत्ति, श्रद्धा, घृणा आदि हैं। मनोद्गार हमारे भिन्न भिन्न अवयवों के व्यापारों, जैसे पेट में लगी

---

1. दे. प्रकरण 12वाँ।

भूख तथा इन्द्रियों की वासनाओं, जैसे प्रसंग की वासना आदि से प्रेरित हो सकते हैं। उनसे भला सत्य के निर्णय में क्या सहायता मिल सकती है? हाँ! बाधा अलबत्ता पहुँच सकती है। यही बात ईश्वराभास (इलहाम) वा 'ईश्वरप्रेरित ज्ञान' के विषय में भी कही जा सकती है जो धोखे के सिवाय और कुछ नहीं, चाहे धोखा जानबूझकर दिया गया हो चाहे लोगों ने यों ही खाया हो।

जगत् सम्बन्धी प्रश्नों के हल करने के लिए अनुभव और चिन्तन ये दो ही मार्ग हैं। हर्ष का विषय है कि ये दोनों अब समान रूप से स्वीकृत हो चले हैं। दार्शनिक, चिन्तन करनेवाले अब समझने लगे हैं कि कोरे चिन्तन से जैसा कि प्लेटो और हैगल ने[1] अपने भावात्मक दर्शनों में किया है सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार वैज्ञानिक भी अब यह जान गए हैं कि केवल प्रत्यक्षानुभव, जिसके आधार पर बेकन और मिल ने अपना प्रत्यक्षवाद स्थापित किया था, पूर्ण तत्त्वज्ञान के लिए काफी नहीं है। सत्यज्ञान की प्राप्ति इन्द्रिय और अन्तःकरण दोनों की क्रियाओं के योग से हो सकती है। पर अभी कुछ ऐसे दार्शनिक भी हैं जो यों की बैठे बैठे अपने भावमय जगत् की रचना किया करते हैं और अनुभवात्मक विज्ञान का इसलिए तिरस्कार करते हैं कि उन्हें संसार का यथार्थ बोध नहीं होता। इसी प्रकार कुछ वैज्ञानिक ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि विज्ञान का परम लक्ष्य भिन्न भिन्न व्यापारों का अन्वेषण मात्र है, दर्शन का जमाना अब गया इस प्रकार के एकांगदर्शी विचार परम भ्रमात्मक हैं। प्रत्यक्षानुभव और चिन्तन—ज्ञानप्राप्ति की ये दोनों प्रणालियाँ अन्योन्याश्रित हैं—एक दूसरे की सहायक हैं। विज्ञान के सबसे पहुँचे हुए आविष्कार, जैसे घटक सिद्धान्त, ताप का गत्यात्मक सिद्धान्त, विकासवाद, परमतत्त्व की नियम व्यवस्था, दार्शनिक विचार के फल हैं। पर वे कोरे अनुमान के फल नहीं, अत्यन्त विस्तृत, प्रत्यक्षाश्रित अनुमान के फल हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अब स्थिति बहुत कुछ बदल गई है। अब दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनों दल के लोग एक दूसरे की सहायता करते हुए दो भिन्न भिन्न मार्गों से एक ही प्रधान लक्ष्य की ओर जा रहे हैं।

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से दार्शनिकों के परस्पर दो विरुद्ध दल दिखाई पड़ते हैं। एक तो द्वैतवादियों का, दूसरा अद्वैतवादियों का। द्वैतवाद ब्रह्मांड को दो भिन्न भिन्न तत्त्वों में विभक्त करता है—एक भौतिक जगत् और दूसरा उसको बनाने, धारण करने और चलाने वाला ईश्वर जो समस्त भूतों से परे है। अद्वैतवाद ब्रह्मांड में केवल एक परमतत्त्व मानता है जो ईश्वर और प्रकृति दोनों है। वह शरीर और आत्मा या द्रव्य और शक्ति को परस्पर अभिन्न या अनवच्छेद्य मानता है। द्वैतवाद के भूतातीत ईश्वर को माननेवाले दैववादी और जगत् और ईश्वर को ओतप्रोत भाव से मानने वाले ब्रह्मवादी या सर्वात्मवादी कहलाते हैं।

1. भारत के दार्शनिकों ने भी इसी प्रणाली का अनुसरण किया था।

उपर्युक्त अद्वैतवाद और भूतवाद को एक मानकर प्रायः लोग गड़बड़ करते हैं। इस गड़बड़ से अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न हो सकते हैं। अतः यहाँ पर दो बातें संक्षेप में बतला देना आवश्यक है–

1. शुद्ध अद्वैतवाद न तो वह भूतवाद है जो आत्मा का अस्तित्व अस्वीकार करता और जगत् को जड़ परमाणुओं का ढेर बतलाता है, और न वह अध्यात्मवाद है जो भूतों का अस्तित्व नहीं मानता और जगत् को अभौतिक शक्तियों के विधान का समाहार मात्र बतलाता है।

2. हमारा सिद्धान्त तो यह है कि न तो द्रव्य की स्थिति और क्रिया आत्मा या शक्ति के बिना हो सकती है और न आत्मा की द्रव्य के बिना। द्रव्य या अनन्तव्यापी तत्त्व और आत्मा शक्ति या संविद चेतन तत्त्व, दोनों उस विभु परम तत्त्व के दो मूल रूप या गुण हैं।

दूसरा प्रकरण

# हमारा शरीर

जीवों के समस्त व्यापारों और धर्मों के अन्वेषण के लिए हमें पहले शरीर को लेना चाहिए जिसमें जीवनसम्बन्धी भिन्न भिन्न क्रियाएँ देखी जाती हैं। शरीर के केवल बाहरी भागों की परीक्षा से हमारा काम नहीं चल सकता। हमें अपनी दृष्टि भीतर धँसाकर शरीररचना के साधारण विधानों तथा सूक्ष्म ब्योरों की जाँच करनी चाहिए। जो विद्या इस प्रकार का मूल अन्वेषण करती है उसे अंगविच्छेदशास्त्र[1] कहते हैं।

मनुष्य के शरीर की जाँच का काम पहले पहल चिकित्सा में पड़ा, अतः तीन चार हजार वर्ष पहले के प्राचीन चिकित्सकों को मनुष्य के शरीर के विषय में कुछ न कुछ जानकारी हो गई थी। पर ये प्राचीन शरीरविज्ञानी अपना ज्ञान मनुष्य के शरीर की चीरफाड़ द्वारा नहीं प्राप्त करते थे; क्योंकि तत्कालीन व्यवस्था के अनुसार मनुष्य का शरीर चीरना फाड़ना बड़ा भारी अपराध गिना जाता था। बन्दर आदि मनुष्य से मिलते जुलते जीवों के शरीर की चीड़फाड़ द्वारा ही वे शरीरसम्बन्धिनी बातों का पता लगाते थे। सन् 1543 में विसेलियस ने मनुष्य शरीररचना पर एक बड़ी पुस्तक लिखी और शरीर विज्ञान की नींव डाली। स्पेन में उस पर जादूगर होने का अपराध लगाया गया और उसे प्राणदंड की आज्ञा मिली। अपना प्राण बचाने के लिए वह ईसा की जन्मभूमि यरूशलम तीर्थ करने चला गया; वहाँ से वह फिर न लौटा।

उन्नीसवीं शताब्दी में यह विशेषता हुई कि शरीर की बनावट की छानबीन के लिए दो प्रकार की परीक्षाएँ स्थापित हुईं। तारतम्यिक अंगविच्छेद विज्ञान[2] और शरीराणु विज्ञान। तारतम्यिक अंगविच्छेद विज्ञान की स्थापना सन् 1803 में हुई जब कि फरासीसी जन्तुविद् क्यूवियर ने अपना वृहद् ग्रन्थ प्रकाशित करके पहले पहल

1. वह विद्या जिससे शरीर के भिन्न भिन्न भीतरी अवयवों के स्थान और उनकी बनावट का बोध होता है। इसमें चीरफाड़ कर अंगों की परीक्षा की जाती है इससे इसे अंगविच्छेदशास्त्र कहते हैं।
2. भिन्न भिन्न जन्तुओं के अंगों को चीरफाड़ कर उनकी परीक्षा और उनका परस्पर मिलान।

मनुष्य और पशुशरीर सम्बन्धी कुछ सामान्य नियम स्थिर किए। उसने समस्त जीवों को चार प्रधान भागों में विभक्त किया—मेरुदंड या रीढ़वाले जीव, कीटवर्ग मकड़ी, केकड़े, बिच्छू, गुबरैले आदि शुक्तिवर्ग—घोंघे आदि और उद्भिदाकार कृमि[1]। यह बड़ा भारी काम हुआ क्योंकि इससे मनुष्य रीढ़वाले जीवों की कोटि में रक्खा गया। इसके उपरान्त अनेक शरीरविज्ञानियों ने इस विद्या में बहुत उन्नति की और अनेक नई नई बातों का पता लगाया। जर्मनी के कार्ल जिजिनबावर ने तारतम्यिक शरीरविज्ञान पर डारविन के विकासवाद के नियमों को घटाकर इस शास्त्र की मर्यादा बहुत बढ़ा दी। उसके पिछले ग्रन्थ 'मेरुदंड जीवों की तारतम्यिक अंगविच्छेद परीक्षा' के आधार पर ही मनुष्य में मेरुदंड जीवों के सब लक्षण निर्धारित किए गए।

शरीराणु विज्ञान का प्रादुर्भाव एक दूसरी ही रीति से हुआ। सन् 1802 में एक फरासीसी वैज्ञानिक ने मनुष्य के अवयवों के सूक्ष्म विधान का खुर्दबीन द्वारा विश्लेषण करने का प्रयत्न किया। उसने शरीर के सूक्ष्म तन्तुओं के सम्बन्ध को देखना चाहा पर उसे कुछ सफलता न हुई क्योंकि वह समस्त जन्तुओं के उस एक समवाय कारण से अनभिज्ञ था जिसका पता पीछे से चला। सन् 1838 में श्लेडेन ने उद्भिद् सृष्टि में समवाय रूप घटक का पता पाया जो पीछे से जन्तुओं में भी देखा गया। इस प्रकार घटकवाद की स्थापना हुई। सन् 1860 में कालिकर और विरशो ने घटक तथा तन्तुजाल सम्बन्धी सिद्धान्तों को मनुष्य के एक एक अवयव पर घटाया। इससे यह भलीभाँति सिद्ध हो गया कि मनुष्य तथा और सब जीवों का शरीरतन्तुजाल अत्यन्त सूक्ष्म; खुर्दबीन से भी जल्दी न दिखाई देनेवाले घटकों से बना है। ये ही घटक वे स्वतः क्रियमाण जीव हैं जो करोड़ों की संख्या में व्यवस्थापूर्वक बस कर शरीररूपी विशाल राज्य की योजना करते हैं। इन्हीं की बस्ती या समवाय को शरीर कहते हैं। ये सब के सब घटक एक साधारण घटक से जिसे गर्भांड कहते हैं, उत्तरोत्तर विभागक्रम द्वारा उत्पन्न होते हैं। मनुष्य तथा और दूसरे रीढ़वाले जीवों की शरीररचना और योजना एक ही प्रकार की होती है। इन्हीं में स्तन्य या दूध पिलानेवाले जीव हैं जिनकी उत्पत्ति पीछे हुई है और जो अपनी उन विशेषताओं के कारण जो पीछे से उत्पन्न हुईं, सबसे उन्नत और बड़े चढ़े हैं।

कालिकर के सूक्ष्मदर्शक यन्त्रों के अन्वेषण द्वारा हमारा मनुष्य और पशुशरीर सम्बन्धी ज्ञान बहुत बढ़ गया और हमें घटकों और तन्तुओं के विकासक्रम का बहुत कुछ पता चल गया। इस प्रकार सिबोल्ड (1845) के उस सिद्धान्त की पुष्टि हो गई कि सबसे निम्न श्रेणी के कीटाणु एक घटक अर्थात् जिनका शरीर एक घटक मात्र है; जीव हैं।

---

1. बहुत से ऐसे जीव होते हैं जो देखने में पौधों की डाल, पत्तियों के रूप में होते हैं। मूँगा इसी प्रकार का कृमि है जो समुद्र में पाया जाता है।

हमारा शरीर, उसके ढाँचे का सारा ब्योरा, यदि देखा जाय तो उसमें रीढ़वाले जीवों के सब लक्षण पाए जायँगे। जीवों के इस उन्नत वर्ग का निर्धारण पहले पहले लामार्क ने 1801 में किया। इसके अन्तर्गत उसने रीढ़वाले जीवों को चार बड़े कुलों में बाँटा—दूध पिलानेवाले, पक्षी, जलस्थलचारी[1] और मत्स्य। बिना रीढ़वाले कीड़े मकोड़ों के उसने दो विभाग किए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सारे रीढ़वाले जीव हर एक बात में परस्पर मिलते जुलते हैं। सबके शरीर के भीतर एक कड़ा ढाँचा अर्थात् तरुणास्थियों और हड्डियों का पंजर होता है। इस पंजर में मेरुदंड और कपाल प्रधान हैं। यद्यपि कपाल की उन्नत रचना में छोटे से बड़े जीवों में उत्तरोत्तर कुछ भेद दिखाई पड़ता है पर ढाँचा एक ही सा रहता है। समस्त रीढ़वाले प्राणियों में 'अन्तःकरण' अर्थात् संवेदनवाहक सूत्रजाल का केन्द्रस्वरूप मस्तिष्क इस मेरुदंड के छोर पर होता है। यद्यपि उन्नति की श्रेणी के अनुसार भिन्न भिन्न जीवों के मस्तिष्क में बहुत कुछ विभिन्नताएँ दिखाई पड़ती हैं पर सामान्य लक्षण सबमें वही रहता है।

इसी प्रकार यदि हम अपने शरीर के और अवयवों का दूसरे रीढ़वाले जीवों के उन्हीं अवयवों से मिलान करें तो भी यही बात देखी जायगी। पितृपरम्परा के कारण सबके शरीर का मूल ढाँचा और उसके अवयवों के विभाग समान पाए जाते हैं, यद्यपि स्थितिभेद के अनुसार भिन्न भिन्न जन्तुओं के विशेष विशेष अंगों की बड़ाई छोटाई तथा बनावट में फर्क देखा जाता है। सबमें रक्त दो प्रधान नलों से होकर बहता है जिनमें से एक अँतड़ियों के ऊपर ऊपर जाता है और दूसरा नीचे नीचे। यही दूसरा नल जिस स्थान पर चौड़ा हो जाता है वही हृदय है। हृदय रीढ़वाले जीवों में पेट की ओर होता है और कीटपतंग आदि में पीठ की ओर। इसी प्रकार और और अंगों की बनावट भी सब रीढ़वाले जीवों की सी होती है। अस्तु मनुष्य एक रीढ़वाला जीव है।

प्राचीन लोग मनुष्य और पक्षियों के अतिरिक्त तिर्यक् पशुओं, गाय, कुत्ते आदि को चतुष्पद कहते थे। क्यूवियर ने पहले पहल यह स्थिर किया कि द्विपाद मनुष्य और पक्षी भी वास्तव में चतुष्पद ही हैं। उसने अच्छी तरह दिखलाया कि मेंढक से लेकर मनुष्य तक मस्तक स्थलचारी उन्नत रीढ़वाले जीवों के चार पैरों की रचना एक ही नमूने पर कुछ विशेष अवयवों से हुई है। मनुष्य के हाथों और चमगादर के डैनों की ठटरी का ढाँचा वैसा ही होता है जैसा कि चौपायों के अगले पैर का। यदि हम किसी मेंढक की ठटरी लेकर मनुष्य या बन्दर की ठटरी से मिलावें तो इस बात का ठीक ठीक निश्चय हो सकता है। सन् 1864 में जिजिनबावर ने यह दिखलाया कि किस प्रकार स्थलचारी मनुष्यों का पाँच उँगलियोंवाला पैर आदि में प्राचीन मछलियों

1. इन जीवों को पानी में साँस लेने के लिए गलफड़े (जैसे मछलियों के) और बाहर साँस लेने के लिए फेफड़े दोनों होते हैं। इससे वे जल में भी और स्थल पर भी रह सकते हैं।

के इधर उधर निकले हुए परों ही से क्रमशः उत्पन्न हुआ है। अस्तु मनुष्य एक चतुष्पद जीव है।

रीढ़वाले जानवरों में दूध पिलानेवाले सबसे उन्नत और पीछे के हैं। पक्षियों और सरीसृपों के समान निकले तो ये भी प्राचीन जलस्थलचारी जन्तुओं ही से हैं पर इनके अवयवों में बहुत सी विशेषताएँ हैं। बाहर इनके शरीर पर रोएँदार चमड़ा होता है। इनमें दो प्रकार की चर्मग्रन्थियाँ होती हैं—एक स्वेदग्रन्थि दूसरी मेदग्रन्थि। उदराशय के चर्म में एक विशेष स्थान पर इन ग्रन्थियों की वृद्धि से उस अवयव की उत्पत्ति होती है जिसे स्तन कहते हैं और जिसके कारण इस वर्ग के प्राणी स्तन्य कहलाते हैं। दूध पिलाने का यह अवयव दुग्धग्रन्थियों और स्तनकोश से बना होता है। वृद्धि प्राप्त होने पर चूचुक (ढिपनी) निकलते हैं जिनसे बच्चा दूध खींचता है। भीतरी रचना में एक अन्तरपट मांस की झिल्ली और नसों का बना हुआ परदा, की विशेषता होती है जो उदराशय को वक्षाशय से जुदा करता है। दूसरे रीढ़वाले जानवरों में यह परदा नहीं होता, यह केवल दूध पिलानेवालों में होता है। इसी प्रकार मस्तिष्क, घ्राणेन्द्रिय, फुप्फुस, वाह्य और आभ्यन्तर जननेन्द्रिय आदि की बनावट में भी बहुत सी विशेषताएँ दूध पिलानेवाले जीवों में होती हैं। इन सब पर ध्यान देने से यह पता चलता है कि दूध पिलानेवाले जीव सरीसृपों और जलस्थलचारी जीवों से उत्पन्न हुए। यह बात कम से कम 12000000 वर्ष पहले हुई होगी। अस्तु, मनुष्य एक दूध पिलानेवाला स्तन्य जीव है।

आधुनिक जन्तु विज्ञान में स्तन्य जीवों के भी तीन भेद किए गए हैं—अंडजस्तन्य[1] अजरायुज पिंडज (थैलीवाले)[2] और जरायुज। ये तीनों सृष्टि के भिन्न भिन्न युगों में क्रमशः उत्पन्न हुए हैं। मनुष्य जरायुज जीवों के अन्तर्गत है क्योंकि उसमें वे सब विशेषताएँ हैं जो जरायुजों में होती हैं। पहली वस्तु तो वह है जिसे जरायु[3] कहते हैं और जिसके कारण जरायुज नाम पड़ा है। इसके द्वारा गर्भ के भीतर शिशु का बहुत

---

1. इस वर्ग के जीवों में एक ही कोठा होता है जिसमें मलवाहक, मूत्रवाहक और वीर्यवाहक नल गिरते हैं। मादा चिड़ियों की तरह अंडे भी देती है और स्तन्य जीवों की तरह दूध भी पिलाती है। इस प्रकार के दो एक जानवर आस्ट्रेलिया में पाए जाते हैं। एक बत्तखघूस होती है जिसका सब आकार घूस की तरह होता है पर मुँह बत्तख की चोंच की तरह का और पंजे बत्तख के पंजों की तरह के होते हैं। इसी प्रकार की एक साही भी होती है। ये पक्षियों और स्तन्य जीवों के बीच के जन्तु हैं।
2. इस वर्ग के जीव भी आस्ट्रेलिया तथा उसके आसपास के द्वीपों में पाए जाते हैं। इनके गर्भ में जरायु नहीं होता जिससे गर्भ के भीतर बच्चों का पोषण होता है, अतः बच्चे अच्छी तरह बनने के पहले ही उत्पन्न हो जाते हैं और मादा उन्हें बहुत दिनों तक पेट के पास बनी थैली में लिये फिरती है। कँगारू नाम का जन्तु इसी वर्ग का है।
3. जरायु के द्वारा ही भ्रूण माता के गर्भाशय से संयुक्त रहता है। यह गोल चक्र या तश्तरी के आकार का और स्पंज की तरह छिद्रमय होता है। मुख की ओर तो यह माता के गर्भाशय की दीवार से जुड़ा →

दिनों तक पोषण होता है। यह गर्भ को आवृत करने वाली झिल्ली से नल के रूप में निकल कर माता के गर्भाशय की दीवार से संयुक्त रहता है। इसकी बनावट इस प्रकार की होती है कि माता के रक्त का पोषण द्रव्य शिशु के रक्त में जाकर मिलता रहता है। गर्भपोषण की इस विलक्षण युक्ति के बल से शिशु को गर्भ के भीतर बहुत दिनों तक रहकर वृद्धि प्राप्त करने का अवसर मिलता है। यह बात बिना जरायु के गर्भ में नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क की उन्नत रचना आदि के कारण भी जरायुज जीव अपने पूर्वज अजरायुज जीवों की अपेक्षा बढ़े चढ़े होते हैं। अस्तु, मनुष्य एक जरायुज जीव है।

जरायुज जीव भी अनेक शाखाओं में विभक्त किए गए हैं जिनमें से चार प्रधान हैं–छेद्यदन्त (कुतरनेवाले[1]), खुरपाद[2], मांसभक्षी[3] और किंपुरुष। इसी किंपुरुष शाखा के अन्तर्गत बन्दर, बनमानुस और मनुष्य हैं। इन तीनों में दूसरे जरायुज जीवों से बहुत सी विशेषताएँ समानरूप से पाई जाती हैं। तीनों के शरीर में लम्बी लम्बी हड्डियाँ होती हैं जो इनके शाखाचारी जीवन के अनुकूल हैं। इनके हाथों और पैरों में पाँच पाँच उँगलियाँ होती हैं। लम्बी लम्बी उँगलियाँ पेड़ों की शाखाओं को पकड़ने के उपयुक्त होती हैं। नख चौड़े होते हैं, टेढ़े नुकीले नहीं। तीनों की दन्तावली पूर्ण होती है अर्थात् इन्हें चारों प्रकार के दाँत होते हैं–छेदनदन्त, कुकुरदन्त, अग्रदन्त और चर्वणदन्त (चौभर)। किंपुरुष शाखा के प्राणियों के कपाल और मस्तिष्क की रचना में भी विशेषता होती है। उन प्राणियों में जो काल पाकर अधिक उन्नत हो गए हैं और जिनका प्रादुर्भाव इस पृथ्वी पर पीछे हुआ है विशेषता अधिक होती गई है। सारांश यह कि मनुष्य शरीर में भी किंपुरुष शाखा के सब लक्षण विद्यमान हैं। अस्तु, मनुष्य किंपुरुष शाखा का एक जीव है।

ध्यानपूर्वक देखने से इस किंपुरुष शाखा के भी दो भेद हो जाते हैं–एक बन्दर दूसरे पूरे बनमानुस। बन्दर निम्न श्रेणी के और पहले के हैं, बनमानुस अधिक उन्नत और पीछे के हैं। बन्दर माता का गर्भाशय और दूसरे स्तन्य जीवों की तरह दोहरा होता है। इसके विरुद्ध पूरे बनमानुस के दाहिने और बाएँ दोनों गर्भाशय मिले होते हैं और इस मिले हुए गर्भाशय का आकार वैसा ही होता है जैसा मनुष्य के गर्भाशय का। नर कपाल के समान बनमानुस के कपाल में भी नेत्रों के गोलक कनपटी के गड्ढों से हड्डी के एक परदे के द्वारा विच्छिन्न होते हैं। पर साधारण बन्दरों में या

→ रहता है, पृष्ठ की ओर इसमें एक लम्बा नाल निकल कर भ्रूण की नाभि तक गया रहता है। जरायुचक्र में बहुत से सूक्ष्म घट या उभरे हुए छिद्र रहते हैं जो गर्भाशय की दीवार के छिद्रों में घुसे होते हैं। इसी के द्वारा भ्रूण के शरीर में रक्त संचार, पोषक द्रव्यों का समावेश और श्वासविधान होता है। जरायु या उल्वनाल केवल पिंडजों अर्थात् सजीव डिम्भ प्रसव करनेवाले जीवों में ही होता है, अंडजों आदि में नहीं।

1. चूहे, गिलहरी, खरगोश आदि। 2. गाय, बकरी, हिरन आदि। 3. भेड़िया, बाघ इत्यादि।

तो यह परदा बिलकुल नहीं होता अथवा अपूर्ण रूप में होता है। इसके अतिरिक्त बन्दर का मस्तिष्क या तो बिलकुल समतल होता है अथवा बहुत थोड़ा खुरदुरा या ऊँचा नीचा होता है और कुछ छोटा भी होता है। बनमानुस का मस्तिष्क बड़ा, उसके तल की रचना अधिक जटिल होती है। जितना ही जो बनमानुस मनुष्य के अधिक निकट तक पहुँचा हुआ होता है उसके मस्तिष्क के तल में उतने ही अधिक उभार, अखरोट की गिरी के समान होते हैं। अस्तु, मनुष्य में बनमानुस के सब लक्षण पाए जाते हैं।

बनमानुसों के दो विलक्षण विभाग देश के अनुसार किए गए हैं। पश्चिमी गोलार्ध या अमेरिका के बनमानुस चिपटी नाकवाले कहलाते हैं और पूर्वीयगोलार्ध या पुरानी दुनिया के पतली नाकवाले। चिपटी नाकवाले बनमानुसों का वंश इधर के पतली नाकवाले बनमानुसों से बिलकुल अलग चला है। वे पुरानी दुनियाँ (एशिया, अफ्रिका) के बनमानुसों की अपेक्षा अनुन्नत हैं। अतः मनुष्य एशिया और अफ्रिका के पतली नाकवाले बनमानुसों ही की किसी अप्राप्य श्रेणी से उद्भूत हुए हैं।

एशिया और अफ्रिका में अब तक पाए जानेवाले पतली नाकवाले बनमानुसों के भी दो भेद हैं, पूँछवाले बनमानुस और बिना पूँछवाले नराकार बनमानुस। बिना पूँछवाले मनुष्य जाति से अधिक समानता रखते हैं। नराकार बनमानुसों के पुट्ठे की रीढ़ पाँच कशेरुकाओं के मेल से बनी होती है और पूँछवाले बनमानुसों की तीन कशेरुकाओं के मेल से। दोनों के दाँतों की बनावट में भी अन्तर होता है। सबसे बढ़कर बात तो यह है कि यदि हम गर्भाशय की झिल्ली तथा जरायुज आदि की बनावट की ओर ध्यान देते हैं तो नराकार बनमानुस में भी वे ही विशेषताएँ पाई जाती हैं जो मनुष्य में। एशियाखंड के ओरंगओटंग और गिबन तथा अफ्रिका के गोरिल्ला और चिंपाजी नामक बनमानुस मनुष्य से सबसे अधिक समानता रखते हैं। अस्तु, मनुष्य और बनमानुस का निकट सम्बन्ध अब अच्छी तरह सिद्ध हो गया है।

इस बात के प्रमाण में अब कोई सन्देह नहीं रह गया है कि मनुष्य और बनमानुस के शरीर का ढाँचा एक ही है। दोनों की ठटरियों में वे ही 200 हड्डियाँ समान क्रम से बैठाई हैं, दोनों में उन्हीं 300 पेशियों की क्रिया से गति उत्पन्न होती है, दोनों की त्वचा पर रोएँ होते हैं, दोनों के मस्तिष्क उन्हीं संवेदनात्मक तन्तुग्रन्थियों के योग से बने हुए होते हैं, वही चार कोठों का हृदय दोनों में रक्तसंचार का स्पन्दन उत्पन्न करता है, दोनों के मुँह में 32 दाँत उसी क्रम से होते हैं, दोनों में पाचन ष्ठीवन ग्रन्थि[1], यकृद्ग्रन्थि और क्लोमग्रन्थि[2] की क्रिया से होता है, उन्हीं जननेन्द्रिय से दोनों के

1. अत्यन्त सूक्ष्म छोटे छोटे दाने जिनसे थूँक निकलता है।
2. आमाशय की त्वचा पर के सूक्ष्म दाने जिनसे पित्त के समान एक प्रकार का अम्ल रस निकलता है जो भोजन के साथ मिल कर उसे पचाता है।

वंश की वृद्धि होती है। यह ठीक है कि डीलडौल तथा अवयवों की छोटाई बड़ाई में दोनों में कुछ भेद देखा जाता है पर इस प्रकार का भेद तो मनुष्यों की ही समुन्नत और बर्बर जातियों के बीच परस्पर देखा जाता है, यहाँ तक कि एक ही जाति के मनुष्यों में भी कुछ न कुछ भेद होता है। कोई दो मनुष्य ऐसे नहीं मिल सकते जिनके ओंठ, आँख, नाक, कान आदि बराबर और एक से हों। और जाने दीजिए दो भाइयों की आकृति में इतना भेद होता है कि जल्दी विश्वास नहीं होता कि वे एक ही माता पिता से उत्पन्न हैं। पर इन व्यक्तिगत भेदों से रचना के मूल सादृश्य के विषय में कोई व्याघात नहीं होता।

## तीसरा प्रकरण

# हमारा जीवन

उन्नीसवीं शताब्दी में ही मनुष्यजीवन सम्बन्धी ज्ञान को वैज्ञानिक रूप प्राप्त हुआ है। सजीव व्यापारों का अन्वेषण करनेवाली विद्या को शरीरव्यापारविज्ञान[1] कहते हैं। यह विद्या आजकल अत्यन्त उन्नत अवस्था को पहुँच गई है। प्राचीन काल में ही लोगों का ध्यान सजीव व्यापारों की ओर गया था। वे जीवों का इच्छानुसार हिलना डोलना, हृदय का धड़कना, साँस खींचना, बोलना आदि देखकर इन व्यापारों का कारण जानना चाहते थे। अत्यन्त प्राचीन काल में तो सजीव पदार्थों के हिलने में और निर्जीव पदार्थों के हिलने डोलने में विभेद करना सहज नहीं था। नदियों का बहना, हवा का चलना, लपट का भभकना आदि जन्तुओं के चलने फिरने के समान ही जान पड़ते थे। अतः इन निर्जीव पदार्थों में भी उस काल के लोगों को एक स्वतन्त्र जीव मानना पड़ता था। पर पीछे जीवन के सम्बन्ध में जिज्ञासा आरम्भ हुई। 1700 वर्ष हुए कि योरप में पहले पहल यूनानी हकीम गैलन का ध्यान शरीरव्यापार के कुछ तत्त्वों की ओर गया। इन तत्त्वों का पता उसने जीते हुए कुत्तों, बन्दरों आदि को चीरफाड़कर लगाया था। पर जीवित जन्तुओं का चीरनाफाड़ना एक अत्यन्त निर्दयता का काम समझा जाता था। परन्तु बिना इस प्रकार की चीरफाड़ किए शरीर के व्यापारों का रहस्य नहीं खुल सकता।

सच पूछिए तो सोलहवीं शताब्दी में ही शरीर के व्यापारों की ठीक ठीक जाँच योरप में कुछ डॉक्टरों के द्वारा आरम्भ हुई। सन् 1628 में हार्वे ने अपने रक्तसंचारसम्बन्धी आविष्कार का विवरण प्रकाशित करके यह दिखलाया कि हृदय एक प्रकार का पम्प

---

1. अंगविच्छेदशास्त्र केवल भीतरी अवयवों के स्थान और उनकी बनावट बतलाता है पर शरीरव्यापार विज्ञान उनके व्यापारों और कार्यों की व्यवस्था प्रकट करता है। अंगविच्छेदशास्त्र केवल यही बतलावेगा कि अमुम अवयव शरीर के अमुक स्थान पर होता है और इस आकार का होता है, वह यह न बतलावेगा कि वह अवयव क्या काम करता है।

या नल है जो अचेतनरूप से क्षण क्षण पर अपनी पेशियों के आकुंचन द्वारा निरन्तर लाल रंग के खून की धारा धमनियों के मार्ग से छोड़ा करता है। जीवधारियों के प्रसवविधान के सम्बन्ध में उसने जो अन्वेषण किए वे भी बड़े काम के थे। पहले पहल उसी ने इस नियम का प्रतिपादन किया कि 'प्रत्येक जीवनधारी गर्भांड से उत्पन्न होता है।' अठारहवीं शताब्दी के अन्त में हालर ने शरीरव्यापारसम्बन्धी विद्या को चिकित्साशास्त्र से अलग करके स्वतन्त्र वैज्ञानिक आधार पर स्थिर किया, पर उसने संवेदनात्मक चेतनाव्यापारों के लिए एक विशेष 'संविद् शक्ति' का प्रतिपादन किया जिससे 'अभौतिक शक्ति' माननेवालों को भी सहारा मिल गया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक शरीरव्यापारविज्ञान में यही सिद्धान्त ग्राह्य रहा कि जीवों के कुछ व्यापार तो भौतिक और रासायनिक कारणों से होते हैं पर कुछ ऐसे हैं जो एक विशेष शक्ति द्वारा होते हैं। यह शक्ति समस्त भूतों से परे तथा द्रव्य की भौतिक और रासायनिक क्रिया से सर्वथा स्वतन्त्र मानी गई है। यह स्वयंप्रकाश शक्ति जड़ पदार्थों में नहीं होती और भूतों को अपने आधार पर चलाती है। संवेदनसूत्रों की वेदनात्मक क्रिया, चेतना, उत्पत्ति, वृद्धि आदि ऐसी बातें थीं जिनके लिए भौतिक और रासायनिक कारण बतलाना अत्यन्त कठिन था। इस अभौतिक शक्ति का व्यापार उद्देश्यात्मक[1] माना गया जिससे दर्शनशास्त्र में उद्देश्यवाद का समर्थन हुआ। प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने भी कह दिया कि यद्यपि सिद्धान्तदृष्टि से सृष्टि के व्यापारों का भौतिक कारण बतलाने में बुद्धि में अपार सामर्थ्य है पर जीवधारियों के चेतन व्यापारों का भौतिक कारण बतलाना वास्तव में उसकी सामर्थ्य के बाहर है, अतः हमें उनका एक ऐसा कारण मानना ही पड़ता है जो उद्देश्यात्मक अर्थात् भूतों से परे है। फिर तो उद्देश्यवाद एक प्रकार निर्विवाद सा मान लिया गया। बात स्वाभाविक ही थी; क्योंकि शरीर के भीतर रक्तसंचार आदि व्यापारों का भौतिक और पाचन आदि क्रियाओं का रासायनिक हेतु तो बतलाया जा सकता था पर पेशियों और संवेदन सूत्रों की अद्भुत क्रियाओं तथा अन्तःकरण (मन) की विलक्षण वृत्तियों का कोई समाधानकारक हेतु निरूपित नहीं हो सकता था। इसी प्रकार किसी प्राणी में भिन्न भिन्न शक्तियों की जो उपयुक्त योजना देखी जाती है उसे भी भूतों के द्वारा सम्पन्न नहीं मानते बनता था। ऐसी दशा में शरीरव्यापारसम्बन्धी विज्ञान में भी पूरी द्वैतभावना स्थापित हुई। निरिन्द्रिय जड़ प्रकृति और सेन्द्रिय सजीव सृष्टि के बीच, आधिभौतिक और आध्यात्मिक विधानों के बीच, शरीर और आत्मा के बीच, द्रव्यशक्ति और जीवशक्ति के बीच पूरा पूरा प्रभेद माना गया। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भूतातिरिक्तशक्तिवाद की जड़ शरीरव्यापारविज्ञानों में अच्छी तरह जम गई।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में प्रसिद्ध फरासीसी तत्त्ववेत्ता डेकार्ट ने हार्वे के रक्त

---

1. यह सिद्धान्त कि सृष्टि के व्यापार उद्देश्य रखनेवाली एक चेतन शक्ति के विधान द्वारा होते हैं।

संचार सम्बन्धी सिद्धान्त को लेकर यह प्रतिपादित किया कि और जन्तुओं की भाँति मनुष्य का शरीर भी एक कल है और उसका संचालन भी उन्हीं भौतिक नियमों के अनुसार होता है जिनके अनुसार मनुष्य की बनाई हुई मशीन का होता है। साथ ही उसने मनुष्य में एक भूतातीत आत्मा[1] का होना भी बतलाया और कहा कि स्वयं अपने ही व्यापारों का जो अनुभव आत्मा को होता है (अर्थात् विचार) केवल वही संसार में ऐसी वस्तु है जिसका हमें निश्चयात्मक बोध होता है। उसका सूत्र है कि—'मैं विचार करता हूँ इसलिए मैं हूँ।[2] पर यह द्वैत सिद्धान्त रखते हुए भी उसने शरीर व्यापार सम्बन्धी हमारे भौतिक ज्ञान को बहुत कुछ बढ़ाया। डेकार्ट के बाद ही एक वैज्ञानिक ने प्राणियों के अंग संचालन को शुद्ध भौतिक नियमों का अनुसारी सिद्ध किया और दूसरे ने पाचन और श्वास[3] की क्रिया का रासायनिक विधान बतलाया। पर उनके युक्तिवाद पर उस समय लोगों ने ध्यान न दिया। शक्तिवाद का प्रचार बढ़ता ही गया। उसका पूर्णरूप से खंडन तब हुआ जब भिन्न भिन्न जीवों के शरीरव्यापारों का मिलान करने वाले विज्ञान का उदय हुआ।

तारतम्यिक शरीरव्यापारविज्ञान का प्रादुर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। बर्लिन विश्वविद्यालय के जोंस मूलर नामक उद्‌भट प्राणिवेत्ता ने ही पहलेपहल इस विषय को अपने हाथ में लिया और 25 वर्ष तक लगातार परिश्रम किया। उसने मनुष्य से लेकर कीटपतंग तक सारे जीवों के अंगों और शरीरव्यापारों को लेकर दार्शनिक रीति से मिलान किया और इस प्रकार वह अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों से प्राणतत्त्व सम्बन्धी ज्ञान में बहुत बढ़ गया। मूलर भी अपने सहयोगी शरीरविज्ञानियों के समान शक्तिवादी ही रहा। पर उसके हाथ में पड़ कर शक्तिवाद का कुछ रूप ही और हो गया। उसने जीवों के समस्त व्यापारों के भौतिक हेतु निरूपण का प्रयत्न किया। उसने जिस शक्ति का रूपान्तर से प्रतिपादन किया वह प्रकृति के भौतिक और रासायनिक नियमों से परे नहीं थी; उससे सर्वथा बद्ध थी। उसने इन्द्रियों और मन की क्रियाओं का उसी प्रकार भौतिक हेतु बतलाने का प्रयत्न किया जिस प्रकार पेशियों की क्रियाओं का। मूलर की सफलता का कारण यह था कि वह सदा अत्यन्त निम्नकोटि के जीवों के प्राणव्यापार को लेकर चलता और क्रम क्रम से उन्नत जीवों की ओर अपनी अनुसंधान परम्परा को बढ़ाता हुआ मनुष्य तक ले जाता था। मूलर की मृत्यु के पीछे सन् 1858 में उसके विस्तृत विषय के कई विभाग हो गए—मानव और तारतम्यिक अंगविच्छेद परीक्षा, चिकित्सासम्बन्धी अंगविच्छेद परीक्षा, शरीरव्यापार विज्ञान और विकासक्रम का इतिहास।

---

1. पशुओं में इस प्रकार की आत्मा डेकार्ट नहीं मानता था।
2. कामिटो इरगो सम (आई थिंक देयर फोर आइ एम्)
3. जिससे शरीर के भीतर ऑक्सिजन या प्राणवायु जाती और कारबन निकलता है।

मूलर के अनेक शिष्यों में से थिउडरश्वान को सबसे अधिक सफलता हुई। 1838 में जब प्रसिद्ध उद्भिद्‌विज्ञानवेत्ता थिउडरश्वान ने घटक को सारे पौधों का संयोयक अवयव बतलाया और सिद्ध किया कि पौधों का सारा तन्तुजाल इन्हीं घटकों के योग से बना है, मूलर ने इस आविष्कार से लाभ उठाने की चेष्टा की। उसने प्राणियों के शरीरतन्तुओं को भी इसी प्रकार के योग से संघटित सिद्ध करना चाहा। पर यह कठिन कार्य उसके शिष्य श्वान ने किया। इस प्रकार घटक सिद्धान्त की नींव पड़ी जिसका महत्त्व अंगविच्छेद शास्त्र और शरीरव्यापार विज्ञान में दिन पर दिन स्वीकृत होता गया। इसके अतिरिक्त अर्न्स्ट ब्रुक और एलबर्ट कालिकर नामक मूलर के दो दूसरे शिष्यों ने यह दिखलाया कि विश्लेषण करने पर जीवों की समस्त क्रियाएँ शरीरतन्तु को संघटित करनेवाले इन्हीं सूक्ष्म घटकों की क्रियाएँ ठहरती हैं। ब्रुक ने इन घटकों को 'मूलजीव' कहा और बतलाया कि समवाय रूप से ये ही जीवविधान के कारण हैं। कालिकर ने सिद्ध किया कि जीवधारियों का गर्भांड एक शुद्ध घटक मात्र है।

'घटकात्मक शरीरव्यापार विज्ञान' की पूर्णरूप से प्रतिष्ठा सन् 1889 में जरमनी के मैक्स वरवर्न द्वारा हुई। उसने अनेक परीक्षाओं के उपरान्त दिखलाया कि मेरा उपस्थित किया हुआ घटकात्मा[1] सम्बन्धी सिद्धान्त एक घटकात्मक अणुजीवों के पर्यालोचन से पूर्णरूप से प्रतिपादित हो जाता है और इन अणुजीवों के चेतन व्यापारों का मेल जलसृष्टि की रासायनिक क्रियाओं से मिल जाता है। उसने बतलाया कि मूलर की मिलानवाली प्रणाली तथा घटक की सूक्ष्म आलोचना द्वारा ही हम तत्त्व को यथार्थ रूप में समझ सकते हैं।

इस घटकवाद से चिकित्साशास्त्र को भी बहुत लाभ पहुँचा। मूलर के एक दूसरे शिष्य विरशे ने रुग्ण घटकों का स्वस्थ घटकों से मिलान करके रुग्ण होने पर उनकी दशा के उन सूक्ष्म परिवर्तनों को दिखलाया जो उन विस्तृत परिवर्तनों के मूल स्वरूप होते हैं जिनसे रोग या मृत्यु होती हैं। उसने यह सिद्ध कर दिया कि रोग किसी अलौकिक कारण से नहीं होते बल्कि भौतिक और रासायनिक परिवर्तनों के ही कारण होते हैं।

आधुनिक जन्तुविभागविद्या के अन्तर्गत जितने जीव हैं सब में स्तनपायी जीव प्रधान हैं। मनुष्य इसी स्तन्यवर्ग के अन्तर्गत है अतः उसमें वे सब लक्षण होने चाहिए जो और स्तन्य जीवों में होते हैं। मनुष्यों में भी रक्तसंचालन तथा श्वास क्रिया उसी प्रकार और ठीक उन्हीं नियमों के अनुसार होती है जिस प्रकार और जिन नियमों के अनुसार और स्तन्य जीवों में। ये दोनों क्रियाएँ हृत्कोश और फुप्फुस (फेफड़े) की विशेष बनावट के अनुसार होती हैं। केवल स्तन्य जीवों में रक्त हृदय के बाएँ कोठे से धमनी की वाम कंडरा (शाखा) में प्रवाहित होता है। पक्षियों में यह रक्त

1. सन् 1866 में हेकल ने यह सिद्धान्त उपस्थित किया था।

धमनी की दक्षिण कंडरा से होकर और सरीसृपों में दोनों कंडराओं से होकर जाता है। दूध पिलानेवाले जीवों के रक्त में और दूसरे रीढ़वाले जीवों के रक्त से यह विशेषता पाई जाती है कि उसके सूक्ष्म घटकों के मध्य में गुठली (नूक्लस) नहीं होती। इसी वर्ग के जीवों की श्वासक्रिया अन्तरपट (डाइफागम) के योग से होती है क्योंकि इन्हीं जीवों में उदराशय और वक्षाशय के बीच यह परदा होता है। बड़ी भारी विशेषता तो माता के स्तनों में दूध उत्पन्न होने और बच्चों को पालने के ढंग की है। दूध की बड़ी भारी ममता होती है इसी से स्तन्य जीवों में शिशु पर माता का बहुत अधिक स्नेह देखा गया है।

स्तन्य जीवों में बनमानुस ही मनुष्य से सबसे अधिक समानता रखता है, अतः उसमें वे सब लक्षण मिलते हैं जो मनुष्य में पाए जाते हैं। सब लोग देखते हैं कि किस प्रकार बनमानुसों की रहन सहन, स्वभाव, समझ, बच्चों के पालने पोसने का ढंग आदि मनुष्य के से होते हैं। शरीर व्यापार विज्ञान ने और बातों में भी सादृश्य दिखलाया है जो साधारण दृष्टि से देखने में नहीं आता—हृत्पिंड की क्रिया में, स्तनों के विभाग में, दाम्पत्य विधान में। दोनों के स्त्री पुरुष धर्म मिलते जुलते हैं। बनमानुसों की बहुत सी ऐसी जातियाँ होती हैं जिनकी मादा के गर्भाशय से उसी प्रकार सामयिक रक्तश्राव होता है जिस प्रकार स्त्रियों को मासिकधर्म होता है। बनमानुस की मादा में दूध उसी प्रकार उतरता है जिस प्रकार स्त्रियों में। दूध पिलाने का ढंग भी एक ही सा है।

सबसे बढ़कर ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि मिलान करने पर बनमानुसों की बोली मनुष्य की वर्णात्मक वाणी के विकास की आदिम अवस्था प्रतीत होती है। एक प्रकार का बनमानुस होता है जो कुछ कुछ मनुष्यों की तरह गाता और सुर निकालता है। कोई निष्पक्ष भाषातत्त्वविद् इस बात को मानने में आगापाछा न करेगा कि मनुष्य की विचार व्यंजक विशद वाणी पूर्वज बनमानुसों की अपूर्ण बोली से क्रमशः धीरे धीरे निकली है।

चौथा प्रकरण

# गर्भविधान

तारतम्यिक गर्भविधान विद्या की उत्पत्ति भी उन्नीसवीं शताब्दी में ही हुई है। माता के गर्भ में बच्चा किस प्रकार बनता है? गर्भांड से जीव कैसे उत्पन्न हो जाते हैं? बीज से वृक्ष कैसे पैदा होता है? इन प्रश्नों पर हजारों वर्षों से लोग विचार करते आए पर इनका ठीक ठीक समाधान तभी हुआ जब गर्भविज्ञानविद् बेयर ने गर्भविधान के रहस्यों को जानने का उचित मार्ग दिखलाया। बेयर से 30 वर्ष पीछे डारविन ने अपने उत्पत्ति सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा गर्भविधान के परिज्ञान की प्रणाली एक प्रकार से स्थिर कर दी। यहाँ पर मैं गर्भसम्बन्धी मुख्य मुख्य सिद्धान्तों पर ही विचार करूँगा। इस विचार के पहले गर्भवृद्धि सम्बन्धी प्राचीन सिद्धान्तों का उल्लेख आवश्यक है।

प्राचीनों का विचार था कि जीवों के गर्भांड में पूरा शरीर अपने सम्पूर्ण अवयवों के साथ पहले से निहित रहता है, पर वह इतना सूक्ष्म होता है कि दिखाई नहीं पड़ सकता[1], अतः गर्भ का सारा विकास या वृद्धि अन्तर्मुख अंगों का प्रस्तार मात्र है। इसी भ्रान्त विचार का नाम 'पूर्वकृत' या 'युगपत्' सिद्धान्त है। सन् 1759 में उल्फ नामक एक नवयुवक डॉक्टर ने अनेक श्रमसाध्य और कठिन परीक्षाओं के उपरान्त इस सिद्धान्त का पूर्णरूप से खंडन किया। अंडे को यदि हम देखें तो उसके भीतर बच्चे या उसके अंगों का कोई चिह्न पहले नहीं रहता, केवल एक छोटा चक्र जरदी के सिरे पर होता है। यह बीजचक्र धीरे धीरे वर्तुलाकार हो जाता है और फिर फूट कर चार झिल्लियों के रूप में हो जाता है। ये ही चार झिल्लियाँ शरीर के चार प्रधान

1. सुश्रुत ने कई ऋषियों के नाम देकर लिखा है कि कोई कहता है कि गर्भ में पहले बच्चे का सिर पैदा होता है, कोई कहता है कि हृदय, कोई कहता है नाभि, कोई कहता है हाथ पाँव, सुभूति गौतम कहते हैं जड़ जिससे सब अंग सन्निबद्ध रहते हैं, पर धन्वंतरि जी कहते हैं कि इनमें से किसी का मत ठीक नहीं, बच्चों के सब अंग एक साथ ही पैदा हो जाते हैं, बाँस के कल्ले या आम के फल के समान—'सर्वांगप्रत्यंगानि युगपत्संभवतीत्याह धन्वंतरि, गर्भस्य सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते, वंशांकुरवच्चूतलबच्च।' —सुश्रूत, शरीरस्थान।

विभागों के मूलरूप हैं। चार विभाग या विधान ये हैं—ऊपर संवेदनविधान जिससे समस्त संवेदनात्मक और चेतन व्यापार होते हैं, नीचे पेशी विधान, फिर नाड़ीघट[1] हृदय नाड़ी आदि विधान, और अन्त्रविधान। इससे प्रकट है कि गर्भविकास पूरे अंगों का प्रस्तार मात्र नहीं है बल्कि नवीन रचनाओं का क्रम है। इस सिद्धान्त का नाम 'नवविधानवाद' है। 50 वर्ष तक उल्फ की सच्ची बात की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया क्योंकि प्रसिद्ध वैज्ञानिक हालर बराबर उसका विरोध करता गया। हालर ने कहा—'गर्भ में नए विधानों की योजना नहीं होती। प्राणी के अंग एक दूसरे के आगे पीछे नहीं बनते सब एक साथ बने बनाए रहते हैं।'

जब सन् 1806 में जरमनी के ओकेन ने उल्फ की कही हुई बातों का फिर से पता लगाया तब कई जरमन वैज्ञानिक गर्भविधान के ठीक ठीक अन्वेषण में तत्पर हुए। उनमें सबसे अधिक सफलता बेयर को हुई। उसने अपने ग्रन्थ में गर्भबीज की रचना का पूरा ब्योरा दिखाया और बहुत से नए नए विचारों का समावेश किया। मनुष्य तथा और दूसरे स्तन्य जीवों के भ्रूण के आकार प्रकार दिखाकर उसने बिना रीढ़वाले क्षुद्र जन्तुओं के उत्पत्तिक्रम पर भी विचार किया जो सर्वथा भिन्न होता है। रीढ़वाले उन्नत जीवों के गर्भबीज के गोलचक्र में पत्ते के आकार के जो दो पटल दिखाई देते हैं बेयर के कथनानुसार पहले वे दो और पटलों में विभक्त होते हैं। ये चार पटल पीछे चार कोशों के रूप में हो जाते हैं जिनसे शरीर के चार विभाग सूचित होते हैं—त्वक्कोश, पेशीकोश, नाड़ीघटकोश और लालाकोश।

बेयर का सबसे बड़ा काम मनुष्य गर्भांड का पता लगाना था। पहले लोग समझते थे कि गर्भाशय में डिम्भकोश[2] के भीतर जो बहुत से सूक्ष्म सम्पुट दिखाई पड़ते हैं वे ही गर्भांड हैं। 1827 में बेयर ने पहले पहल सिद्ध किया कि वास्तविक गर्भांड इन सम्पुटों के भीतर बन्द रहते हैं और बहुत छोटे एक इंच के 120वें भाग के बराबर होते हैं और बिन्दु के समान दिखाई देते हैं। उसने दिखलाया कि स्तन्य जीवों के इस सूक्ष्म गर्भांड से पहले एक बीजवर्तुल या कलल[3] उत्पन्न होता है। यह बीजवर्तुल एक खोखला गोला होता है जिसके भीतर एक प्रकार का रस भरा रहता है। इस गोले का जो झिल्लीदार आवरण होता है उसे बीजकला कहते हैं। बेयर के इस बीजकला सिद्धान्त की स्थापना के 10 वर्ष पीछे सन् 1838 में जब घटकवाद स्वीकृत हुआ तब अनेक प्रकार के नए प्रश्न उठे? गर्भांड तथा बीजकला का उन घटकों और तन्तुओं

---

1. जिससे रक्तसंचार होता है और जिसके अन्तर्गत रक्तवाहिनी नलियाँ और हृदय हैं।
2. ये डिम्भकोश गर्भाशय के दोनों ओर होते हैं और पुरुष के अण्डकोश के स्थान पर हैं। जिस प्रकार पुरुष के अण्डकोश के भीतर शुक्रकीटाणु रहते हैं उसी प्रकार इन कोशों के भीतर गर्भांड या रजः कीटाणु रहते हैं।
3. हारीत ने लिखा है कि प्रथम दिन शुक्र शोणित के संयोग से जिस सूक्ष्म पिंड की सृष्टि होती है उसे कलल कहते हैं।

से क्या सम्बन्ध है जिनसे मनुष्य का पूर्ण शरीर बना है। इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर रेमक और कालिकर नामक मूलर के दो शिष्यों ने दिया। उन्होंने दिखलाया कि गर्भांड पहले एक सूक्ष्म घटक मात्र रहता है। गर्भित होने पर उत्तरोत्तर विभाग द्वारा उसी से जो अनेक जीववर्तुल या कलल होते जाते हैं वे भी शुद्ध घटक ही हैं। उनके शहतूत की तरह के गुच्छे से पहले कलाओं या झिल्लियों की रचना होती है, फिर विभेद या कार्यविभाग क्रम द्वारा भिन्न भिन्न अवयवों की सृष्टि होती है। कालिकर ने यह भी स्पष्ट किया कि नरजीवों का वीर्य भी सूक्ष्म घटकों ही का समूह है। उसमें आलपीन के आकार के जो अत्यन्त सूक्ष्म वीर्यकीटाणु होते हैं वे रोईंदार घटक मात्र हैं जैसा कि मैंने 1866 में स्पंज (मुरदा बादल) की बीजकलाओं को लेकर निर्धारित किया था। इस प्रकार जीवोत्पत्ति के दोनों उपादानों पुरुष के वीर्य कीटाणु और स्त्री के गर्भांड—का सामंजस्य घटकसिद्धान्त के साथ पूर्णतया हो गया। इस आविष्कार का दार्शनिक महत्त्व कुछ दिनों पीछे स्वीकार किया गया।

गर्भसम्बन्धी विधानों की जाँच पहले पक्षियों के अंडों की परीक्षा द्वारा की गई थी। इस प्रकार की परीक्षा द्वारा हम देख सकते हैं कि किस प्रकार तीन सप्ताहों के बीच एक के उपरान्त दूसरी रचना उत्तरोत्तर होती है। इस परीक्षा द्वारा बेयर को केवल इतना ही पता लगा कि बीजकलाओं की आकृति और अवयवों की सृष्टि का क्रम सब मेरुदंड; रीढ़वाले जीवों में एक प्रकार का है, पर बिना रीढ़वाले असंख्य कीटों की गर्भवृद्धि दूसरे ही ढंग से होती है; अधिकांश में बीज कलाओं के कोई चिह्न दिखाई ही नहीं पड़ते। थोड़े दिन पीछे कुछ बिना रीढ़वाले कीटों में भी—जैसे कई प्रकार के सामुद्रिक घोंघों और उद्भिदाकार कृमियों में—ये बीज कलाएँ पाई गईं। 1886 में कोवालुस्की नामक एक वैज्ञानिक ने एक बड़ी भारी बात का पता लगाया। उसने दिखलाया कि सबसे क्षुद्र रीढ़वाले जन्तु अकरोटी मत्स्य[1] का गर्भस्फुरण भी उसी प्रकार होता है जिस प्रकार बिना रीढ़वाले जीवों का। मैं उन दिनों स्पंजों, मूँगों तथा उद्भिदाकार कृमियों के गर्भस्फुरण विधान का अन्वेषण कर रहा था। जब मैंने इन समस्त जीवों में इन दो बीजकलाओं को पाया तब मैंने निश्चित किया कि गर्भ का यह लक्षण समस्त जीवधारियों में पाया जाता है। विशेष ध्यान देने की बात मुझे यह प्रतीत हुई कि स्पंजों और छत्रक[2] आदि कुछ उद्भिदाकार कृमियों का शरीर बहुत दिनों तक—और किसी किसी का तो आयुभर घटकों के दो पटल या कलाओं के

---

1. जोंक के आकार की चार पाँच अँगुली की लम्बी एक प्रकार की मछली जो समुद्र के किनारे बालू में बिल बनाकर रहती है। इसे कड़ी रीढ़ नहीं होती, नरम लचीली हड्डियों का तरुणास्थिदंड होता है। कपाल भी इसे नहीं होता। इसी से यह अकरोटी अक्रानिया वर्ग में समझी जाती है।
2. यह जन्तु खुमी या छत्रक के आकार का होता है पर इसमें एक मध्यदंड के स्थान पर किनारे को ओर कई पैर सूत की तरह के होते हैं जिनसे वह समुद्र पर तैरा करता है।

रूप में ही रहता है। इन सब परीक्षाओं के आधार पर मैंने 1872 में गर्भस्फुरण सम्बन्धी अपना द्विकलघट सिद्धान्त प्रकाशित किया जिसकी मुख्य मुख्य बातें ये हैं—

1. समस्त जीवसृष्टि दो भिन्न वर्गों में विभक्त है—एकघटक आदिम अणुजीव[1] तथा अनेकघटक समष्टिजीव। अणुजीव का सारा शरीर आयुभर एक घटक के रूप में, अथवा घटकों के ऐसे समूह के रूप में जो तन्तुओं द्वारा सम्बद्ध वा एकीकृत नहीं होता, रहता है। समष्टिजीव का शरीर आरम्भ में तो एकघटक रहता है पर पीछे अनेक ऐसे घटकों का हो जाता है जो मिलकर जाल के रूप में गुछ जाते हैं।

2. अतः इन दोनों जीववर्गों के प्रजनन और गर्भस्फुरण का क्रम भी अत्यन्त भिन्न होता है। अणुजीवों की वृद्धि अमैथुनीय विधान से अर्थात् विभागपरम्परा[2] द्वारा होती है; उनमें गर्भकीटाणु और वीर्यकीटाणु नहीं होते। पर समष्टिजीवों में पुरुष और स्त्री का भेद होता है। उनका प्रजनन मैथुन विधान से अर्थात् गर्भकीटाणु से होता है जो शुक्रकीटाणु द्वारा गर्भित होता है।

3. अतः वास्तविक बीजकलाएँ और उनसे बने हुए तन्तु केवल समष्टिजीवों में होते हैं, अणुजीवों में नहीं।

4. सारे समष्टिजीवों के गर्भकाल में पहले ये ही दो कलाएँ—आवरण या झिल्लियाँ प्रकट होती हैं। ऊपरी कला से बाहरी त्वक् और संवेदनसूत्रों का विधान होता है, भीतरी कला से अन्त्र तथा और और अवयव उत्पन्न होते हैं।

5. गर्भाशय में स्थित बीज को, जो गर्भित रजःकीटाणु से पहले पहल निकलता है और दो कलाओं के रूप में ही होता है, द्विकलघट कह सकते हैं। इसका आकार कटोरे का सा होता है। आरम्भ में इसके भीतर केवल वह खोखला स्थान होता है जिसे आदिम जठराशय कह सकते हैं और बाहर की ओर एक छिद्र होता है जिसे आदिम मुख कह सकते हैं। समष्टिजीवों के शरीर के ये ही सबसे पहले उत्पन्न होने वाले अवयव हैं। ऊपर लिखी दोनों कलाएँ या झिल्लियाँ ही आदि तन्तुजाल हैं, उन्हीं से पीछे और सब अवयवों की उत्पत्ति होती है।

6. सारे समष्टिजीवों के गर्भविधान में इस द्विकलघट को पाकर मैंने सिद्धान्त निकाला कि सारे समष्टिजीव आदि में मूल द्विकलात्मक जीवों से उत्पन्न हुए हैं और मूल जीवों का यह रूप अब तक बड़े जीवों की गर्भावस्था में पितृपरम्परा के धर्मानुसार पाया जाता है।

7. वर्गोत्पत्तिविषयक इस सिद्धान्त की पुष्टि इस बात से पूर्णतया होती है

---

1. ये अणुजीव जल में पाए जाते हैं और अच्छे खुर्दबीन के द्वारा ही देखे जा सकते हैं।
2. ऐसे जीवों की वंशवृद्धि विभाग द्वारा इस प्रकार होती है। एक अणुजीव जब बढ़ते बढ़ते बहुत बढ़ जाता है तब उसकी गुठली के दो विभाग हो जाते हैं। क्रमशः उस जीव का शरीर मध्य भाग से पतला पड़ने लगता है और अन्त में उस जीव के दो विभाग हो जाते हैं।

कि अब भी ऐसे द्विकलात्मक जीव पाए जाते हैं। यहीं तक नहीं है, ऐसे भी जीव; स्पंज, मूँगा आदि सामुद्रिक जीव, मिलते हैं जिनकी बनावट इन द्विकलात्मक जीवों से थोड़ी ही उन्नत होती है।

8. द्विकलघट से घटकजाल के रूप में संयोजित होकर बढ़नेवाले समष्टिजीवों के भी दो प्रधान भेद हैं—एक तो आदिम रूप के जिनके शरीर में कोई आशय, मलद्वार और रक्त नहीं होता; स्पंज आदि समुद्र के जीव इसी प्रकार के हैं; दूसरे उनसे पीछे के और उन्नत शरीर वाले जिनके शरीर में आशय, मलद्वार और रक्त होता है। इन्हीं के अन्तर्गत सारे कृमि, कीट आदि हैं जिनसे क्रमशः शंबुक सीप, घोंघे आदि रज्जुदंडजीव जिनके शरीर में रीढ़ के स्थान पर रज्जु के आकार का एक लचीला दंड होता है और मेरुदंड जीव हुए हैं।

यही मेरे द्विकलघटसिद्धान्त का सारांश है। पहले तो इसका चारों ओर से विरोध किया गया पर अब इसे प्रायः सब वैज्ञानिकों ने स्वीकार कर लिया है। अब देखना यह है कि इससे क्या क्या परिणाम निकलते हैं। बीज के इस विकासक्रम की ओर ध्यान देने से सृष्टि के बीच मनुष्य की क्या स्थिति निर्धारित होती है?

और जन्तुओं के समान मनुष्य का रजःकीटाणु भी एक सादा घटक मात्र है। यह सूक्ष्म घटकांड जिसका व्यास 1/120 इंच के लगभग होता है, आकार प्रकार में वैसा ही होता है जैसा कि और सजीव डिम्भप्रसव करने वाले जीवों का। कलल की सूक्ष्म गोली एक झलझलाती हुई झिल्ली से आवृत रहती है। यहाँ तक कि कललरस की इस गोली के भीतर जो बीजाशय या गुठली होती है वह भी उतनी ही बड़ी और वैसी ही होती है जितनी बड़ी और जैसी और स्तन्य जीवों में। यही बात पुरुष के शुक्रकीटाणु के विषय में भी कही जा सकती है। ये शुक्रकीटाणु भी सूत या आलपीन के आकार के रोएँदार अत्यन्त सूक्ष्म घटक मात्र हैं जो वीर्य के एक बूँद में न मालूम कितने लाख होते हैं। इन दोनों मैथुनीय घटकों की उत्पत्ति समस्त स्तन्य जीवों में समान रूप से अर्थात् मूल बीजकलाओं से होती है।

प्रत्येक मनुष्य क्या समष्टिजीव मात्र के जीवन में वह क्षण बड़े महत्त्व का है जिसमें उसका व्यक्तिगत अस्तित्व आरम्भ होता है। यह वही क्षण है जिसमें उसके माता पिता के पुरुष और स्त्री घटक; रजःकीटाणु और शुक्रकीटाणु परस्पर मिलकर एक घटक हो जाते हैं। इस प्रकार उत्पन्न नया घटक मूलघट कहलाता है जिसके उत्तरोत्तर विभागक्रम द्वारा ऊपर कही हुई दोनों कलाओं या झिल्लियों को बनाने वाले घटक उत्पन्न होते हैं। इसी मूलघट की स्थापना अर्थात् गर्भाधान के साथ ही व्यक्ति का अस्तित्व आरम्भ होता है। गर्भाधान की इस प्रक्रिया से कई बातों का निरूपण होता है। पहली बात तो यह कि मनुष्य अपनी शारीरिक और मानसिक विशेषताएँ अपने माता पिता से प्राप्त करता है। दूसरी बात है कि जो नूतन व्यक्ति इस प्रकार उद्‌भूत होता है वह 'अमरत्व' का दावा नहीं कर सकता।

गर्भाधान के विधानों का ठीक ठीक ब्योरा 1875 में प्राप्त हुआ जब कि हर्टविग ने अपने अनुसंधान का फल प्रकाशित किया। हर्टविग ने पता लगाया कि गर्भाधान में सबसे पहली बात पुरुष और स्त्री घटक का, रजःकीटाणु और वीर्यकीटाणु का, तथा उनकी गुठलियों का परस्पर मिलकर एक हो जाना है। गर्भाशय के भीतर बहुत से शुक्रकीटाणु गर्भकीटाणु को घेरते हैं; पर उनमें से केवल एक ही उसके भीतर गुठली तक घुसता है। घुसने पर दोनों की गुठलियाँ एक अद्भुत शक्ति द्वारा, जिसे घ्राण से मिलती जुलती एक प्रकार की रासायनिक प्रवृत्ति समझना चाहिए, एक दूसरे की ओर वेग से आकर्षित होकर मिल जाती हैं। इस प्रकार पुरुष और स्त्री गुठलियों के संवेदनात्मक अनुभव द्वारा, जो एक प्रकार के रासायनिक प्रेमाकर्षण (इरोटिक केमिको ट्रापिज्म) के अनुसार होता है, एक नवीन अंकुरघटक की सृष्टि होती है जिसमें माता और पिता दोनों के गुणों का समावेश होता है।

मूलघट के उत्तरोत्तर विभाग द्वारा बीजकलाओं की रचना, द्विकलघट की उत्पत्ति तथा और और अंगों के विधान का क्रम मनुष्यों और दूसरे उन्नत स्तन्य जीवों में एक ही सा है। स्तन्यजीवों के अन्तर्गत जरायुज जीवों में जो विशेषताएँ हैं वे गर्भ की प्रारम्भिक अवस्था में नहीं दिखाई पड़तीं। द्विकलघट के उपरान्त रज्जुदंड की उत्पत्ति समस्त मेरुदंड जीवों के भ्रूण में एक ही प्रकार से होती है। भ्रूणपिंड की लम्बाई के बल बीचोबीच एक पृष्ठरज्जु (डोर्सल कोर्ड) प्रकट होती है। फिर इस पृष्ठरज्जु के ऊपर तो बाहरी कला (झिल्ली) से मज्जा निकलकर चढ़ने लगती है और नीचे आशय; आमाशय, अन्त्र आदि, प्रकट होने लगते हैं। इसके अनन्तर पृष्ठदंड के दाहिने और बाएँ दोनों ओर उसकी शाखाओं का विधान होता है और पशीपटल के ढाँचे बनते हैं जिनसे भिन्न भिन्न अवयवों की रचना आरम्भ होती है। आशय के अग्रभाग अर्थात् गलप्रदेश में गलफड़ों के दो छेद उसी प्रकार के उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार के मछलियों में होते हैं। मछलियों में तो ये गलफड़े इसलिए होते हैं कि श्वास के लिए जो जल मुख के मार्ग से चला जाता है वह इनसे होकर बाहर निकल जाय। पर मनुष्य के भ्रूण में इनका कोई प्रयोजन नहीं होता। इनसे केवल यही बात सूचित होती है कि मनुष्य का विकास भी इन जलचर पूर्वज जीवों से ही क्रमशः हुआ है। इसी से जलचर पूर्वजों का यह लक्षण मनुष्य में अबतक गर्भावस्था में देखा जाता है। कुछ काल पीछे ये गलफड़े मनुष्य भ्रूण में नहीं रह जाते, गायब हो जाते हैं। फिर तो इस मत्स्याकार गर्भपिंड में कपाल आदि की विशेषताएँ प्रकट होने लगती हैं, हाथ पैर के अंकुर निकलने लगते हैं और आँख, कान आदि के चिह्न दिखाई पड़ने लगते हैं। इस अवस्था में भी यदि मनुष्य भ्रूण को देखें तो उसमें और दूसरे मेरुदंड जीवों के भ्रूण में कोई विभिन्नता नहीं दिखाई देती।

मेरुदंड जीवों की तीनों उन्नत जातियों, सरीसृप, पक्षी और स्तन्य के भ्रूण झिल्लियों के कोश के भीतर रहते हैं जो जल से भरा रहता है। इस जल में भ्रूण पड़ा रहता है

और आघात आदि से बचा रहता है। इस जलमय कोश की व्यवस्था उस युग में हुई होगी जिसमें जलस्थलचारी जीवों से स्थलचारी सरीसृप आदि के पूर्वज उत्पन्न हुए होंगे। मछलियों और मेंढकों के भ्रूण इस प्रकार की झिल्ली से रक्षित नहीं रहते।

पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य जरायुज जीव है। पर जरायु भी एकबारगी नहीं उत्पन्न हुआ है। पहले उत्पन्न होनेवाले निम्न कोटि के जरायुजों में चक्रनालयुक्त पूर्ण जरायु का विधान नहीं होता। उनके गर्भपिंड की सारी ऊपरी झिल्ली पर छेददार रोइयाँ सी उभरी होती हैं जो गर्भाशय के त्वक् से कुछ लगी रहती हैं पर बहुत जल्दी अलग हो सकती हैं। ह्वेल आदि कुछ जलचर स्तन्य तथा घोड़े, ऊँट आदि कुछ खुरपाद इसी प्रकार के अपूर्ण जरायुज जन्तु हैं। पूर्ण जरायुजों में माता के गर्भाशय की झिल्ली से लगा हुआ जरायु का भाग एक चक्र के आकार का होता है जिसके पृष्ठ भाग से एक नाल भ्रूणपिंड तक गया रहता है। यह जरायुकचक्र माता के गर्भाशय की दीवार से बिलकुल मिला रहता है जिससे प्रसव होने पर इस चक्र के साथ गर्भाशय का कुछ भाग भी उचड़ आता है और कुछ रक्तस्राव भी होता है। मनुष्य के गर्भपिंड में भी एकबारगी पूर्ण जरायु का विधान नहीं हो जाता, पहले वह अपूर्ण रूप में रहता है जैसा कि अपूर्ण जरायुजों में; फिर चक्र और नाल के रूप में आता है। हाथी का जरायु बलय के आकार का होता है। चूहे, गिलहरी, खरहे आदि कुतरनेवाले जन्तुओं तथा घूस, बनमानुस और मनुष्य का जरायु चक्राकार होता है।

गर्भ की प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य के भ्रूण और दूसरे मेरुदंड जीवों के भ्रूण के बीच यह सादृश्य ध्यान देने योग्य है। इस सादृश्य का एकमात्र कारण यही हो सकता है कि समस्त जीव एक ही आदिम जीव से उत्पन्न हुए हैं—जीवों के भिन्न भिन्न रूप एक ही आदि पुरातनरूप से प्रकट हुए हैं। गर्भ की विशेष अवस्था में हम मनुष्य, बन्दर, कुत्ते, सूअर, भेड़ इत्यादि के भ्रूणों में कोई विभेद नहीं कर सकते। इसका कारण एक मूल से उत्पत्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? विकासवाद के विरोधी बहुत दिनों तक मनुष्य भ्रूण के जरायु आदि में कुछ विशेषताएँ बतलाकर मनुष्य की स्वतन्त्र उत्पत्ति का राग अलापते रहे। पर 1890 में सेलेनका ने ओरंग नामक बनमानुस के भ्रूण में भी उन विशेषताओं को स्पष्ट दिखा दिया। फिर तो हक्सले का यह सिद्धान्त और भी पुष्ट हो गया कि 'मनुष्य और उन्नत बनमानुसों के बीच उतना भेद नहीं है जितना नराकार बनमानुसों और निम्न श्रेणी के बन्दरों के बीच।'

शुद्ध विज्ञान की दृष्टि से जो मनुष्य के गर्भस्फुरण क्रम को देखेगा और उसे दूसरे स्तन्य जीवों के गर्भविधान से मिलावेगा उसे मनुष्य की उत्पत्ति को समझने में बहुत सहायता मिलेगी।

पाँचवाँ प्रकरण

# मनुष्य की उत्पत्ति

जीवविज्ञान की सब शाखाओं में जीववर्गोत्पत्ति विद्या सबसे पीछे निकली है। इसका प्रादुर्भाव भी गर्भविकास विद्या के पीछे हुआ है और इसके मार्ग में कठिनाइयाँ भी बहुत अधिक पड़ी हैं। गर्भविकास विद्या का उद्देश्य उन विधानों का परिज्ञान प्राप्त करना है जिनके अनुसार उद्भिद् या जन्तु का शरीर मूलांड से क्रमशः उत्पन्न होता है, पर जीववर्गोत्पत्ति विद्या इस बात का निर्णय करती है कि जीवों के भिन्न भिन्न वर्ग किस प्रकार उत्पन्न हुए।

गर्भविकास विद्या में तो बहुत सी बातों को प्रत्यक्ष देखने का सुबीता है; क्योंकि वे बातें हमारे सामने बराबर होती रहती हैं। गर्भांड से स्फुरित होने पर भ्रूण में एक एक दिन और एक एक घड़ी में उत्तरोत्तर क्या क्या परिवर्तन होते हैं यह देखा जा सकता है। पर जीववर्गोत्पत्ति विद्या का विषय परोक्ष होने के कारण अधिक कठिन है। उन क्रियाविधानों के धीरे धीरे होने में जिनके द्वारा उद्भिदों और प्राणियों के नए नए वर्गों की क्रमशः सृष्टि होती है, लाखों वर्ष लगते हैं। उनके बहुत ही थोड़े अंश का प्रत्यक्ष हो सकता है। उन क्रियाविधानों का परिज्ञान हमें अनुमान और चिन्तन द्वारा तथा गर्भविधान और निःशेष जीवों के भूगर्भस्थित अस्थिपंजरों की परीक्षा द्वारा ही विशेषतः होता है। प्राणियों के विकास के इस वैज्ञानिक निरूपण का पहले बहुत विरोध किया गया क्योंकि वह देवकथाओं और धर्मसम्बन्धी प्रवादों के प्रतिकूल था। प्राचीन समय में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत सी कथाएँ भिन्न भिन्न मतों में प्रचलित थीं। योरप में ईसाई धर्म का डंका बजता था। ईसाई धर्माचार्य ही ऐसे विषयों के निर्णय के अनन्य अधिकारी माने जाते थे। अतः उनका निर्णय इंजील में जो सृष्टि की उत्पत्ति की कथा लिखी है, उसी के अनुसार होता था। यहाँ तक कि सन् 1735 में जब लिने नामक स्वेडन के एक वैज्ञानिक ने संसार के जीवों का वर्गविभाग किया तब वह भी बाइबिल का सिद्धान्त मानते हुए चला। बड़ा भारी काम उसने यह किया कि प्राणिविज्ञान में वर्गविवरण के लिए दोहरे नामों की प्रथा चलाई।

प्रत्येक जन्तु के लिए एक तो उसने भेदसूचक या योनिसूचक नाम रक्खा; फिर उसके आदि में उसका वर्गसूचक नाम रख दिया। जैसे श्वन् शब्द के अन्तर्गत उसने कुत्ता, भेड़िया, गीदड़, लोमड़ी आदि जन्तु के लिए, फिर इन जन्तुओं को इस प्रकार अलग अलग वैज्ञानिक नाम दिए—श्वकुक्कुर (पालतू कुत्ता), श्ववृक (भेड़िया), श्वजंबुक (गीदड़), श्वलोमशा (लोमड़ी)। श्वन् एक वर्ग का नाम हुआ और कुत्ता, लोमड़ी, गीदड़ आदि अलग अलग विशिष्ट योनियों के नाम हुए। दोहरे नामकरण की यह प्रथा इतनी उपयोगी सिद्ध हुई कि इसका प्रचार वैज्ञानिक मंडली में हो गया।

लिने ने जीवों का वर्गविभाग तो किया पर वह भिन्न भिन्न वर्गों के अवान्तर भेदों या विशिष्ट उत्पत्तिक्रम आदि का कुछ विवेचन न कर सका! बाइबिल की बात को मानते हुए उसने यही कहा कि संसार में उतनी ही योनियाँ दिखाई पड़ती हैं जितनी के ढाँचे सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने गढ़े थे[1]। इस भ्रान्त विचार के कारण जीववर्गोत्पत्ति के परिज्ञान के लिए कोई वैज्ञानिक प्रयत्न बहुत दिनों तक नहीं हो सका। लिने को केवल उन्हीं जीवों और उद्भिदों का परिज्ञान था जो इस समय पृथ्वी पर मिलते हैं। उसे उन जीवों की कुछ भी खबर न थी जो किसी समय इस पृथ्वी पर रहते थे पर अब जिनके केवल अस्थिपंजर भूगर्भ के नीचे दबे मिलते हैं।

इन पंजरावशिष्ट जीवों की खबर पहलेपहल सन् 1812 के लगभग क्यूवियर ने दी। उसने इन अप्राप्य जीवों के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी जिसमें इनका सविस्तार विवरण दिया। उसने दिखलाया कि इस पृथ्वी पर भिन्न भिन्न कल्पों में भिन्न भिन्न जीव परम्परानुसार एक दूसरे के पीछे रहे हैं। पर क्यूवियर ने भी लिने के अनुसार भिन्न भिन्न योनियों को अचल और स्थायी माना। इससे उसे पृथ्वी के इतिहास में संहार और नवीन सृष्टि अनेक बार होने की कल्पना करनी पड़ी। उसने बतलाया कि प्रत्येक प्रलय के समय सब जीवों का नाश हो जाता है और फिर से सब नए जीवों की सृष्टि होती है। क्यूवियर का यह 'प्रलयवाद' नितान्त भ्रान्तिमूलक होने पर भी तबतक सर्वमान्य रहा जब तक डारविन का समय आकर नहीं उपस्थित हुआ।

पर विविध योनियों को स्थिर और अपरिणामशील तथा उनकी सृष्टि को दैवी विधान मानने से विचारशील पुरुषों को सन्तोष नहीं हुआ। कुछ लोग सृष्टिविधान के प्राकृतिक हेतुओं के निरूपण की चेष्टा में लगे रहे। इनमें मुख्य था जर्मनी का प्रसिद्ध कवि और तत्त्ववेत्ता गेटे जिसने भिन्न भिन्न जीवों के शरीरों की परीक्षा करके समस्त जीवधारियों के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध और एक मूल से उत्पत्ति का निश्चय किया। सन् 1790 में उसने सब प्रकार के पौधों को एक आदिम पत्ते से निकला

1. पुराणों में तो इन योनियों की गिनती चौरासी लाख बतला दी गई है। उनके अनुसार इतनी ही योनियाँ सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न की गई थीं, इतनी ही बराबर रही हीं और इतनी ही रहेंगी।

हुआ बतलाया। मेरुदंड और कपाल की परीक्षा द्वारा उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि मनुष्य से लेकर समस्त मेरुदंड जीवों के कपाल एक विशेष क्रम से बैठाई हुई हड्डियों के समूह से बने हैं और ये हड्डियाँ मेरुदंड या रीढ़ के विकार या रूपान्तर मात्र हैं। इस सूक्ष्म पंजरपरीक्षा के आधारपर उसे यह दृढ़ निश्चय हो गया कि सारे जीवों की उत्पत्ति एक ही मूल से है। उसने दिखलाया कि मनुष्य का पंजर भी उसी ढाँचेपर बना है जिस ढाँचेपर और रीढ़वाले जीवों का। उस मूल ढाँचे में पीछे से परिवर्तन या विशेषताएँ उत्पन्न करनेवाली दो प्रधान विधायिनी शक्तियाँ हैं—एक तो शरीर के भीतर की अन्तर्मुख शक्ति जो केन्द्र की ओर ले जाती है और नियति या विशिष्टता की ओर प्रवृत्त करती है और दूसरी बहिर्मुख शक्ति जो केन्द्र के बाहर ले जाती है और रूपान्तर अर्थात् वाह्यावस्थानुरूप परिवर्तन की ओर प्रवृत्त करती है। पहली शक्ति वही है जिसे आजकल पैतृक प्रवृत्ति[1] कहते हैं और दूसरी वह है जो अब स्थितिसामंजस्य[2] कहलाती है। गेटे के विचार यद्यपि अनेक प्रकार के प्रमाणों से पुष्ट नहीं हो पाए थे पर उनसे डारविन और लामार्क के सिद्धान्तों का आभास पहले से मिल गया।

जीवों के क्रमशः रूपान्तरित होने का सिद्धान्त पूर्णरूप से फरासीसी वैज्ञानिक लामार्क द्वारा ही स्थापित हुआ। 1802 में उसने जीवों की परिवर्तनशीलता और रूपान्तरविधान के सम्बन्ध में अपने नवीन विचार प्रकट किए जिन्हें आगे चलकर उसने पूर्णरूप से स्थिर किया। पहलेपहल उसी ने जीवभेदों के स्थायित्वसम्बन्धी प्रवाद के विरुद्ध यह मत प्रकट किया कि योनिभेद भी जाति, वर्ग, कुल आदि के समान बुद्धिकृत प्रत्याहार या सापेक्ष भावनामात्र है। उसने निर्धारित किया कि सब योनियाँ (जीवभेद) परिवर्तनशील हैं और काल पाकर अपने से प्राचीन योनियों से उत्पन्न हुई हैं। जिन आदिम मूल जीवों से ये सब योनियाँ उत्पन्न हुई हैं वे अत्यन्त क्षुद्र और सादे जीव थे। सबसे आदिम मूल जीव जड़ द्रव्य से उत्पन्न हुए थे। पैतृक प्रवृत्ति द्वारा ढाँचे का मूलरूप तो बराबर वंशपरम्परानुगत चला चलता है पर स्वभावपरिवर्तन और अवयवों के न्यूनाधिक प्रयोगभेद द्वारा स्थितिसामंजस्य जीवों में बराबर फेरफार करता रहता है। हमारा यह मुनष्यशरीर भी इसी प्राकृतिक क्रिया के अनुसार बनमानुसों के शरीर से क्रमशः परिवर्तित होते होते बना है। सृष्टि के समस्त व्यापारों का क्या वाह्य क्या मानसिक—प्रकृत कारण लामार्क ने भौतिक और रासायनिक क्रियाओं को ही माना।

आदि ही से एक एक जीव की स्वतन्त्र सृष्टि माननेवालों का भ्रम तो लामार्क

---

1. पैतृक प्रवृत्ति द्वारा जीवों का एक विशिष्ट ढाँचा वंशपरम्परागत बराबर चला चलता है।
2. स्थितिसामंजस्य के द्वारा वाह्य अवस्था के अनुसार प्राणियों के अंगों में कुछ विभेद होता जाता है। जैसे मछली और मेंढक के शरीर का भेद जो जल की स्थिति से जल और स्थल की उभयात्मक स्थिति में आने के कारण हुआ है।

ने अच्छी तरह दिखला दिया पर उसके सिद्धान्तों का अच्छा प्रचार न हो सका। अधिकांश वैज्ञानिक उसका विरोध ही करते रहे। इस विषय में पूर्ण सफलता आगे चलकर डारविन को हुई। उसने अपने समय के सब वैज्ञानिकों से बढ़कर काम किया। उसने अपने 'योनियों की उत्पत्ति' नामक ग्रन्थ के द्वारा विज्ञानक्षेत्र में एक नवीन युग उपस्थित कर दिया। उसके सिद्धान्त से सृष्टिसम्बन्धी बहुत सी समस्याओं का समाधान हो गया। प्राणिविज्ञान के भिन्न भिन्न विभागों में जिन जिन बातों का पता लगा था सबका सामंजस्य डारविन ने अपने उत्पत्ति सिद्धान्त में किया। यही नहीं, उसने एक रूप के जीव से वंशपरम्पराक्रम द्वारा दूसरे रूप के जीव में परिणत होने का जो कारण 'ग्रहण क्रिया' है उसका भी पता लगाया। उसने दिखाया कि जिस प्रकार मनुष्य कुछ विशेषता रखनेवाले जन्तुओं को चुनकर उनसे एक नए प्रकार की नसलें पैदा करता है उसी प्रकार प्रकृति भी रक्षा के लिए ऐसे जीवों को चुन लेती है जिसमें स्थिति के अनुकूल अंग आदि में विशेषता आ जाती है। इस प्रकार उसने प्राकृतिक 'ग्रहण सिद्धान्त' की स्थापना की[1]।

जीवविज्ञान में डारविन ने इस बातपर बहुत जोर दिया कि जन्तुओं और

---

1. इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि जिस स्थिति में जो जीव पड़ जाते हैं उस स्थिति के अनुरूप यदि वे अपने को बना सकते हैं तो रह सकते हैं अन्यथा नहीं; जितने जीवों के अंग आदि स्थिति के अनुकूल बन जाते हैं उतने रह जाते हैं, जिनके नहीं बनते वे नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् प्रकृति इस प्रकार चुने हुए जीवों को रक्षा के लिए ग्रहण करती है। स्थिति के अनुकूल बनने की क्रिया के कारण ही जीवों के अंगों में भिन्नता आती है और भिन्न भिन्न रूप के जीव उत्पन्न होते हैं। यह प्राकृतिक नियम है कि स्थितिपरिवर्तन के अनुरूप किसी वर्ग के कुछ जीवों में यदि औरों से कोई विशेषता उत्पन्न हो जाती है तो वह विशेषता पुश्त दर पुश्त चली चलती है। इस रीति से उस वर्ग में एक नए ढाँचे के जन्तु का विकास हो जाता है। जन्तुव्यवसायी प्रायः ऐसा करते हैं कि किसी वर्ग के कुछ जन्तुओं में कोई विलक्षणता देखकर उनको चुन लेते हैं, और उन्हीं के जोड़े लगाते हैं। फिर उन जोड़ों से जो जन्तु उत्पन्न होते हैं उनमें से भी उन्हें चुनते हैं जिनमें वह विलक्षणता अधिक होती है। इस रीति से वे कुछ पुश्तों के पीछे एक नए ढाँचे का जन्तु ही उत्पन्न कर लेते हैं, जैसे जंगली नीले (गोले) कबूतर से अनेक रंग और ढंग के पालतू कबूतर बनाए गए हैं। यह तो हुआ कुछ मनुष्य का चुनाव या 'कृत्रिम ग्रहण'। इसी प्रकार का चुनाव या ग्रहण प्रकृति भी करती है जिसे 'प्राकृतिक ग्रहण' कहते हैं। दोनों में अन्तर यह है कि मनुष्य अपने लाभ के विचार से जन्तुओं को चुनता है पर प्रकृति का यह चुनाव जीवों के लाभ के लिए होता है। प्रकृति उन्हीं जीवों को रखने के लिए चुनती या रहने देती है जिनमें स्थितिपरिवर्तन के अनुकूल अंग आदि हो जाते हैं। ह्वेल को लीजिए। उसके गर्भ की अवस्थाओं का अन्वीक्षण करने से पता चलता है कि वह स्थलचारी जन्तुओं से उत्पन्न हुआ है, उसके पूर्वज पानी के किनारे दलदलों के पास रहते थे फिर क्रमशः ऐसी अवस्था आती गई जिससे उनका जमीन पर रहना कठिन होता गया और स्थितिपरिवर्तन के अनुसार उनके अवयवों में फेरफार होता गया, यहाँतक कि कुछ काल पीछे उनकी सन्तति में जल में रहने के उपयुक्त अवयवों का विधान हो गया, जैसे उनके अगले पैर मछली के परों के रूप के हो गए, यद्यपि उनमें हड्डियाँ वे ही बनी रहीं →

उद्भिदों की उत्पत्तिपरम्परा स्थिर कर दी जाय। किस प्रकार एक प्रकार के जीवों से उत्तरोत्तर अनेक प्रकार के जीवों की सृष्टि होती गई इसका क्रम निर्धारित कर दिया जाय। तदनुसार सन् 1866 में मैंने इस विषयपर एक पुस्तक लिखकर इस बात का प्रयत्न किया। पहले एक विशिष्ट रूप के जीव को लेकर मैंने यह दिखलाया कि किस प्रकार गर्भावस्था में क्रमशः उसके विविध अंगों का स्फुरण होता है, फिर यह निर्धारित किया कि किस क्रम से सजीवसृष्टि में उत्तरोत्तर भिन्न भिन्न रूपों, योनियों का विधान हुआ है। विकास से पहले गर्भ का उत्तरोत्तर स्फुरण ही समझा जाता था। पर मैंने यह स्थिर किया कि गर्भ के उत्तरोत्तर क्रमविधान के अनुसार ही जीववर्गों का भी उत्तरोत्तर क्रमविधान हुआ है। जिस क्रम से भ्रूण गर्भ के भीतर एक अणुजीव से एक रूप के उपरान्त दूसरे रूप को प्राप्त होता हुआ पूरा सावयव जन्तु हो जाता है उसी क्रम से एकघटक अणुजीव से भिन्न भिन्न रूपों के छोटे बड़े जीवों की उत्पत्ति होती गई है। अस्तु, दोनों प्रकार के विकास समान नियमों के अनुसार होते हैं। गर्भविधान या व्यक्तिदिकास विधान वर्गविकास विधान की संक्षिप्त उद्धरणी है जो प्रजनन और संरक्षण क्रियाओं के अनुसार होती है। सारांश यह कि व्यक्ति विकास और वर्ग विकास का क्रम एक ही है।

उपर्युक्त सिद्धान्त की व्यापकता का आभास लामार्क ने 1809 में ही दे दिया था। उसने यह दिखा दिया था कि मनुष्य भी जीवों की उस शाखा से उत्पन्न हुआ है जिस शाखा से और सब स्तन्यजीव और स्तन्यजीव भी उसी कांड से निकले हैं जिस कांड से और सब रीढ़वाले जन्तु। उसने यहाँ तक कहा कि मनुष्य का बनमानुस से निकलना दिखाया जा सकता है। डारविन भी इस सिद्धान्त पर पहुँचा था पर उसने अपना यह मत बहुत दिनों तक प्रकट नहीं किया। अन्त में सन् 1871 में 'मनुष्य की उत्पत्ति' नामक ग्रन्थ में उसने अपना मत अत्यन्त दृढ़ प्रमाणों से सिद्ध करके प्रकाशित किया।

इस बनमानुसी सिद्धान्त के सम्बन्ध में सबसे कठिन कार्य अब यह रह गया

---

→ जो घोड़े, गदहे आदि के अगले पैर में होती हैं। कई प्रकार के ह्वेलों में पिछली टाँगों का चिह्न अब तक मिलता है।

जीवों के ढाँचों में बहुत कुछ परिवर्तन तो अवयवों के न्यूनाधिक व्यवहार के कारण होता है। अवस्था बदलनेपर कुछ अवयवों का व्यवहार अधिक करना पड़ता है और कुछ का कम। जिनका व्यवहार अधिक होने लगता है वे वृद्धि को प्राप्त होने लगते हैं और जिनका कम होने लगता है वे दब जाते हैं। मनुष्य ही को लीजिए, जिसकी उत्पत्ति बनमानुसों से धीरे धीरे हुई है। ज्यों ज्यों दो पैरों के बल खड़े होने और चलने की वृत्ति अधिक होती गई त्यों त्यों उसके पैर चिपटे, चौड़े और कुछ दृढ़ होते गए और एँड़ी पीछे की ओर कुछ बढ़ गई। बनमानुस से मनुष्य में ढाँचे आदि का बहुत अधिक विभेद नहीं हुआ। एक ही ओर बहुत अधिक विशेपता हुई; उसके अन्तःकरण या मस्तिष्क की वृद्धि अधिक हुई।

कि मनुष्य के सबसे निकटस्थ पूर्वजों और फिर उनके पहले के और प्राचीन पूर्वजों का पता चलाया जाय जो पृथ्वी के अत्यन्त प्राचीन युग में थे और जिनका विकास करोड़ों वर्ष में हुआ था। मैं इस प्रकार की पूर्वज परम्परा दिखाने का प्रयत्न बराबर करता रहा। अन्त में सन् 1891 में मैंने अपने ग्रन्थ का जो संस्करण निकाला उसमें भूगर्भपंजरपरीक्षा, गर्भविज्ञान और शरीरविज्ञान के प्रमाणों के आधार पर जीवों की विकासपरम्परा निश्चित की। भूगर्भ की खोदाई और छानबीन से पीछे जो और ठठरियाँ मिलीं उनसे मेरे निश्चित क्रम की ओर भी पुष्टि हुई। इस प्रकार गर्भविज्ञान और शरीरविज्ञान के आधारपर जो जीवोत्पत्ति परम्परा अर्थात् किस प्रकार के जीव से किस प्रकार के दूसरे जीव उत्पन्न हुए, निर्धारित हुई थी उसका सामंजस्य भूगर्भ में मिली हुई अप्राप्य जीवों की ठठरियों से पूरा पूरा हो गया। संक्षेप में यह परम्परा इस प्रकार है–

सबसे पहले आदिम मत्स्य, फिर फेफड़ेवाले मत्स्य[1], फिर जलस्थलचारी जन्तु मेंढक आदि सरीसृप, और स्तन्य जन्तु। स्तन्य जीवों में अंडजस्तन्य सबसे पहले हुए, फिर उन्हींसे क्रमशः थैलीवाले अजरायुज पिंडज और जरायुज जन्तु उत्पन्न हुए। इन जरायुजों से ही किंपुरुष निकले जिनमें पहले बन्दर फिर बनमानुस उत्पन्न हुए। पतली नाकवाले बनमानुसों में पहले पूँछवाले कुक्कुराकार बनमानुस हुए, फिर उनसे बिना पूँछवाले नराकार बनमानुस हुए। इन्हीं नराकार बनमानुसों की किसी शाखा से बनमानुसों के से गूँगे मनुष्यों की उत्पत्ति हुई।

रीढ़वाले जन्तुओं के उत्पत्तिक्रम की शृंखला तो इस प्रकार मिल जाती है पर उनसे पहले के बिना रीढ़वाले जन्तुओं की शृंखला मिलाना कठिन है। भूगर्भ के भीतर उनका कोई चिह्न नहीं मिल सकता; इससे प्राग्जन्तुविज्ञान[2] कुछ सहायता नहीं दे सकता। पर तारतम्यिक शरीरविज्ञान और गर्भविज्ञान आदि के प्रमाणों पर हम इस शृंखला को मूलतक ले जा सकते हैं। हम यह दिखला सकते हैं कि मनुष्य का भ्रूण भी दूसरे रीढ़वाले जन्तुओं के भ्रूण के समान कुछ दिनोंतक सूत्रदंड अवस्था में; जब कि रीढ़ के स्थान में सूत की तरह लचीली शलाका होती है, रहता है। अतः जीव सृष्टि के नियमानुसार[3] हम निश्चित कर सकते हैं कि पूर्वकाल के जीव सूत्रदंड और द्विकलघट

---

1. इस प्रकार की मछलियाँ अब बहुत कम मिलती हैं; आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अमेरिका में दो तीन जातियाँ पाई जाती हैं। ये मछलियों और मेंढक आदि जलस्थलचारी जन्तुओं के बीच में हैं।
2. भूगर्भ के भीतर प्राचीन जन्तुओं के चिह्नों की खोज करने वाली विद्या।
3. यह नियम कि गर्भ के बढ़ने का क्रम और एक जीव से दूसरे जीव के उत्पन्न या विकसित होने का क्रम एक ही है। गर्भ में भ्रूण जिस एक मूलरूप से क्रमशः जिन दूसरे रूपों में होता हुआ कुछ महीनों में एक विशेष रूप का होकर तैयार हो जाता है सृष्टि में भी उसी एक मूल रूप से उन्हीं दूसरे रूपों में होती हुई अनेक योनियाँ क्रमशः उत्पन्न हुई हैं। अन्तर इतना ही है कि मछली से मनुष्य होने में तो करोड़ों वर्ष लगे होंगे पर मत्स्याकार गर्भपिंड से नराकार शिशु होने में कुछ महीने ही लगते हैं।

रूप के रहे हैं। सबसे अधिक ध्यान देने की बात तो यह है कि मनुष्य का भ्रूण भी और प्राणियों के भ्रूण के समान आदि में एकघटक के रूप का ही होता है। यह एकघटक पिंड इस बात का पता देता है कि जीवसृष्टि के आदिम काल में एक घटक जीव ही रहे होंगे।

हमारे तत्त्वाद्वैतवाद की स्थापना के लिए बस इतना ही देखना काफी है कि मनुष्ययोनि बनमानुसयोनि से निकली है जो क्षुद्र मेरुदंड जीवों की परम्परा से विकसित हुई है। हाल में जो भूगर्भस्थपंजर मिले हैं उनसे इस बनमानुसी सिद्धान्त की पुष्टि अच्छी तरह हो गई है। जरायुज जन्तुओं के जो मांसभक्षी खुरपाद और किंपुरुष आदि भिन्न भिन्न वर्ग हैं उनकी परम्परा की शृंखला आजकल पाए जानेवाले जन्तुओं को देखने से ठीक ठीक नहीं मिलती थी। बीच में बहुत से स्थान खाली पड़ते थे। भूगर्भ की छानबीन से अब इन स्थानों की पूर्ति हो गई है, बहुत से ऐसे जन्तुओं के पंजर मिले हैं जो उपर्युक्त भिन्न भिन्न वर्गों के मध्यवर्ती जन्तु थे। इन जन्तुओं को किसी एक वर्ग में रखना कठिन जान पड़ता है क्योंकि इनमें भिन्न भिन्न वर्गों के लक्षण मिलेजुले हैं। पूर्ण जरायुज अवस्था में आने के पहले की अवस्था के जो क्षुद्र जीव (पंजर) मिले हैं उनमें खुरपाद, मांसभक्षी आदि वर्गों के लक्षण मिलेजुले हैं। सबके पंजरों का ढाँचा एक सा है, सब 44 दाँतवाले हैं, सबका आकार छोटा तथा मस्तिष्क की बनावट अपूर्ण है। तीस लाख वर्ष पहले ये जीव इस पृथ्वी पर थे। जीवसृष्टि क्रम के विचार से कहा जा सकता है कि ये पूर्वजरायुज जन्तु भी थैलीवाले मांसभक्षी क्षुद्र जन्तुओं से जरायु की विशेषता उत्पन्न हो जाने के कारण निकले हैं।

भूगर्भ की छानबीन से सबसे काम की चीजें जो मिली हैं वे किंपुरुषवर्ग के जन्तुओं के पंजर हैं। पहले इन जन्तुओं के पंजर नहीं मिलते थे। पर अब बहुत से मिल गए हैं। सबसे महत्त्व का जो पंजर मिला है वह जावाद्वीप के बानराकार मनुष्य का है जो 1894 में मिला था। उसे न हम ठीक ठीक बनमानुस का पंजर कह सकते हैं, न मनुष्य का। जिस जीव का वह पंजर है वह बनमानुष और मनुष्य के बीच का जीव था। ऐसे जीव की खोज बहुत दिनों से थी। जावा के इस बानराकार नरपंजर के मिलने से मनुष्य का बनमानुस से क्रमशः निकलना प्राग्जन्तुविज्ञान द्वारा भी उसी निश्चयात्मकता के साथ सिद्ध हो गया जिस निश्चयात्मकता के साथ शरीरविज्ञान और गर्भविज्ञान द्वारा सिद्ध था। अस्तु, मनुष्यजाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तीनों प्रकार के प्रमाणों की एकरूपता हो गई।

छठाँ प्रकरण

# आत्मा का स्वरूप

'आत्मा की क्रिया' या मानसिक व्यापार[1] से जिन व्यापारों का ग्रहण होता है वे जिस प्रकार अत्यन्त कौतूहलप्रद और महत्त्व के हैं उसी प्रकार अत्यन्त जटिल और दुर्बोध हैं। प्रकृति का परिज्ञान आत्मा के व्यापार का ही अंग है और इस व्यापार की यथार्थता पर ही जन्तुविज्ञान, सृष्टिविज्ञान आदि अवलम्बित हैं इसलिए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मनोविज्ञान आत्मा के व्यापारों का बोध करानेवाला शास्त्र और सब विज्ञानों का आधारस्वरूप है या यों कहिए कि वह दर्शन, शरीरविज्ञान, जन्तुविज्ञान, आदि का अंग ही है।

मनोविज्ञान के सिद्धान्त के वैज्ञानिक रूप से प्रतिपादन में बड़ी भारी अड़चन यह पड़ती है वह बिना शरीर के भीतरी अवयवों, विशेषकर मस्तिष्क का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त किए ठीक ठीक हो नहीं सकता। पर अधिकांश मनोविज्ञानी आत्मा के व्यापारों के विधायक अवयवों का बहुत कम परिज्ञान रखते हैं। इसीसे दर्शन और मनोविज्ञान में जितना मतभेद देखा जाता है उतना और किसी विज्ञान में नहीं।

जिसे आत्मा कहते हैं वह, मेरी समझ में, एक प्राकृतिक व्यापार मात्र है। अतः मनोविज्ञान को मैं आधिभौतिक शास्त्रों की ही एक शाखा और शरीरविज्ञान का ही एक अंग समझता हूँ। मैं इस बात को जोर देकर कहता हूँ कि इस विज्ञान के तत्त्वों का अन्वेषण भी उन्हीं प्रणालियों से हो सकता है जिन प्रणालियों से और विज्ञानों के तत्त्वों का हो सकता है। पहले तो हमें प्रत्यक्षानुभव से परीक्षा करनी चाहिए, फिर विकाससिद्धान्त का आरोप करना चाहिए। इसके उपरान्त शुद्ध तर्क के आधार पर चिन्तन करना चाहिए। मनोविज्ञान के सम्बन्ध में पहले द्वैत और तत्त्वाद्वैत सिद्धान्तों

1. यद्यपि न्याय और वैशेषिक ने आत्मा के जो लक्षण कहे हैं वे मानसिक व्यापारों से भिन्न नहीं जान पड़ते पर शेष दर्शनों के समान उन्होंने भी अन्तःकरण या मन से आत्मा को भिन्न माना है। हैकल ने आधिभौतिक दृष्टि से अन्तःकरण को ही आत्मा माना है।

का थोड़ा वर्णन कर देना आवश्यक है।

मानसिक व्यापार के सम्बन्ध में साधारण विश्वास, जिसका हमें खंडन करना है, यह है कि शरीर और आत्मा दो पृथक् पृथक् सत्ताएँ हैं। ये दोनों सत्ताएँ एक दूसरे से सर्वथा पृथक् पृथक् रह सकती हैं, यह आवश्यक नहीं कि दोनों संयुक्त ही रहें। यह सावयव शरीर नश्वर और भौतिक है अर्थात् कललरस तथा उसके विकारों के रासायनिक योग से संघटित है। पर आत्मा अमर तथा भूतों से परे एक ऐसी स्वतन्त्र सत्ता है जिसके गूढ़ व्यापार बोधगम्य नहीं हैं। यह मत आध्यात्मिक पक्ष का है, इसके विरुद्ध जो मत है वह आधिभौतिक पक्ष का कहा जा सकता है। यह आध्यात्मिक मत सर्वातीतवादी है क्योंकि यह ऐसी शक्तियों का अस्तित्व मानता है जो विना भौतिक आश्रय के काम करती हैं। इसके अनुसार प्रकृति से परे और वाह्य एक अभौतिक आध्यात्मिक जगत् है जिसका हमें कुछ भी अनुभव नहीं और जिसका कुछ भी ज्ञान हम भौतिक परीक्षाओं द्वारा नहीं प्राप्त कर सकते।

यह 'आध्यात्मिक जगत्', जो भूतात्मक जगत् से सर्वथा स्वतन्त्र माना गया है और जिसके आधार पर द्वैतवाद खड़ा किया गया है, कवि कल्पना मात्र है। यही बात 'आत्मा के अमरत्व' सम्बन्धी विश्वास के विषय में भी कही जा सकती है जिसकी असारता आगे चलकर दिखाई जायगी। यदि अध्यात्मवादियों के विश्वास का कोई दृढ़ आधार होता तो मानसिक व्यापार प्रकृति या परमतत्त्व के नियमाधीन न होते। दूसरी बात यह कि प्रकृति के नियमबन्धनों से मुक्त सत्ता यदि मानी जाय तो यह आवश्यक है कि वह सृष्टि के पिछले कल्प में ही प्रकट हुई होगी जब कि मनुष्य आदि उन्नत जीवों का प्रादुर्भाव हो चुका होगा; क्योंकि भूतों से परे आत्मा की धारणा मनुष्य आदि कि मानसिक व्यापारों को देख कर ही हुई है।[1] आत्मा की इच्छा किसी प्रकार के नियमों से बद्ध नहीं है, सर्वथा स्वतन्त्र है, यह मत भी भ्रान्त है।

हमारे प्राकृति निरूपण के अनुसार आत्मा की क्रिया द्रव्यशक्तिसम्भूत ऐसे व्यापारों का संघात है जो और प्राकृतिक व्यापारों के समान एक विशिष्ट भौतिक आधार पर अवलम्बित है। समस्त मनोव्यापारों के इस आधारभूत द्रव्य को हम मनोरस कहेंगे। कारण यह है कि रासायनिक विश्लेषण के द्वारा परीक्षा करने पर यह उसी कोटि का द्रव्य ठहरता है जिस कोटि के द्रव्य कललरस[2] विशिष्ट कहलाते हैं। ये

---

1. भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने मनुष्य से लेकर कीटपतंग तक में आत्मा को माना है। डेकार्ट आदि कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने मनुष्य में ही 'आत्मा' मानी है, पश्वादिकों में नहीं।
2. कललरस प्रोटोप्लाज्म एक चिपचिपा कुछ दानेदार पदार्थ है जो जीवन का मूल द्रव्य समझा जाता है। प्राणियों और उद्भिदों के सूक्ष्म घटक इसी के होते हैं। आहारग्रहण, वृद्धि स्वेच्छा गति, संवेदन आदि व्यापार इसमें पाए जाते हैं। रसायनिक विश्लेषण द्वारा यह कललरस आक्सीजन, डाइड्रोजन, नाइट्रोजन और कारबन के विलक्षण अण्वात्मक योग से संघटित पाया जाता है। जल और लवण का भी इसमें मेल रहता है। पर संयोजक मूल द्रव्यों को जान लेने पर भी मनुष्य कललरस नहीं बना सका है।

द्रव्य अंडसाररस और अंगारक[1] के रासायनिक संयोग से बनते हैं और समस्त चेतन व्यापारों के मूल हैं। उन्नत जीवों में जिन्हें संवेदनसूत्रजाल और अनुभवात्मक इन्द्रियाँ होती हैं उपर्युक्त मनोरस से ही संवेदनसूत्ररस अर्थात् संवेदनसूत्र निर्मित करनेवाली धातु का विधान होता है। इस विषय में हमारा यह निरूपण भौतिक है। इसे प्राकृतिक और परीक्षात्मक भी कह सकते हैं क्योंकि विज्ञान ने अभी तक किसी ऐसी शक्ति का अस्तित्व नहीं प्रतिपादित किया है जिसका कुछ भौतिक आधार न हो। प्रकृति से परे किसी आध्यात्मिक जगत् का पता नहीं लगा है।

और प्राकृतिक व्यापारों के समान मनोव्यापार या आत्मव्यापार भी परमतत्त्व या मूलप्रकृति के अटल और सर्वव्यापक नियम के अधीन हैं। एकघटक अणुजीवों तथा दूसरे अत्यन्त क्षुद्रकोटि के जीवों में जो मनोव्यापार देखे जाते हैं—जैसे उनका संक्षोभ, उनकी संवेदना, उनकी प्रतिक्रिया[2] उनकी आत्मरक्षण प्रवृत्ति इत्यादि वे घटक के भीतर के कललरस की क्रिया के अनुसार अर्थात् वंशपरम्परा और स्थितिसामंजस्य द्वारा उपस्थित भौतिक और रासायनिक विकारों के अनुसार ही होते हैं। यही बात मनुष्य तथा दूसरे उन्नत प्राणियों के उन्नत मनोव्यापारों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है क्योंकि वे ऊपर कहे हुए क्षुद्र मनोव्यापारों ही से क्रमशः स्फुरित हुए हैं। उनमें जो पूर्णता आई है वह अधिक मात्रा में समन्वय होने के कारण—उन व्यापारों की विशेष संगति और योजना के कारण जो पहले पृथक् पृथक् थे। सारांश यह कि क्षुद्रकोटि के मनोव्यापारों और उन्नत कोटि के मनोव्यापारों में—मनुष्यबुद्धि और पशुबुद्धि में केवल न्यूनाधिक का भेद है, वस्तुभेद नहीं।

प्रत्येक विज्ञान का पहला काम यह है कि जिस वस्तु के सम्बन्ध में उसे अन्वेषण करना हो उसकी स्पष्ट परिभाषा या व्याख्या कर ले। पर मनोविज्ञान के सम्बन्ध में यह प्रारम्भिक कार्य अत्यन्त कठिन है। सबसे विलक्षण बात यह है कि मनोविज्ञान के सम्बन्ध में आज तक नए पुराने दार्शनिकों ने जो मत प्रकट किए हैं उनका परस्पर

---

1. एक गाढ़ा चिपचिपा पदार्थ जो अंडों की जर्दी, जीवों के रक्त आदि में रहता है। यह आक्सीजन, कारबन, नाइट्रोजन और हाइड्रोजन और कुछ गन्धक के मेल से बना होता है।
2. क्षुद्र जीवों के शरीर पर बाहरी सम्पर्क या उत्तेजन से उत्पन्न क्षोभ प्रवाह के रूप में कललरस के अणुओं द्वारा भीतर केन्द्र में पहुँचता है और वहाँ से प्रेरणा के रूप में बाहर की ओर पलट कर शरीर में गति उत्पन्न करता है। वस्तु सम्पर्क के प्रति यह एक प्रकार की अचेतन क्रिया है जो ज्ञानकृत वा इच्छाकृत नहीं होती, केवल कललरस के भौतिक और रासायनिक गुणों के अनुसार होती है, जैसे छूने से लजालू की पत्तियों का सिमटना, उँगली रखने से क्षुद्र कीटों का अंग मोड़ना इत्यादि। चेतना विशिष्ट मनुष्य आदि बड़े जीवों में भी यह अचेतन प्रतिक्रिया होती है। उनमें क्षोभ अन्तर्मुख संवेदनसूत्रों द्वारा भीतर की ओर जाता है पर मस्तिष्क तक नहीं पहुँचता बीच ही से मेरुरज्जु या किसी और स्थान से पलट पड़ता है। आँख के पास किसी वस्तु के आते ही पलकें आप से आप, बिना इच्छा या संकल्प के, गिर पड़ती हैं।

विरोध देखकर बुद्धि चकरा जाती है। आत्मा क्या है? इन्द्रियानुभव और भावना में क्या अन्तर है? मन में कोई बात किस प्रकार उपस्थित होती है? बुद्धि और विचारों में क्या अन्तर है। मनोवेगों राग, द्वेष, क्रोध आदि का वास्तविक रूप क्या है? अन्तःकरण की इन समस्त वृत्तियों का शरीर से क्या सम्बन्ध है? इन अनेक प्रश्नों के तथा इसी प्रकार के और प्रश्नों के जो उत्तर दार्शनिकों ने दिए हैं वे परस्पर विरुद्ध हैं। यही नहीं, एक ही वैज्ञानिक वा दार्शनिक ने पहले कुछ और विचार प्रकट किया, पीछे और। इस प्रकार मनोविज्ञान भानमती का पिटारा बन गया है। जितनी गड़बड़ी इस विज्ञान में दिखाई देती है उतनी और किसी में नहीं।

कुछ दृष्टान्त लीजिए। जरमनी के सबसे प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने पहले अपनी युवावस्था में यह स्थिर किया कि परोक्षवाद के तीन बड़े विषय–ईश्वर, आत्मस्वातन्त्र्य और आत्मा का अमरत्व–शुद्धबुद्धि[1] के निरूपण से असिद्ध हैं। पीछे वृद्धावस्था में उसी ने यह कहा कि ये तीनों बातें व्यवसायात्मिका बुद्धि[2] के स्वयंसिद्ध निरूपण हैं और अनिवार्य हैं। इसी प्रकार विरचो और रेमण्ड नामक प्रसिद्ध जरमन वैज्ञानिकों ने पहले बहुत दिनों तक भूतातिरिक्त शक्ति, शरीर और आत्मा की पृथक् भावना आदि का घोर विरोध किया, पर पीछे उन्होंने चेतना को भूतातिरिक्त व्यापार कहा।

अन्तःकरण की वृत्तियों की, विशेषतः चेतना की, परीक्षा के लिए वैज्ञानिक अनुसंधानप्रणाली में कुछ फेरफार करना पड़ता है। वैज्ञानिक अनुसंधान बहिर्मुख दृष्टि से होती है अर्थात् उसमें मन अपने से भिन्न विषयों का निरीक्षण और विचार करता है। मनोव्यापारों के अनुसंधान में हमें इन बहिर्मुख निरीक्षण के अतिरिक्त अन्तर्मुख निरीक्षण या आत्मनिरीक्षण भी बहुत अधिक करना पड़ता है। इस स्वानुभूति या आत्मनिरीक्षण में मन अपना ही अर्थात् अपने ही व्यापारों का चेतना के दर्पण में निरीक्षण करता है[3]। अधिकांश मनोविज्ञानी केवल इसी आत्मनिश्चय या अहंकारवृत्ति

---

1. प्योर रीजन।
2. प्रैक्टिकल रीजन।
3. कांट आदि प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों ने स्वानुभूति या आत्मनिरीक्षण असम्भव कहा है। वे उसके सम्बन्ध में यह बाधा उपस्थित करते हैं–'निरीक्षण करने के लिए तुम्हारी बुद्धि को अपनी क्रिया रोकनी पड़ेगी और उसी क्रिया का तुम निरीक्षण किया चाहते हो। यदि तुम क्रिया रोकते हो तो निरीक्षण करने के लिए कोई वस्तु ही नहीं रह जाती'। यह बाधा तो आधिभौतिक मनोविज्ञानक्षेत्र की हुई जिसमें जैसे अन्तःकरण की और सब वृत्तियों का निरूपण होता है वैसे ही चेतना का भी। भारतीय दार्शनिकों ने भी मन की युगपत् क्रिया असम्भव बतलाई है, अर्थात् मन एक ही समय एक साथ दो व्यापारों में प्रवृत्त नहीं हो सकता, पर उन्होंने सब व्यापारों के द्रष्टा आत्मा को मन या अन्तःकरण से भिन्न माना है। अध्यात्म या परविद्या के क्षेत्र में भी आत्मबोध के सम्बन्ध में इस कठिनाई का सामना पड़ा है। चैतन्य या आत्मा ही ज्ञाता, द्रष्टा या विषयी है अतः अपने ज्ञान के लिए उसे ज्ञेय, दृश्य वा विषय होना पड़ेगा। पर न विषयी विषय हो सकता है, न विषय विषयी। शंकर स्वामी अपने भाष्य में कहते →

का अनुसरण करके चले हैं, जैसे डेकार्ट ने स्पष्ट कहा है कि 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ।' अतः पहले इस आत्मनिरीक्षण प्रणाली पर कुछ विचार करके तब हम दूसरी वाह्यनिरीक्षण प्रणाली की व्याख्या करेंगे।

इन दो हजार वर्षों के बीच आत्मा के सम्बन्ध में जितने सिद्धान्त उपस्थित किए गए हैं सब इसी अन्तर्मुख प्रणाली के अनुसार स्वानुभूति या आत्मनिरीक्षण के आधार पर। अपनी आत्मा में जिस प्रकार के अनुभव हुए उनकी संगति और आलोचना द्वारा किए हुए निश्चय ही दार्शनिक प्रकट करते रहे हैं।

बात यह है कि मनोविज्ञान के एक प्रधान अंग का विचार, विशेषकर चेतना के धर्म आदि का निरूपण, केवल इसी एक प्रणाली से हो सकता है। मस्तिष्क की एक वृत्ति (चेतना) विशेष रूप की है। इसके कारण जितने दार्शनिक भ्रम हुए हैं उतने और किसी वृत्ति के कारण नहीं। मन की इस स्वनिरीक्षण क्रिया को ही मनोविज्ञान के निरूपण का एकमात्र साधन समझना, जैसा कि बहुतेरे दार्शनिकों ने किया है, बड़ी भारी भूल है। मन के बहुत से व्यापारों का, जैसे इन्द्रियों और वाणी की क्रिया आदि का, निरूपण उसी रीति से हो सकता है जिस रीति से शरीर के और व्यापारों का, अर्थात् पहले तो भीतरी अवयवों की सूक्ष्म विश्लेषणपरीक्षा से और फिर उनके आश्रय से होनेवाले व्यापारों के जीवविज्ञानानुकूल निरीक्षण से। अतः बिना इस प्रकार के वाह्य निरीक्षण के केवल आत्मनिरीक्षण द्वारा निश्चित मनोव्यापार सम्बन्धिनी बातें पक्की नहीं समझी जा सकतीं। पर वाह्यनिरीक्षण की पूर्णता के लिए शरीरविज्ञान, अंगविच्छेदशास्त्र, शरीराणुविज्ञान[1], गर्भविज्ञान और जीवविज्ञान इत्यादि का यथावत् ज्ञान होना चाहिए। मनोविज्ञानवेत्ता कहलानेवालों में से अधिकांश का नरतत्त्वशास्त्र[2] की आधार स्वरूपिणी इन विद्याओं में कुछ भी प्रवेश नहीं होता। अतः वे अपनी आत्मा के गुण धर्म की विवेचना करने के भी अयोग्य हैं। एक और बात ध्यान में रखने की यह है कि इन मनोविज्ञानवेत्ताओं का अन्तःकरण एक सभ्यजाति के उन्नत अन्तःकरण का नमूना है जो अनेक पूर्ववर्त्ती अवस्थाओं में वंशपरम्पराक्रम से होता हुआ वर्तमान उन्नत अवस्था को प्राप्त हुआ है। अतः उसके गुणधर्म को ठीक ठीक समझने के लिए असंख्य क्षुद्र कोटि के पूर्वरूपों का विचार आवश्यक है। यह मैं मानता

---

→ हैं–'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिनोः स्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपत्तौ सिद्धायाम्...'। हर्बर्ट स्पेंसर ने भी यही कहा है–

शंकराचार्य ने तो यह कहकर उक्त बाधा दूर की कि चैतन्य वा आत्मा 'कूटस्थनित्यचैतन्यज्योति' है, वह ज्ञानस्वरूप है उसे ज्ञेय होने की आवश्यकता नहीं। पर हर्बर्ट स्पेंसर आदि पश्चिमी तत्त्ववेत्ताओं ने इसी विरोध को लेकर आत्मा, परमात्मा आदि को अज्ञेय ठहराया और संशय की स्थिति में रहना ही ठीक समझा।

1. हिस्टोलाजी
2. एन्थ्रापोलाजी

हूँ कि आत्मनिरीक्षण प्रणाली परम आवश्यक है, पर साथ ही और दूसरी प्रणालियों (वाह्यनिरीक्षण आदि) की सहायता भी निरन्तर अपेक्षित है[1]।

आधुनिक काल में ज्यों ज्यों मनुष्यों का ज्ञान बढ़ता गया और भिन्न भिन्न विज्ञानों की अनुसंधानप्रणाली पूर्णता को पहुँचती गई त्यों त्यों यह इच्छा बढ़ती गई कि उन विज्ञानों के निरूपण बिलकुल ठीक ठीक नपे तुले हों, उनमें रत्ती भर का भी बल न पड़े, अर्थात् व्यापारों का निरीक्षण जहाँ तक हो सके प्रत्यक्षानुभव के रूप में हो और जो नियम निरूपित किए जाएँ वे जहाँ तक हो सकें ठीक ठीक और स्पष्ट हों जैसे कि गणित के होते हैं। पर इस प्रकार का नपा तुला ठीक ठीक निरूपण कुछ थोड़े से शास्त्रों में ही सम्भव है, विशेषतः उन विद्याओं में जिनमें परिमेय, गिनती या माप के योग्य, परिमाण का विचार होता है, जैसे गणित में तथा ज्योतिष, कलाविज्ञान, भौतिकविज्ञान, और रसायनशास्त्र के बहुत से अंशों में। इसीसे ये सब विद्याएँ 'ठीक नपी तुली विद्याएँ' कहलाती हैं। पर समस्त भौतिक विद्याओं को बिलकुल ठीक और नपी तुली समझ कर उन्हें इतिहास, तर्क, आचारशास्त्र आदि से सर्वथा भिन्न कोटि में रखना भूल है। भौतिक विज्ञान का बहुत सा अंश ऐसा है जिसकी बातों को हम इतिहास की बातों से अधिक ठीक और नपी तुली नहीं कह सकते। यही प्राणिविज्ञान और उससे सम्बद्ध मनोविज्ञान के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। जब कि मनोविज्ञान शरीरविज्ञान का ही एक अंग है तब उसका निरूपण भी उसी प्रणाली से होना चाहिए जिस प्रणाली से शरीरविज्ञान का होता है। अस्तु, मनोविज्ञान में पहले तो हमें प्रत्यक्षानुभव प्रणाली का अनुसरण करके जहाँ तक हो सके इन्द्रिय, संवेदनसूत्र, मस्तिष्क आदि की क्रियाओं का निरीक्षण और परीक्षा करनी चाहिए, उसके पीछे फिर मन के व्यापारों का आत्मनिरीक्षण करके उनके नियमों को तर्क द्वारा स्थिर करना चाहिए। पर यह समझ रखना चाहिए कि इस प्रकार के नियम गणित के समान ठीक ठीक नाप तौल के साथ सर्वत्र नहीं स्थिर किए जा सकते। शरीरविज्ञान में केवल इन्द्रियों के व्यापारों का निरूपण गणित की रीति से कुछ हो सकता है, मस्तिष्क के और व्यापारों का नहीं।

प्राणिविज्ञान के एक छोटे से अंग का गणित की रीति से कुछ प्रतिपादन हो सका है और उसका नाम मनोभूतविज्ञान (साइकोफिजिक्स) रक्खा गया है। इस विज्ञान के प्रतिष्ठाता फेक्नर और वेवर नामक वैज्ञानिकों ने पहले यह पता लगाया कि सब प्रकार के इन्द्रियानुभव बाहरी विषयसम्पर्क की उत्तेजना पर निर्भर हैं और जिस हिसाब से विषयसम्पर्क की उत्तेजना घटती या बढ़ती है उसी हिसाब से इन्द्रियसंवेदन भी घटता या बढ़ता है। उन्होंने स्थिर किया कि कम से कम इतनी मात्रा की उत्तेजना

1. जो लोग समझते हैं कि आँख मूँदकर ध्यान या समाधि लगाने से भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल की बातें सूझने लगती हैं उन्हें इस पर ध्यान देना चाहिए।

होगी तभी इन्द्रियसंवेदन होगा, और प्राप्त उत्तेजना में इतनी मात्रा का अन्तर पड़ेगा तब संवेदन में कुछ अन्तर जान पड़ेगा। दर्शन, श्रवण, स्पर्श (दबाव) संवेदनों के विषय में यह निर्दिष्ट नियम है कि उनमें अन्तर उत्तेजना के सम्बन्ध के अन्तर के हिसाब से पड़ता है। अस्तु, फेक्नर ने अपने मनोभूतविज्ञान का एक प्रधान नियम स्थिर किया कि संवेदना की वृद्धि संख्योत्तर क्रम जैसे 2,4,6,8,10 से होती है और उत्तेजना की गुणोत्तर क्रम से जैसे, 2,4,8,16,32।[1] पर फेक्नर के ये भौतिक निरूपण सर्वांश में स्वीकृत नहीं हुए हैं। मनोभूतविज्ञान से जैसी सफलता की आशा की गई थी वैसी नहीं हुई। वह आगे नहीं बढ़ सका। उसका विस्तार बहुत ही थोड़ा है। उससे इतना अवश्य सिद्ध हुआ है कि कम से कम आत्मा के एक व्यापार पर भौतिक नियम घटाए जा सकते हैं। पर कहना यही पड़ता है कि मनोव्यापारों को तौलने का प्रयत्न निष्फल हुआ है, उससे कुछ विशेष परिणाम नहीं निकला है विज्ञान का लक्ष्य तो यही होना चाहिए कि सर्वत्र साध्य नहीं है। अतः जीवसृष्टि, मनोव्यपार आदि के सम्बन्ध में तारतम्यिक–परम्परा मिलान करने की; और गर्भविधान निरीक्षण, प्रणाली ही विशेष उपयोगी है।

मनुष्य और दूसरे उन्नत जन्तुओं जैसे कुत्ते, बन्दर आदि के मनोव्यापारों में जो विलक्षण सादृश्य है वह सब पर प्रकट है। प्राचीन दार्शनिक मनुष्य की आत्मा और पशु की आत्मा में कोई 'वस्तुभेद' नहीं समझते थे, केवल मात्राभेद समझते थे। ईसाई मत के कारण योरप में लोग मनुष्य की अमर आत्मा और पशु की नश्वर आत्मा में भेद मानने लगे। इस भेद पर डेकार्ट आदि द्वैतवादी दार्शनिकों ने और भी लोगों का विश्वास जमा दिया। डेकार्ट (सन् 1643) कहता था कि केवल मनुष्य ही को वास्तविक आत्मा है, मनुष्य ही में संवेदन और स्वतन्त्र इच्छा, प्रयत्न आदि होते हैं। पशु केवल जड़ मशीन के तुल्य हैं, उनमें किसी प्रकार की संवेदना या इच्छा, प्रयत्न आदि नहीं।[2] डेकार्ट के पीछे योरप में बहुत दिनों तक लोगों की यही धारणा रही।

---

1. मान लीजिए कि आँख पर पहले एक दरजे का प्रकाश पड़ा फिर तुरन्त 100 दरजे का अर्थात् उससे सौ गुना प्रकाश पड़ा और हमें एक विशेष अन्तर जान पड़ा। अब यदि एक दरजे के स्थान पर 2 दरजे का प्रकाश पहले पड़े तो फिर 200 दरजे का प्रकाश पड़ने से, अर्थात् दो का सौ गुना प्रकाश पड़ने से, उतना ही अन्तर जान पड़ेगा। इसी प्रकार 3 और 300 में वही अन्तर जान पड़ेगा। तात्पर्य यह कि पहली उत्तेजना जितनी गुनी अधिक होगी दूसरी के भी उतनी ही गुनी अधिक होने से उतना ही अन्तर जान पड़ेगा। 14 रत्ती का बोझ यदि हाथ पर (हाथ स्थिर और किसी वस्तु के आधार पर रहे) रक्खा जाय तो फिर उस पर एक रत्ती और रखने से बोझ में कुछ अन्तर न जान पड़ेगा। जब 5 रत्ती और रक्खा जायगा तब जान पड़ेगा। अब यदि पहले 30 रत्ती का बोझ रक्खा जाय तो फिर 5 रत्ती और रखने से अन्तर न जान पड़ेगा, 10 रत्ती और रखने से जान पड़ेगा। गुरुत्व और शब्द संवेदना में 3-4 का अन्तर पड़ने से भेद मालूम होता है, पेशी के तनाव में 15-16, दृष्टि में 100-101 का।
2. न्याय और वैशेषिक ने इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि को आत्मा का लिंग या लक्षण माना है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले भाग में जीवनसृष्टिविज्ञान और शरीरविज्ञान की उन्नति के साथ पशुओं के मनोव्यापारों की ओर तत्त्ववेत्ताओं का ध्यान गया। मूलर ने अपने शरीर विज्ञान के गूढ़ अन्वेषणों द्वारा पशुबुद्धिपरीक्षा का मार्ग सुगम कर दिया। डारविन के पीछे उसके विकाससिद्धान्त का प्रयोग मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी किया गया।

वुंट जरमनी के सबसे बड़े मनोविज्ञानवेत्ता हैं। और दार्शनिकों से उनमें यह विशेषता है कि उन्हें प्राणिविज्ञान, अंगविच्छेदशास्त्र और शरीरव्यापारविज्ञान का भी पूरा पूरा अभ्यास है। उन्होंने भौतिक विज्ञान और रसायन के नियमों का बहुत कुछ प्रयोग शरीरविज्ञान और उससे सम्बद्ध मनोविज्ञान के क्षेत्र में करके दिखाया है। 1863 में उन्होंने अपना 'मानव और पाशव मनोविज्ञान पर व्याख्यान' प्रकाशित किया और सिद्ध किया कि मुख्य मनोव्यापार 'अचेतन आत्मा' में होते हैं। वुंट ने मस्तिष्क के उन पुरजों को दिखाया जो आत्मा के अचेतन पट पर वाह्य विषय सम्पर्क से उत्पन्न उत्तेजना के प्रभावों को अंकित करते हैं। सबसे बड़ा काम वुंट ने यह किया कि उन्होंने वेगसम्बन्धी भौतिक नियम पहलेपहल मनोव्यापारों के क्षेत्र में घटाए और मनस्तत्त्व के प्रतिपादन में शरीरगत विद्युद्विधान की बहुत सी बातों का प्रयोग किया।

30 वर्ष पीछे 1892 में वुंट ने जब अपने ग्रन्थ का दूसरा परिवर्तित और संक्षिप्त संस्करण निकाला तब उसमें अपना सिद्धान्त एकदम बदल दिया। पहले संस्करण में जो महत्त्व के सिद्धान्त निरूपित किए गए थे वे सब परित्यक्त कर दिए गए और अद्वैत भाव के स्थान पर द्वैतभाव स्थापित किया गया। वुंट ने इस दूसरे संस्करण की भूमिका में साफ़ कहा है कि—'पहले संस्करण में जो भ्रम मुझसे हुए थे उनसे मैं मुक्त हो गया। कुछ दिनों पीछे जब मैंने विचार किया तब मालूम हुआ कि पहले जो कुछ मैंने कहा था वह सब युवावस्था का अविवेक था, वह मेरे चित्त में बराबर खटकता रहा और मैं जहाँ तक शीघ्र हो सके उस पाप से मुक्त होने के लिए देखता रहा।' इस प्रकार वुंट के ग्रन्थ के दो संस्करणों में किए हुए मनस्तत्वनिरूपण एक दूसरे के सर्वथा विरुद्ध हैं। पहले संस्करण के निरूपण तो सर्वथा भौतिक हैं और अद्वैतवाद लिये हुए हैं और दूसरे संस्करण के निरूपण आध्यात्मिक और द्वैतभावापन्न हैं। पहले में तो मनोविज्ञान को वुंट ने एक भौतिक विज्ञान मानकर उसका निरूपण उन्हीं नियमों पर किया है जिन नियमों पर शरीरविज्ञान के और सब अंगों का होता है। पर 30 वर्ष पीछे उन्होंने मनोविज्ञान को आध्यात्मिक विषय कहा और उसके तत्त्वों और सिद्धान्तों को भौतिक विज्ञान के तत्त्वों और सिद्धान्तों से सर्वथा भिन्न बतलाया। अपनी मनःशरीर सम्बन्धी व्याख्या में उन्होंने कहा है कि प्रत्येक मनोव्यापार का कुछ न कुछ सहवर्ती भौतिक या शारीरिक व्यापार अवश्य होता है, पर दोनों व्यापार सर्वथा स्वतन्त्र हैं, उनमें कोई प्राकृतिक कार्य कारण आदि सम्बन्ध नहीं। वुंट ने जो इस प्रकार शरीर और आत्मा को पृथक् बतलाकर द्वैतवाद का डंका बजाया

उससे दार्शनिक मण्डली में बड़ा आनन्द फैला। द्वैतवादी दार्शनिक यह देखकर कि इतना बड़ा और प्रसिद्ध वैज्ञानिक पहले विरुद्ध मत प्रकट करके पीछे अनुकूल मत प्रकाशित कर रहा है एक स्वर से कहने लगे कि मनोविज्ञान की उन्नति हुई। पर लगातार 40 वर्ष के अध्ययन के उपरान्त अब भी मैं उसी 'अविवेक' में पड़ा हूँ। लाख चेष्टा करने पर भी उससे मुक्त नहीं हो सका हूँ। अतः मैं जोर के साथ कहता हूँ कि जिसे वुंट ने अपनी युवावस्था का 'अविचार' कहा है वही सच्चा विचार है, वही सच्चा ज्ञान है। उस सच्चे विचार का समर्थन बुड्ढे दार्शनिक वुंट के मत के विरुद्ध मैं बराबर करता रहूँगा।

वुंट, कांट विरशो, रेमण्ड, बेयर इत्यादि का इस प्रकार अपने सिद्धान्तों को बदलना ध्यान देने योग्य है। युवावस्था में तो ये योग्य तत्त्ववेत्ता जीवविज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र में अत्यन्त विस्तृत अन्वेषण करते रहे और सब तत्त्वों की एक मूल प्रकृति ढूँढ़ने के प्रयत्न में लगे रहे, पर पीछे बुढ़ापा आनेपर उसे पूर्णतया साध्य न समझ इन्होंने अपना उद्देश्य ही परित्यक्त कर दिया—अपना रंग ही बदल दिया। इस परिवर्तन का कारण लोग यह कह सकते हैं कि युवावस्था में बुद्धि के अपरिपक्व होने के कारण इन्होंने सब बातों की ओर पूरा पूरा ध्यान नहीं दिया था, पीछे बुद्धि के परिपक्व होने पर और अनुभव बढ़ने पर इन्हें अपना भ्रम मालूम हुआ और इन्होंने वास्तविक ज्ञान का मार्ग पाया। पर यह क्यों न कहा जाय कि युवावस्था में अन्वेषण श्रम की शक्ति अधिक रहती है, बुद्धि अधिक निर्मल और विचार अधिक स्वच्छ रहता है, पीछे बुढ़ाई आने पर जैसे और सब शक्तियाँ शिथिल हो जाती हैं वैसे ही बुद्धि भी सठिया जाती है, जीर्ण हो जाती है। जो कुछ हो, पर वैज्ञानिकों का यह सिद्धान्त परिवर्तन मनोविज्ञान में मनन करने योग्य विषय है। इससे यह सूचित होता है कि जीवों के और व्यापारों के समान मनोव्यापार या आत्मव्यापार भी अपना रूप बदलते रहते हैं अर्थात् आत्मा भी सदा एकरूप नहीं रहती।

भिन्न भिन्न श्रेणियों के जीवों के मनोव्यापारों को परस्पर मिलान करनेवाली विद्या को तारतम्यिक मनोविज्ञान कहते हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि जिस प्रकार जीवसृष्टिविज्ञान[1] में जीवों की ऊँचीनीची परम्परा का क्रम स्थिर है उसी प्रकार मनोव्यापारों की ऊँचीनीची परम्परा का क्रम भी स्थिर किया जाय। ऐसा होने से ही हम समझ सकते हैं कि किस प्रकार एकघटक अणुजीव के क्षुद्र व्यापारों से लेकर मनुष्य के उन्नत मनोव्यापारों तक एक अखंडित शृंखला बँधी हुई है। मनोव्यापारों का यह श्रेणीभेद मनुष्य की भिन्न जातियों में भी परस्पर देखा जाता है। एक अत्यन्त असभ्य जाति के जंगली मनुष्य की बुद्धि में और एक अत्यन्त सभ्य जाति के मनुष्य की बुद्धि में बड़ा भारी भेद होता है। इसी भेदपरम्परा के अन्वेषण के विचार से असभ्य

1. जूलाजी।

बर्बर जातियों की जाँच की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है और मनोविज्ञान के तत्त्वों के निरूपण के लिए भिन्न भिन्न मनुष्य जातियों का विवरण बड़े काम का माना जाने लगा है।

मनोविज्ञान में आत्मा के क्रमविकास का निरीक्षण बहुत जरूरी है। इसके द्वारा जितनी जल्दी हम मिथ्या धारणाओं और भ्रमों को हटाकर आत्मवृत्तियों के यथार्थ रूप का आभास पा सकते हैं उतनी जल्दी और किसी प्रणाली के द्वारा नहीं। विकास के दो रूप मैं पहले बतला चुका हूँ—गर्भविकास और जातिविकास। आत्मा का गर्भविकास या स्फुरणक्रम देखने से यह पता चलता है कि किस क्रम से एक व्यक्ति की आत्मा गर्भकाल से लेकर बराबर वृद्धि को प्राप्त होती जाती है और किन नियमों के अनुसार उसका विधान होता है। शिशु का अन्तःकरण किस प्रकार क्रमशः पुष्ट और उन्नत होता जाता है। मातापिता, शिक्षक आदि अत्यन्त प्राचीन समय से देखते आ रहे हैं, पर उनके चित्त में आत्मा की पूर्णता, अमरता आदि की जो धारणा बँधी चली आ रही है उससे उनका देखना और न देखना बराबर हो जाता है। पर अब इधर कुछ दिनों से बालक की आत्मा के विकासक्रम का विचार होने लगा है। इस विषयपर पुस्तकें भी लिखी गई हैं।

पहले कहा जा चुका है कि जीवसृष्टि में गर्भविकास और जातिविकास का क्रम एक ही है। डारविन ने जीवों की भिन्नभिन्न योनियों के विकास की परम्परा का क्रम दिखाकर उसी क्रम से मनोवृत्तियों के विकास का होना भी दिखाया है। उसने अनेक प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है कि जन्तुओं की अन्तःप्रवृत्ति भी जीवों की और और बातों के समान वृद्धिपरम्परा के नियमाधीन है। विशेष विशेष जीवों में अन्तःप्रवृत्ति की जो विशेषता देखी जाती है वह स्थितिसामंजस्य या अवस्थानुरूप परिवर्तन के कारण होती है। यह विशेषता पैतृक परम्परा द्वारा बराबर आगे की पीढ़ियों में चली चलती है। जीवों की अन्तःप्रवृत्ति का निर्माण और संरक्षण भी उसी प्रकार ग्रहण सिद्धान्त[1] के नियमानुसार होता है जिस प्रकार और शारीरिक शक्तियों का। डारविन ने कई पुस्तकें लिखकर दिखया है कि 'मनोविकास' सम्बन्धी वे ही नियम समस्त जीवसृष्टि पर घटते हैं—क्या मनुष्य, क्या पशु, क्या उद्भिद्। जिस प्रकार भिन्न भिन्न जीवों की एक मूल से उत्पत्ति देखने से समस्त जीवसृष्टि की एकता प्रमाणित होती है उसी प्रकार अणुजीव से लेकर मनुष्य तक मनस्तत्त्व की एकता भी सिद्ध होती है।

रौमेंज ने डारविन के मनोविज्ञान को और प्रवर्द्धित किया। उसने दो ग्रन्थ विकासक्रमबद्ध मनोविज्ञान पर लिखे जो अपने ढंग से निराले हुए। पहला ग्रन्थ जन्तुओं के मनोविकास पर है। उसमें उसने क्षुद्र जन्तुओं के संवेदन व्यापार और अन्तःप्रवृत्ति

1. दे. प्रकरण पाँचवाँ।

से लेकर उन्नत जीवों की चेतना और बुद्धि तक की शृंखलाबद्ध परम्परा दिखाई है। दूसरे ग्रन्थ में उसने मनुष्य के अन्तःकरण का विकास और उसकी शक्तियों का उद्‌भव दिखाया है। उसमें पूर्णरूप से सिद्ध किया गया है कि मनुष्य और पशु के अन्तःकरण या आत्मा में कोई तत्त्वभेद नहीं है। मनुष्य में संकल्पविकल्पात्मक विचार और प्रत्याहार आदि करने की जो शक्ति है वह दूध पिलानेवाले मनुष्येतर जीवों के अकल्पनात्मक कोटि के अन्तःसंस्कारों से ही क्रमशः स्फुरित और विकसित हुई है। मनुष्य की बुद्धि, वाणी, और आत्मबोध आदि की उन्नत शक्तियाँ किंपुरुष, बनमानुस आदि पूर्वजों की मानसिक शक्तियों से उन्नत होते होते उद्‌भूत हुई हैं। मनुष्य की अन्तःकरण शक्ति और दूसरे जीवों की अन्तःकरण शक्ति में केवल मात्राभेद है, तत्त्वभेद नहीं। शक्ति वही है, पर मनुष्य में वह अधिक है और दूसरे जीवों में कम।

सातवाँ प्रकरण

# मनोविधान की श्रेणियाँ

विकाससिद्धान्त की सहायता से मनोविज्ञान ने इधर जो उन्नति की है उसके द्वारा समस्त जीवसृष्टि के मनस्तत्त्व की एकता पूर्णतया प्रतिपादित हुई है। तारतम्यिक मनोविज्ञान ने भी यह निश्चय दिला दिया है कि एकघटक अणुजीव से लेकर मनुष्यपर्यंत सब प्राणियों के जीवनव्यापार प्रकृति की उन्हीं मूल शक्तियों अर्थात् संवेदन और गति से उत्पन्न हुए हैं। अतः अब मनोविज्ञान के तत्त्वों का निरूपण दार्शनिकों के उन्नत अन्तःकरण की स्वानुभूति या आत्मनिरीक्षण के आधार पर ही नहीं होगा बल्कि जिन अनेक क्षुद्र या पाशव अवस्थाओं से क्रमशः काल पाकर मनुष्य के उन्नत अन्तःकरण की व्यवस्था हुई है उनकी सम्बन्धपरम्परा का भी पूर्ण विचार किया जायगा।

सम्पूर्ण मनोव्यापार शरीर के जीवनतत्त्वरूपी कललरस में होनेवाले परिवर्तनों के अनुसार होते हैं। हमने कललरस के उस अंश का नाम जो मनोव्यापारों का आधारस्वरूप प्रतीत होता है, मनोरस रक्खा है। हम उसकी कोई विशेष स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते। हम आत्मा या मन को कललरस के अन्तर्व्यापारों की समष्टि मात्र समझते हैं। इस निश्चय के अनुसार 'आत्मा' शब्द शरीर का एक विशेष धर्म सूचित करने के लिए एक भाववाचक संज्ञा मात्र है। मनुष्य तथा और दूसरे उन्नत जीवों में अवयवों और तन्तुओं के कार्यविभाग के अनुसार मनोरस अलग विभक्त होकर संवेदनग्राहिणी संवेदनसूत्रग्रन्थियों की धातु का रूप धारण करता है। क्षुद्र कोटि के जीवों और पौधों में जिन्हें संवेदना के लिए पृथक् और विशिष्ट सूत्र या अवयव नहीं होते, मनोरस इस प्रकार एक स्वतन्त्र रूप में विभक्त नहीं होता।

एकघटक अणुजीवों में मनोरस या तो घटक के समस्त कललरस ही को कहते हैं या उसके एक अंश को। उनमें संवेदनग्राही सूत्र आदि अलग नहीं होते। क्षुद्र से क्षुद्र और उन्नत से उन्नत मनोविधान में मनोधातु की कुछ रासायनिक योजना और भौतिक क्रिया के बिना 'आत्मा' का व्यापार नहीं उत्पन्न हो सकता। अणुजीवों की कललरसगत क्षुद्र संवेदना और गति से लेकर मनुष्य आदि उन्नत प्राणियों के जटिल

इन्द्रिय व्यापार और मस्तिष्क व्यापार तक, सबके विषय में यही नियम हैं। मनोरस की वह क्रिया जिसे हम 'आत्मा' कहते हैं, शरीर के द्रव्यवैकृत्य धर्म[1] से सम्बद्ध है।

समस्त जीव संवेदनग्राही हैं। वे अपने चारों ओर स्थित पदार्थों का प्रभाव ग्रहण करते हैं और अपने शरीर की स्थिति के कुछ परिवर्तनों द्वारा उन पदार्थों पर भी प्रभाव डालते हैं। प्रकाश और ताप, आकर्षण और विद्युदाकर्षण, रासायनिक क्रियाएँ और भौतिक व्यापार सबके सब संवेदनात्मक मनोरस में उत्तेजना या क्षोभ उत्पन्न करके उसके अण्वात्मक विधान में परिवर्तन उपस्थित करते हैं। मनोरस की इस संवेदना की क्रमशः पाँच अवस्थाएँ हैं–

1. जीवविधान की प्रारम्भिक अवस्था में समस्त मनोरस ही सर्वत्र समानरूप से संवेदनग्राही होता है और क्षोभकारक पदार्थ पर बाहर से प्रभाव डालता है। सबसे क्षुद्र कोटि के अणुजीव और बहुत से पौधे इसी अवस्था में रहते हैं।

2. दूसरी अवस्था वह है कि जिसमें शरीर के ऊपर विषयविवेकरहित इन्द्रियाभास कललरस के सुतड़ों या बिन्दियों के रूप में प्रकट होते हैं। ये स्पर्शेन्द्रिय और चक्षु के पूर्व रूप हैं जो कुछ उन्नत अणुजीवों तथा दूसरे क्षुद्र जन्तुओं और पौधों में देखे जाते हैं।

3. तीसरी अवस्था में इन्हीं मूलविधानों से विभक्त होकर अलग अलग कार्यों के उपयुक्त विशिष्ट इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इनमें रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय रासायनिक करण हैं अर्थात् रासायनिक क्रियाओं को ग्रहण करती हैं; स्पर्शेन्द्रिय, श्रवण और चक्षु भौतिक करण हैं अर्थात् इनसे कोमलता, कठोरता, शीत, उष्ण शब्द (वायुतरंग) तथा वर्ण और आकृति इत्यादि भौतिक गुणों और व्यापारों का ग्रहण होता है। इन 'इन्द्रियों की शक्ति' का कोई निहित मूलगुण नहीं है बल्कि कार्योपयुक्त परिवर्तन और वंशपरम्परागत उन्नतिक्रम के द्वारा प्राप्त होती है।

4. चौथी अवस्था में समस्त संवेदनविधानों अर्थात् इन्द्रियव्यापारों का एक स्थान पर समाहार होता है। विकीर्ण या भिन्न भिन्न स्थानों पर स्थित इन्द्रियव्यापारों को एक स्थान पर समाहार होने से अन्तःसंस्कार उत्पन्न होता है, अर्थात् इन्द्रियसंवेदनों के स्वरूप अंकित होते हैं। पर चेतन अन्तःकरण का विकास न होने के कारण उन स्वरूपों का कुछ बोध नहीं होता। यह अवस्था बहुत से क्षुद्र जन्तुओं की होती है।

5. पाँचवीं अवस्था में अंकित इन्द्रियसंवेदनों का प्रतिबिम्ब संवेदनसूत्रजाल या विज्ञानमयकोश के केन्द्रस्थल में पड़ता है जिससे अन्तःसाक्ष्य या स्वान्तर्वृत्तिबोध उत्पन्न होता

---

1. मेटाबालिज्म घटकों या तन्तुओं की वह क्रिया जिसके अनुसार वे रक्त द्वारा प्राप्त पोषक द्रव्यों को अपने अनुरूप रस या धातु में परिवर्तित कर लेते हैं या घटकस्थ कललरस को विश्लिष्ट करके ऐसे सादे द्रव्यों में परिणत कर देते हैं जो पाचनरस बनाने और मल निकालने में काम आते हैं।

है[1]। इस प्रकार चैतन्य की उत्पत्ति हो जाने पर जीव को अपने ही अन्तःकरण के व्यापारों का बोध होने लगता है। मनुष्य तथा दूसरे रीढ़वाले जन्तु इसी अवस्था के अन्तर्गत हैं।

समस्त जीवधारियों में 'स्वतःप्रवृत्त गति' की भी शक्ति होती है। सजीव मनोरस का कुछ ऐसा रासायनिक संयोग होता है कि कारण पाकर उसके अणु अपना स्थान बदलते हैं। इस प्रकार की सजीव गति कुछ तो हम आँखों से देख सकते हैं। यह गति पाँच अवस्थाओं में पाई जाती है–

1. जीवविधान की अत्यन्त क्षुद्र प्रारम्भिक अवस्था में, जैसे समुद्र के क्षुद्र उद्भिदाकार कृमियों आदि अत्यन्त निम्न श्रेणी के जीवों में केवल 'अंगवृद्धि की गति' देखी जाती है। हम उनके आकार की क्रमशः होनेवाली वृद्धि और परिवर्तन को देखकर ही इस गति का अनुमान कर सकते हैं।

2. बहुत से उद्भिदाकार सूक्ष्म जन्तु आगे की ओर एक लसीला पदार्थ निकाल कर शरीर ढालते हुए रेंगते या तैरते हैं।

3. बहुत से क्षुद्र समुद्री अणुजीव कभी घटस्थ वायु को निकाल कर और कभी तरलाकर्षण[2] शक्ति के द्वारा अपने गुरुत्व में अन्तर डाल कर पानी में नीचे जाते या ऊपर उठते हैं।

4. बहुत से पौधे, जैसे लजालू (लज्जालु) अपने शरीर के तनाव में फेरफार करके अपनी पत्तियों तथा और अवयवों को हिलाते हैं अर्थात् वे अपने घटस्थ कललरस के तनाव को घटा बढ़ाकर अपने अवयवों को सुकोड़ते या फैलाते हैं।

5. सजीव पदार्थों की सबसे अधिक ध्यान देने योग्य गति आकुंचन है। इसमें जीव के बाहरी अवयवों की स्थिति में जो अन्तर पड़ता है वह शरीरस्थ द्रव्यों के आकुंचन और प्रसारण द्वारा। यह आकुंचनात्मक गति चार प्रकार की देखी जाती है–

(क) जल में रहनेवाले अस्थिराकृति अणुजीवों की सी गति[3]।

---

1. अन्तःकरण से आत्मा को पृथक् मानने वाले यहीं से आत्मा का प्रादुर्भाव मान सकते हैं। आत्मा का नाम चैतन्य है।
2. द्रव पदार्थों में 'परस्पर मिलने की प्रवृत्ति जो अणुओं के परस्पर आकर्षण से सम्बन्ध रखती है।
3. इस प्रकार के अस्थिराकृति सूक्ष्म अणुजीव ताल या गड्ढों के बँधे जल में तथा समुद्र में होते हैं। इनका शरीर ही एक घटक का बना हुआ सूक्ष्म मधुबिन्दुवत् होता है। ये बहुत ही अच्छे खुर्दबीन से दिखाई पड़ सकते हैं। इनका आकार क्षण क्षण पर बदलता रहता है। इस आकार बदलने का कारण यह है कि ये चारों ओर कभी कभी, कहीं अपने शरीर से पैरों की तरह की अनेक शाखाएँ या पादांकुर निकाला करते हैं। इनके चलने की क्रिया इस प्रकार होती है कि ये एक ओर बड़ी सी शाखा या पादांकुर निकालते हैं फिर उसी ओर अपना सारा शरीर ढाल देते हैं। इस प्रकार शाखा निकालते और शरीर ढालते हुए ये आगे बढ़ते जाते हैं। इन जीवों की विशिष्ट इन्द्रियाँ नहीं होतीं।

→

(ख) घट के भीतर कललरस की वैसी ही गति या प्रवाह।

(ग) रोईं या सुतड़ेवाले अणुजीवों, शुक्रकीटाणुओं इत्यादि की कुटिल गति। ये जीव अपने रोइयों या सुतड़ों के सहारे जल या द्रव्य पदार्थ में रेंगते हैं।

(घ) मांसपेशियों[1] के संचालन की गति जो अधिकतर जन्तुओं में देखी जाती है।

संवेदन और गति के संयोग से जो मूल या आदिम मनोव्यापार उत्पन्न होता है उसे प्रतिक्रिया कहते हैं। इसमें गति चाहे किसी प्रकार की हो, संवेदन उत्पन्न करनेवाली विषयोत्तेजना के कारण होती है। इसीसे इसे उत्तेजित गति कहते हैं। कललरस में उत्तेजित होने का गुण होता है। जीव के चारों ओर स्थित पदार्थों में जो भौतिक या रासायनिक परिवर्तन उपस्थित होता है, कुछ अवस्थाओं में वह मनोरस को उत्तेजित करता है जिससे शरीर में गति का वेग छूट पड़ता है। जड़सृष्टि में भी इस प्रकार उत्तेजना पाकर वेग के छूटने का भौतिक व्यापार देखा जाता है, जैसे चिनगारी पड़ने से बारूद का भड़कना, ठोकर या आघात लगने से डाइनामाइट का भड़कना इत्यादि। जीवधारियों में जो प्रतिक्रिया होती है उन्नतिक्रम में उसकी सात अवस्थाएँ देखी जाती हैं—

1. जीवविधान की प्रारम्भिक अवस्था के सबसे क्षुद्र अणुजीवों में वाह्य जगत् की उत्तेजना, जैसे ताप, प्रकाश, विद्युत् आदि से कललरस में केवल वही गति उत्पन्न होती है जिसे अंगवृद्धि और पोषण कहते हैं और जो समस्त जीवधारियों में समान रूप से पाई जाती है। अधिकांश पौधों में भी ऐसा ही होता है।

2. डोलने फिरनेवाले अणुजीवों, जैसे अस्थिराकृति अणुजीवों में बाहर की उत्तेजना शरीरतल के प्रत्येक स्थान पर गति उत्पन्न करती है जिससे आकृति बदलती रहती है और स्थान भी बदलता है। यह आकृति परिवर्तन और हिलना डोलना शरीर में से क्षण क्षण पर कभी इधर कभी उधर चारों ओर पादांकुर या शाखाएँ निकलते और सिमटते रहने से होता है। ये जीव यथार्थ में कललरस के छींटे के रूप के ही

---

→ इनका शरीर झिल्ली के भीतर बन्द कललरस कणिका के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। कललरस के भीतर बिन्दु की तरह एक खाली स्थान होता है जो सुकड़ता और फैलता रहता है। इस आकुंचन और प्रसारण क्रिया से शरीर में प्राणवायु और आहार का संचार होता है। यह पाचन और रक्तसंचार का आदिम रूप है। बतलाने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे ही अनेक क्षुद्र अणुजीवों के योग से बड़े जन्तुओं के शरीर बने हैं। मनुष्य के रक्त में भी इसी प्रकार के अणुजीव होते हैं। इनका शरीर सर्वत्र एकरस होता है। जो कुछ व्यापार वे कर सकते हैं अपने रसविन्दुरूपी शरीर के प्रत्येक भाग से कर सकते हैं।

1. कंकाल से लगा हुआ मांस बहुत से सूक्ष्म टुकड़ों या ग्रन्थियों से बना होता है। इन अलग अलग ग्रन्थियों को पेशी कहते हैं। पेशियाँ कई आकार की होती हैं—कोई लम्बी, कोई पतली, कोई मोटी, कोई चौकोर और कोई तिकोनी। ये महीने सूतों से जुड़ी रहती हैं, यदि सूत हटा दिए जायँ तो ये अलग अलग हो जाती हैं। जितनी गतियाँ शरीर में होती हैं सब इन्हीं मांसपेशियों ही के द्वारा।

होते हैं अतः इनमें जो पादांकुर निकलते और मिटते रहते हैं वे स्थिर अवयव नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार की उत्तेजनग्राहकता से लजालू आदि पौधों तथा कई अनेक घटकों के योग से बने 'अनेकघटक' जीवों में भी प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। अनेकघटक जीवों में उत्तेजना एक घटक से हो कर फिर दूसरे घटक में जाती है क्योंकि ये घटक एक प्रकार के तन्तु से सम्बद्ध रहते हैं।

3. बहुत से उन्नत कोटि के अणुजीवों में दो अत्यन्त सादे अवयव या इन्द्रियाँ देखी जाती हैं। एक स्पर्श की इन्द्रिय और दूसरी गति की इन्द्रिय। ये दोनों करण (इन्द्रियाँ) भी कललरस के बाहर निकले हुए अंकुर मात्र हैं। स्पर्श की इन्द्रिय पर जो उत्तेजना पड़ती है वह घटकस्थ मनोरस द्वारा गति की इन्द्रिय तक पहुँचती है और उसे आकुंचित करती है। समुद्र में पाए जाने वाले रोईंदार अणुजीवों को लेकर यह व्यापार देखा जा सकता है। ये जीव अस्थिराकृति जीवों से कुछ बड़े अर्थात् 1/400 इंच के लगभग, और अनेक आकार के होते हैं—कोई प्याले के आकार के, कोई घंटी के आकार के, कोई जौ के आकार के। इनमें कुछ चलने फिरनेवाले 'चर' होते हैं और कुछ अचर। इनके शरीर में एक प्रकार के रोएँ होते हैं जिनके सहारे ये चलते फिरते और आहार संग्रह करते हैं। चट्टान आदि में जमे हुए इन 'अचर' अणुजीवों के खुले ऊपरी छोर, अर्थात् वह छोर जो चट्टान आदि में जमा नहीं रहता है, ऊपर की ओर होता है; पर के रोयों को जरा सा भी छुएँ तो जमे हुए छोर पर जो सूत की डंठी होती है वह चट सुकड़ जाती है। इसे जीवों की सादी 'प्रतिक्रिया' कहते हैं।

4. रोईंवाले अणुजीवों के इस व्यापार के आगे फिर हमें मूँगे[1] आदि अनेकघटक जीवों का संवेदनसूत्रमय विधान मिलता है। इनका प्रत्येक संवेदनसूत्रात्मक और पेशीतन्तुयुक्त घटक प्रतिक्रिया का एक एक करण है। इसके ऊपर की ओर एक मर्मस्थल होता है और भीतर की ओर एक गत्यात्मक पेशीतन्तु होता है। मर्मस्थल छूते ही यह पेशीतन्तु सुकड़ जाता है।

5. समुद्र में तैरनेवाले छत्रककीटों में संवेदनसूत्र और पेशीयुक्त एक घटक के स्थान पर दो घटक मिलते हैं जो एक सूत्र से सम्बद्ध रहते हैं। इनमें से एक तो बाहर संवेदनग्राही घटक होता है, दूसरा चमड़े के भीतर पेशीघटक होता है। प्रतिक्रिया के इस द्विघटकात्मक करण में बाहरी घटक तो संवेदनग्रहण करने की इन्द्रिय है और भीतरी घटक गत्यात्मक कर्मेन्द्रिय है। दोनों घटकों को मिलानेवाला बीच में जो मनोरसनिर्मित सूत्र होता है उसी के द्वारा उत्तेजना एक घटक से दूसरे घटक तक पहुँचती है।

---

1. मूँगा बहुत से छोटे छोटे कृमियों का समूह है जो समुद्र के भीतर थूहर के पेड़ के आकार में जमा हुआ मिलता है। देखने में वह पेड़ की तरह जान पड़ता है पर वास्तव में क्षुद्र कृमियों की बस्ती है।

6. प्रतिक्रिया का जो विधान आगे चलकर मिलता है उसमें दो दो के स्थान पर तीन तीन घटक मिलते हैं। सम्बन्धकारक सूत्र के स्थान पर एक स्वतन्त्र घटक ग्रन्थि के रूप में प्रकट होता है जिसे हम मनोघटक या संवेदनग्रन्थिघटक कह सकते हैं। इसी घटक के द्वारा अचेतन अन्तःसंस्कार उत्पन्न होता है अर्थात् संवेदनों के स्वरूप अंकित होने लगते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि इस अवस्था में चेतन अन्तःकरण न रहने के कारण उन स्वरूपों का बोध नहीं होता। उत्तेजना पहले संवेदनग्राही घटक से इस मध्यस्थ मनोघटक में पहुँचती है और फिर यहाँ से क्रियोत्पादक पेशीघटक में पहुँचकर गति की प्रेरणा करती है। प्रतिक्रिया का यह त्रिघटकात्मक करण बिना रीढ़वाले जन्तुओं में मिलते हैं।

7. रीढ़वाले जन्तुओं में त्रिघटकात्मक के स्थान पर चतुर्घटकात्मक करण पाया जाता है अर्थात् संवेदनग्राही संवेदनघटक और क्रियोत्पादक पेशीघटक के बीच में दो भिन्न भिन्न मनोघटक मिलते हैं। बाहरी उत्तेजना पहले संवेदनग्राही मनोघटक में जाती है, फिर संकल्पात्मक घटक में पहुँचती है और अन्त में आकुंचनशील पेशीघटक में जाकर गति उत्पन्न करती है। ऐसे अनेक चतुर्घटकात्मक करणों और नए नए मनोघटकों के संयोग से मनुष्य तथा और उन्नत जीवों के जटिल मनोविज्ञानमयकोश या चेतन अन्तःकरण की सृष्टि होती है।

ऊपर के विवरणों से स्पष्ट हो गया होगा कि 'प्रतिक्रिया' ही मूल या आदिम मनोव्यापार है। एकघटक अणुजीवों में 'प्रतिक्रिया' नामक सारा भौतिक व्यापार एक ही घटक के कललरस में होता है। कललरस के विकार समग्र मनोरस में जो एक सा व्यापार होता है उसी को हम ऐसे जीवों की घटकस्थ आत्मा कह सकते हैं। आगे चलकर उन्नत अवस्था में इसी मनोरस के अनेक विभाग होकर इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि उत्पन्न होते हैं।

मनोव्यापार की दूसरी अवस्था यौगिक 'प्रतिक्रया' है जो कर्कोटक[1] आदि समूहपिंड में रहनेवाले समुद्री अणु जीवों में देखी जाती है। ये असंख्य एकघटक जीव मिलकर समूहपिंड बनाते हैं और कललरस के तन्तुओं द्वारा एक प्रकार से सम्बद्ध रहते हैं। यदि किसी एक घटक पर कोई उत्तेजना पड़ी तो वह तुरन्त इन तन्तुओं द्वारा शेष सब घटकों तक पहुँच जाती है और सारा समूह संकुचित हो जाता है। इस प्रकार का व्यापार अनेक घटकों का जीवाणुओं द्वारा निर्मित, 'बहुघटक' जन्तुओं और पौधों के घटकों के बीच भी होता है। लज्जालु नामक पौधे को ही लीजिए। जहाँ उसकी जड़ के पास भी किसी

---

1. ये सूक्ष्म एकघटक समुद्री जन्तु ककोड़े या अण्डी के फल के आकार का छत्ता या गोलपिंड बनाकर समूह में रहते हैं। पिंडबद्ध होने पर भी प्रत्येक घटक या अणुजीव स्वतन्त्र होता है। पिंड छत्ता मात्र होता है एक शरीर नहीं होता। छत्ते में प्रत्येक अणुजीव जड़ा सा होता है। अणुजीवों के सुतड़े या रोइयाँ बाहर की ओर निकली होती हैं। इनके सहारे पिंड जल में तैरता है। पिंड का परिमाण प्रायः इंच के पचासवें भाग के बराबर होता है।

का पैर छू गया कि उत्तेजना तुरन्त सारे घटकों में फैल जाती है और उसकी पत्तियाँ सुकड़ जातीं तथा टहनियाँ झुक पड़ती हैं।

'प्रतिक्रिया' नामक आदिम मनोव्यापार का सामान्य लक्षण यह है कि उसमें चेतना का अभाव होता है। उत्तेजना पहुँची कि गति उत्पन्न हुई, जैसा कि बारूद आदि निर्जीव पदार्थों में देखा जाता है। चेतना केवल मनुष्य तथा और उन्नत जीवों में ही मानी जा सकती है, उद्भिदों और क्षुद्र जन्तुओं में नहीं। उद्भिदों और क्षुद्र जन्तुओं में उत्तेजना पाकर जो गति उत्पन्न होती है वह 'प्रतिक्रिया' मात्र है, अर्थात् ऐसी क्रिया है जो संकल्पकृत नहीं, किसी अन्तःकरण वृत्ति द्वारा प्रेरित नहीं। जिनमें संवेदनवाहक सूत्रजाल केन्द्रीभूत होता है और जिन्हें विशिष्ट पूर्ण इन्द्रियाँ होती हैं उन उन्नत जीवों के मनोव्यापार और ढंग के होते हैं। उनमें 'प्रतिक्रिया' रूपी आदिम मनोव्यापार से धीरे धीरे चेतना का स्फुरण होता है और संकल्पकृत चेतन व्यापार प्रकट होते हैं। निम्न श्रेणी के क्षुद्र जीवों में केवल प्रतिक्रिया ही रहती है। यह प्रतिक्रिया भी दो प्रकार की होती है—मूल और उत्तर। मूल प्रतिक्रिया वह है जो जीवसृष्टिपरम्परा में चेतन अवस्था को कभी प्राप्त न हुई हो, अपने मूल रूप में ही बराबर वंशपरम्परानुसार चली आती हो। उत्तर प्रतिक्रिया वह है जो पूर्वज जन्तुओं में तो संकल्पकृत चेतन व्यापार के रूप में थी पर पीछे अर्थात् उन पूर्वज जन्तुओं से विकासपरम्परानुसार उत्पन्न होनेवाले परवर्ती जन्तुओं में, अभ्यास आदि के कारण अज्ञानकृत अचेतन व्यापार के रूप में हो गई। ऐसी अवस्था में चेतन और अचेतन अन्तर्व्यापारों के बीच कोई भेदसीमा निर्धारित करना असम्भव है। कौन व्यापार ज्ञानकृत (चेतन) हैं और कौन अज्ञानकृत यह सदा ठीक ठीक बतलाया नहीं जा सकता।

अब अन्तःसंस्कार को लीजिए। इन्द्रियों की क्रिया से प्राप्त वाह्य विषय का जो प्रतिरूप भीतर अंकित होता है उसे अन्तःसंस्कार या भावना कहते हैं। जीवों की विभिन्न ऊँचीनीची श्रेणियों के अनुसार अन्तःसंस्कार चार रूपों में देखा जाता है—

1. **घटकगत अन्तःसंस्कार**—क्षुद्र एकघटकात्मक अणुजीवों में अन्तःसंस्कार समस्त मनोरस का सामान्य गुण होता है। ऐसे जीवों में भी संवेदन का चिह्न मनोरस में रह जाता है और धारण या स्मृति के द्वारा फिर स्फुरित हो सकता है। एक प्रकार के अत्यन्त सूक्ष्म गोल सामुद्र अणुजीव होते हैं जिनके ऊपर आवरण के रूप में एक पतली चित्रविचित्र खोपड़ी होती है। इस खोपड़ी की चित्रकारी सबमें एक सी नहीं होती, भिन्न भिन्न होती है। खोपड़ी की रचना और चित्रकारी के विचार से इस जीव के हजारों उपभेद दिखाई पड़ते हैं। किसी एक विशेष चित्रकारीवाले जीव से विभाग द्वारा जो दूसरे जीव उत्पन्न होते हैं उनमें भी वही चित्रकारी बनी मिलती है। इसका केवल यही कारण बतलाया जा सकता है कि निर्माण करनेवाले कललरस में अन्तःसंस्कार की वृत्ति होती है, उसमें परत्व अपरत्व संस्कार और उसके पुनरुद्भावन की शक्ति होती है।

**2. तन्तुजालगत अन्तःसंस्कार**—समूहपिंड बनाकर रहनेवाले एकघटक अणुजीवों[1] और स्पंज आदि संवेदनसूत्र से रहित क्षुद्र अनेकघटक (सामुद्र) जीवों तथा पौधों के तन्तुजाल में हमें अन्तःसंस्कार की दूसरी श्रेणी मिलती है। इसमें बहुत से परस्परसंबद्ध घटकों का एक सामान्य मनोव्यापार देखा जाता है। इन जीवों में किसी एक इन्द्रिय के उत्तेजन से मात्र प्रतिक्रिया उत्पन्न होकर नहीं रह जाती, बल्कि तंतुघटकों के मनोरस में संस्कार भी अंकित होते हैं जिनका फिर स्फुरण होता है।

**3. संवेदनसूत्र[2] ग्रंथिगत अचेतन अंतःसंस्कार**—इस उन्नत कोटि का अन्तःसंस्कार अनेक छोटे जन्तुओं में देखा जाता है। इसका व्यापार समस्त घटकों में नहीं होता बल्कि विशिष्ट स्थानों में अर्थात् मनोघटकों में ही हाता है। यह अपने सादे रूप में उन्हीं जीवो में प्रकट होता है जिनमें 'प्रतिक्रिया' के लिए त्रिघटकात्मक करण का विकास होता है। ऐसे जीवों में अन्तःसंस्कार का स्थान संवेदनघटक और पेशीघटक के बीच का मध्यस्थ घटक होता है। विज्ञानमय कोश के विभागविधान के अनुसार यह अचेतन अन्तःसंस्कार भी उन्नति की कई अवस्थाओं को पहुँचता है।

**4. मस्तिष्कघटकों में चेतन अन्तःसंस्कार**—जीवों की उन्नत श्रेणियों की ओर बढ़ने पर हमें अन्तर्बोध या चेतना मिलने लगती है जो कि विज्ञानमय कोश के मध्यभाग के एक विशिष्ट करण की वृत्ति है। उन्नत जीवों में जो अन्तःसंस्कार होते हैं वे चेतन होते हैं, अर्थात् उनका बोध भीतर होता है। इस अन्तर्बोध के साथ ही साथ जब चेतन अन्तःसंस्कारों की योजना के लिए मस्तिष्क के विशेष विशेष अवयव स्फुरित हो जाते हैं तब अन्तःकरण उन वृत्तियों या व्यापारों के योग्य हो जाता है जिन्हें हमें विचार, चिन्तन, बुद्धि आदि कहते हैं। अचेतन और चेतन अन्तःसंस्कारों के बीच कोई सीमा निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है। यह नहीं बतलाया जा सकता है कि जीवसृष्टिक्रम में किन जीवों तक अन्तःसंस्कार अचेतन रहते हैं और किन जीवों से चेतन होने लगते हैं। हाँ, इतना अलबत कहा जा सकता है कि अचेतन संस्कार से चेतन संस्कार के विकास की परम्परा कई शाखाओं में चलती है। यह नहीं है कि चेतन और बुद्धि के व्यापार मनुष्य, बन्दर, कुत्ते, पक्षी आदि रीढ़वाले उन्नत जन्तुओं में ही देखे जाते हैं बल्कि चींटी, मकड़ी, केकड़े आदि क्षुद्र कीटों में भी पाए जाते हैं।

अन्तःसंस्कार से ही सम्बद्ध धारणा या स्मृति है। यह वास्तव में अन्तःसंस्कारों की पुनरुद्भावना है जिस पर सारे उन्नत मनोव्यापार अवलम्बित हैं। वाह्यविषय के

---

1. ये सूक्ष्म अणुजीव एक समूहपिंड तो बना लेते हैं पर इनमें परस्पर उतना घनिष्ट सम्बन्ध नहीं होता जितना समवाय रूप से एक शरीर को योजना करनेवाले घटकों में होता है।
2. संवेदनावाहक सूत्रों को ज्ञानतन्तु भी कहते हैं। ये शरीर के सब स्थानों में फैले होते हैं। रक्तवाहिनी नीली और लाल नलियों (शिराओं और धमनियों) से ये इस प्रकार पहचाने जाते हैं कि ये श्वेत होते हैं और बीच में खोखले नहीं होते। खींचने से ये उतनी जल्दी नहीं टूटते।

इन्द्रियों पर जो प्रभाव पड़ते हैं वे मनोरस में अन्तःसंस्कार के रूप में जाकर ठहर जाते हैं और स्मृति द्वारा पुनरुद्‌भूत होते हैं अर्थात् अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था को प्राप्त होते हैं। मनोरम की निष्क्रिय अव्यक्त शक्ति सक्रिय व्यक्त शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है।[1] अन्तःसंस्कार की चार श्रेणियों के अनुसार स्मृति की भी चार श्रेणियाँ हैं–

**1. घटकगत स्मृति**–स्मृति सजीव द्रव्य का एक सामान्य गुण है। इस महत्त्वपूर्ण बात को कुछ दिन हुए एक वैज्ञानिक ने अपने एक ग्रन्थ में कहा। मैंने इस बात को विकाससिद्धान्त के अनुसार सिद्ध करने का प्रयत्न किया। पहले कहा जा चुका है कि कललरस एक दानेदार चिपचिपा पदार्थ है अर्थात् वह बहुत सी सूक्ष्म कणिकाओं के योग से संघटित है। ये कणिकाएँ कई आकार और प्रकार की होती हैं। इनमें से विधान करनेवाली क्रियमाण मूल कणिकाएँ होती हैं उन्हें हम कललाणु कह सकते हैं। मैंने अपनी एक पुस्तक में निरूपित किया है कि 'अचेतन स्मृति' कललाणु की एक सामान्य और व्यापक वृत्ति है। क्रियावान् कललरस के इन मूलकललाणुओं में ही पुनरुद्‌भूति होती है अर्थात् इन्हीं में स्मृतिशक्ति आदिरूप में रहती है, निर्जीव द्रव्य के अणुओं में नहीं। यही सजीव और निर्जीव सृष्टि में अन्तर है। वंशपरम्परा ही को कललाणु की धारणा या स्मृति समझना चाहिए। एकघटक अणुजीवों की आदिम स्मृति उन कललाणुओं की अण्वात्मक स्मृति के योग से बनी है जिनके मेल से उनका एकघटकात्मक शरीर बना है। एक अणुजीव की जो विशेषताएँ होती हैं वे उससे उत्पन्न दूसरे अणुजीवों में रक्षित रहती हैं यही ऐसे जीवों की धारणा या स्मृति है। ऊपर कहा जा चुका है कि बहुत से अणुजीव ऐसे होते हैं जिनके आवरणों पर एक दूसरे से भिन्न प्रकार की रचनाएँ होती हैं। परीक्षा द्वारा देखा गया है कि किसी एक विशेष रचना के आवरणवाले जीव से विभाग आदि द्वारा जो दूसरे जीव उत्पन्न होते हैं उनके आवरणों पर भी ठीक ठीक उसी प्रकार की रचना होती है। रचना का यह क्रम बराबर पीढ़ी दर पीढ़ी चला जाता है।

**2. तन्तुगत स्मृति**–घटकों के समान घटकजाल में भी अचेतन स्मृति पाई जाती है। स्पंज आदि समूहपिंड बना कर रहनेवाले जीवों में भी समूहपिंड के संस्कार उससे उत्पन्न दूसरे पिंडों में बराबर चले चलते हैं।

**3. अचेतन स्मृति**–उन्नति की तीसरी अवस्था में उन जीवों की चेतनारहित

---

1. भौतिक विज्ञान में वेग या शक्ति के दो रूप माने गए हैं–निहित और व्यक्त, जैसे पहाड़ की ढाल पर पड़े हुए पत्थर, चाभी दी हुई पर न चलती हुई घड़ी, बोरे में कसी हुई बारूद में क्रमशः गिरने, चलने और भड़कने की जो शक्ति है उसे निहित या अव्यक्त शक्ति कहते हैं। जब पत्थर गिरता है, घड़ी चलती है और बारूद भड़कती है तब वही शक्ति व्यक्त हो जाती हे। ये दोनों प्रकार की शक्तियाँ एक दूसरे के रूप में परिवर्तित होती रहती हैं, अर्थात् अव्यक्त से व्यक्त और व्यक्त से अव्यक्त होती रहती हैं।

स्मृति है जिनमें विज्ञानमय कोश रहता है। यह अचेतन स्मृति उन अचेतन अन्तःसंस्कारों की पुनरुद्भावना है जो संवेदनसूत्र ग्रन्थियों में संचित होते जाते हैं। क्षुद्र कोटि के अधिकांश जन्तुओं में स्मृति अचेतन रहती है अर्थात् अन्तःसंस्कारों की धारणा के अनुसार जो शारीरिक व्यापार होते हैं उनका कुछ भी ज्ञान ऐसे जन्तुओं को नहीं होता। वे व्यापार केवल शरीरधर्म समझे जाते हैं। मनुष्य आदि पूर्ण अन्तःकरण वाले जीवों में भी यदि देखा जाय तो चेतन की अपेक्षा अचेतन स्मृति के ही व्यापार अधिक पाए जायँगे। हाथ पैर हिलाने, चलनेफिरने, बोलने, खानेपीने इत्यादि क्रियाओं को यदि लीजिए तो इनमें न जाने कितनी ऐसी निकलेंगी जिनकी ओर हमारा बिलकुल ध्यान नहीं रहता, जो अज्ञानकृत होती हैं।

**4. चेतन स्मृति**—इसका व्यापार मनुष्य आदि उन्नत प्राणियों के कुछ मस्तिष्कघटकों में होता है। यह व्यापार वास्तव में अन्तःसंस्कारों का प्रतिबिंब पड़ने से होता है। पहले क्षुद्र पूर्वज जीवों में स्मृति के जो व्यापार अचेतन रहते हैं वे उन्नत अंतःकरणवाले जीवों में चेतन हो जाते हैं। मनुष्य आदि के अंतःकरण में जिन संस्कारों की धारणाएँ रहती हैं वे फिर ज्ञानपूर्वक उपस्थित की जाती हैं।

यहाँ तक तो धारणा या स्मृति की बात हुई। अब अंतःसंस्कारों की शृंखला या भावयोजना को लीजिए। इसकी भी ऊँची नीची अनेक श्रेणियाँ हैं। यह भी अपने आदि रूप में अचेतन ही रहती है और 'प्रवृत्ति' कहलाती है। यही क्रमशः बढ़ते बढ़ते उन्नत जीवों में चेतनवृत्ति हो जाती है और बुद्धि कहलाती है। इस भावयोजना की परम्परा अनेक रूपों में चलती है। पर ध्यान देकर यदि देखा जाय तो क्षुद्र से क्षुद्र अणुजीव की अचेतन अन्तःसंस्कार योजना से लेकर सभ्य से सभ्य मनुष्य की विशद भावशृंखला तक सम्बन्धपरम्परा का सूत्र मिलेगा। मनुष्य में चेतन संस्कारों की योजना होती है यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। जिस हिसाब से अधिकाधिक अन्तःसंस्कारों की योजना होती जाती है और जिस हिसाब से शुद्ध बुद्धि के विवेचन से यह योजना व्यवस्थित होती जाती है उसी हिसाब से अन्तःकरणवृत्ति पूर्णता को पहुँचती जाती है। स्वप्न में, इस व्यवस्था करनेवाली विवेचनशक्ति के न रहने से पुनरुद्भूत संस्कारों की जो विलक्षण योजना होती है उससे अलौकिक दृश्य दिखाई पड़ते हैं। कविकल्पित रचनाओं में, जिनमें अन्तःसंस्कारों की प्रकृति योजना में उलटफेर करके अनोखे स्वरूप खड़े किए जाते हैं; ये अन्तःसंस्कार एक अत्यन्त अस्वाभाविक क्रम से संयोजित होते हैं और साधारण देखनेवाले को अत्यन्त अयुक्त प्रतीत होते हैं। मस्तिष्क के बिगड़ जाने पर जो अनेक प्रकार के रूप दिखाई पड़ते हैं वे अन्तःसंस्कारों की इसी अव्यवस्था के कारण। मृत पुरुषों की आत्माओं का साक्षात्कार, देवदूतों का दर्शन, आकाशवाणी, इलहाम तथा इसी प्रकार की और भी अन्धपरम्परा की बातें इसी अव्यवस्था से उत्पन्न हुई हैं। पर 'आभास', 'इहलाम' आदि को बहुत दिनों से लोग ज्ञान का अमित भाण्डार समझते आ रहे हैं।

योरप में बहुत प्राचीन काल से लोग मनुष्य और पशु की अन्तःकरणवृत्तियों को भिन्न भिन्न समझते आ रहे थे[1]। ऐसा साधारण विश्वास था, और अब भी थोड़ा बहुत है कि मनुष्य 'बुद्धि' के अनुसार कार्य करता है और पशु 'प्रवृत्ति' के अनुसार। पर डारविन आदि विकासवादियों ने इस विश्वास को भ्रान्त सिद्ध कर दिया है। अपने 'ग्रहण सिद्धान्त' के आधार पर डारविन ने नीचे लिखी महत्त्वपूर्ण बातें निर्धारित की हैं–

1. एक ही योनि के जीवों की अन्तःप्रवृत्तियों में भी कुछ न कुछ व्यक्तिगत विभिन्नता होती है तथा 'स्थितिसामंजस्य' के नियमानुसार उनमें भी ठीक उसी प्रकार फेरफार हो जाता है जिस प्रकार अवयवों में होता है।

2. इस परिवर्तन से जो विशेषताएँ स्वभावपरिवर्तन के कारण, उत्पन्न हो जाती हैं वे आगे होनेवाली सन्तति को भी अंशतः प्राप्त होती हैं और इस प्रकार वंशपरम्पराक्रम से उत्तरोत्तर अधिक प्रवर्द्धित रूप प्राप्त करती जाती हैं।

3. ग्रहणधर्म के अनुसार मनोवृत्ति की जो जो विशेषताएँ सबसे अधिक उपयोगी होती हैं वे रक्षित रहती हैं, जो स्थिति के अनुकूल न होने के कारण उपयोग में नहीं आ सकतीं वे नष्ट हो जाती हैं।

4. इस रीति से मनोवृत्ति की जो अनेक विभिन्नताएँ उत्पन्न हो जाती हैं उनसे अनेकानेक पीढ़ियों पीछे ठीक उसी प्रकार नई नई अन्तःप्रवृत्तियों की सृष्टि होती है जिस प्रकार अवयवों के भेद से नए नए प्रकार के जीवों की।

सारांश यह है कि अन्तःप्रवृत्ति सेन्द्रिय (सजीव) पदार्थ मात्र में, पौधों और अणुजीवों से लेकर बड़े बड़े जन्तुओं और मनुष्य तक में, होती है। मनुष्य में बुद्धि के अधिक बढ़ने पर इसका तिरोभाव होने लगता है।

'प्रवृत्ति' दो प्रकार की होती है, मूल और उत्तर। मूल प्रवृत्तियाँ वे हैं जो अचेतन क्षोभ के रूप में मनोरस में जीव की आदिम अवस्था ही से रहती हैं–जैसे, आत्मरक्षा की, बचाव और पोषण की और वंशरक्षा की, प्रसव और शिशुपालन प्रवृत्ति। सजीव द्रव्य की ये दोनों प्रवृत्तियाँ अर्थात् क्षुधा और प्रीति 'समागम की वासना' सर्वथा अज्ञान की दशा में उत्पन्न होती हैं, बुद्धि का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उत्तर प्रवृत्तियों का क्रम और है। आरम्भ में तो ये बुद्धि के उपयोग द्वारा, विचार और संकल्प द्वारा, ज्ञानकृत उद्दिष्ट कर्म द्वारा उत्पन्न हुईं, पर पीछे धीरे धीरे वे इतनी मँज गईं कि अज्ञान की दशा में भी प्रकट होने लगीं। यहाँ तक कि वंशपरम्परा के विधान से वे आगे की पीढ़ियों में स्वभावसिद्ध सी हो गईं। उन्नत जीवों की वे अज्ञानकृत क्रियाएँ जो

---

1. भारतवर्ष में उस आवागमन या जन्मातरवाद के कारण ऐसी धारणा कभी नहीं उत्पन्न होने पाई जिसके अनुसार एक ही आत्मा मनुष्य से लेकर कीट, पतंग आदि चौरासी लाख योनियों में भरम सकती है।

शरीरधर्म कहलाती हैं; जैसे, पलकों का गिराना, चलने में पैरों का हिलाना आदि, पूर्वज जीवों में ज्ञानकृत थीं पर पीछे स्वभावसिद्ध प्रवृत्तियों में दाखिल हो गईं। इसी प्रकार मनुष्य के वे सारे निरूपण जो स्वतःसिद्ध कहलाते हैं; जैसे, एक ही वस्तु के समान वस्तुएँ परस्पर समान होती हैं, उसके पूर्वजों ने अनुभव और साक्षात्कार द्वारा स्थिर किए थे।

बहुत से लोग कहते हैं कि पशुओं में बुद्धि नहीं होती, बुद्धि केवल मनुष्य में होती है। पर यह भ्रम है। रीढ़वाले विशेषतः दूध पिलानेवाले जीवों में बुद्धि बराबर पाई जाती है चाहे वह मनुष्यबुद्धि से कम हो। पशुओं में बुद्धिविकास का तारतम्य उसी प्रकार पाया जाता है जिस प्रकार मनुष्यों में। किसी सभ्यदेश के उद्भट दार्शनिक की बुद्धि और नरभक्षी असभ्य बर्बर की बुद्धि में भी तो अन्तर होता है। बस, उतना ही अन्तर असभ्य बर्बर की बुद्धि में और उन्नत पशुओं, बनमानुस आदि की बुद्धि में समझिए। मनुष्य के उन्नत मनोव्यापार विवेचन आदि भी ठीक उसी प्रकार वंशपरम्परा और स्थितिसामंजस्य के नियमाधीन हैं जिस प्रकार उन व्यापारों की इन्द्रियाँ या मस्तिष्क।

बुद्धि, विवेचना आदि उन्नत कोटि के मनोव्यापारों का घनिष्ठ सम्बन्ध वाणी की उन्नति से है। वाणी की योजना भी न्यूनाधिक क्रम से जीवों में पाई जाती है। यह नहीं है कि एकमात्र मनुष्य ही को वह प्राप्त है। किसी न किसी रूप में वह समूह में रहनेवाले समस्त मेरुदंडजीवों में थोड़ी बहुत पाई जाती है। एक दूसरे का अभिप्राय समझने के लिए उसकी आवश्यकता होती है। कहीं स्पर्श द्वारा, कहीं संकेत द्वारा और कहीं मुँह से निकले हुए शब्द द्वारा अभिप्राय प्रकट किया जाता है। पक्षियों और बनमानुसों की बोली, कुत्तों का भूँकना, घोड़ों का हिनहिनाना इत्यादि पशुवाणी के नमूने हैं। इनसे कुछ न कुछ भाव अवश्य प्रकट होता है। पर मनुष्य ही में उस वर्णविकासयुक्त वाणी का प्रादुर्भाव हुआ है जिसके सहारे उसकी बुद्धि इस उन्नति को पहुँची है। भाषाविज्ञान ने यह पूर्ण रूप से सिद्ध कर दिया है कि भिन्न भिन्न मनुष्य जातियों की जितनी समृद्ध भाषाएँ हैं सबकी सब किसी न किसी सीधी सादी आदिम भाषा से धीरे धीरे उन्नति करती हुई बनी हैं। भाषा का विकास भी ठीक उसी क्रम से धीरे धीरे हुआ है जिस क्रम से जीवों की जातियों का विकास, उनकी इन्द्रियों और शक्तियों का विकास। पशुवाणी और मनुष्यवाणी में केवल न्यूनाधिक का भेद है, वस्तुभेद नहीं।

अन्तःकरण के उन व्यापारों का विचार भी जो उद्वेग कहलाते हैं मनोविज्ञान में अत्यन्त आवश्यक है। उनके द्वारा वह सम्बन्ध अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है जो मस्तिष्क व्यापारों और शरीर के दूसरे व्यापारों; जैसे, हृदय की धड़कन, इन्द्रियों के क्षोभ और पेशियों की गति आदि के बीच है। मनुष्य में अन्तःकरण के उद्वेग सम्बन्धी जो व्यापार दिखाई देते हैं वे कुत्ते, बनमानुस आदि उन्नत पशुओं में भी

देखे जाते हैं। समस्त उद्वेग इन्द्रियसंवेदन और गति इन्हीं दो मूल व्यापारों के योग से प्रतिक्रिया और अन्तःसंस्कार द्वारा बने हैं। राग और द्वेष का अनुभव इन्द्रियसंवेदन क्रिया के अन्तर्गत है। इच्छा और विरक्ति, अर्थात् रुचिकर वस्तु की प्राप्ति और अरुचिकर परिहार का प्रयत्न, पेशियों की गति के अन्तर्भूत है। 'आकर्षण' और 'विसर्जन' इन्हीं दोनों क्रियाओं के द्वारा 'संकल्प' की सृष्टि होती है जो व्यक्ति का प्रधान लक्षण है। मनोवेग मनुष्य और पशु दोनों में होते हैं। क्षुद्र से क्षुद्र कोटि के अणुजीवों में भी रुचि और अरुचि का मूल संस्कार होता है जिसका पता उनकी प्रवृत्तियों से लगा है। उनमें कुछ प्रकाश की ओर प्रवृत्त होते हैं, कुछ अन्धकार की ओर, कुछ शीत की ओर और कुछ ताप की ओर। इन्हीं मूल वासनाओं से आगे चलकर उन्नत अन्तःकरणवाले सभ्य मनुष्यों के उल्लास और खेद, प्रीति और घृणा आदि मनोवेग निकले हैं जिनसे सभ्यता का विकास हुआ है और कवियों को अक्षय सामग्री प्राप्त हुई है। इस प्रकार क्षुद्र से क्षुद्र अणुजीवस्थ मनोरस की मूलवासना से लेकर मानव अन्तःकरण के विविध मनोवेगों तक सम्बन्धसूत्र की परम्परा चली गई है। मनुष्य के मनोवेग भी भौतिक नियमों के अधीन हैं यह बात कई दार्शनिक सिद्ध कर चुके हैं।

अब संकल्प को लीजिए जिसे लोग जीवधारियों की एक ऐसी विशेषता समझते हैं जिसका भौतिक नियमों से कोई सम्बन्ध नहीं। इच्छानुसार गति देखकर ही सामान्यतः कर्मसंकल्प की स्वतन्त्रता का भान लोगों को होता है। पर विकास सिद्धान्त और शरीरशास्त्र की दृष्टि से यदि संकल्प की परीक्षा की जाय तो मालूम होगा कि वह मनोरस का एक व्यापक गुण है। एकघटक अणुजीवों में प्रतिक्रिया के जो जड़ व्यापार हम देखते हैं वे उन मूल प्रवृत्तियों से उत्पन्न हैं जिनका जीवन तत्त्व से नित्य सम्बन्ध है। पौधों तक में ये प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। कुछ पौधे अपनी पत्तियों को जिस ओर प्रकाश होता है उसी ओर प्रवृत्ति करते हैं। जिन जीवों में प्रतिक्रिया का त्रिघटकात्मक करण होता है अर्थात् संवेदनग्राहक घटक और क्रियोत्पादक घटक के बीच में एक तीसरे मनोघटक की स्थापना होती है, उन्हींमें संकल्प नामक व्यापार देखा जाता है। क्षुद्र जीवों में यह संकल्प अचेतन रूप में रहता है। जिन जीवों में चेतना होती है अर्थात् अन्तःकरण की क्रिया का प्रतिबिम्ब अन्तःकरण में पड़ता है उन्हीं में संकल्प उस कोटि का देखा जाता है जिसमें स्वतन्त्रता का आभास जान पड़ता है। मस्तिष्क के विकास और अन्तःकरण की उन्नति के कारण संवेदन, गति आदि की आन्तरिक क्रियाएँ जितनी ही क्षिप्र होती जाती हैं उनका परस्पर सम्बन्ध उतना ही अव्यक्त होता जाता है। सम्बन्ध के अव्यक्त होने के कारण ही स्वातन्त्र्य की भ्रान्ति होती है। पर अब यह अच्छी तरह सिद्ध हो गया है कि संकल्प किया हुआ प्रत्येक कर्म व्यक्ति के अंगविन्यास और प्राप्त परिस्थिति के अनुसार ही होता है। प्रवृत्ति का सामान्य रूप तो वंशपरम्परानुसार पूर्वजों द्वारा प्राप्त होकर पहले से निर्धारित रहता है। कर्मविशेष

का जो संकल्प होता है वह जिस क्षण जैसी परिस्थिति होती है उसके अनुकूल परिवर्तन का आयोजन मात्र है। उस क्षण जो मनोवेग सबसे प्रबल होता है उसी के अनुसार प्राणी कर्म करता है।[1]

---

1. कर्मस्वातन्त्र्य के विषय में धार्मिकों में भी मतभेद है। कुछ लोग मानते हैं कि ईश्वर की प्रेरणा ही से मनुष्य सब कार्य करता है। कुछ लोग कर्मों की वासना पूर्वकृत कर्मों के अनुसार मानते हैं। पर अधिकांश लोग यही मानते हैं कि मनुष्य की कर्मसंकल्पवृत्ति सर्वथा स्वतन्त्र है। यह बतला देना भी आवश्यक है कि कर्मसंकल्पवृत्ति को 'इच्छा' का पर्याय न समझना चाहिए।
कर्मस्वातन्त्र्य को लेकर पाश्चात्य दार्शनिकों में बहुत विवाद हुआ है। कांट ने कर्मसंकल्पवृत्ति को सर्वथा स्वतन्त्र बतलाया है और कहा है कि मनोविज्ञान के नियमों के अनुसार उसका विचार नहीं हो सकता। अन्तःकरण की कोई ऐसी वृत्ति नहीं जिससे उसका कार्यकारण सम्बन्ध हो, जो उसे अवश्य उत्पन्न ही करती हो। रहे वाह्य जगत् के नियम उनसे भी वह बद्ध नहीं। वह उन स्वप्रवर्तित नियमों को ही मानती है जिन्हें 'धर्मनियम' कहते हैं (दे. प्रकरण 19)। स्पिनोजा और ह्यूम कर्मसंकल्पवृत्ति को कार्यकारण सम्बन्ध के अन्तर्गत मानते हैं। स्पिनोजा ने कहा है कि लोगों का यह समझना भ्रम है कि कर्म करने में हम स्वतन्त्र हैं। बात यह है कि उन्हें अपने कर्मों का बोध तो होता है पर उन कारणों का बोध नहीं होता जिनके द्वारा वे निर्धारित होते हैं। हैकल ने स्पिनोजा के तत्त्वाद्वैतवाद ही का अनुसरण किया है अतः उसने इस विषय में उसी का सिद्धान्त मान्य ठहराया है।
भारतीय विचारपद्धति में 'कर्मबन्धन' और 'आत्मस्वातन्त्र्य' की बड़ी गूढ़ व्याख्या की गई है। वेदान्तसूत्र के 'जीवकर्तृत्वाधिकरण' में जीव कर्ता अर्थात् कर्म करने में स्वतन्त्र है या नहीं इसका विचार किया गया है। कर्मविपाक में संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ये तीन भेद कर्म के किए गए हैं जिससे सिद्ध होता है कि एक कर्म बीज रूप से दूसरे को उत्पन्न करता है। फिर 'आत्मस्वातन्त्र्य' या कर्मसंकल्पवृत्ति का स्वातन्त्र्य कहाँ रहा? वेदान्त ज्ञान द्वारा मोक्ष बतलाता है। पर ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी मनुष्य स्वतन्त्र नहीं। वेदान्ती इसका उत्तर कर्म के 'आरब्ध' और 'अनारब्ध' दो भेद करके इस प्रकार देते हैं कि आरब्ध कर्म, जिनका भोग आरम्भ हो चुका है, वे तो भोगने ही पड़ेंगे पर अनारब्ध कर्मों का ज्ञान से पूर्णतया नाश किया जा सकता है। 'कर्मबन्धन' के साथ सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने का स्वातन्त्र्य भी बराबर रहता है। यही आत्मस्वातन्त्र्य है।
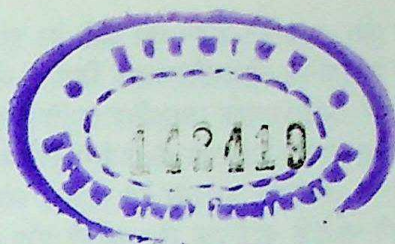
आठवाँ प्रकरण

# आत्मा का गर्भविकास

मनुष्य की आत्मा को हम चाहे जिस रूप का समझें पर यह निश्चित है कि उसकी भी जीवनकाल में क्रम क्रम से वृद्धि होती है। अतः मनोव्यापारों के निरूपण के लिए गर्भविज्ञान की परीक्षा अत्यन्त प्रयोजनीय है। हमें भ्रूण के मस्तिष्कविकास और शिशु के मनोव्यापारों की ओर ध्यान देना चाहिए। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार न करने वाले आत्मा की क्रमशः वृद्धि नहीं मानते। वे आत्मा को सदा एकरस मानते हैं। आत्मा के सम्बन्ध में जो भिन्न भिन्न प्रकार के विचार प्रचलित हैं उनमें से कुछ ये हैं—

1. **आवागमन**—इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा एक शरीर से निकलकर दूसरे शरीर में, दूसरे से तीसरे में इसी प्रकार बराबर गमन करती रहती है और नाना योनियों में भ्रमण करती है। वह मनुष्य योनि में भी आ जाती है और फिर उसमें से निकलकर मनुष्य या और कोई योनि प्राप्त करती है।

2. **आनयन**—अर्थात् आत्माओं का कहीं अक्षय भाण्डार है जहाँ से बराबर आत्माएँ शरीरों में लाई जाती हैं और जहाँ फिर चली जाती हैं।

3. **ईश्वर द्वारा सृष्टि**—ईश्वर आत्माओं की सृष्टि करता है और उन्हें संचित रखता है।

जीवनतत्त्व के अनुसंधान द्वारा ऊपर लिखी कल्पनाएँ असार प्रमाणित हो चुकी हैं। पहले कहा जा चुका है कि गर्भविधान में पुंस्तत्व और स्त्रीतत्व दोनों सूक्ष्य घटक मात्र हैं। इन दोनों घटकों में ऐसे शारीरिक गुण होते हैं जिन्हें हम घटकात्मा कह सकते हैं। इन दोनों बीजघटकों में गति और संवेदन शक्ति होती है। गर्भांड या अंडघटक जल में रहने वाले अस्थिराकृति अणुजीवों के समान चलते फिरते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म शुक्रकीटाणु अपनी रोइयों के सहारे वीर्य में उसी प्रकार तैरते रहते हैं जिस प्रकार रोईंदाले समुद्र के सूक्ष्म कीटाणु।

स्त्री पुरुष का संयोग होने पर दोनों बीजघटक परस्पर मिलते हैं; अथवा उनका संयोग बाहर ही बाहर होता है जैसा कि कुछ जलजन्तुओं में, तब दोनों एक दूसरे

की ओर आकर्षित होकर जुट जाते हैं। इस आकर्षण का प्रधान कारण कललरस की रासायनिक और संवेदनात्मक क्रिया है जो घ्राण या रसन से मिलती जुलती होती है और 'अनुरागमूलक रासायनिक प्रवृत्ति' कहलाती है। इसे हम घटकों का प्रेमव्यापार भी कह सकते हैं। पुरुष के वीर्य में रहनेवाले बहुत से रोईंदार घटक (शुक्रकीटाणु) स्त्री के अंडघटक की ओर रेंग पड़ते हैं और उसमें घुसना चाहते हैं। पर इनमें से घुसने पाता है कोई एक ही। ज्यों ही कोई शुक्रकीटाणु गर्भांड में सिर के बल घुसा कि गर्भांड के ऊपर की झिल्ली छूटकर एक आवरण के रूप में हो जाती है जिससे और कोई शुक्रकीटाणु भीतर नहीं घुस सकता। एक वैज्ञानिक ने बर्फ या मरफिया के प्रयोग से गर्भांड का ऊपरी तल कठोर कर दिया जिससे यह झिल्ली नहीं छूटने पाई। फल इसका यह हुआ कि गर्भांड अतिगर्भित हो गया अर्थात् उसमें कई शुक्रकीटाणु घुस पड़े। इन बातों से पाया जाता है कि बीजघटकों में भी एक प्रकार की आन्तरिक प्रवृत्ति या संवेदना होती है। गर्भांड और शुक्रकीटाणु जब परस्पर मिल कर एक हो जाते हैं तब अंकुरघटक की उत्पत्ति होती है जिसके उत्तरोत्तर विभाग द्वारा अनेकघटक भ्रूण का स्फुरण होता है।

गर्भविधान की ओर ध्यान देने से हमें मनोविज्ञानसम्बन्धी कई महत्त्व की बातों का आभास मिलता है। इस प्रकार के अनुसंधान द्वारा ये पाँच सिद्धान्त निकलते हैं–

1. जीवन के आरम्भ में प्रत्येक मनुष्य या उन्नत जन्तु एक अत्यन्त सूक्ष्म घटक के रूप में होता है।

2. सब उन्नत जीवों में अंकुरघटक की उत्पत्ति समान विधान से अर्थात् दो बीजघटकों के परस्पर एक हो जाने से होती है।

3. दोनों बीजघटकों में से प्रत्येक की एक घटकात्मा होती है–अर्थात् दोनों में एक विशेष रूप की संवेदना और गति होती है।

4. गर्भाधान के समय दोनों घटकों के कललरस और बीज ही मिलकर एक नहीं हो जाते बल्कि उनकी घटकात्माएँ भी परस्पर मिल जाती हैं अर्थात् दोनों में जो निहित या अव्यक्त गतिशक्तियाँ, और द्रव्यों के समान, होती हैं वे भी एक नवीन शक्ति की योजना के लिए मिलकर एक हो जाती हैं। अंकुरघटक की यह नवयोजित शक्ति ही 'बीजात्मा' है।

5. अतः प्रत्येक मनुष्य के शारीरिक और मानसिक गुण मातापिता से ही प्राप्त होते हैं। वंशक्रमानुसार माता के गुणों का कुछ अंश गर्भांड द्वारा और पिता के गुणों का कुछ अंश शुक्रकीटाणु द्वारा प्राप्त होता है।

इन सिद्धान्तों के द्वारा यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन का आदि होता है। दोनों बीजघटकों का जिस घड़ी संयोग होता है वही घड़ी अंकुरघटक के शरीर और आत्मा दोनों की उत्पत्ति की है। अतः लोगों

का यह कहना कि आत्मा अनादि और अमर है, प्रलाप मात्र है। इसी प्रकार यह भावना भी असंगत है कि गर्भ के भीतर ईश्वर शरीर को गढ़ता है। जीवन की उत्पत्ति माता पिता के संयोग से होती है। इस संयोग के लिए यह आवश्यक है कि शुक्रकीटाणु का गर्भाशय में प्रवेश हो, दर्शन या आलिंगन मात्र से गर्भाधान नहीं हो सकता। स्थलचारी जीवों में गर्भाधान की यही रीति है कि गर्भाशय में गर्भोत्पादक तत्त्व पहुँचाया जाय। कुछ क्षुद्र जलचर जन्तुओं में दूसरे प्रकार की व्यवस्था है। उनमें नर और मादा अपना अपना वीर्य और रजोबिन्दु जल में डाल देते हैं जिनका संयोग बाहर ही बाहर किसी अवसरपर हो जाता है। ऐसे जन्तुओं में वास्तविक मैथुन नहीं होता, अतः उनमें प्रेम का वह मानसिक उद्गार नहीं देखा जाता जो उन्नत जीवों में इतना अधिक पाया जाता है। क्षुद्र अमैथुनीय जन्तुओं में स्त्रीपुरुषभेदसूचक कुछ ऐसे चिह्न भी नहीं होते, जैसे बारहसिंगों के सींग, पुरुषों की दाढ़ी, नर मोर का सुन्दर चित्रित पुच्छवितान।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि शिशु माता और पिता दोनों के मानसिक गुण ग्रहण करता है। दोनों के स्वभाव, लक्षण, संकल्प की दृढ़ता, प्रतिभा आदि गुण उसमें वंशपरम्परा के प्राकृतिक नियमानुसार आते हैं। माता पिता के ही नहीं पितामह आदि के कुछ गुण भी उसमें बराबर पाए जाते हैं। सारांश यह कि शारीरिक विशेषताओं के समान मानसिक विशेषताएँ भी वंशानुक्रम द्वारा एक से दूसरे में जाती हैं। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वंशपरम्परा का प्राकृतिक नियम भी एक शरीरधर्म है जिसका निर्धारण भौतिक और रासायनिक क्रियाओं के अनुसार—कललरस की योजना के अनुसार होता है।

शरीरविज्ञान सम्बन्धी यह बात मनोविज्ञान के क्षेत्र में बहुत ध्यान देने की है कि मनस्तत्त्व एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में बराबर चला चलता है। जिस क्षण गर्भाधान होता है उसी क्षण एक नए जीव का प्रादुर्भाव होता है। पर इस नए जीव में कोई स्वतन्त्र शारीरिक और मानसिक सत्ता नहीं होती; यह शुक्रघटक और रजोघटक रूप दो उपादानों की योजना का परिणाम मात्र है। जिस प्रकार मनोव्यापाररूपिणी निहित शक्ति के भौतिक आधार, उक्त दोनों घटकों की गुठलियों के मेल से एक नई गुठली पैदा हो जाती है, उसी प्रकार दोनों घटकात्माओं के योग से, निहित शक्तियों की समष्टिरूप एक नई घटकात्मा बन जाती है। अब यहाँ पर प्रश्न यह होता है कि एक ही माता पिता से उत्पन्न दो शिशुओं के स्वभाव आदि में भेद क्यों दिखाई पड़ता है? इसके कई कारण हैं। पहली बात तो यह है कि यह भेद कुछ न कुछ दोनों बीजघटकों में ही—उनके कललरस की योजना में ही, रहता है। माता पिता अपने जीवन में स्थिति के परिवर्तन के अनुरूप जो नई नई विशेषताएँ प्राप्त करते जाते हैं उनका प्रभाव बीजघटकों के अण्वात्मक कललरस के विधान पर भी उलटकर पड़ता है और उनके द्वारा संयोजित सन्तति में देखा जाता है।

इस विभेद के सम्बन्ध में एक बात और है। यद्यपि गर्भाधान के समय दो

आत्माओं का जो सम्मिश्रण होता है उसमें दोनों घटकों के अनुरागात्मक संयोग द्वारा केवल जनक जननी की आत्माओं की निहित शक्तियों की ही सम्प्राप्ति अधिकतर शिशु को होती है; पर ऐसा भी होता है कि और ऊपर की पीढ़ियों के पूर्वजों के मानसिक संस्कार भी साथ ही उसे प्राप्त हो जाते हैं। कुलपरम्परासम्बन्धी प्राकृतिक नियम आत्मा पर भी ठीक वैसे ही घटते हैं जैसे अंगविधान पर। छत्रक आदि समुद्र के उद्भिदाकार कृमियों में एक एक पीढ़ी का अन्तर देकर पूर्वजों की विशेषताएँ प्रकट होती हैं। एक कृमि से जो दूसरा कृमि उत्पन्न होगा उसमें पहले का लक्षण न होगा, उस दूसरे से जो तीसरा उत्पन्न होगा उसमें पहले के लक्षण मिलेंगे, फिर उस तीसरे के लक्षण पाँचवीं पीढ़ी में मिलेंगे, पाँचवीं के सातवीं में, इसी प्रकार यह क्रम बराबर चला चलेगा। इसी नियम के अनुसार दूसरी पीढ़ी के लक्षण चौथी में, चौथी के छठी में, छठी के आठवीं में मिलेंगे। मनुष्य आदि उन्नत जीवों में यद्यपि इस प्रकार के अन्तर का नियम नहीं है पर उनमें भी कभी कभी एक पीढ़ी का अन्तर देकर लक्षण प्रकट होते हैं, जिसका कारण वंशपरम्परा का निहित नियम है। बड़े बड़े लोगों में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि उनके गुण और स्वभाव उनके पितामहों से मिलते हैं।

आत्मविकास की दो अवस्थाएँ कही जा सकती हैं—एक गर्भावस्था, दूसरी जीवनावस्था।

**गर्भ में आत्मोपत्ति**—मनुष्य का गर्भ साधारणतः नौ महीनों में पूरा होता है। इस बीच में बाहरी संसार से वह बिलकुल अलग रहता है और उसकी रक्षा के लिए केवल गर्भकोश ही नहीं रहता, आवरण की तरह लिपटी हुई झिल्लियाँ भी होती हैं। ये झिल्लियाँ सब सरीसृपों, पक्षियों और स्तन्यजीवों में होती हैं। इन समस्त जीवों के भ्रूण झिल्लियों के जलपूर्ण कोश में रहते हैं। आघात से रक्षा का यह आयोजन आदिम सरीसृपों ने अत्यन्त प्राचीन कल्प में प्राप्त किया था जब कि वे जल में न रह कर जमीन पर घूमने और साँस लेने लगे थे। उनके पूर्वज जलस्थलचारी जन्तु (मेंढक आदि) अपने पूर्वज मत्स्यों के समान जल ही में रहते और साँस लेते थे।

उन रीढ़वाले जन्तुओं के भ्रूण में जो जल में रहते थे, आदिम जीवों के बहुत अधिक लक्षण बहुत अधिक काल तक रहते थे जैसा कि आजकल की मछलियों और मेंढकों में देखा जाता है। यह बात प्रायः सब लोग जानते हैं कि अंडे से निकलने के बाद मेंढकों के भ्रूण लम्बी पूँछवाले कीड़ों के रूप में होते हैं और केवल जल ही में तैरा करते हैं। इन बच्चों को साधारण भाषा में छुछमछली कहते हैं। इनमें इनके पूर्वज मत्स्यों का ढाँचा बहुत काल तक बना रहता है। इनकी रहन सहन और संवेदना भी उन्हीं की सी होती है। ये गलफड़ों के द्वारा साँस लेते हैं। फिर जब कुछ दिनों के उपरान्त इनका विलक्षण रूपान्तर या कायाकल्प होता है और इनका अंगविधान स्थलचारी जीवन के अनुकूल संघटित होता है तब इनका मत्स्याकार शरीर कूदनेवाले चतुष्पद मेंढक के रूप में परिवर्तित हो जाता है। फिर तो गलफड़ों द्वारा पानी में

साँस लेने के बदले ये फेफड़ों के द्वारा स्थल पर साँस लेने लगते हैं, इनकी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण अर्थात् सारा विज्ञानमय कोश अधिक उन्नत अवस्था को प्राप्त हो जाता है। यदि हम छुछमछली के आत्मस्फुरणक्रम को आदि से अन्त तक ध्यानपूर्वक देखें तो पता लगे कि जीवनोत्पत्ति के सामान्य नियम किस प्रकार आत्मविकास के क्रम पर भी ठीक ठीक घटते हैं। बात यह है कि छुछमछली की वृद्धि का वाह्य संसार की उस बदलनेवाली परिस्थिति से सीधा लगाव होता है जिसके अनुकूल उसकी संवेदना और गति में परिवर्तन उपस्थित होता है। तैरनेवाली छुछुमछली का ढाँचा ही नहीं रहनसहन भी मछली ही की सी होती है, मेंढक के लक्षण परिवर्तन के उपरान्त आते हैं।

मनुष्य के भ्रूण में ऐसा नहीं होता। झिल्लियों के कोश में बन्द रहने के कारण वह वाह्य संसार के प्रभावों से अलग रहता है और वाह्य परिस्थिति के अनुरूप प्रतिक्रिया उसमें स्वच्छन्द रूप से नहीं होने पाती। जलपूर्ण कोश के भीतर रक्षापूर्वक बन्द रहने के कारण मनुष्य आदि के भ्रूण में आदिम जीवों के लक्षणों का उत्तरोत्तर विकास पूर्णरूप से नहीं होने पाता। अत्यन्त संक्षिप्त उद्धरणी के द्वारा ही उसे नए जीव का स्वरूप प्राप्त होने का सुगम साधन प्राप्त हो जाता है। पहली बात तो यह है कि ऐसे भ्रूण के पोषण का पूरा प्रवन्ध रहता है। यह पोषण अण्डजों में तो उस जरदी के द्वारा होता है जो अण्डों के भीतर रहती है। जरायुजों में जरायु के द्वारा माता के रक्त का जो संचार भ्रूण में होता है उसके द्वारा उसका पोषण पूर्ण रूप से होता है। अतः इनका भ्रूण धरती पर गिरने के पहले ही पूर्ण वृद्धि को प्राप्त रहता है। पर गर्भावस्था में भ्रूण की आत्मा सुषुप्तावस्था में रहती है। इसी प्रकार की सुषुप्ति उन कीड़ों के कायाकल्प काल में रहती है जिनका रूपान्तर होता है। तितलियाँ, मक्खियाँ गुबरैले, रेशम के कीड़े इत्यादि जब ढोले से फतिंगे के रूप में आने लगते हैं तब इसी प्रकार की सुषुप्त दशा में रहते हैं। इस सुषुप्तिकाल के बीच उनके तन्तुओं और विविध अंगों का निर्माण होता है। ध्यान देने की बात यह है कि इस कायाकल्प काल के पूर्व जब वे ढोले के रूप में रहते हैं तब उनमें इन्द्रियों और अन्तःकरण के व्यापार अच्छी तरह दिखाई पड़ते हैं। फिर इस सुषुप्तावस्था के हट जाने पर जब इन कीड़ों का पूरा कायापलट हो जाता है और ये पूर्ण यौवनप्राप्त फतिंगों के रूप में उड़ने लगते हैं तब ये मनोव्यापार और भी उन्नत रूप में देखे जाते हैं।

मनुष्य के मनोव्यापार की भी जीवनकाल में कई अवस्थाएँ होती हैं। जिस प्रकार उसका शरीर शैशव, कुमार, पोंगंड, यौवन और जरा नामक चढ़ानी उतरानी की अवस्थाओं को क्रमशः प्राप्त होता है उसी प्रकार उसकी आत्मा या मनोव्यापार भी।

नौवाँ प्रकरण

# वर्गपरम्पराक्रम से आत्मा का विकास

यह सिद्धान्त अब पूर्णतया स्थिर हो गया है कि मनुष्य का शरीर अनेक पूर्वज जन्तुओं के शरीर से परम्परानुसार परिवर्तित होते होते उत्पन्न हुआ है। अतः उसके मनोव्यापारों को हम उसके और शारीरिक व्यापारों से अलग नहीं कर सकते। हमें यह मानना पड़ता है कि शरीर और मन दोनों का विकास क्रमशः हुआ है। अतः मनोविज्ञान में यह देखना अत्यन्त आवश्यक है कि किस प्रकार पशु की आत्मा से क्रमशः मनुष्य की आत्मा का विकास हुआ है। आत्मा के जातिपरम्परागत विकासक्रम का निरूपण मनस्तत्त्व विद्या का प्रधान अंग है। एक जाति के जन्तु से विकास द्वारा दूसरी जाति के जन्तु की जो दीर्घपरम्परा चली आई है उसके अन्वेषण के द्वारा आत्मा के विकासक्रम का भी बहुत कुछ पता चलता है।

मनुष्य के मनोव्यापारों का दूसरे जरायुज जन्तुओं के मनोव्यापारों से यदि एक एक करके मिलान करें तो पता लगेगा कि बनमानुस की आत्मा से ही कुछ और उन्नत अवस्था को प्राप्त मनुष्य की आत्मा है। समस्त रीढ़वाले जन्तुओं में मनोव्यापारों का प्रधान करण मेरुरज्जु होता है।[1] यह मेरुरज्जु बिना रीढ़वाले पूर्वज कीड़ों की उस खड़ी संवेदनसूत्रग्रन्थि का प्रवर्द्धित रूप है जो चिपटे केंचुओं की गर्भझिल्ली अर्थात् घटकों की परत से उन्नत अवस्था को प्राप्त होकर बनी है। चिपटे केंचुओं[2] के अंगविश्लेषण द्वारा इस बात का पता लग जाता है। इन आदिम जीवों के कोई अलग संवेदनसूत्रमय विज्ञानकोश नहीं होता, इनके ऊपर का सारा चमड़ा ही संवेदनग्राही और मनोव्यापारसाधक होता है। ये अनेकघटक कीट परस्पर गुछकर झिल्ली के रूप में नियोजित होनेवाले अणुजीवों के उत्तरोत्तर विभाग द्वारा बने हैं। भिन्न भिन्न जन्तुओं

---

1. यह मेरुरज्जु भेजे की बत्ती के रूप का होता है और मस्तिष्क से लेकर पीछे की ओर मेरुदंड के बीचोबीच से होता हुआ नीचे तक गया रहता है।
2. एक प्रकार के चिपटे केंचुए जानवरों के पेट या कलेजे में भी उत्पन्न हो जाते हैं।

के गर्भविधान की परीक्षा करने से इनके योजनाक्रम का पता चलता है। परस्पर मिलकर झिल्ली या आवरण बनानेवाले ये कलात्मक अणुजीव आदिम एकघटक अणुजीवों से ही उत्पन्न हुए हैं। गर्भ के भीतर एकघटक या अणुजीव से जिस प्रकार अनेक घटकों के कलात्मक समवाय की सृष्टि होती है और फिर उससे उत्तरोत्तर उन्नत अवस्थाओं का क्रमशः विधान होता है यह खुर्दबीन (सूक्ष्मदर्शक यन्त्र) के द्वारा देखा जा सकता है। इस परीक्षा द्वारा आत्मा के विकास का जो क्रम निर्धारित होता है उसके अनुसार आत्मा आठ मुख्य अवस्थाओं से होती हुई मनुष्य की आत्मा का उन्नत रूप प्राप्त करती है। इन पूर्वापर अवस्थाओं के सूचक आठ प्रकार के जो जीव पाए जाते हैं वे ये हैं–

1. एकघटक अणुजीव जिन्हें एक अत्यन्त क्षुद्र कोटि की घटकात्मा मात्र होती है; जैसे–जल में रहने वाले रोईंदार अणुजीव[1]।

2. समूहबद्ध अनेकघटक क्षुद्रजीव जो बहुत से मिलकर एक विशेष आकार के पिंड बनाकर रहते हैं, जैसे स्पंज। ये यद्यपि मिलकर बिलकुल एक जीव नहीं बन जाते तो भी इनमें एक प्रकार का सम्बन्ध रहता है। एक अणुजीव के त्वक् पर जो क्षोभ पहुँचाया जायगा उसका प्रभाव सारे समूह पर पड़ेगा। ऐसे जीव जल में पाए जाते हैं। इनकी आत्मा को समूहबद्ध आत्मा कह सकते हैं।

3. आदिम अनेकघटक जीव जिनका शरीर कई घटकों के मिलकर सर्वथा एक शरीरकोश हो जाने से बना है, जैसे चिपटे केंचुओं का वर्ग[2]।

4. बिना रीढ़वाले आदिम जीव जिनमें मस्तिष्क या अन्तःकरण एक खड़ी सूत्रग्रन्थि के रूप में होता है, जैसे जोंक आदि का वर्ग।

5. ऐसे रीढ़वाले जन्तु जिन्हें कपाल या मस्तिष्क नहीं होता केवल एक सादा मेरुरज्जु होता है, जैसे अकरोटी मत्स्य[3] या कुलाट।

6. कपाल और पंचघटात्मक मस्तिष्क वाले जन्तु, जैसे मछली।

---

1. ये अणुजीव एक इंच के शतांश के बराबर होते हैं और ताल आदि के स्थिर जल में अपने रोइयों के सहारे तैरते फिरते हैं। ये एक लम्बी थैली के रूप के होते हैं। इनमें स्फुट इन्द्रियाँ आदि नहीं होतीं। पेट की ओर कुछ दबा हुआ स्थान होता है जिसमें एक ओर से जल भीतर जाता है और दूसरी ओर से निकलता है। भीतर जो कललरस का चेप रहता है उसमें जल का पोषक अंश (और भी सूक्ष्म वनस्पति आदि) मिल जाता है। जब यह जीव किसी प्रकार उद्विग्न या क्षुब्ध होता है तब अपने त्वक् के भीतर से चारों ओर लम्बे लम्बे सूत निकालता है। सड़ाव के कीड़े इसी प्रकार के होते हैं।
2. ये केंचुए कई प्रकार के होते हैं। अधिकांश तो जन्तुओं के पेट में पड़ते हैं, कुछ समुद्र के जल में या दलदलों में पाए जाते हैं।
3. चार अंगुल लम्बा एक कीड़ा जो देखने में जोंक की तरह का होता है। इसमें विशेषता यह है कि इसके शरीर में एक प्रकार की लचीली कोमल रीढ़ होती है जिसे सूत्रदंड कह सकते हैं पर कपाल या मस्तिष्क नहीं होता। यह कीड़ा समुद्र तट पर बालू में बिल बनाकर रहता है और पानी में खड़ा तैरता है।

7. ऐसे स्तन्य जन्तु जिनके मस्तिष्क का तल उन्नत अवस्था को प्राप्त रहता है, जैसे जरायुज वर्ग—कुत्ते, बिल्ली आदि।

8. बनमानुस और मनुष्य जिनके मस्तिष्क के भेजे में मेधाशक्ति होती है।

ऊपर लिखे हुए जीवों की सृष्टि भिन्न भिन्न कल्पों में एक दूसरे के पीछे क्रमशः हुई है। इनमें जिस क्रम से मनस्तत्त्व का विकास हुआ है वह नीचे दिया जाता है—

**1. घटकात्मा या अंकुरात्मा**—जीववर्गों के बीच मनोविकास की यह प्रथमावस्था है। ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य तथा और सब जीवों के सबसे आदिम पूर्वज एकघटक अणुजीव थे। जिस क्रम से मनुष्य आदि प्राणी अपने पूर्ववर्ती जन्तुओं से परिवर्तनपरम्परा द्वारा निकलकर अपने वर्तमान रूप में आए हैं उसका पता प्रत्येक प्राणी के भ्रूणविकासक्रम को देखने से लग जाता है। और सब अनेकघटक जीवों के समान मनुष्य भी गर्भाशय के भीतर एक क्षुद्र घटक से जिसे अण्डघटक या अंकुरघटक कहते हैं अपने जीवन का आरम्भ करता है। जैसे इस घटक में आरम्भ ही से एक प्रकार की आत्मा होती है वैसे ही अत्यन्त प्राचीन कल्प के उन पूर्वज अणुजीवों में भी थी जिनसे विकासक्रमानुसार मनुष्य की उत्पत्ति हुई है।

एकघटक जीवों के मनोव्यापार किस प्रकार के होते हैं इसका पता आजकल पाए जानेवाले एकघटक अणुजीवों के शरीरविधान आदि को देखने से लग सकता है। इन अणुजीवों के अन्वीक्षण से बहुत सी नई नई बातों का पता लगा है। वरवर्न नामक एक जरमन जीवविज्ञानवेत्ता ने अनेक प्रकार से परीक्षा करके बतलाया है कि एकघटक अणुजीवों के समस्त मनोव्यापार अचेतन अर्थात् अज्ञानकृत होते हैं, उनमें जो संवेदना और गति देखी जाती है वह कललरस की कणिकाओं के धर्मानुसार होती है। एकघटक अणुजीवों के मनोव्यापार जड़द्रव्य की रासायनिक क्रियाओं, जैसे अणुओं का आकर्षण, विश्लेषण आदि; और उन्नत जन्तुओं की अन्तःकरण वृत्तियों के बीच की शृंखला के समान हैं। उन्हें मनुष्य तथा और अनेकघटक जीवों के उन्नत मनोव्यापारों का बीज समझना चाहिए।

जल में रहनेवाले भिन्न भिन्न प्रकार के एकघटक कीटाणुओं की परीक्षा करके मैंने कुछ दिन पहले यह मत प्रकट किया था कि प्रत्येक सजीव घटक में कुछ मानसिक वृत्तियाँ होती हैं, और अनेकघटक जीवों और पौधों की मानसिक वृत्ति उन घटकों की मानसिक वृत्तियों की समष्टि है जिनकी योजना से उनका शरीर संघटित रहता है। स्पंज आदि क्षुद्र कोटि के अनेकघटक जीवों में शरीर का प्रत्येक घटक मानसिक क्रिया में समान रूप से प्रवृत्त होता है पर उन्नत कोटि के जीवों में कार्यविभाग के नियमानुसार कुछ चुने हुए घटक ही इस क्रिया के लिए नियुक्त हो जाते हैं और मनोघटक कहलाते हैं।

घटकात्मा की भी ऊँची नीची कई श्रेणियाँ होती हैं। कुछ का व्यापार तो अत्यन्त सीधासादा होता है और कुछ का जटिल होता है। सबसे आदिम और क्षुद्र कोटि

के एकघटक जीवों में संवेदन और गतिशक्ति घटकस्थ कललरस में सर्वत्र एकरस होती है। जो कुछ व्यापार वे कर सकते हैं अपने रसबिन्दु रूपी शरीर के प्रत्येक भाग से कर सकते हैं। उन्नत कोटि के एकघटक अणुजीवों में कुछ करणांकुर उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे गति आदि व्यापार होते हैं। इस प्रकार के करण जल के कुछ सूक्ष्म कीटाणुओं में स्थिर पादांकुरों या रोइयों के रूप में देखे जाते हैं। इन कीटाणुओं के कललरस के मध्य में एक सूक्ष्म गुठली होती है जिसे घटक का अन्तःकरण समझना चाहिए। सबसे आदिम वनस्पति और सबसे आदिम जन्तु जो सृष्टि के बीच उत्पन्न हुए वे एकघटक थे। आज भी इस प्रकार के एकघटक जन्तु और एकघटक वनस्पति पाए जाते हैं। जल के ये वनस्पति अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, कोई कोई तो एक इंच के कई लाखवें हिस्से के बराबर होते हैं।

जल में रहने वाले रोईंदार सूक्ष्म अणुजीवों में उन्नत कोटि की घटकात्मा देखी जाती है। उनकी गतिविधि का यदि हम अनेकघटक प्राणियों की गतिविधि से मिलान करें तो बहुत कम अन्तर मिलेगा। इन एकघटक अणुजीवों में जो संवेदनग्राही और गतिसम्पादक करणांकुर होते हैं वे वही काम करते हैं जो उन्नत जन्तुओं का मस्तिष्क करता है। इन सूक्ष्म अणुजीवों का मनोव्यापार किस प्रकार का होता है इस विषय में कुछ मतभेद है। कुछ वैज्ञानिकों का कहना है कि इनमें जो स्वतः प्रवृत्ति होती है वह जड़ या उद्वेगात्मक अर्थात् कललरस के स्वाभाविक क्षोभ से उत्पन्न होती है और जो विषयोत्तेजित गति देखी जाती है वह प्रतिक्रिया मात्र होती है। इसके विरुद्ध कुछ लोगों का कहना है कि इनके ये व्यापार कुछ कुछ ज्ञानकृत होते हैं अर्थात् इनमें थोड़ी बहुत चेतना का विकास होता है। पर अधिकांश लोग इनमें चेतना या ज्ञान नहीं मानते। जो कुछ हो, हमारा प्रयोजन इतने ही से है कि इनमें एक प्रकार का समुन्नत मनस्तत्त्व होता है।

**2. समूहबद्ध आत्मा**—वर्गानुक्रमगत आत्मविकास की यह द्वितीयावस्था है। मनुष्य तथा और दूसरे अनेकघटक प्राणियों की गर्भवृद्धि एक सूक्ष्म घटक के विभाग द्वारा आरम्भ होती है। यह सूक्ष्म अंकुरघटक पहले दो घटकों में विभक्त होता है, फिर दोनों घटक विभक्त होकर चार घटक हो जाते हैं। चार से आठ, आठ से सोलह, सोलह से बत्तीस, बत्तीस से चौंसठ इसी प्रकार घटकों की संख्या बराबर बढ़ती जाती है। यहाँ तक कि वे सब मिलकर सूक्ष्म बुद्‌बुदगुच्छ या शहतूत का सा आकार धारण करते हैं। इस गुच्छ को कललगुच्छ कहते हैं। धीरे धीरे घटकों के इस गुच्छे के बीच एक प्रकार का रस इकट्ठा हो जाता है और यह गुच्छा झिल्ली का एक कोश या घट बन जाता है। यह इस प्रकार होता है कि सारे घटक रस के ऊपर आकर एक झिल्ली के रूप में जम जाते हैं जिसे मूलकला कहते हैं। इस कला द्वारा जो गोल कोश बनता है उसे अंकुरकोश या कललकोश कहते हैं।

कललकोश के निर्माण में घटकसमूह के जो मनोव्यापार दिखाई पड़ते हैं वे

कुछ तो संवेदन हैं और कुछ गत्यात्मक क्रियाएँ हैं। गति इसमें दो प्रकार की होती है—एक तो आभ्यन्तर गति जो विभाग के समय घटक की भीतरी गुठली के स्थितिपरिवर्तन के क्रम में देखी जाती है, दूसरी वाह्यगति जो घटकों के स्थिति बदलने और परस्पर मिलकर झिल्ली बनाने में देखी जाती हैं। हम इन गतियों को कुलपरम्परागत और अचेतन, अज्ञानकृत मानते हैं। ये एकघटक अणुजीवों के धर्म हैं जिनसे समस्त बहुघटक प्राणियों का विकास हुआ है। कुलपरम्परानुसार ये धर्म किसी न किसी रूप में अबतक प्रकट होकर कुछ काल तक रहते हैं। संवेदन भी दो प्रकार के होते हैं—(क) प्रत्येक घटक के पृथक् पृथक् संवेदन और (ख) घटकों के सारे समूह का एक सामान्य संवेदन जिसका पता सारे घटकों की उस सामान्य प्रवृत्ति से लगता है जिसके अनुसार वे सबके सब मिलकर एक कोश निर्माण करते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है गर्भावस्था का यह कललघट वह रूप है जिस रूप में सारे जन्तुओं के आदिम पूर्वज किसी कल्प में थे। इस प्रकार के घटकसमूह अब तक जल के रोईंदार तथा और कई प्रकार के एकघटक अणुजीवों में पाए जाते हैं। ये एकघटक जीव उसी प्रकार समूह बनाकर रहते हैं जिस प्रकार कललकोश के घटक।

**3. तन्तुजालगत या समवाय आत्मा**—वर्गपरम्परागत आत्मविकास की यह तृतीयावस्था है। उन सब बहुघटक पौधों और जीवों में जिनके घटक तन्तुजाल के रूप में मिलकर एक हो जाते हैं, दो कोटि के मनोव्यापार देखे जाते हैं—(क) तन्तुजाल के एक एक घटक की आत्मा का अलग अलग मनोव्यापार और (ख) सारे तन्तुजाल अर्थात् घटकसमष्टि का मनोव्यापार। मनोव्यापारों के इस समष्टिविधान से ही बहुत से घटक मिलकर एक शरीर हो जाते हैं। यह तन्तुजालगत आत्मा या आत्मसमष्टि सारे घटकों की पृथक् पृथक् घटकात्माओं को अंगांगिभाव से चलाती है। निम्नकोटि के बहुघटक पौधों और जन्तुओं में आत्मा की यह दोहरी प्रवृत्ति ध्यान देने योग्य है। परीक्षा द्वारा इसे हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं। किसी पौधे को लेकर हम देख सकते हैं कि उनके प्रत्येक घटक की निज की संवेदना और गति भी होती है और साथ ही प्रत्येक तन्तुजाल या अवयव का, जो कई समानधर्मवाले घटकों के योग से संघटित रहता है, विशेष उत्तेजन और मनोधर्म भी होता है। दृष्टान्त के लिए पौधों के पराग या परागकेसर को लीजिए।

**(क) उद्भिदात्मा**—यह बहुघटक पौधों की समस्त आन्तरिक वृत्तियों का सारांश है। पहले पौधों और जन्तुओं में बड़ा भारी भेद यह समझा जाता था कि जन्तुओं में आत्मा होती है और पौधों में नहीं। पर घटकविधान और कललरसविधान का पता लग जाने से अब जन्तुओं और पौधों की मूलयोजना की समानता सिद्ध हो गई है। आजकल के तारतम्यिक शरीरविज्ञान ने अच्छी तरह दिखा दिया है कि बहुत से पौधों और क्षुद्र जन्तुओं की प्रवृत्ति पर प्रकाश, ताप, विद्युत्प्रवाह, संघर्षण और रासायनिक क्रिया इत्यादि उत्तेजनों का प्रभाव समान पड़ता है और दोनों में इस प्रकार

के उत्तेजन से एक ही ढंग की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। ऐसे उत्तेजनों से जिस प्रकार की प्रतिक्रिया स्पंज, मूँगे के कृमि आदि में उत्पन्न होती है उससे बढ़कर लज्जालु और मक्षिकाग्राही आदि पौधों में देखी जाती है। अतः यदि एक की क्रिया को हम आत्मा की क्रिया मानते हैं तो दूसरे की क्रिया को भी आत्मा की क्रिया क्यों न मानें? जो लज्जालु छूने के साथ ही अपनी पत्तियों को बन्द कर लेता और टहनियों को झुका लेता है, जो मक्षिकाग्राही पौधा पत्ते पर मक्खी बैठते ही उस पत्ते को दूसरे पत्ते के साथ जुटाकर मक्खी को फँसा लेता है, उसमें स्पंज आदि की अपेक्षा अधिक संवेदन और गतिशक्ति हमें माननी पड़ेगी।

**(ख) संवेदनसूत्र रहित अनेकघटक जीवों की आत्मा**—उन क्षुद्र बहुघटक जीवों के मनोव्यापार ध्यान देने योग्य हैं जिनका शरीर तन्तुजालमय तो होता है पर जिन्हें अलग संवेदनवाहक सूत्र नहीं होते। जल में रहनेवाले घटकृमि, चिपटे केंचुए, स्पंज तथा प्रवालकृमि इत्यादि सबसे क्षुद्र कोटि के आशयविशिष्ट जीव इसी प्रकार के होते हैं।

घटकृमि आशयविशिष्ट जीवों में सबसे आदिम हैं। इन्हीं से और सब बहुघटक जीव उत्पन्न हुए हैं। इन कृमियों का क्षुद्र शरीर एक अंडाकार कोश या पात्र के रूप में होता है जिसमें एक छोटा छिद्र होता है। कोश के भीतर का खाली स्थान उदर का और छिद्र मुख का आदि रूप है। कोश दोहरी झिल्लियों का होता है। नीचे वाली झिल्ली उदराशय का आवरण है जिसके द्वारा पाचन क्रिया होती है और ऊपर वाली झिल्ली त्वक् है जिसके द्वारा स्पर्शसंवेदन और गति होती है। त्वक्वाली झिल्ली जिन घटकों के योग से बनी रहती है उनके ऊपर बहुत सूक्ष्म रोइयाँ होती हैं जिनके सहारे ये कृमि पानी में तैरते हैं। इन कृमियों की कई जातियाँ जल में मिलती हैं। ये द्विकलघट कृमि अपने जीवन भर उसी अवस्था में रहते हैं जिस अवस्था में कुछ काल तक मनुष्य आदि समस्त बहुघटक प्राणियों के भ्रूण आरम्भ में रहते हैं। यह द्विकलघट रूप भ्रूण को कललघट अवस्था के उपरान्त ही प्राप्त होता है। कललकोश की जो एकहरी झिल्ली होती है वह एक ओर पिचककर नीचे की ओर धँस जाती है। आधी झिल्ली जब पिचककर शेष आधी झिल्ली के भीतर जम जाती है तब कललकोश का आकार बदलकर दोहरी झिल्ली के एक कटोरे का सा हो जाता है जिसे हम द्विकलघट कह सकते हैं। नीचे ऊपर जमी हुई दो झिल्लियों में से बाहरी झिल्ली वाह्यकला, त्वक्कला है और भीतरी झिल्ली आशकला है। कटोरे के आकार के द्विकलघट में जो खाली स्थान होता है वही पेट या जठराशय है और जो छिद्र होता है वही मुख है। बाहरी त्वक्कला ही संवेदन की एकमात्र इन्द्रिय है। इसी से क्रमशः उन्नति करते करते बड़े जीवों की ऊपरी त्वचा, इन्द्रियाँ तथा संवेदनसूत्र कार्यविभाग क्रम द्वारा बने हैं। द्विकलघट जीवों में संवेदनवाहक सूत्र आदि नहीं होते, उनकी ऊपरी झिल्ली (वाह्यकला) के सारे घटक समान रूप से संवेदनग्राही और गतिशील होते हैं। उनमें तन्तुजालगत आत्मा सबसे आदिम या प्रारम्भिक रूप में रहती है।

चिपटे केंचुओं में से कुछ की बनावट तो बिलकुल घटकृमियों की सी होती है अर्थात् उनमें संवेदनसूत्र विधान नहीं होता। पर कुछ ऐसे भी होते हैं जिनमें एक लम्बा संवेदनसूत्र और एक सूक्ष्म मस्तिष्कग्रन्थि भी होती है। स्पंजों की बनावट सबसे विलक्षण होती है। वे अधिकतर समुद्र के तल में पाए जाते हैं। सबसे क्षुद्र कोटि के जो स्पंज होते हैं वे द्विकलघट के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते। उनकी झिल्ली में छलनी की तरह के बहुत से छेद होते हैं जिनसे होकर खाद्यमिश्रित जल भीतर जाता है। वे कांड या शाखा के रूप में समूहपिंड बनाकर रहते हैं जिसके भीतर जल के लिए नालियाँ होती हैं। वे चर नहीं होते हैं। उनमें संवेदन और अंगगति बहुत ही मन्द होती है। इसी से पहले लोग उन्हें उद्‌भिद समझते थे।

जल के उद्‌भिदाकार कृमियों की यदि हम परीक्षा करें तो साफ दिखाई पड़ेगा कि किस प्रकार तन्तुजालगत आत्मा से उन्नतिक्रम द्वारा संवेदनसूत्रगत आत्मा का विकास होता है। मूँगा और छत्रक इसी प्रकार के कृमि हैं। एक प्रकार के कृमियों का समूहपिंड या छत्ता समुद्र और झीलों में चट्टानों आदि पर जमा मिलता है जो देखने में खड़े पौधे की तरह जान पड़ता है। इन्हें खंडबीज[1] कहते हैं। छत्ते के प्रधान कांड में से जगह जगह पर छोटी छोटी शाखाएँ निकली होती हैं जो सिरे पर चौड़ी होकर गिलास के आकार की होती हैं। इसी गिलास के भीतर असली कृमि बन्द रहते हैं, केवल उनकी सूत की तरह की भुजाएँ निकली होती हैं। कुछ शाखाओं के भीतर विशेष प्रकार के कुड्मल होते हैं। जब कोई कुड्मल अपनी पूरी बाढ़ को पहुँच जाता है तब एक स्वतन्त्र जीव होकर कांड से अलग हो जाता है और चर जन्तु के रूप में इधर उधर तैरने लगता है। इसी को छत्रककृमि कहते हैं क्योंकि यह छाते के आकार का होता है। जिस अचर पिंड से इसकी उत्पत्ति होती है उससे यह बिलकुल भिन्न होता है। अचर खंडबीज कृमियों में संवेदनसूत्र और इन्द्रियाँ नहीं होतीं, उनमें संवेदन शरीरव्यापी होता है। पर छत्रक में संवेदनग्रन्थियों और विशेष इन्द्रियों का कुछ विधान होता है। इसके प्रजनन का विधान भी ध्यान देने योग्य है। स्थावर खंडबीज कृमियों में स्त्री पुरुष विधान नहीं होता, कुड्मल विधान होता है जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है। पर उनसे जो छत्रककृमि उत्पन्न होते हैं उनमें स्त्री पुरुष अलग अलग होते हैं। पुरुष के शुक्रकीटाणु जल में छूट पड़ते हैं और जल के प्रवाह द्वारा मादा के गर्भाशय में जाकर गर्भकीटाणु को गर्भित करते हैं। ये गर्भकीटाणु शीघ्र डिम्भकीट के रूप में प्रवर्धित होकर कुछ दिनों तक जल में तैरते फिरते हैं, पीछे किसी पौधे, लकड़ी के तख्ते आदि पर जम जाते हैं और धीरे धीरे बढ़कर खंडबीज कृमि के रूप में हो जाते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इसी खंडबीज कृमि से फिर छत्रककृमि

---

1. इनमें यह विशेषता होती है कि इनके शरीर के यदि कई खंड कर डालें तो उसमें प्रत्येक खंड बढ़कर कृमि के रूप में हो जायगा।

की उत्पत्ति होती है। सारांश यह कि खंडबीज कृमि से छत्रक कृमि की उत्पत्ति होती है और छत्रककृमि से खंडबीज कृमि की। प्रजनन के इस विधान को इतरेतरजन्म[1] या योन्यंतर विधान कहते हैं। इसमें हम आत्मा की वर्गपरम्पराक्रम से वृद्धि अपनी आँखों के सामने देख सकते हैं। समूहपिंड बनाकर रहनेवाले उद्भिदाकार कृमियों में हमें दोहरी आत्मा दिखाई पड़ती है। एक तो समूहपिंड के कृमियों की पृथक् पृथक् आत्मा, दूसरी सारे समूहपिंड की सामान्य आत्मसमष्टि।

**4. संवेदनसूत्रगत आत्मा या सूत्रात्मा**—वर्गपरम्परानुगत आत्मविधान की यह चतुर्थावस्था है। मनुष्य आदि समुन्नत जीवों के मनोव्यापार एक विशेष यन्त्र या करण के द्वारा होते हैं। इस करण के तीन मुख्य विभाग होते हैं—(क) वाह्यकरण या इन्द्रियाँ जिनसे संवेदन होता है, (ख) पेशियाँ जिनसे गति या संचालन होता है और (ग) संवेदनसूत्र[2] जो इन दोनों के बीच मस्तिष्क रूपी प्रधान करण के द्वारा सम्बन्ध स्थापित करते हैं। मनोव्यापारों का साधन करनेवाले इस भीतरी यन्त्र की उपमा तारयन्त्र से दी जा सकती है। संवेदनसूत्र तार हैं, इन्द्रियाँ छोटे स्टेशन हैं और मस्तिष्क सदर स्टेशन है। गतिवाहक सूत्र संकल्परूपी आदेश को सूत्रकेन्द्र या मस्तिष्क से पेशियों तक पहुँचाते हैं जिनके आकुंचन से अंगों में गति होती है। संवेदनवाहक सूत्र इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त संवेदनों को अन्तर्मुख गति से मस्तिष्क या अन्तःकरण में पहुँचाते हैं। मस्तिष्क या अन्तःकरण रूपी मनोव्यापार केन्द्र ग्रन्थिमय होता है। इन सूत्रग्रन्थियों के घटक सजीव द्रव्य के सबसे समुन्नत अंश हैं। इनके द्वारा इन्द्रियों और पेशियों के बीच व्यापारसम्बन्ध तो चलता ही है, इसके अतिरिक्त भावग्रहण, बोध और विवेचन आदि अनेक प्रकार के मनोव्यापार होते हैं।

अत्यन्त क्षुद्र जीवों को छोड़ शेष सब जन्तुओं में मनोव्यापार का एक अलग करण होता है। छत्रककृमियों में मुँह के मेंडरे पर भेजे या संवेदनसूत्र बनाने वाली धातु का एक छल्ला सा होता है जिसमें थोड़े बहुत अन्तर पर कई, प्रायः चार या आठ कोश या ग्रन्थियाँ होती हैं। ये ग्रन्थियाँ निकले हुए पैरों के सिरे पर होती हैं और वही काम देती हैं जो मस्तिष्क देता है। चिपटे केंचुओं और जोंक आदि कीड़ों में मुँह के ऊपर केवल दो सूत्रग्रन्थियों का खड़ा मस्तिष्क होता है। इन ग्रन्थियों से दो सूत्रशाखाएँ त्वक् और पेशियों की ओर जाती हैं। शुक्तिवर्ग के कोमलकाय कृमियों में नीचे की ओर भी ग्रन्थियाँ होती हैं जो ऊपरवाली ग्रन्थियों से एक छल्ले के द्वारा जुड़ी होती हैं। इस प्रकार का छल्ला खंडकाय अर्थात् जिनका शरीर गुरियों से बना

---

1. ऋग्वेद में लिखा है कि 'अदितिर्दक्षो अजायत, दक्षाददितिः परि' अर्थात् अदिति से दक्ष उत्पन्न हुए और दक्ष से अदिति। इसका यास्काचार्य ने इस प्रकार समाधान किया है 'इतरेतरजन्मानो भवन्तीतरेतर प्रकृतयः'।
2. क्षुद्र कोटि के जीवों में साधारण तन्तुओं से अलग संवेदन सूत्र नहीं होते।

हो, जैसे कनखजूरा, मकड़ा, केकड़ा आदि कीटों में भी होता है पर वह पेट की ओर भेजे के दो सूत्रों के रूप में दूर तक गया होता है। रीढ़वाले जन्तुओं में अन्तःकरण की बनावट और ही प्रकार की होती है। उनमें पीठ की ओर भेजे की एक बत्ती प्रकट होती है जो अगले सिरे की ओर फैल कर घटस्वरूप मस्तिष्क का रूप धारण करती है।

उन्नत कोटि के सब जीवों के मस्तिष्क यद्यपि एक ही ढाँचे के नहीं होते पर भिन्न भिन्न जन्तुओं के मस्तिष्कों का मिलान करने से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि उनकी उत्पत्ति एक ही मूल से अर्थात् चिपटे केंचुओं और जोंक आदि कीड़ों के केवल दो ग्रन्थियों से निर्मित क्षुद्र मस्तिष्क से हुई है। मस्तिष्क या अन्तःकरण का स्फुरण गर्भकाल में सबसे ऊपरवाली झिल्ली में होता है। सब जन्तुओं के मस्तिष्क में ग्रन्थिघटक या मनोघटक होते हैं जिनके द्वारा चिन्तन, बोध आदि अनेक प्रकार के मनोव्यापार होते हैं। संवेदन सूत्रों के अतिरिक्त गतिसूत्र भी मस्तिष्क तक गए होते हैं जिनके द्वारा क्रिया की प्रेरणा होती है।

अन्तःकरण का केन्द्र मस्तिष्क है। रीढ़वाले जन्तुओं में इसकी परिस्थिति, रचना और योजना एक विशेष प्रकार की होती है। प्रत्येक जन्तु के मस्तिष्क से भेजे की एक नली रीढ़ में होती हुई पीठ के बीचोबीच नीचे की ओर गई होती है। इस नली की एक एक गुरिया से दोनों ओर संवेदनसूत्र और गतिसूत्र शरीर के भिन्न भिन्न भागों में जाते हैं। भेजे की इस नली की उत्पत्ति मेरुदंड जीवों के भ्रूण में एक ही ढंग से होती है। पीठ की त्वचा के बीचोबीच पहले भेजे की एक लकीर या नली सी दिखाई पड़ती है। पीछे इस लकीर के दोनों किनारे कुछ कुछ उठने लगते हैं और धीरे धीरे मिल जाते हैं जिससे यह लकीर भेजे की एक पोली नली के आकार की हो जाती है।[1]

भेजे की एक नली मेरुदंड जीवों की सबसे बड़ी विशेषता है। इसी से काल पाकर भिन्न भिन्न करण उत्पन्न होते हैं जिनसे अनेक प्रकार के मनोव्यापार—ज्ञान, अनुभव, प्रेरणा आदि होते हैं। मनुष्य में यह नली या मेरुरज्जु अत्यन्त पूर्ण अवस्था को प्राप्त होती है। इसकी गुरियों के दोनों ओर बहुत से सूत्र शरीर के भिन्न भिन्न भागों में जाते हैं जिनके द्वारा ज्ञानेन्द्रियों का अनुभव और कर्मेन्द्रियों का संचालन होता है। करोड़ों वर्षों में अनेक मध्यवर्ती जन्तुओं की आत्माओं से उन्नति करते करते मनुष्य की समुन्नत आत्मा का प्रादुर्भाव हुआ है। सृष्टि के भिन्न भिन्न कल्पों में जिन जिन अन्तःकरण विशिष्ट जन्तुवर्गों का एक दूसरे से क्रमशः विकास हुआ है,

---

1. बाम की तरह की एक छोटी मछली जिसके मुख का विवर गोल होता है। इसके मुँह में नीचे ऊपर के जबड़े नहीं होते, महीन महीन दाँत चारों ओर होते हैं जिनके द्वारा यह चट्टानों या बड़ी मछलियों के शरीर पर चिपटी रहती है।

मेरुरज्जु की क्रमोन्नति के विचार से मनुष्य तक उनके आठ वर्ग होते हैं—(1) अकरोटीमत्स्य, (2) चक्रमुखमत्स्य[1], (3) मत्स्य, (4) जलस्थलचारी जन्तु, (5) अजरायुज जन्तु, (6) आदिम जरायुज जन्तु, (7) किंपुरुषवर्ग (8) नराकार बनमानुस और मनुष्य।

मेरुरज्जुवाले जीवों में सबसे प्रथम अकरोटी मत्स्य उत्पन्न हुए जिनके वर्ग का केवल एक जन्तु कुलाट आजतक समुद्र के किनारे मिलता है। इसके मनोव्यापार का करण एक सीधी भेजे की नली है जिसमें मस्तिष्क नहीं होता। इसी से आगे चलकर चक्रमुख मत्स्यों की उत्पत्ति हुई जिनके वर्ग के दो चार जन्तु अब भी पाए जाते हैं। इनमें मेरुरज्जु का अगला छोर फैलकर एक घट के रूप में हो जाता है जिसके पाँच विभाग हो जाते हैं—बड़ा मस्तिष्कघट, अन्तरवर्त्ती मस्तिष्कघट, मझला मस्तिष्कघट, छोटा मस्तिष्कघट और पिछला मस्तिष्कघट। इसी पंचघटात्मक मस्तिष्क से समस्त कपालवाले जन्तुओं के मस्तिष्क का विकास हुआ है। साधारण मछलियों में ये पाँचों घटक अधिक स्पष्ट होते हैं। मछलियों से फिर जलस्थलचारी जन्तुओं की उत्पत्ति हुई जिनके वर्ग के मेंढक आदि जन्तु अब भी पाए जाते हैं। इनसे आगे चलकर जीवों के जो तीन वर्ग एक दूसरे के पीछे उत्पन्न हुए वे दूध पिलानेवाले जन्तुओं के हैं। दूध पिलानेवाले जीवों के मस्तिष्क में दूसरे रीढ़वाले जन्तुओं के मस्तिष्क से कई बातों की विशेषता होती है। सबसे मुख्य विशेषता तो यह है कि उसमें प्रथम और चतुर्थ घट की बहुत अधिक वृद्धि होती है और तृतीय या मझला घट बिलकुल नहीं होता। सबसे आदिम वर्ग के स्तन्यअंडजस्तन्य, अजरायुज स्तन्य, जीवों का मस्तिष्क जलस्थलचारी जीवों के मस्तिष्क से मिलता जुलता होता है पर उनसे जो उन्नत कोटि के स्तन्य जीव उत्पन्न हुए उनके मस्तिष्क में प्रथमघट की बहुत अधिक वृद्धि हुई। मनुष्य के मस्तिष्क में यह घट सबसे बड़ा और दूर तक लोथड़े की तरह फैला है[1]। इसी से संकल्प, विचार आदि उन्नत कोटि के व्यापार होते हैं। इस प्रकार का मस्तिष्क मनुष्य के अतिरिक्त केवल नराकार बनमानुसों ही का होता है।

अस्तु, यह बात पूर्णरूप से सिद्ध है कि मनुष्य की आत्मा निम्नकोटि के स्तन्य जीवों से क्रमशः उन्नति करते करते उत्पन्न हुई है।

---

1. इसमें अखरोट के गूदे की तरह उभार होते हैं।

दसवाँ प्रकरण

# चेतना

आत्मा या मन के व्यापारों में से चेतना से बढ़कर विलक्षण और कोई व्यापार नहीं। इसके सम्बन्ध में जिस प्रकार भिन्न भिन्न मत दो हजार वर्ष पहले प्रचलित थे उसी प्रकार अब भी हैं। इसी को देखकर आत्मा के अमर और भूतों से परे होने की कल्पना लोगों को सूझी है। यही एक ऐसा रहस्य है जिसके बल पर आत्मा और शरीर को पृथक् माननेवाले द्वैतवादी अनेक प्रकार के अन्धविश्वास ग्रहण किए हुए हैं। अतः तात्त्विक दृष्टि से चेतना का विचार परम आवश्यक है। इस दृष्टि से यदि हम विचार करेंगे तो देखेंगे कि और दूसरे मनोव्यापारों के समान चेतना भी एक प्राकृतिक गुण है तथा शरीर और अन्तःकरण की अन्य वृत्तियों के समान एक प्राकृतिक व्यापार है, अर्थात् प्रकृति के नियमों के सर्वथा अधीन है।

चेतना के स्वरूप और लक्षण तक के विषय में दार्शनिकों का एकमत नहीं। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। पर सबसे उपयुक्त परिभाषा उन दार्शनिकों की प्रतीत होती है जो चेतना को एक प्रकार की अन्तर्दृष्टि कहते हैं और उसकी उपमा दर्पण की क्रिया से देते हैं। चेतना दो प्रकार की होती है—एक अन्तर्मुख, दूसरी बहिर्मुख। अन्तर्मुख चेतना को अहंकार भी कहते हैं। अहंकार वृत्ति के द्वारा अन्तःकरण अपनी ही क्रिया का निरीक्षण, अपनी ही अवस्था का बोध करता है। बहिर्मुख चेतना के द्वारा अन्तःकरण को वाह्य जगत् का बोध होता है। हमारी अधिकांश चेतना वाह्यजगत्सम्बन्धी होती है। अन्तर्मुख चेतना का क्षेत्र संकुचित होता है। उसमें हमारे इन्द्रियानुभव, संस्कार और संकल्प प्रतिबिम्बित होते हैं।

बहुत से तत्त्वज्ञों की धारणा है कि 'चेतना' और 'मनोव्यापार' परस्पर पर्याय शब्द हैं, अर्थात् जितने मनोव्यापार होते हैं सब चेतन होते हैं। पर यह धारणा ठीक नहीं। जैसा मैं पहले दिखा चुका हूँ अधिकतर अन्तःक्रियाएँ या मनोव्यापार ऐसे होते हैं जिनकी हमें कुछ भी खबर नहीं रहती। हमारी इन्द्रियों के साथ विषय का सम्पर्क होता है, अन्तःसंस्कार अंकित होकर पेशियों में गति उत्पन्न करते हैं पर हम कुछ

भी नहीं जानते। चेतन अन्तःसंस्कार जिनके द्वारा ज्ञानकृत व्यापार होते हैं और अचेतन अन्तःसंस्कार जिनके द्वारा अज्ञानकृत व्यापार होते हैं, दोनों अन्तःकरण या मन ही के व्यापार हैं।

चेतना का परिज्ञान हमें चेतना ही के द्वारा हो सकता है। उसकी वैज्ञानिक परीक्षा में यही बड़ी भारी अड़चन है। परीक्षक भी वही, परीक्ष्य भी वही। द्रष्टा अपना ही प्रतिबिम्ब अपनी अन्तःप्रकृति में डालकर निरीक्षण में प्रवृत्त होता है। अतः हमें दूसरों की चेतना का परीक्षात्मक बोध पूरा पूरा कभी नहीं हो सकता। हमें उनकी चेतना का अपनी चेतना से मिलान करते हुए चलना पड़ता है। यदि यह मिलान सामान्य मस्तिष्क के मनुष्यों ही तक रक्खा जाय तब तो हम कुछ थोड़े बहुत सिद्धान्त उनकी चेतना के सम्बन्ध में निश्चय के साथ स्थिर कर सकते हैं। पर यदि हम असामान्य मस्तिष्क के मनुष्यों, जैसे प्रतिभाशाली, सनकी, जड़ या विक्षिप्त लोगों को लेकर विचार करने जाते हैं तो हमारे सिद्धान्त या तो अपूर्ण या सर्वथा भ्रान्त निकलते हैं। यही बात मनुष्यों की चेतना को जन्तुओं, विशेषतः क्षुद्र जन्तुओं की चेतना के साथ मिलाने से होती है। ऐसा करने में इतनी भारी कठिनाइयाँ सामने आती हैं कि चेतना के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न शरीरविज्ञानियों और दार्शनिकों के मतों में आकाश पाताल का अन्तर पड़ जाता है। मुख्य मुख्य मतों का नीचे उल्लेख किया जाता है–

**1. चेतना केवल मनुष्य ही में होती है**–इस सिद्धान्त का प्रवर्तक फरासीसी तत्त्ववेत्ता डेकार्ट है जिसके अनुसार विचार और चेतना मनुष्य ही के गुण हैं और अमर आत्मा केवल मनुष्य ही में होती है। इस तत्त्ववेत्ता ने मनुष्य के व्यापार और पशु के मनोव्यापार में भेद किया है। इसके मत में मनुष्य की आत्मा एक विचार करनेवाली अभौतिक सत्ता है जो भौतिक शरीर से सर्वथा पृथक् है। पर पृथक् होते हुए भी वह मस्तिष्क के एक विशिष्ट अंश के साथ लगी रहती है जिसमें वह वाह्य जगत् के विषयों को संस्कार के रूप में ग्रहण करे और कर्मेन्द्रियों को प्रवृत्त करे। पशुओं में विचार करने की शक्ति नहीं होती, आत्मा नहीं होती। वे कौशल के साथ बैठाए हुए, पुरजों की मशीन की तरह हैं। उनके इन्द्रियसंवेदन, अन्तःसंस्कार और प्रवृत्ति जड़ व्यापार मात्र हैं जो भौतिक नियमों के अनुसार होते हैं। अस्तु, डेकार्ट मनुष्य के सम्बन्ध में तो द्वैतवादी था, पर पशुओं के सम्बन्ध में अद्वैतवादी। मनुष्यों के सम्बन्ध में तो वह शरीर और आत्मा को दो पृथक् वस्तुएँ मानता था पर पशुओं के सम्बन्ध में दोनों को एक ही मानता था। डेकार्ट के इस दोरंगे सिद्धान्त का फल यह हुआ कि सत्तरहवीं और अठारहवीं शताब्दी के भूतवादी तो मनोव्यापारों को भौतिक क्रिया मात्र सिद्ध करने के लिए उसकी पशुसम्बन्धी विवेचना का सहारा लेने लगे और अध्यात्मवादी लोग उसके मनुष्यसम्बन्धी विवेचन को आगे करके आत्मा का अमरत्व और शरीर से उसका पृथक्त्व सिद्ध बलताने लगे। पर मनुष्य की आत्मा

के सम्बन्ध में डेकार्ट का यह विवेचन उन्नीसवीं शताब्दी के गम्भीर और सूक्ष्म अनुसंधानों से सर्वथा भ्रान्त सिद्ध हुआ।

**2. चेतना संवेदनसूत्रवाले जीवों ही में होती है**–मनुष्य तथा और उन्नत जीवों ही में चेतना होती है जिन्हें केन्द्रीभूत संवेदनसूत्रविधान अर्थात् विज्ञानमय कोश होता है। यही सिद्धान्त आजकल जन्तुविज्ञान, शरीरविज्ञान और अद्वैत मनोविज्ञान में माना जाता है। प्राणिविज्ञान की भिन्न भिन्न शाखाओं में जो अपूर्व उन्नति हुई है उससे इसी सिद्धान्त का समर्थन होता है। हजारों वर्ष से लोग देखते आते हैं कि बन्दर, कुत्ते आदि जो उन्नत कोटि के पशु हैं उनकी बुद्धि बहुत सी बातों में मनुष्य की बुद्धि से मिलती जुलती होती है। उनके इन्द्रियसंवेदन, अन्तःसंस्कार, सुख दुःख आदि का अनुभव, इच्छा, द्वेष आदि मनोव्यापार बहुत कुछ मनुष्यों के से होते हैं। यहाँ तक कि इतना सब होने पर भी यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि उन्नतिक्रम के अनुसार जीवों की वर्गपरम्परा में किसी विशेष वर्ग से चेतना का प्रादुर्भाव होता है। मुझे तो इसी सिद्धान्त के सत्य होने की सम्भावना अधिक प्रतीत होती है जिसके अनुसार चेतना संवेदनसूत्रों के केन्द्रीभूत होने पर उत्पन्न होती है। छोटे जीवों में संवेदनसूत्र एक स्थान पर केन्द्रीभूत नहीं होते, उनमें पूर्ण विज्ञानमय कोश नहीं होता। जिन जीवों में संवेदनसूत्रों का केन्द्ररूप अवयव या अन्तःकरण होता है, उन्नत ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं अर्थात् जिनमें विज्ञानमय कोश होता है उन्हीं में चेतना होती है।

**3. चेतना सब प्राणियों में होती है**–छोटे बड़े जितने जीव हैं सब चेतन होते हैं। यह सिद्धान्त उद्भिदों और जन्तुओं के आन्तरिक व्यापारों में भेद करता है। प्राचीनों का भी यही विश्वास था कि जन्तुओं में इन्द्रियानुभव और चेतना होती है, लेकिन पौधों में नहीं। पर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग में जब स्पंज आदि क्षुद्र जन्तुओं की आन्तरिक क्रियाओं की परीक्षा की गई तब इस विश्वास की असारता प्रकट हो गई। स्पंज आदिकों के स्थावर जन्तु होने में कोई सन्देह नहीं, पर उनमें चेतना का कोई आभास उसी प्रकार नहीं पाया जाता जिस प्रकार पौधों में। एकघटक अणुजीवों की जब सूक्ष्म परीक्षा की गई तब उनकी और एकघटक अणूद्भिदों की आन्तरिक क्रियाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं पाया गया।

**4. चेतना सब शरीरियों में होती है, क्या उद्भिद् क्या जन्तु**–इस मत के अनुसार जीव जन्तु, पेड़ पौधे सब चेतन हैं, पर मिट्टी के ढेले आदि निर्जीव पदार्थों में चेतना नहीं होती। इस सिद्धान्त का यह भाव भी निकलता है कि सब देहवान् (उद्भिद् और जन्तु) पदार्थों में आत्मा होती है। इस मत को माननेवाले प्राण, चेतना और आत्मा को परस्पर सहगामी समझते हैं। उनकी समझ में जहाँ एक रहेगा वहाँ दूसरा भी अवश्य रहेगा। फेक्नर नामक तत्त्ववेत्ता ने यह सिद्ध करने तक का प्रयत्न किया है कि पौधों में भी उसी प्रकार आत्मा होती है जिस प्रकार जन्तु में, और पौधे की आत्मा में भी उसी प्रकार चेतना होती है जिस प्रकार मनुष्य की आत्मा में। बात

यह है कि जब क्षुद्र जन्तुओं की अन्तःक्रियाओं को चेतना कह सकते हैं तब पौधों की अन्तःक्रियाओं को चेतना कहना ही पड़ेगा। लजालू, मक्खी पकड़नेवाले पौधे आदि की गतिविधि अत्यन्त क्षुद्र जन्तुओं की गतिविधि के समान ही होती है।

**5. चेतना प्रत्येक घटक में होती है**—जिस प्रकार हम सजीव घटक को अनेकघटक जन्तुओं और पौधों के शरीर के मूल अणु मानते हैं, जिनके संयोग से उनके शरीर संघटित हैं, उसी प्रकार हम घटकात्मा अर्थात् घटक की अन्तःक्रिया को भी शरीर की आत्मा अर्थात् उसके उन्नत मनोव्यापारों की समष्टि की व्यष्टि मान सकते हैं। हम कह सकते हैं, कि चेतना, धारणा आदि उन्नत कोटि के मनोव्यापार सूक्ष्म घटकों की क्षुद्र अन्तःक्रियाओं के योगफल हैं। मैंने समुद्री अणुजीवों की परीक्षा करके दिखलाया था कि उनमें भी उन्नत जन्तुओं से मिलती जुलती इन्द्रियसंवेदना, प्रवृत्ति और गति आदि होती है। अतः यदि हम समस्त शरीरियों में चेतना मानने वालों की बात मानें तो शरीर को संघटित करनेवाले अणुरूप घटकों में भी चेतना का कुछ अंश हमें मानना ही पड़ेगा। पहले मैं भी ऐसा ही मानता था, पर अब विवश होकर मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि अणुजीवों में आत्मबोध नहीं होता, उनके इन्द्रियसंवेदन और अंगसंचालन आदि अचेतन अर्थात् अज्ञानकृत होते हैं।

**6. चेतना द्रव्य के परमाणुमात्र में होती है**—इस सिद्धान्त ने चेतना को सबसे आगे बढ़ाया है, इसकी दौड़ सबसे लम्बी है। इसे माननेवाले यह समस्या हल करने से बच जाते हैं कि चेतना की उत्पत्ति कब और कहाँ से होती है। अन्तःकरण की यह वृत्ति ऐसी विलक्षण है कि इसे किसी और वृत्ति से उत्पन्न बतलाना अत्यन्त कठिन है। अतः इस कठिनता से बचने का सीधा रास्ता यही दिखाई पड़ा कि चेतना द्रव्य मात्र का एक वैसा ही अन्तर्व्याप्त गुण मान ली जाय जैसे कि आकर्षण, रासायनिक प्रवृत्ति आदि हैं। ऐसा मानने पर हमें मूल चेतना उतने प्रकार की माननी पड़ती है जितने रासायनिक मूल द्रव्य[1], आक्सिजन, कारबन आदि होते हैं।

यह सब गड़बड़ चेतना का लक्षण निर्दिष्ट न करने के कारण होता है। मेरे मत में तो चेतना मनुष्य आदि उन्नत प्राणियों के मनोव्यापारों या अन्तःक्रियाओं का एक अंश मात्र है, अधिकतर अन्तःक्रियाएँ जिन्हें मनोव्यापार भी कहते हैं, अचेतन होती हैं अर्थात् वे होती हैं पर हमें उनकी खबर नहीं होती।

चेतना की उत्पत्ति और लक्षण के सम्बन्ध में चाहे जितने मतभेद हों पर उसके

---

1. मूलद्रव्य वे हैं जिनमें विश्लेषण करने पर और किसी द्रव्य का योग नहीं पाया जाता। अब तक ऐसे 77 या 78 तत्त्वों का पता लगा है। इनके सबसे सूक्ष्म टुकड़ों को परमाणु कहते हैं क्योंकि पहले लोग समझते थे कि उनका और विभाग नहीं हो सकता। पर कुछ नए मूल द्रव्य मिले जिनके परमाणु और भी सूक्ष्म अणुओं के योग से बने पाए गए जिन्हें विद्युदणु (इलेक्ट्रॉन) कहते हैं। पहले लोग, जल, वायु आदि को मूलभूत समझते थे, पर वे कई मूलभूतों के योग से संघटित द्रव्य हैं। उनके संयोजक मूल द्रव्य विश्लेषण द्वारा अलग अलग किए जा सकते हैं।

विषय में दो सिद्धान्त मुख्य हैं—एक अतीतवाद दूसरा शरीरधर्मवाद। अतीतवाद चेतना को शरीर या भूतों से अतीत वस्तु (आत्मा) का धर्म मानता है और शरीरधर्मवाद शरीर ही का धर्म मानता है। मैं इसी दूसरे सिद्धान्त को सत्य मानता हूँ। मैं चेतना को शरीर ही का एक धर्म मानता हूँ जो भौतिक और रासायनिक नियमों के अधीन है, उनसे परे नहीं। मैं उसे संवेदनसूत्रों ही की एक विशेषता मानता हूँ जो उनके केन्द्रीभूत होने पर उत्पन्न होती है। संवेदनसूत्रों का केन्द्ररूप अवयव (अन्तःकरण) और उन्नतिक्रम द्वारा पूर्णताप्राप्त ज्ञानेन्द्रियविधान विशेष करके जरायुज जन्तुओं ही में होता है। बनमानुस, कुत्ते, हाथी आदि की चेतना में और मनुष्य की चेतना में केवल न्यूनाधिक का भेद है, कोई वस्तुभेद नहीं। इन पशुओं की चेतना और मनुष्य की चेतना में उससे अधिक अन्तर नहीं होता जितना अत्यन्त असभ्य जंगली मनुष्यों की चेतना और सभ्य जाति के दार्शनिकों और तत्त्वचिन्तकों की चेतना में। अस्तु, चेतना मन की समुन्नत क्रिया ही का एक अंग है और मस्तिष्क की बनावट पर निर्भर है।

सूक्ष्मदर्शक यन्त्र आदि की सहायता से मस्तिष्क का जो वैज्ञानिक अन्वीक्षण किया गया उससे पता लगा कि चेतना का अधिष्ठान मस्तिष्क के भूरे मज्जापटल का एक विशेष भाग है। इस क्षेत्र में बड़ा भारी काम फ्लेशजिक नामक एक जरमन वैज्ञानिक ने किया जिसने मस्तिष्क के भीतर चिन्तन करने के अवयवों का पता लगाया। उसने सिद्ध किया कि मस्तिष्क के भूरे मज्जाक्षेत्र में इन्द्रियानुभव के केन्द्ररूप चार अधिष्ठान या भीतरी गोलक हैं जो इन्द्रियसंवेदनों को ग्रहण करते हैं। स्पर्श ज्ञान का गोलक मस्तिष्क के खड़े लोथड़े में, घ्राण का सामने के लोथड़े में, दृष्टि का पिछले लोथड़े में और श्रवण का कनपटी के लोथड़े में रहता है। इन चारों भीतरी इन्द्रियगोलकों के बीच में चार विचारगोलक हैं जिनके द्वारा भावों की योजना और विचार आदि जटिल मानसिक व्यापार होते हैं। ये ही गोलक चेतना और विचार के कारण अर्थात् प्रधान अन्तःकरण हैं। फ्लेशजिक ने दिखलाया है कि मनुष्य के मस्तिष्क के इन गोलकों के कुछ अंशों में विशेष प्रकार की रचनाएँ होती हैं जो और दूसरे दूध पिलानेवाले जीवों में नहीं होतीं। इन्हीं विशेषताओं के कारण मनुष्य मानसिक शक्तियों में सब प्राणियों से बढ़ाचढ़ा है।

आधुनिक शरीरविज्ञान की इन बातों का समर्थन चिकित्साशास्त्र के अनुसंधानों द्वारा भी होता है। जब रोग के कारण मस्तिष्क का कोई भाग नष्ट हो जाता है तब उस भाग के द्वारा होनेवाला मानसिक व्यापार भी शिथिल या नष्ट हो जाता है। इस बात से हम मन या अन्तःकरण की भिन्न भिन्न वृत्तियों के स्थान बहुत कुछ निर्दिष्ट कर सकते हैं। अन्तःकरण की किसी विशेष वृत्ति का ध्यान यदि रुग्ण हो जाता है तो साथ ही वह वृत्ति भी नष्ट हो जाती, जैसे मस्तिष्क के भीतर वाणी का जो केन्द्र है यदि वह नष्ट हो जाय तो आदमी गूँगा हो जायगा। इस बात का प्रमाण तो हम

नित्य ही पाते हैं कि मस्तिष्क के द्रव्य में किसी प्रकार का रासायनिक परिवर्तन उपस्थित होने पर चेतना पर पूरा पूरा प्रभाव पड़ता है। कुछ पीने की चीजें, जैसे चाय और कहवा ऐसी हैं जिनसे इमारी विचारशक्ति कुछ उत्तेजित होती है, कुछ ऐसी हैं, जैसे मद्य, भांग आदि जिनसे हमारे मनोवेग उत्तेजित होते हैं। कपूर और कस्तूरी से मूर्च्छा या बेहोशी दूर होती है, ईथर और क्लोरोफार्म बेहोशी लाता है। यदि चेतना मस्तिष्क के अवयवों से सर्वथा स्वतन्त्र कोई अभौतिक सत्ता होती तो ऐसा कैसे होता? जब मस्तिष्क के अवयव काम के नहीं रहते तब 'अमर आत्मा' की चेतना क्या होती है?

इन सब बातों से सिद्ध होता है कि मनुष्य तथा और स्तन्य जीवों की चेतना परिणामी है। उसमें भीतरी कारणों, जैसे रक्त का चढ़ावउतार और बाहरी कारणों, जैसे आघात, उत्तेजन से फेरफार हो सकता है। बहुत सी बीमारियाँ ऐसी होती हैं जिनमें अन्तःसंस्कारों अर्थात् अन्तःकरण में उपस्थित प्रतिबिम्बों के उलटफेर से मनुष्य की चेतना दो चार दिन एक प्रकार की रहती है, दो चार दिन दूसरे प्रकार की—दो चार दिन वह अपने को कुछ और समझता है, दो चार दिन कुछ और।

प्रायः सब लोग देखते हैं कि तुरन्त के उत्पन्न बच्चे में चेतना नहीं होती[1]। प्रेयर नामक शरीरविज्ञानी ने दिखलाया है कि चेतना बच्चे में उस समय स्फुरित होती है जब वह बोलना आरम्भ करता है। बहुत दिनों तक वह अपने लिए किसी सर्वनाम आदि शब्द का प्रयोग नहीं करता। जिस घड़ी वह 'मैं' शब्द का उच्चारण करता है और उसमें अहंकार वृत्ति स्पष्ट होती है उसी घड़ी से उसमें आत्मचेतना का आरम्भ समझना चाहिए। 10 वर्ष की अवस्था तक उसके ज्ञान की वृद्धि बहुत जल्दी जल्दी होती है; उसके पीछे वृद्धि की गति कुछ मन्द होती है। ज्ञानवृद्धि की यह गति चेतना और उसके करण मस्तिष्क की वृद्धि के अनुसार होती है। पूर्ण वयस्क होते ही मनुष्य की चेतना पूर्णता को नहीं पहुँच जाती; वह संसार के अनेक रूप के व्यवहारों द्वारा, समाज के संसर्ग द्वारा, परिपक्व होती है। 20 वर्ष की अवस्था के उपरान्त 30 वर्ष की अवस्था के भीतर ही भीतर उसके विचार परिपक्व हो जाते हैं और 60 वर्ष की अवस्था तक पूरा काम देते हैं। 60 वर्ष की अवस्था के उपरान्त जरावस्था के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं, धीरे धीरे मानसिक शक्तियों का ह्रास होने लगता है, स्मरणशक्ति, ग्रहणशक्ति, विशेष विशेष वस्तुओं की और प्रवृत्ति क्षीण होने लगती है। हाँ, उद्भावना की शक्ति, चेतना की परिपक्वता और दार्शनिक सिद्धान्त तत्त्वों की ओर अभिरुचि कुछ दिनों तक और बनी रहती है।

मनुष्य ने चेतना की जो उच्च अवस्था प्राप्त की है वह भी क्रम क्रम करके। ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती गई त्यों त्यों उसकी चेतना भी उन्नत होती गई। यह बात

---

1. छांदोग्योपनिषद् में बच्चों में मन का अभाव माना गया है। यथा वाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन, वदन्तो वाचा, पश्यन्श्चक्षुषा, शृण्वन्तः श्रात्रेणै वमिति'।—प्रपाठक 5, खंड 1।

जंगली जातियों की ओर ध्यान देने से, उनकी भाषाओं का मिलान करने से, स्पष्ट हो जाती है। भावग्रहण की शक्ति ज्यों ज्यों मनुष्यों में बढ़ती जाती है त्यों त्यों वे सामने आनेवाले अनेकानेक विशेष पदार्थों के बीच सामान्य लक्षणों को ढूँढ़ निकालने और उन्हें सामान्य प्रत्ययों अर्थात् भावनाओं के रूप में ग्रहण करने में समर्थ होते जाते हैं। इस प्रकार उनकी चेतना गूढ़ होती जाती है[1]।

1. जैसे गाय, भैंस, बकरी, हिरण इत्यादि बहुत से विशेष जानवरों को देख मनुष्य सींग को सामान्य लक्षण पाकर 'सींगवाले जन्तु' की एक सामान्य भावना धारण करता है।

ग्यारहवाँ प्रकरण

# आत्मा का अमरत्व

अब हम आत्मा के अमरत्वसम्बन्धी सिद्धान्त की परीक्षा में प्रवृत्त होते हैं जिसकी नींवपर अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों का गढ़ खड़ा किया गया है। यह एक ऐसा विषय है जिस पर दार्शनिक विचार करते समय प्रायः लोग अपने व्यक्तित्व के राग में फँस जाते हैं। वे चाहते हैं कि किसी न किसी प्रकार उन्हें यह विश्वास दिलाया जाय कि उनकी सत्ता जीवन के उपरान्त भी बनी रहेगी। यह वासना ऐसी प्रबल है कि इसके सामने कोई तर्क या युक्ति नहीं चल सकती। अतः आत्मा के सम्बन्ध में इस प्रबल वितंडावाद की सूक्ष्म परीक्षा करके आधुनिक शरीरविज्ञान के प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा इसकी असारता दिखा देना हमारा काम है।

मृत्यु के उपरान्त भी मनुष्य का व्यक्तित्व या उसकी पृथक् आत्मा का अस्तित्व बना रहता है; इस मत को अमर्त्यवाद कह सकते हैं। इसी प्रकार उस सिद्धान्त को हम मर्त्यवाद कहेंगे जिसमें यह माना जाता है कि मनुष्य के मरने पर उसके और शारीरिक व्यापारों के साथ ही साथ अन्तःकरण के सारे व्यापार भी नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् आत्मा भी नहीं रह जाती।

किसी विशेष प्राणी के समस्त सजीव व्यापारों के सब दिन के लिए बन्द हो जाने को मृत्यु कहते हैं। जिस समय मनुष्य का व्यक्तित्व नहीं रह जाता वह मृत कहलाता है, चाहे उसका वंश चलता रहे। वंशपरम्परा के नियमानुसार किसी किसी के गुण और लक्षण उसकी अगली पीढ़ी में बहुत दिनों तक दिखाई पड़ते हैं। पर ऐसा होना दूसरी बात है। कई अच्छे शरीरविज्ञानी यह कहने लगे हैं कि सबसे क्षुद्र जीव ही अमर होते हैं और जीव नहीं। उनका यह कथन इस आधार पर है कि एकघटक अणुजीव अपनी वंशवृद्धि अमैथुनीय रीति पर विभाग या विच्छेद द्वारा करते हैं। अणुजीव का सारा शरीर दो या कई बराबर भागों में विभक्त हो जाता है और प्रत्येक भाग बढ़कर एक स्वतन्त्र जीव हो जाता है। पर यह समझ रखना चाहिए कि जिस घड़ी अणुजीव के दो भाग होकर अलग अलग हो जाते हैं उसी क्षण उसका व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है।

'अमर' या 'नित्य' शब्द का प्रयोग समस्त विश्व के लिए ही किया जा सकता है। जो कुछ है, समष्टि रूप में उसकी सत्ता सदा रहेगी, यह परमतत्त्व का धर्म है। विश्व की अनश्वरता का सिद्धान्त मैं आगे चलकर कहूँगा जब कि द्रव्य और शक्ति की अक्षरता का विवेचन करूँगा। यहाँ पर तो मैं इस प्रचलित भ्रान्त मत की ही परीक्षा करूँगा कि एक एक व्यक्ति की आत्मा अमर है। पहले मैं इस अन्धविश्वास के मूल आदि का निरूपण करूँगा, फिर यह दिखलाऊँगा कि युक्ति और प्रमाण से मर्त्यवाद ही सिद्ध होता है। मर्त्यवाद दो रूपों में मिलता है—आदिम और उत्तर। आदिम रूप में यह असभ्य जंगली जातियों में पाया जाता है जिनमें आत्मा के अमरत्व की भावना का उदय ही नहीं हुआ रहता, उसका आरम्भ ही से अभाव रहता है। उत्तर रूप में यह सभ्य और ज्ञानवृद्ध लोगों के बीच पाया जाता है जिनमें आत्मा के अमरत्व की भावना का प्रध्वंसाभाव रहता है, अर्थात् प्रकृति के निरीक्षण और सूक्ष्म विवेचन द्वारा उसका निराकरण हुआ रहता है। जिस प्रकार आदिम रूप में मर्त्यवाद आदिम और असभ्य दशा के मनुष्यों के बीच पाया जाता है उसी प्रकार उत्तर रूप में वह ज्ञान के उन्नत होने पर सभ्य मनुष्यों के बीच पाया जाता है। अमर्त्यवाद के प्रचलित हो जाने पर प्राचीन काल के बहुत से स्वतन्त्र विचारवाले दार्शनिकों ने उसका घोर प्रतिवाद किया। पर संसार के भिन्न भिन्न धार्मिक मतों के साथ इस अमरत्व के भाव का गहरा लगाव रहने के कारण वे अधर्मी, नास्तिक आदि नामों से पुकारे गए। उनके मत की भरपूर निन्दा की गई। यह दशा प्रायः सब सभ्य देशों में हुई[1]। योरप में डॉक्टरों के बीच सैकड़ों वर्ष पहले से यह विचार उठ रहा था कि मनुष्य की मृत्यु के साथ ही आत्मा का भी अन्त हो जाता है, पर उसे वे स्पष्ट शब्दों में प्रकट नहीं करते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग में जब शरीरविज्ञान की विशेष उन्नति हुई तब आत्मा के अमरत्व का सिद्धान्त बिलकुल निर्मूल पाया गया। पीछे विकास द्वारा मनुष्य जाति की उत्पत्ति के स्थिर हो जाने, गर्भस्फुरण का क्रम निर्धारित हो जाने तथा सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के प्रयोग द्वारा मस्तिष्क के पुरजों की छानबीन हो जाने पर उक्त सिद्धान्त के लिए कहीं कोई आधार नहीं रह गया। अब कहीं सौ में कोई एक शरीरविज्ञानी आत्मा के अमरत्व का राग अलापता सुनाई देता है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रायः सब अद्वैतवादी दार्शनिक मर्त्यवादी थे।

कुछ लोगों का ख्याल है कि आत्मा के अमरत्व का भाव सारे प्रचलित धर्मों का एक मुख्य अंग है। पर यह ख्याल ठीक नहीं। पूर्वीय देशों के समुन्नत धर्मों में इस भाव का कहीं समावेश नहीं। न तो बौद्ध धर्म में, जिसको एक तिहाई दुनिया मानती है, यह भाव है, न चीन के कनफूची धर्म में।

---

1. भारतवर्ष में आत्मा की पृथक् सत्ता और उसकी अमरता को न माननेवाले दार्शनिकों में चार्वाक प्रधान हुआ है जिसके अनुयायी लोकायतिक और नास्तिक कहलाते हैं।

यह रहस्यमय विचार कि मरने के पीछे भी मनुष्य की आत्मा सदा बनी रहेगी, पृथ्वी के भिन्न भिन्न स्थानों में मनुष्यों के बीच आपसे आप उत्पन्न हुआ। अत्यन्त प्राचीन युग के असभ्य मनुष्यों में यह विचार नहीं था। पीछे बुद्धि के कुछ बढ़ने पर जब जीवन और मरण, निद्रा और स्वप्न आदि को देख, उनके सम्बन्ध में विचार उठने लगे, तब मनुष्य की दोहरी सत्ता की धारणा भिन्न भिन्न स्थानों पर आप से आप उत्पन्न हुई। पितरों की पूजा, कुटुम्बियों का प्रेम, जीवन से आसक्ति, मरने के पीछे अधिक सुखपूर्ण जीवन की आशा, अच्छे कर्मों से अच्छे फल और पाप से दंड की प्राप्ति, इन्हीं सब बातों के प्रभाव से यह धारणा और भी प्रबल होती गई। इसी धारणा के अनुकूल बहुत सी विलक्षण विलक्षण बातें बहुत से धर्मों में प्रचलित पाई जाती हैं। अधिकांश धार्मिक अपने ईश्वर ही से मिलती जुलती वस्तु अपनी अमर आत्मा को भी मानते हैं। ईसाइयों ही को लीजिए, जो समझते हैं कि जैसे ईसा कब्र से उठ बैठे थे, वैसे ही वे भी कयामत के दिन अपनी अपनी कब्रों से उठेंगे और अपने किए कर्मों का फल पावेंगे। यह विचार भी वैसा ही है जैसा कि असभ्य जंगलियों का होता है।

यह तो हुआ धार्मिकों का विचार जिसमें भौतिक और अभौतिक का भेद उतना नहीं है; जिसके अनुसार स्वर्ग में भी जाकर मनुष्य वही सुख भोगेगा जो भूतात्मक शरीर से भोगता है। शरीर और आत्मा को पृथक् माननेवाले दार्शनिक अपना सिद्धान्त कुछ अधिक स्पष्ट रूप में प्रकट करते हैं। वे शरीर को नश्वर और भौतिक मानते हैं और आत्मा को अमर, अभौतिक और चिन्मय। थोड़े काल के लिए दोनों का संयोग हो जाता है। योरप के देशों में इस सिद्धान्त का प्रचार पहले पहल प्लेटो (अफलातून) नामक यूनान देश के दार्शनिक ने किया। उसने शरीर के साथ संयोग होने के पहले और वियोग होने के उपरान्त प्रत्येक आत्मा को शुद्ध रूप में मानकर 'आवागमन' के सिद्धान्त का समर्थन किया। उसने बतलाया कि एक शरीर छोड़कर आत्मा अपने अनुकूल दूसरे शरीर में जाती है। पुण्यात्माओं की आत्मा अच्छी योनि में जाती है और पापियों की बुरी योनि में। शरीरविज्ञान, अंगविच्छेदशास्त्र गर्भविज्ञान आदि की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो यह बात बच्चों की सी जान पड़ती है।

कुछ दार्शनिक आत्मा को एक पृथक् तत्त्व मानते हुए भी उसका ठीक ठीक लक्षण नहीं बतला सकते। कभी तो वे उसकी सत्ता भावरूप में मानते हैं और कभी वस्तुरूप में। वैज्ञानिक अद्वैत दृष्टि से यदि हम परमतत्त्व का निरूपण करते हैं तो उसमें द्रव्य और शक्ति (गति) को ओतप्रोत भाव में लेते हैं क्योंकि दोनों का नित्य सम्बन्ध है। अतः आत्मतत्त्व के अन्तर्गत भी ये हैं—आत्मशक्ति अर्थात् इन्द्रियसंवेदन, अन्तःसंस्कार, प्रवृत्ति आदि गत्यात्मक व्यापार, और आत्मद्रव्य अर्थात् सजीव कललरस जो कि शक्ति या मनोव्यापारों का आधार है। मनुष्य आदि उन्नत प्राणियों में यह आत्मद्रव्य संवेदनसूत्रों का अंग है और संवेदनसूत्रविहीन क्षुद्र जीवों में उनके कललरसमय

शरीर का। आत्मा के व्यापार के लिए वाह्यकरण अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ और अन्तःकरण आवश्यक हैं। बिना इन भूतात्मक अवयवों के किसी प्रकार का आत्मव्यापार नहीं हो सकता। पर आत्मा की एक निर्दिष्ट सत्ता है, वह शरीर की अन्तःक्रियाओं की निर्दिष्ट समष्टि है।

आत्मा और शरीर को परस्पर निरपेक्ष मानने वाले द्वैत दृष्टि के दार्शनिकों का भाव आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। वे अमर आत्मा को द्रव्य मानते हुए भी उसे अगोचर और गोचर शरीर से भिन्न मानते हैं। अतः अगोचरता आत्मा की एक विशेषता मान ली गई है। कुछ लोग तो आमा को ईथर वा आकाशद्रव्यवत् एक अत्यन्त सूक्ष्म, अगोचर पदार्थ मानते हैं। यही धारणा प्राचीनों की भी थी। वे समझते थे कि मरने पर शरीर तो जड़ द्रव्य के रूप में रह जाता है और आत्मा निकलकर उड़ जाती है।

ईथर से आत्मा की तुलना इधर थोड़े ही दिनों से होने लगी है जब से विद्युत् और प्रकाश की गति आदि के सम्बन्ध में परीक्षा द्वारा बहुत सी बातें प्रकट हुई हैं। पर ईथर का विचार मैं आगे चलकर करूँगा जिससे प्रकट हो जायगा कि आत्मा को ईथरवत् बतलानेवाला चिदाकाशवाद भी ठीक नहीं है। जिस प्रकार ईथर वा आकाशद्रव्य समस्त विश्व में स्थूल पिंडों और परमाणुओं के बीच व्याप्त है उसी प्रकार कललरस या मस्तिष्क के अणुओं के बीच आकाशरूप आत्मा को व्याप्त मानने पर भी मनोव्यापारों के हेतु का निरूपण नहीं होता।

आत्मा को वायुरूप समझनेवालों की संख्या बहुत अधिक है। यह समझ बहुत पुरानी है। प्राण शब्द वायुवाचक है जिसके कारण जीव प्राणी कहलाते हैं। श्वासरूपिणी जीवन शक्ति का नाम प्राण रक्खा गया था। पर साधारण जनों के बीच वह जीवात्मा ही के रूप में माना जाता है। वे किसी के मरने पर कहते हैं कि उसका प्राण निकल गया। मृत पुरुषों की आत्माओं या प्रेतों को वे वायुरूप ही मानते हैं। वायुरूप मानते हुए भी वे उनमें शरीरवयवयुक्त जीवों के से व्यापार मानते हैं। किसी किसी आध्यात्मिक मंडली ने तो उनके फोटो तक तैयार किए हैं।

परीक्षात्मक भौतिक विज्ञान ने समस्त गैसों या वायव्य पदार्थों को द्रवरूप में और बहुतों को स्थूलरूप तक में परिणत करके दिखा दिया है। इस प्रकार वायु जो अपनी सूक्ष्मता के कारण अग्राह्य वा अदृश्य मानी जाती थी वह दृश्य और ग्राह्य करके दिखा दी गई। अब यदि आत्मा वायुरूप पदार्थ होती तो उसे भी द्रव रूप में ला सकते। किसी मुनष्य के मरने के समय उसमें से निकलनेवाली वायुरूपी आत्मा को पकड़कर हम उसे द्रवरूप में एक शीशी के भीतर बन्द करके दिखाते कि यह लो 'अमृतरस' तैयार है। यहीं तक नहीं, उस रसपर और भी अधिक ठंडक और दबाव डालकर हम एक बरफ की टिकिया बनाते और उसे 'आत्मा की बरफ' कहते। पर आजतक किसी ने भी ऐसा करके दिखाया नहीं।

आत्मा की अमरता के जितने प्रमाण दिए जाते हैं उनमें सत्य के अनुसंधान का कोई प्रयत्न नहीं पाया जाता, केवल एक प्रकार का राग या मनःप्रवृत्ति पाई जाती है। जैसा कि कांट ने कहा है आत्मा का अमरत्व शुद्धबुद्धि का निरूपण नहीं है, व्यवसायात्मिका बुद्धि की धारणा है। पर सत्य के अन्वेषण में हमें शुद्धबुद्धि को छोड़ और किसी बुद्धि से काम न लेना चाहिए। सत्य का निरूपण जब होगा तब शुद्ध बुद्धि के द्वारा, किसी प्रकार की अभिरुचि वा वासना के द्वारा नहीं। सत्य कैसा ही अप्रिय हो उसे ग्रहण करना ही पड़ेगा।

आत्मा के अमरत्व के जितने प्रमाण दिए जाते हैं उनमें से एक भी वैज्ञानिक कोटि का नहीं, एक भी ऐसा नहीं जो शरीरविज्ञानानुसारी मनोविज्ञान और जन्तुओं की उत्पत्तिपरम्परा सम्बन्धी सिद्धान्त के आधार पर हो। मतवादियों और धर्मवादियों की यह बात कि ईश्वर आत्माओं को कुछ काल तक के लिए पहले से तैयार शरीरों में भेजा करता है, अथवा सृष्टि के आदि में उसने मनुष्यरूपी पुतले के शरीर में अपनी रूह फूँक दी थी, कपोलकल्पना मात्र है। कुछ लोगों का यह कथन कि यदि आत्मा नित्य न होती तो संसार में धर्म की व्यवस्था न रहती सर्वथा निर्मूल है। यह विचार कि मनुष्य की आत्मा अपनी 'परमगति' को इस पार्थिव जीवन में नहीं प्राप्त कर सकती, उसकी पूर्णता के लिए उत्क्रमण आवश्यक है, मनुष्य के महत्त्व की झूठी भावना पर अवलम्बित है। यह समझना कि सांसारिक जीवन में जो अनेक प्रकार के अन्याय होते हैं, अनेक प्रकार की इच्छाएँ अपूर्ण रह जाती हैं, उन सबका प्रतिकार या पूर्ति परलोक या परजन्म में होगी, दुराशा मात्र है। यह बात भी प्रमाणविरुद्ध है कि मनुष्य मात्र में आत्मा के अमरत्व या ईश्वर के अस्तित्व की भावना स्वाभाविक है। बहुत सी ऐसी जातियाँ हैं जिनमें इस प्रकार की कोई भावना नहीं। आत्मा के अमरत्व की सिद्धि के लिए उपस्थित की जाने वाली ये सब युक्तियाँ वैज्ञानिक अनुसंधानों से निःसार प्रमाणित हो चुकी हैं।

इन निःसार युक्तियों के विरुद्ध जो वैज्ञानिक प्रमाण मिलते हैं वे ये हैं। शरीरविज्ञान से इस बात का पूरा प्रमाण मिलता है कि आत्मा शरीर से स्वतन्त्र कोई अभौतिक सत्ता नहीं है। मस्तिष्क के व्यापारों की समष्टि का नाम ही आत्मा है और ये व्यापार भी शरीर के और व्यापारों के समान भौतिक और रासायनिक नियमों के अधीन हैं। मस्तिष्क के सूक्ष्म अन्वीक्षण द्वारा आत्मव्यापार के साधक अवयवों का पता लगता है। परीक्षा द्वारा यह देखा गया है कि आत्मा के भिन्न भिन्न व्यापार मस्तिष्क के भिन्न भिन्न भागों पर अवलम्बित हैं। यदि वे भाग नष्ट हो जाते हैं तो उनके द्वारा होनेवाले व्यापार भी बन्द हो जाते हैं। इस बात का प्रमाण प्रकृति हमें बराबर देती रहती है। भ्रूणवृद्धि और शिशुवृद्धि आदि के क्रम को देखने से हमें पता चलता है कि किस प्रकार मनुष्य की आत्मा भी क्रमशः बढ़ती जाती है और प्रौढ़ावस्था में परिपक्व हो जाती है। इतना ही नहीं, जरावस्था में वह शिथिल और

क्षीण भी होती है। जीवों की वर्गोत्पत्ति परम्परा की ओर ध्यान देने से पता लगता है कि मनुष्य का मस्तिष्क और उसका व्यापार आत्मा, और दूसरे स्तन्य जीवों के मस्तिष्क से उन्नत होते होते बना है। इसी प्रकार स्तन्य जीवों का मस्तिष्क दूसरे क्षुद्र कोटि के रीढ़ वाले जन्तुओं के मस्तिष्क से उन्नत होते होते बना है। आत्मा की घटती बढ़ती उत्पत्तिधर्म और अनित्यता का प्रमाण है, अमरत्व का नहीं।

आधुनिक विज्ञान के अन्वेषणों से आत्मा के अमरत्व का सर्वथा खंडन हो गया है। कुछ दिनों पीछे इसकी चर्चा वैज्ञानिक क्षेत्र से बिलकुल उठ जायगी, केवल आँख मूँदकर विश्वास करनेवालों में रह जायगी। आत्मा के अमरत्व का विश्वास एक अन्धविश्वास मात्र रह जाएगा। पर अभी सभ्य से सभ्य देश के करोड़ों मनुष्य इस अन्धविश्वास को अपनी 'परमनिधि' समझते हैं। इसे वे कदापि छोड़ना नहीं चाहते। पर मैं इस बात को दृढ़ता के साथ कहता हूँ कि आत्मा के अमरत्व की भावना मोह के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इसे त्यागने से मनुष्य जाति की हानि कुछ नहीं, और लाभ बहुत है।

आत्मा को अमर मानने की प्रबल वासना का कारण क्या है? क्यों लोगों की यह इच्छा रहती है कि आत्मा अमर सिद्ध हो? इसके मुख्य कारण दो हैं—एक तो यह आशा कि परलोक में अधिक सुख मिलेगा, दूसरी यह आशा कि मृत्यु के कारण जिन प्रिय जनों का वियोग हुआ है वे फिर देखने को मिलेंगे। इस संसार में बहुत सी भलाइयाँ हम दूसरों के साथ करते हैं जिनके बदले की कोई आशा यहाँ नहीं होती। अतः हम एक ऐसे अनन्त जीवन की वांछा करते हैं जिसमें सब बदले पूरे हो जायँ और सदा सुख और शान्ति बनी रहे। भिन्न भिन्न जातियों में स्वर्ग की भावना उसकी सुख की भावना के अनुसार है। मुसलमानों के बिहिश्त में सुन्दर छायादार बगीचे हैं, मीठे पानी के चश्मे जारी हैं, हूर और गिलमा सेवा के लिए हैं। ईसाइयों का स्वर्ग भी सुखसंगीतपूर्ण है, अमेरिका के आदिम निवासियों के स्वर्ग में शिकार खेलने के लिए बड़े बड़े मैदान हैं जिनमें असंख्य भैंसे और भालू फिरा करते हैं। ध्यान देने की बात है कि लोग स्वर्ग में उन्हीं सब सुखों को भोगने की कामना करते हैं जिन्हें वे यहाँ अपनी इन्द्रियों के द्वारा भोगते हैं। वे कानों से स्वर्गीय संगीत सुनेंगे, आँखों से अप्सराओं का नृत्य देखेंगे और रसना से अमृत का स्वाद लेंगे। इन सब सुखों को वे अनन्त काल तक भोगेंगे। आत्मा को अभौतिक आदि मानते हुए भी उसे परलोक में भौतिक सुखों का भोक्ता माने बिना नहीं रह सकते।

अमर्त्यवाद मानने की इच्छा सबसे बढ़कर इसलिए होती है कि उससे उन प्रियजनों से फिर मिलने की आशा बँधती है जिनसे इस जीवन में वियोग हो जाता है। पर यदि ऐसा होना मान भी लें तो भी हमारी स्थिति कुछ विशेष सुखदायक नहीं हो सकती क्योंकि जिस प्रकार प्रियजन मिल सकते हैं उसी प्रकार वे शत्रु भी तो मिल सकते हैं जिन्होंने यहाँ नाक में दम कर रक्खा था। ऐसे करोड़ों आदमी मिलेंगे

जो स्वर्ग का सारा सुख छोड़ने के लिए तैयार हो जायँगे यदि वे समझें कि ऐसा करने से स्त्री या नानी से भेंट हो जायगी।

अमरवादियों से एक बात और पूछने की है। वह यह कि स्वर्ग का सुख भोगने वाली आत्मा किस अवस्था की होगी, शैशवावस्था की, तरुणावस्था की या जरावस्था की[1]। यदि किसी बालक की आत्मा शरीर से मुक्त होकर स्वर्ग को गई तो क्या उसे उसी प्रकार धीरे धीरे परिपक्व होना पड़ेगा जिस प्रकार यहाँ अपने अनुभव की उत्तरोत्तर वृद्धि और गुरुजनों की शिक्षा द्वारा वह परिपक्व होती है? क्या बुड्ढे की आत्मा वहाँ जाकर निरन्तर क्षीयमाण ही रहेगी?

ईसाइयों, मूसाइयों आदि का कयामत का ख्याल तो सबसे गया बीता है। वे समझते हैं कि मनुष्यों की आत्माएँ शरीर से निकल निकल कर बराबर जमा होती जायँगी और सृष्टि के अन्तिम दिन में दो दलों में बाँटी जायँगी। एक दल तो स्वर्ग में अनन्तकाल का सुख भोगने के लिए जायगा, दूसरा नरक में चिरकाल तक के लिए यन्त्रणा भोगने के लिए जायगा। यह सब करेगा कौन? दयामय आसमानी बाप। वही क्षणिक जीवन के बीच किए हुए पुण्य के लिए अनन्त सुख और पाप के लिए अनन्त दुःख देगा?

आध्यात्मिक दर्शन धर्माचार्यों की इन स्थूल पौराणिक कल्पनाओं को न मानकर आत्मा की सत्ता सब भूतों से परे मानता है। पर आजकल के परीक्षात्मक तत्त्ववाद में इस प्रकार की ऊटपटाँग भावना के लिए कोई जगह नहीं। सारांश यह कि आत्मा के अमरत्व का प्रवाद आधुनिक विज्ञान के परीक्षात्मक निश्चयों के सर्वथा विरुद्ध है।

---

1. जो लोग आत्मा को अजर आदि मानते हैं वे यह प्रश्न सुनकर चौंकेंगे। पर हैकल ने पहले ही कह दिया है कि आत्मा भी विविध अवस्थाओं को प्राप्त होती है, अर्थात् वह भी जवान और बुड्ढी होती है। हिन्दुओं की स्वर्गसम्बन्धिनी भावना कुछ समाधानकारक है। वे स्वर्गवासी अमरों को अजर मानते हैं।

बारहवाँ प्रकरण

# मूलप्रकृति की व्यवस्था

प्रकृति का सर्वव्यापक गुण, समस्त विश्व का एक अखंड धर्म परमतत्त्व का धर्म है। इस गुण का पता लगना ज्ञानक्षेत्र में सबसे बड़ी विजय है क्योंकि प्रकृति के और नियम इसके वशवर्ती हैं। इस मूलप्रकृति या परमतत्त्व के धर्म के अन्तर्गत दो अखंड नियम हैं एक तो द्रव्य की अक्षरता का और दूसरा शक्ति का अक्षरता का। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो ये दोनों नियम परस्पर अभिन्न हैं; ये एक दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इस अभिन्नता को नहीं मानना चाहते। पर शुद्ध तत्त्वदृष्टि रखनेवाले दार्शनिकों के निकट यह प्रत्यक्ष है। अब संक्षेप में इन दोनों नियमों का उल्लेख किया जाता है।

द्रव्य की अक्षरता या अनश्वरता का नियम, जिसका अनुसंधान और जिसकी व्याख्या लवायशियर नामक एक फरासीसी वैज्ञानिक ने पहले पहल सन् 1789 में की, इस प्रकार है। द्रव्य जो अनन्त दिक् में व्याप्त है उसका योग सदा समान रहता है, उसमें किसी प्रकार की घटती बढ़ती नहीं हो सकती। द्रव्य का कोई पिंड जो हमारे देखने में लुप्त हो जाता है, वह वास्तव में नष्ट नहीं होता, केवल अपना रूप बदल देता है। जब कपूर जल जाता है तब उसके अणुओं का नाश नहीं होता, उसके अणु धुएँ, काजल या अन्य किसी रूप में बने रहते हैं। जब मिस्री की डली पानी में घुल जाती है तब वह स्थूल से तरल रूप में हो जाती है। इसी प्रकार जहाँ कोई नया पदार्थ उत्पन्न होता दिखाई देता है वहाँ भी रूप परिवर्तन मात्र ही समझना चाहिए। मेह की झड़ी वायु में मिली भाप है जो बूँदों के रूप में होकर गिरती है। लोहे के ऊपर जो मुरचा लग जाता है वह उसी धातु की एक तह है जो पानी और हवा में मिली आक्सिजन के साथ मिलकर मुरचे के रूप में हो जाती है। प्रकृति के बीच कभी किसी नए अर्थात् अतिरिक्त द्रव्य की उत्पत्ति या सृष्टि नहीं होती और न द्रव्य के किसी एक कण का भी नाश या प्रध्वंसाभाव होता है। यह बात निर्विवाद है और इसी पर आधुनिक रसायनशास्त्र की स्थिति है। इसका निश्चय हम जब चाहें तब

वैज्ञानिकों के मानयन्त्र तराजू द्वारा कर सकते हैं। 'द्रव्य की नित्यता' का निश्चय अब वैज्ञानिक मात्र को है।

शक्ति की अक्षरता या नित्यता का सिद्धान्त इस प्रकार है। शक्ति अर्थात् गतिशक्ति जो अनन्त दिक् में कार्य करती है और समस्त व्यापार जिसके परिणाम हैं उसका योग सदा समान रहता है। उसमें किसी प्रकार की घटती बढ़ती नहीं होती। गतिशक्ति का न कभी क्षय होता है और न कोई अतिरिक्त नई शक्ति विश्व में उत्पन्न होती है। एंजिन जब तक खड़ा रहता है तब तक भाप की गतिशक्ति निहित या संचित रहती है। जब वह दौड़ता है तब भाप की वही निहित शक्ति व्यक्त या क्रियमाण शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यह व्यक्त या क्रियमाण शक्ति कई रूपों में दिखाई पड़ती है। ताप, पिंडगति, शब्द, प्रकाश विद्युत् आदि व्यक्त शक्ति के ही भिन्न भिन्न रूप हैं। भौतिक विज्ञान ने एक रूप की शक्ति को दूसरे रूप की शक्ति में परिणत करके दिखा दिया है। ताप पिंडों को गति के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है, पिंडों की गति शब्द या प्रकाश के रूप में और प्रकाश विद्युत् के रूप में। एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित होने पर वेग की मात्रा उतनी ही बनी रहती है, उसमें अन्तर नहीं पड़ता। जीतीजागती गतिशक्ति का कोई अंश न कभी क्षय को प्राप्त होता है और न किसी नवीन अंश की विश्व में उत्पत्ति होती है। यह सिद्धान्त सन् 1842 में पूर्णरूप से निर्धारित हो गया। शरीरविज्ञान में भी यह सिद्धान्त पूर्णरूप से घटता है। पर शरीर के भीतर एक अतीत शक्ति माननेवाले शरीरविज्ञानी तथा द्वैतभावापन्न दार्शनिक अभी तक उसका विरोध करते जाते हैं। उनके मत में शरीर के भीतर चेतन व्यापार संपादन करनेवाली जो आध्यात्मिक शक्ति है वह सर्वथा स्वतन्त्र है—वह भौतिक गतिशक्ति के नियमाधीन नहीं है। वे आत्मा के इच्छा, द्वेष आदि व्यापारों को सर्वथा स्वतन्त्र मानते हैं। पर अद्वैत तत्त्वदृष्टिसम्पन्न वैज्ञानिक इनको भी गतिशक्ति का ही एक उन्नत रूप मानते हैं।

द्रव्य की अक्षरता का सिद्धान्त और गतिशक्ति की अक्षरता का सिद्धान्त दोनों वस्तुतः एक ही हैं; यह बात आधुनिक अद्वैतवाद में बड़े काम की है। इन दोनों सिद्धान्तों में उसी प्रकार नित्य सम्बन्ध है जिस प्रकार द्रव्य और शक्ति में। ये वस्तुतः अन्योन्याश्रित क्या अभिन्न हैं। अद्वैतदृष्टि के बहुत से दार्शनिकों को तो इनकी अभिन्नता या एकता सर्वथा प्रत्यक्ष है क्योंकि ये एक ही पदार्थ विश्व के दो रूपों से सम्बन्ध रखते हैं। पर प्रत्यक्ष होने पर भी यह बात सबको स्वीकृत नहीं है। शक्ति और द्रव्य, आत्मा और शरीर को पृथक् माननेवाले द्वैतवादी दार्शनिक, अतीत शक्ति माननेवाले शरीरविज्ञानी तथा शरीर और आत्मा के व्यापारों को दो सहगामी व्यापार माननेवाले मनोविज्ञानी इसका घोर विरोध करते हैं। यहाँ तक कि व्याहत दृष्टि के कुछ अद्वैतवादी दार्शनिक भी यह कहते हैं कि द्रव्य और शक्ति की एकता मानने पर भी 'चेतना' एक ऐसी वस्तु रह जाती है जो इस एकता के अन्तर्गत नहीं आती,

जो द्रव्य और भौतिक शक्ति के नियमों से परे प्रतीत होती है। पर मुझे तो पूरा निश्चय है कि 'चेतना' भी द्रव्य और भौतिक शक्ति के नियमाधीन है, उससे परे नहीं। द्रव्य का नियम और गतिशक्ति का नियम दोनों अभिन्न हैं। व्यवहार के लिए उनकी अलग अलग भावनामात्र मनुष्य को होती है। दोनों नियमों के समाहार को हम 'परमतत्त्व का धर्म' कहते हैं जिसका वशवर्ती अखिल ब्रह्मांड है। कार्यकारणव्यवस्था इसीके अन्तर्गत है।

योरप में स्पिनोजा (सन् 1677) पहला दार्शनिक है जिसके विचार में 'परमतत्त्व' की शुद्ध भावना आई। उसी ने पहले पहल ईश्वर और जगत् की एकता का प्रतिपादन किया[1]। इस प्रकार योरप में शुद्ध अद्वैतवाद की नींव पड़ी। स्पिनोजा ने बतलाया कि यह 'परमतत्त्व' अपनी सत्ता को दो रूपों में व्यक्त करता है। एक द्रव्य के रूप में अर्थात् अनन्त दिक् में व्याप्त पदार्थ या तत्त्व के रूप में और दो आत्मा के रूप में अर्थात् सर्वव्यापिनी गतिस्वरूपा चित् शक्ति के रूप में[2]। संसार के सब पदार्थ, सब जीव, जिनकी हमें अलग अलग भावना होती है, इसी परमतत्त्व के विशेष विशेष क्षणभंगुर नाम रूप हैं[3]। इन नाम रूपों का जब हम विस्तार के गुणानुसार विचार करते हैं तब वे द्रव्यात्मक वस्तु कहलाते हैं, और जब चित् शक्ति या क्रियाशक्ति के रूप में विचार करते हैं तब गति या बुद्धि क्रिया कहलाते हैं। स्पिनोजा के इस गूढ़ विचार का समर्थन हम आज भी करते हैं और द्रव्य अर्थात् दिक् में व्याप्त परम तत्त्व और शक्ति अर्थात् गति या वेग को एक ही सर्वव्यापक परमतत्त्व की दो अभिव्यक्तियाँ मानते हैं।

आधुनिक विज्ञान में परमतत्त्व के सम्बन्ध में जो भिन्न भिन्न सिद्धान्त प्रचलित हैं उनमें मुख्य दो हैं—प्रथम अणुदोलन सिद्धान्त और द्वितीय आकुंचन सिद्धान्त। दोनों सिद्धान्तों के अनुसार यह निश्चय पक्का ठहरता है कि आकर्षण, विद्युत्, प्रकाश और ताप इत्यादि सब एक ही मूल गतिशक्ति के रूपान्तर हैं। पहले अणुदोलनवाले सिद्धान्त को लेते हैं। इसके अनुसार मूल गतिशक्ति द्रव्य के परमाणुओं का क्षोभ है। ये परमाणु जड़ हैं और दूर से एक दूसरे पर आकर्षण प्रभाव डालकर शून्य में नाचते रहते हैं। इस सिद्धान्त का प्रवर्तक न्यूटन है जिसने योरप में आकर्षण सिद्धान्त की स्थापना

---

1. भारतवर्ष में ईश्वर और जगत् की एकता का सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन काल में निश्चित हुआ था। उपनिषद् की 'सर्वखल्विदं ब्रह्म' की भावना बहुत पुरानी है। वेदान्ती लोग भी ईश्वर को जगत् का 'अभिन्ननिमित्तोपादान' बतला कर ईश्वर और जगत् की एकता का आभास देते हैं।
2. द्वे बाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च, मर्तञ्चैवामृतञ्च, स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च।—वृहदारण्यक—मूर्तामूर्त ब्राह्मण।
3. इन नााम रूपों की क्षणभंगुरता का विषय हमारे यहाँ आकाश के दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। जैसे घट के भीतर का आकाश विशेष रूप का दिखाई पड़ता है, पर घड़े के फूटने पर वह घटाकाश नहीं रह जाता अर्थात् आकाश का वह स्वरूप नहीं रह जाता।

की। सन् 1687 में अपने सिद्धान्तग्रन्थ में उसने दिखाया कि समस्त विश्व आकर्षण के नियम पर चलता है। यह आकर्षण पदार्थों के गुरुत्व और उनकी बीच की दूरी के हिसाब से होता है। पिंड जितने ही भारी होंगे उतने ही अधिक वेग से आकर्षण होगा और एक दूसरे से जितने ही अधिक दूर होंगे उतना ही आकर्षण का वेग कम होगा। इसी व्यापक नियम के अनुसार फल पेड़ पर से टूटकर पृथ्वी पर गिरता है, समुद्र की लहरें ऊपर की ओर उठती हैं और ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। न्यूटन ही ने इस नियम के परिचालन का ठीक ठीक हिसाब गणित करके दिखाया। न्यूटन के निरूपण से इस बात का तो पता लगा कि आकर्षण किस हिसाब से होता है पर इसका पता कुछ भी न लगा कि यह होता किस प्रकार है। यह कहने से कि एक ग्रहपिंड दूर से बिना किसी मध्यवर्ती वाहक के दूसरे पिंडों में गति उत्पन्न करता है, आकर्षण का विधान कुछ भी समझ में नहीं आता। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि दूर से बिना किसी आधार के होनेवाली यह क्रिया न्यूटन को एक गूढ़ रहस्य या ईश्वरी माया प्रतीत हुई हो, जिसके कारण उसने अपना शेष जीवन बाइबिल की बेसिर पैर की बातों की उधेड़बुन में बिताया।

इस अणुदोलन सिद्धान्त के विरुद्ध हाल का आकुंचन सिद्धान्त है। इसके अनुसार जगत् की मूल गति शून्य स्थान में अणुओं का दोलन या कम्पन नहीं है बल्कि अनन्त दिक् में अखंड रूप से व्याप्त मूलद्रव्य या परमतत्त्व का आकुंचन या जमाव है। इस परमतत्त्व की मूलगति आकुंचित होने या जमने की प्रवृत्ति है जिसके कारण जमाव के अनन्त केन्द्र उत्पन्न हो जाते हैं। अखिल मूल प्रकृत्ति या परमतत्त्व के सूक्ष्म कण परमाणु रूप ही हैं। पर अणुदोलन सिद्धान्तवाले इन परमाणुओं को जैसा मानते हैं वैसे वे नहीं होते। उनमें एक प्रकार की संवेदना या प्रवृत्ति जिसे मूल वासना या मनोगति कह सकते हैं, होती है। अतः इन अणुओं को एक प्रकार की मूल आत्मा[1] से युक्त मानना चाहिए। एक बात और है। आत्माओं से युक्त ये परमाणु शून्य में नहीं फिरते हैं बल्कि एक अत्यन्त सूक्ष्म और प्रवाहरूप मध्यवर्ती द्रव्य में घूमते हैं जो जमा नहीं रहता। मूलद्रव्य के जमने में जो क्षोभ होता है उससे क्षोभ के बहुत से केन्द्र बनते हैं जिनके चारों ओर असंख्य परमाणु एकत्र होकर परस्पर मिलते हैं और आसपास के द्रव्य से अधिक स्थूलता प्राप्त करते हैं। इस रीति से मूलप्रकृति या परमतत्त्व जो अपनी मूल साम्यावस्था में सर्वत्र एकरस रहता है, दो रूपों में हो जाता है। क्षोभ के केन्द्र जिनका घनत्व साम्यावस्था के मूलद्रव्य के सामान्य घनत्व से अधिक हो जाता है, पिंडों के स्थूल उपादान होते हैं; और उनके बीच के स्थानों में व्याप्त सूक्ष्म मध्यवर्ती जिनका घनत्व साम्यावस्था के मूलद्रव्य के सामान्य घनत्व

---

1. आत्मा से अभिप्राय यहाँ चैतन्य का नहीं है, केवल जड़ प्रवृत्ति का है। चेतना को हैकल गुणविकास मानते हैं।

से कम हो जाता है, वह ईथर या सूक्ष्म अगोचर आकाशद्रव्य हो जाता है। एक मूलतत्त्व के पिंड और ईथर इन दो पदार्थों में विभक्त हो जाने से दोनों पदार्थों में निरन्तर विरोध चलता रहता है। यही विरोध समस्त भौतिक व्यापारों का कारण है। इच्छा या प्रवृत्तियुक्त स्थूल द्रव्य निरन्तर संयुक्त और घनीभूत होने का प्रयत्न करता रहता है और इस व्यापार द्वारा विपुल मात्रा में निहित गतिशक्ति का संचय करता है। उसके विरुद्ध सूक्ष्म अग्राह्य द्रव्य निरन्तर इस बात का प्रयत्न करता रहता है कि उस पर और अधिक खिंचाव न पड़े और इस प्रकार वह अधिक से अधिक व्यक्त या क्रियमाण गतिशक्ति का संचय करता है।

यह आकुंचन सिद्धान्त मूल प्रकृति की एकता का निश्चय रखनेवाले जीवविज्ञानियों को अणुदोलन सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक मान्य है। पर अणुदोलन सिद्धान्तवाले वैज्ञानिक आकुंचन सिद्धान्त स्वीकार नहीं करते। दोनों अनुमानमूलक सिद्धान्तों में जो विरोध है वह केवल गति के प्रकार में है, मूल प्रकृति या परमतत्त्व की गति दोनों मानते हैं। आकुंचन सिद्धान्त चाहे अभी अपूर्ण हो, उसमें बहुत सी त्रुटियाँ हों, पर यह मानना ही पड़ेगा कि अणुदोलन सिद्धान्त में जो दोष थे वे इसके द्वारा बहुत कुछ स्पष्ट हो गए हैं। आज इसी सिद्धान्त का अनुसरण करके मैं अद्वैतदृष्टि से परमतत्त्व के सम्बन्ध में ये बातें निश्चित करता हूँ–

1. परमतत्त्व के ये दोनों रूप अर्थात् द्रव्य और ईथर जड़ नहीं हैं। वे किसी बाहरी शक्ति के द्वारा परिचालित नहीं होते बल्कि उनमें स्वयं संवेदन और इच्छा अत्यन्त निम्न श्रेणी की होती है। एक में जमाव की इच्छा और दूसरे में खिंचाव की अनिच्छा होती है।

2. विश्व में कहीं कोई स्थान शून्य नहीं। जो स्थान स्थूल परमाणुओं से पूर्ण नहीं, वह ईथर से व्याप्त है।

3. एक पिंड दूसरे में जो गति आदि उत्पन्न करता है वह या तो संसर्ग द्वारा अथवा ईथर की मध्यस्थता द्वारा।

परमतत्त्व के सम्बन्ध में ऊपर जिन दोनों सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है वे दोनों अद्वैत सत्ता सूचित करते हैं; क्योंकि परमतत्त्व के जो दो अवस्थाभेद हैं–द्रव्य और ईथर, वे उसके मूल रूप नहीं हैं। पर अध्यात्मपक्ष के दार्शनिकों का द्वैतमत कुछ और ही है। वे दो प्रकार के तत्त्व मानते हैं–भौतिक और अभौतिक। भौतिक तत्त्व उन पदार्थों का उपादान है जो भौतिक विज्ञान और रसायनशास्त्र के नियमाधीन हैं। अभौतिक तत्त्व आध्यात्मिक जगत् में है जो समस्त भूतों से परे है, अतः भौतिकविज्ञान के नियमों के बाहर है। इस अध्यात्म जगत् में 'आत्मशक्ति', 'अबाध इच्छाशक्ति' या इसी प्रकार का कोई हौवा काम करता है। इन विचारों के खंडन में प्रवृत्त होने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि आजतक अनुभव द्वारा न तो किसी अभौतिक तत्त्व का पता लगा है न और किसी ऐसी क्रिया या शक्ति का जो द्रव्याश्रित

न हो। यहाँ तक कि गतिशक्ति अर्थात् क्रियाशक्ति के सबसे जटिल और विशद भेद जो जीवधारियों के बुद्धि आदि व्यापार हैं, वे भी भूतात्मक द्रव्यविधान के आश्रित हैं; मस्तिष्क के अवयवों की परिस्थिति और रसविकार पर अवलम्बित हैं। इन अवयवों और रसविकारों से पृथक् उनकी भावना हो नहीं सकती।

स्थूल द्रव्य का विश्लेषण आदि रसायन शास्त्र का विषय है। रसायन शास्त्र ने इधर जो आश्चर्यजनक उन्नति की है वह किसी से छिपी नहीं है। प्रकृति में जितने पदार्थ हैं विश्लेषण करने पर वे कुछ मूलद्रव्यों के योग से बने पाए गए हैं। मूलद्रव्य का अभिप्राय यह है कि यदि उसका और विश्लेषण किया जाय तो उसमें और किसी भिन्न द्रव्य का योग पाया जायगा। अब तक सत्तर या पचहत्तर मूलद्रव्यों में से केवल चौदह ऐसे हैं, जो इस पृथ्वी पर बहुत अधिक व्याप्त हैं। बाकी जो हैं उनमें से अधिकांश धातुएँ हैं; जैसे लोहा, सोना, सीसा इत्यादि। मेंडालायक नामक एक रूसी रसायनवेत्ता ने इन मूलद्रव्यों को परमाणुओं के गुरुत्व के अनुसार वर्गों में बाँटा है। इस वर्गीकरण में समान गुणवाले मूलद्रव्य एक वर्ग में आ जाते हैं। इन वर्गों में जो परस्पर सम्बन्ध है उसे देखने से प्राणिवर्गों और वनस्पतिवर्गों के परस्पर सम्बन्ध की ओर ध्यान जाता है। अतः जिस प्रकार एक मूलरूप से सम्पूर्ण प्राणिवर्गों की उत्पत्ति हुई है उसी प्रकार मूलद्रव्य के इन वर्गों की भी उत्पत्ति समझी जा सकती है। क्रुक्स आदि रसायनज्ञों ने सूचित किया है कि समस्त मूलद्रव्यों का विकास एक आदिम मूलद्रव्य से हुआ है।

दार्शनिकों का अणुवाद तो बहुत पुराना है। पर रसायन शास्त्र में परमाणुवाद की स्थापना डाल्टन नामक एक वैज्ञानिक ने की। उसीने पहले पहल प्रत्येक मूलद्रव्य के परमाणुओं का गुरुत्व निश्चित किया[1] जिसके आधार पर आधुनिक रसायन शास्त्र के सिद्धान्त स्थिर किए गए हैं। ये सिद्धान्त परमाणुमूलक हैं क्योंकि इनमें प्रत्येक मूलद्रव्य एक ही प्रकार की सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणिकाओं के योग से बना माना गया है। ये परमाणुमूलक सिद्धान्त परीक्षात्मक या अनुभवसिद्ध हैं क्योंकि ये ठीक ठीक बतलाते हैं कि किस हिसाब से एक मूलद्रव्य के परमाणु दूसरे मूलद्रव्य के परमाणुओं के साथ मिलते हैं। रसायनशास्त्र इसके आगे नहीं जाता। वह यह नहीं बतलाता कि परमाणुओं की आकृति, प्रकृति, अन्तःक्रिया आदि कैसी हैं।[2]

भिन्न भिन्न मूलद्रव्यों का भिन्न भिन्न मूलद्रव्यों के साथ जो परस्पर प्रीतिसम्बन्ध है वह ध्यान देने योग्य है। यह प्रीतिसम्बन्ध कुछ मूलद्रव्यों के रासायनिक रीति से मिलने और कुछ के न मिलने में देखा जाता है। मूलद्रव्यों के व्यापार में उदासीनता

---

1. गुरुत्व से यह न समझना चाहिए कि परमाणुओं की ठीक ठीक तौल बतला दी गई। उनके गुरुत्व का केवल सम्बन्ध बताया गया कि यदि एक का गुरुत्व एक माना जाय तो दूसरे का दो होगा और तीसरे का चार होगा।
2. परमाणु की इधर और परीक्षा हुई है। दे. भूमिका।

से लेकर प्रबल से प्रबल प्रीति का उसी प्रकार दृष्टान्त मिलता है जिस प्रकार मनुष्यों, विशेषकर स्त्रीपुरुषों के व्यापार में। वह प्रबल प्रेम जिससे स्त्री पुरुष एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं वही प्रबल चेतनानिरपेक्ष 'अचेतन' आकर्षण है, जिसकी प्रेरणा से शुक्रकीटाणु गर्भकीटाणु में प्रवेश करता है और हाइड्रोजन के परमाणु आक्सिजन के परमाणुओं के साथ मिलते और जलकणिका की सृष्टि करते हैं। इसका समर्थन शरीराणुरूप घटकों की अन्तःक्रिया या मनोव्यापार की परीक्षा द्वारा भी होता है। इन बातों के आधार पर हमारा यह निश्चय है कि द्रव्य के एक परमाणु में भी मूलरूप की संवेदना और इच्छा अथवा अनुभूति और प्रवृत्ति होती है। उसमें भी एक अत्यन्त मूलरूप की अत्यन्त सादे ढंग की आत्मा होती है।[1] इन परमाणुओं के योग से बने हुए अणुओं में भी इसी प्रकार की अल्प आत्मा होती है। भिन्न भिन्न प्रकार के अणु मिलकर ऐसे रासायनिक द्रव्य या रस जैसे कललरस, हो जाते हैं जिनमें ऊपर लिखे अन्तर्व्यापार भी अधिक गूढ़ और जटिल रूप धारण कर लेते हैं। प्राणियों के व्यापार इसी प्रकार के अन्तर्व्यापार हैं।

यहाँ तक तो स्थूल द्रव्य की बात हुई। अब अत्यन्त सूक्ष्म द्रव्य ईथर को लीजिए जो भौतिक विज्ञान का विषय है। प्रकाश किस प्रकार एक पिंड से निकलकर दूसरे पिंड पर जाता है, इसके समाधान के लिए एक अत्यन्त सूक्ष्म और पतले मध्यवर्ती द्रव्य का अस्तित्व भौतिक विज्ञान में कुछ दिनों से माना जाने लगा था। पर उसका विशेष रूप से परिचय तब हुआ जब विद्युत् के तत्त्वों की छानबीन की गई, उसके अनेक प्रकार के प्रयोग किए गए और उसकी गति आदि की मीमांसा की गई। अब ईथर की वास्तविक सत्ता वैज्ञानिकों में सर्वत्र मानी जाती है। पर अभी कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि ईथर एक अनुमान मात्र है। ऐसा कहनेवाले सृष्टितत्त्व से अनभिज्ञ दार्शनिक और चलते हुए साधारण लेखक ही नहीं, कुछ वैज्ञानिक लोग भी हैं। पर यह कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि ऐसे करामाती दार्शनिक भी हुए हैं जिन्होंने इस दृश्य जगत् तक की सत्ता अस्वीकार की है। उनकी समझ में केवल एक ही वास्तविक सत्ता है, वही उनकी परम प्रिय अमर आत्मा। योरप में डेकार्ट, बर्क्ले और फिक्ट इसी प्रकार के दार्शनिक हुए हैं[2]। कई एक ने तो इस आत्माद्वैतवाद को तत्त्वज्ञवर कांट के इस कथन का ठीक अभिप्राय न समझने के कारण ग्रहण किया है कि वाह्य जगत् का हमें जो बोध होता है वह प्रतीतिमूलक है, अर्थात् उन्हीं रूपों में होता है जिन रूपों में इन्द्रियों के सहित हमारे मन को दिखाई पड़ता है। कांट का कहना है कि वस्तुओं का चित्तनिरपेक्ष वास्तव स्वरूप मनुष्य नहीं जान सकता।

---

1. ध्यान रखना चाहिए कि आत्मा से हैकल का अभिप्राय चेतना का नहीं है। चेतना को वे एक ऐसी वृत्ति मानते हैं जो मस्तिष्क या अन्तःकरण के कुछ उन्नत होने पर उत्पन्न होती है।
2. भारतवर्ष में इनके बहुत पहले यह मत प्रकट हुआ था।

पर यदि अन्तःकरण द्वारा हमें भूतात्मक जगत् का अपूर्ण और परिमित ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है, तो यह कोई ऐसा कारण नहीं जिससे हम एकदम जगत् का अस्तित्व ही न मानें। अस्तु, ईथर का होना उसी प्रकार निश्चित है जिस प्रकार स्थूल द्रव्य का होना। जिस प्रकार गुरुत्व आदि के अनुभव द्वारा हमें स्थूल द्रव्य के अस्तित्व का निश्चय होता है उसी प्रकार विद्युत्क्रिया और रश्मिविश्लेषण की परीक्षा और अनुभव द्वारा हमें ईथर के अस्तित्व का निश्चय होता है।

यद्यपि ईथर का अस्तित्व अब प्रायः सब वैज्ञानिक मानते हैं और उसके बहुत से गुणों का परिचय विद्युत् की क्रिया और प्रकाश की किरनों की विविध परीक्षाओं द्वारा सब को हो गया है, पर उसके वास्तविक रूप और प्रकृति के सम्बन्ध में कोई एक निश्चित मत नहीं। जिन वैज्ञानिकों ने ईथर के विषय में विशेष रूप से विचार किया है उनके मत परस्पर विभिन्न और विरुद्ध हैं। अतः जो मत मुझे सबसे ठीक जान पड़ा है उसे मैं नीचे देता हूँ–

1. आकाश द्रव्य ईथर एक अखंड और अनवच्छिन्न द्रव्य है अर्थात् अण्वात्मक नहीं है और सम्पूर्ण दिक् में व्याप्त है; यहाँ तक कि परमाणुओं के बीच जो अंन्तर होता है वह भी ईथर से परिपूर्ण रहता है।

2. ईथर के अण्वात्मक न होने से उसमें कोई रासायनिक गुण नहीं माना जा सकता, वह सर्वत्र एकरस रहता है। क्योंकि यदि ईथर को भी अत्यन्त सूक्ष्म अणुओं के द्वारा संयोजित मानें तो फिर इन ईथराणुओं के बीच कोई और भी सूक्ष्म तत्त्व अखंड रूप से व्याप्त मानना पड़ेगा। पर इस प्रकार बराबर मानते चले जाने से अनवस्था आती है। अतः कहीं न कहीं चलकर हमें एक अखंड, अनवच्छिन्न तत्त्व मानना ही पड़ेगा।

3. जब कि शून्य स्थान की भावना हो नहीं सकती और एक पिंड का दूसरे पिंड पर दूर से बिना किसी मध्यस्थ के, आकर्षण आदि प्रभाव डालना सम्भव नहीं, तब ईथर के विषय में यही मानना उचित है कि स्थूल द्रव्य के समान उसका ढाँचा अणुघटित नहीं, बल्कि आकाशीय या गत्यात्मक अर्थात् प्रकाश आदि की किरणों का वाहकस्वरूप और आकर्षणशक्ति का प्रवर्तकस्वरूप है। ईथर वायु से कहीं अधिक सूक्ष्म आकाशरूप तत्त्व है।

4. ईथर को हम अग्राह्य द्रव्य कह सकते हैं क्योंकि उसकी तौल आदि जानने का कोई साधन हमारे पास नहीं है। यदि उसमें कुछ गुरुत्व हो तो भी उसको जानना वैज्ञानिकों के सूक्ष्म से सूक्ष्म मानयन्त्र की शक्ति के बाहर है।

5. आकुंचन सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य ईथर या आकाशीय रूप से उत्तरोत्तर जमाव की प्रक्रिया द्वारा वायव्य रूप में आ सकता है, ठीक उसी प्रकार जैसे वायव्य द्रव्य द्रवरूप में, और द्रव स्थूल या ठोसरूप में परिणत हो सकता है।

6. अतः, उत्तरोत्तर रूपप्राप्ति क्रम के अनुसार द्रव्य की पाँच अवस्थाएँ कही

जा सकती हैं—ईथरीय या आकाशीय, वायव्य, द्रव, कणात्मक, जैसे कललरस की होती है, और ठोस।

7. ईथर दिक् के समान अनन्त और अपरिमेय है। वह सदा गति में रहता है। पिंडगति अर्थात् आकर्षण के साथ परस्पर कार्य करती हुई ईथर की यही नित्यगति, चाहे यह क्षोभ के रूप में मानी जाय अथवा खिंचाव या जमाव के रूप में; जगत् के सम्पूर्ण व्यापारों का मूल कारण है।

**व्यक्त प्रकृति; जगत्**

| ईथर (आकाशरूप द्रव्य)—अग्राह्य | पिंड—ग्राह्य |
|---|---|
| 1 स्वरूप<br>आकाशीय (अर्थात् न वायव्य, न द्रव, न ठोस) | 1 स्वरूप<br>ठोस, द्रव वा वायव्य |
| 2 विधान<br>अण्वात्मक नहीं, अखंड और व्यापक | 2 विधान<br>अण्वात्मक, अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओं से संघटित और खंडित |
| 3 गुण<br>प्रकाश, ज्योतिर्मय ताप, विद्युत् और चुम्बक | 3 गुण<br>गुरुत्व, अधिचलल, अण्वात्मक ताप, रासायनिक प्रवृत्ति |

ईथर अर्थात् आकाश द्रव्य और ग्राह्य अर्थात् स्थूल द्रव्य सदा एक दूसरे के लगाव में ही नहीं रहते बल्कि एक दूसरे पर अपनी क्रिया करते हैं। प्रकृति के गुणों और व्यापारों को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं—ईथर के गुण और व्यापार, स्थूल द्रव्य के गुण और व्यापार।

द्रव्य के गुणों और व्यापारों के ये दोनों वर्ग द्रव्य के उन्नतिविधान में आदि कार्यविभाग हैं। पर कार्यतः अलग होते हुए भी ये दोनों वर्ग सदा सम्बन्धसूत्र में बँधे रहते हैं और एक दूसरे पर कार्य क्रिया करते हैं। यह जानी हुई बात है कि विद्युत् और रश्मिसम्बन्धी व्यापारों और ग्राह्य द्रव्य के भौतिक और रासायनिक विकारों में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। ईथर का ज्योतिर्मय ताप भौतिक पिंड के ताप के रूप में परिणत किया जा सकता है। इसी प्रकार एक रूप की गतिशक्ति दूसरे रूप की गतिशक्ति में परिवर्तित हो सकती है। इन बातों से स्पष्ट है कि परमतत्त्व के दोनों रूप, ईथर और पिंड, सदा मिलकर कार्य किया करते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि विश्व में गतिशक्ति का योग सदा एक ही रहता है, हमारे चारों ओर चाहे जो उलटफेर हों उसमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। गतिस्वरूपा शक्ति भी उस द्रव्य के समान, जो उसका आश्रय है, नित्य और अनन्त

है। प्रकृति का सारा रंगस्थल चराचर का खेल है। उसमें पदार्थ कभी चल और कभी अचल होते रहते हैं। जो पदार्थ स्थिर या अचल रहते हैं उनमें उसी प्रकार गतिशक्ति रहती है जिस प्रकार चलायमान् पदार्थों में, अर्थात् वह निहित या संचित रहती है। यही निहित शक्ति जब व्यक्त हो जाती है तब वे पदार्थ गति में होते हैं। इस भौतिक जगत् में निहित शक्ति की और व्यक्त शक्ति की मात्रा अक्षुण्ण और एकरस रहती है। निहित गतिशक्ति व्यक्त गतिशक्ति के रूप में या व्यक्त शक्ति निहित के रूप में एक ठीक बँधे हुए हिसाब से परिवर्तित होती है। जिस हिसाब से एक ओर एक की वृद्धि होती है उसी हिसाब से दूसरी ओर दूसरी का ह्रास होता है। अतः अन्त में शक्ति की मात्रा उतनी ही रहती है, उसमें अन्तर नहीं पड़ता।

भौतिक विज्ञान में जब परमतत्त्वसम्बन्धी नियम निश्चित हो गए तब शरीरविज्ञानियों ने उनकी चरितार्थता शरीरियों में भी दिखलाई। उन्होंने सिद्ध किया कि जड़ पदार्थों के नियमित व्यापार जैसे गतिशक्ति की विविध क्रियाओं के अनुसार होते हैं वैसे ही जीवों के सब शरीरव्यापार, जैसे एक धातु से दूसरी धातु में परिवर्तन आदि, गतिशक्ति की नियमित क्रियाओं के अनुसार होते हैं। उद्‌भिदों और जन्तुओं की वृद्धि और पोषण आदि व्यापार ही नहीं, बल्कि उनके संवेदन और अंगसंचालन, उनके इन्द्रियव्यापार और अन्तःकरण व्यापार भी, निहित गतिशक्ति के व्यक्त गतिशक्ति में और व्यक्त गतिशक्ति के निहित गतिशक्ति में परिवर्तित होने पर अवलम्बित हैं। मनुष्य तथा दूसरे उन्नत प्राणियों में जो मन या बुद्धि की वृत्तियाँ कहलाती हैं वे भी परमतत्त्व के इन्हीं नियमों के अधीन हैं।

भौतिक अद्वैतदृष्टि से देखा जाय तो यह स्पष्ट है कि परमतत्त्वसम्बन्धी नियम विश्व में सर्वत्र चलता है। यह बात ध्यान देने योग्य है, क्योंकि इससे विश्व की एकमूलता का और उसके अन्तर्गत होनेवाली सारी बातों के कार्यकारण सम्बन्ध का निरूपण ही नहीं होता बल्कि ईश्वर, आत्मस्वातन्त्र्य और अमरत्व इन तीन काल्पनिक प्रवादों का एकदम निराकरण भी हो जाता है।

तेरहवाँ प्रकरण

# जगत् का विकास

जगत् की उत्पत्ति का विषय बड़ा भारी और बहुत टेढ़ा है। पर उन्नीसवीं शताब्दी में ज्ञान के विविध क्षेत्रों में जो अद्भुत उन्नति हुई है उससे इस विषय का बहुत कुछ विचार हो गया है। सृष्टिसम्बन्धी जितनी बातें हैं सब का अन्तर्भाव जादूभरे एक 'विकास' शब्द में हो जाता है। मनुष्य की उत्पत्ति, पशुओं की उत्पत्ति, वनस्पतियों की उत्पत्ति, सूर्य, पृथ्वी आदि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अलग अलग प्रश्न न करके केवल एक ही प्रश्न किया जा सकता है–समस्त जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई? किसी दैवी शक्ति से उसकी सृष्टि हुई है अथवा प्राकृतिक विधान के अनुसार उसका क्रमशः विकास हुआ है? यदि क्रमशः विकास हुआ है तो किस प्रकार?

प्राचीन काल की पौराणिक व्याख्या के अनुसार तो सृष्टि बनाई गई है। धर्मग्रन्थों में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में बड़ी अलौकिक और अद्भुत कथाएँ मिलती हैं। किताबी या पैगम्बरी धर्मों, यहूदी, ईसाई, इसलाम आदि के कारण इन कहानियों का बहुत प्रचार हुआ है[1]। ईसाई धर्म के प्रचार के पहले यूनान के स्वतन्त्र दार्शनिकों और तत्त्वज्ञों ने सृष्टि के विकास के सम्बन्ध में अच्छा विचार किया था। ईसाई धर्म के साथ ही साथ यहूदियों के किस्सों और कहानियों का प्रचार हुआ। आर्यवंशीय

---

1. इन अनार्य धर्मों में पुराण हैं, शास्त्र नहीं। एक एक पौराणिक पुस्तक–तौरेत, इंजील, कुरान आदि को लेकर ही ये धर्म चलते हैं। हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि आर्यधर्मों में पुराण और शास्त्र दोनों हैं। विद्वान् लोग प्रायः शास्त्रीय चर्चा में ही अपना समय लगाते हैं। हिन्दुओं के पुराणों में जिस प्रकार आदि में जल के ऊपर शेषशायी भगवान् के रहने और उनकी नाभि के कमल से उत्पन्न ब्रह्मा के चराचर सृष्टि बनाने की कथा है लिखी है, उसी प्रकार उनके सांख्य शास्त्र में एक अव्यक्त मूल प्रकृति से क्रमशः सम्पूर्ण तत्त्वों के विकास का गम्भीर निरूपण भी किया गया है। पर ईसाइयों का एकमात्र आधार उनका पुराणग्रन्थ बाइबिल है जिसमें लिखा है कि ईश्वर ने छः दिन में आँकाश, पृथ्वी, जल तथा वनस्पतियों और जीवों को अलग अलग उत्पन्न किया, मनुष्य का पुतला बनाकर उसमें अपनी रूह फूँकी। इसी से योरप में जब पहले सृष्टिविकास का निरूपण हुआ तब वहाँ बड़ी खलबली मची।

ज्ञानवृद्ध और स्वतन्त्र यूनानी जाति के आगे अनार्य यहूदी जाति बिलकुल गँवार और जंगली थी। प्राकृतिक कारण से सृष्टि के क्रमशः विधान का भाव तो उसके अनुन्नत अन्तःकरण में आ नहीं सकता था, अतः यह जगत् की उत्पत्ति को किसी देवी देवता की करामात समझने के सिवा और कर ही क्या सकती थी? इस सृष्टिकर्तृत्ववाद में पुरुषविशेषवाद मिला हुआ है। इसे माननेवाले समझते हैं कि कुम्हार जैसे अनेक प्रकार के बरतन उनके ढाँचे सोच कर बनाता है वैसे ही सृष्टिकर्ता जगत् को बनाता है। इस सृष्टिकर्ता की भावना मनुष्य या पुरुषविशेष के रूप में ही की जाती है।

सृष्टि की उत्पत्ति की भावना दो रूपों में देखी जाती है—एक तो सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति की और दूसरी उसके विविध अंगों की उत्तरोत्तर उत्पत्ति की। सृष्टि का एक कर्ता माननेवाले लोगों में जो युक्ति और बुद्धि की भी दुहाई देते हैं, उनका कहना है कि ईश्वर ने आदि में सम्पूर्ण जगत् का मूल या बीज उत्पन्न कर दिया, उसमें नाना रूपों के विकास की शक्ति भर दी और फिर चुपचाप बैठ रहा। यह कथन विशेषतः आजकल के मतसंशोधकों का है। ये विकासपरम्परा को एक प्रकार से मानते हैं पर मूल में जाकर उसे छोड़ देते हैं और वहाँ अपने सृष्टिकर्ता ईश्वर को स्थापित करते हैं। दूसरे धार्मिक सृष्टिवादियों का कहना है कि ऐसा नहीं, ईश्वर बराबर सृष्टि का पालन और शासन करता है, उसे एक बार बनाकर फिर किनारे नहीं हो जाता। इन लोगों के विचार कभी कभी बढ़ते बढ़ते सर्ववाद तक पहुँच जाते हैं और कभी शुद्ध ईश्वरवाद ही तक रहते हैं।

जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में जो अनेक प्रकार के विश्वास प्रचलित हैं उनमें से कुछ ये हैं—

**1. द्विविध सृष्टि**—ईश्वर ने दो बार सृष्टि की। एक बार तो उसने जड़जगत् अर्थात् निर्जीव द्रव्य को उत्पन्न किया जो उस भौतिक गतिशक्ति के नियमाधीन है जो अचेतन रूप में कार्य करती है। फिर चैतन्य का प्रादुर्भाव हुआ जिसकी स्वतन्त्र शक्ति से जीवधारियों के विकास की व्यवस्था हुई।

**2. त्रिविध सृष्टि**—ईश्वर ने तीन बार करके सृष्टि की। पहले उसने आसमान को बनाया, फिर जमीन को बनाया, पीछे अपने आकार के अनुसार मनुष्य की रचना की। यह बात ईसाई मत के उपदेशकों के मुँह से बहुत सुनी जाती है।

**3. साप्ताहिक सृष्टि**—मूसा की किताब में लिखा है कि छः दिनों में ईश्वर ने चटपट सारी सृष्टि बनाकर तैयार कर दी और सातवें दिन आराम किया। पढ़े लिखे लोगों में अब शायद ही कोई ऐसा निकले जो इस कहानी को ठीक मानता हो। फिर भी आजकल के कुछ धर्माभिमानी आधुनिक विज्ञान के शब्दों में इस कहानी की विशद व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। अठारहवीं शताब्दी तक जीवविज्ञानियों पर इस कहानी का बहुत कुछ प्रभाव था। सन् 1735 में लिनी नामक प्राणिविज्ञानवेत्ता ने जन्तुओं का वर्गों में विभाग आदि तो किया पर भिन्न भिन्न योनियों के विषय

में उसने यही कहा कि 'संसार में योनियाँ उतनी ही हैं जितनी के ढाँचे सृष्टि के आदि में ईश्वर ने उत्पन्न किए थे'। डारविन ने इस प्रवाद का पूर्णरूप से खंडन कर दिया।

**4. कल्पसृष्टि**–प्रत्येक जीवकल्प का मन्वन्तर के आदि में फिर से नए जीवों और वनस्पतियों की सृष्टि होती है और जीवकल्प के अन्त में सबका नाश हो जाता है। भूगर्भस्थपंजरानुसंधान विद्या ने इस कल्पना की असारता सिद्ध कर दी है।

**5. व्यक्तिशः सृष्टि**–प्रत्येक जीव जन्तु जो उत्पन्न होता है वह प्राकृतिक नियम के अनुसार नहीं; बल्कि ईश्वर के द्वारा रचा जाता है। यह विश्वास साधारण जनों का है।

इस प्रकार की ऊटपटाँग कल्पनाओं से प्राचीन काल के विचारशील पुरुषों का भी समाधान नहीं हुआ। प्राचीन काल के अनेक दार्शनिकों ने शुद्ध चिन्तन के बल से प्राकृतिक कारणपरम्परा दिखाकर सृष्टितत्त्व का निरूपण किया। आजकल की सी वैज्ञानिक परीक्षाएँ सुलभ न होने पर भी उनका उस काल में इस प्रकार तत्त्व तक पहुँचना निःसन्देह आश्चर्य की बात है। भारतवर्ष, यूनान आदि सभ्यता के प्राचीन पीठों में ऐसे अनेक तत्त्वदर्शी हो गए हैं पर साम्प्रदायिक कल्पनाओं का जाल, उनके निरूपित तत्त्वों को लोगों की दृष्टि से छिपाने का बराबर यत्न करता रहा। योरप में जब ईसाई मत का प्रचार हुआ तब सब प्रकार के स्वतन्त्र तात्त्विक विचार दबा दिए गए। ईसाई धर्माचार्यों की कोपाग्नि के भय से कोई ऐसी बात मुँह से निकाल तक न सकता था जो खुदाई किताब के विरुद्ध पड़ती हो। पर धीरे धीरे ज्ञान की ज्योति का फिर उदय हुआ और वैज्ञानिक युग आया। प्रकृति में किस प्रकार उत्तरोत्तर अनेक गुणों और रूपों का स्फुरण हुआ है, इसका पता लगा। विकास सिद्धान्त की स्थापना हुई। उसके आधार पर विश्वविधान के नियमों का निरूपण हुआ। विश्व के अन्तर्गत लोकों की उत्पत्ति, पृथ्वी की उत्पत्ति, वनस्पति जीवजन्तु आदि की उत्पत्ति इन सब विषयों को लेकर प्रत्यक्ष प्राकृतिक नियमों के आधार पर अलग अलग शास्त्रों की नींव पड़ी। विस्तार के भय से सबका यहाँ पूरा वर्णन न करके चार मुख्य विषयों को लेता हूँ–(1) जगत् की उत्पत्ति, (2) पृथ्वी की उत्पत्ति, (3) जीवों की उत्पत्ति और (4) मनुष्य की उत्पत्ति।

## 1. जगत् की उत्पत्ति

प्राकृतिक नियमों के अनुसार जगत् की उत्पत्ति और विधान की व्याख्या पहले पहल जरमनी के तत्त्वज्ञवर कांट ने सन् 1775 में अपनी एक पुस्तक में की। पर दुर्भाग्यवश वह पुस्तक प्रकाशित न होने के कारण 90 वर्ष तक लुप्त रही। सन् 1845 में वह मिली और प्रकाशित की गई। इस बीच में लाप्लेस नामक एक फरासीसी तत्त्ववेत्ता भी स्वतन्त्र रीति से उसी सिद्धान्त पर पहुँचा जिस सिद्धान्त पर कांट पहुँचा था। इन दोनों तत्त्वज्ञों ने ग्रहों और नक्षत्रों की गति की गणित की रीति से भौतिक व्याख्या

की और यह दिखलाया कि अन्तरिक्ष के समस्त पिंड पृथ्वी, ग्रह, उपग्रह, सूर्य इत्यादि सब, घूमती हुई ज्योतिष्क नीहारिका के जमने से उत्पन्न हुए हैं। इस ज्योतिष्क नीहारिका के सिद्धान्त द्वारा ब्रह्मांड के भिन्न भिन्न लोकों की उत्पत्ति का भौतिक कारण बहुत कुछ समझ में आ गया। पीछे इस सिद्धान्त में और उन्नति हुई और यह स्थिर किया गया कि लोकों की उत्पत्ति का यह विधान केवल एक ही बार नहीं हुआ है बल्कि बराबर होता रहता है। जबकि विश्व के किसी एक भाग में घूमती हुई ज्योतिष्क नीहारिका से नए नए पिंड ब्रह्मांडों की उत्पत्ति होती रहती है, दूसरे भाग में जर्जर ठंढे पड़े हुए सूर्य परस्पर टकराते हैं और उत्पन्न ताप के प्रभाव से फिर सूक्ष्म नीहारिका की दशा को प्राप्त हो जाते हैं। विश्व का यह क्रम नित्य है, उसमें साथ ही कुछ लोकों का लय और कुछ लोकों की उत्पत्ति होती रहती है। अतः उत्पत्ति और लय हम किसी एक विशेष लोक या लोकमंडल जैसे पृथ्वी आदि सहित सारा सूर्य, ही के सम्बन्ध में कह सकते हैं, समष्टि विश्व के सम्बन्ध में नहीं। समष्टिरूप में विश्व सदा से है और सदा रहेगा। अत्यन्त क्षुद्र अणुरूप जो लोक हैं उनके रूपान्तरित होते रहने से उसकी नित्यता में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ सकता।

कांट, लाप्लेस आदि ने ब्रह्मांडों की उत्पत्ति का विधान तो समझाया पर लोगों की यह धारणा बनी रही कि समस्त विश्व का कोई आदि था। इन तत्त्वज्ञों का यह कथन कि आदि में एक अत्यन्त सूक्ष्म नीहारिका रूप ज्योतिष्क द्रव्य था; लोकों और ब्रह्मांडों सूर्य, ग्रह, उपग्रह इत्यादि के सम्बन्ध में था, समष्टि विश्व के सम्बन्ध में नहीं। पर 'आदि में' इस शब्द का अर्थ लोगों ने यही समझा कि समस्त विश्व का ही कोई आदि था। इस समझ के कारण यह शंका हुई कि विश्व के आदि में जो मूल ज्योतिष्क द्रव्य था उसमें गति कहाँ से आई। कुछ दार्शनिक चट कहने लगे कि वह गति 'अप्राकृतिक शक्ति' या 'दैवी प्रेरणा' से उत्पन्न हुई।

मेरी समझ में इस प्रकार की शंका सर्वथा निर्मूल है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ गति और संवेदन परमतत्त्व या मूल प्रकृति के गुण हैं। इस बात का प्रमाण द्रव्य और गति की अक्षरता के नियम से तथा भौतिकविज्ञान की परीक्षाओं और आधुनिक ज्योतिष के बेधों से बराबर मिलता है। प्रकाश की किरनों की जो वैज्ञानिक परीक्षा की जाती है उससे पता लग जाता है कि वे किरनें कितनी दूर से आ रही हैं और किस प्रकार के द्रव्यों से आ रही हैं। इस प्रकार की परीक्षा से यह सिद्ध हो चुका है कि अनन्त अन्तरिक्ष में जो करोड़ों पिंड नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह, उल्का, इत्यादि के रूप में हैं वे उन्हीं द्रव्यों से बने हैं, जिन द्रव्यों से हमारी पृथ्वी और सूर्य आदि बने हैं तथा वे विकास की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में हैं, अर्थात् कोई बन रहे हैं, कोई बिगड़ रहे हैं। किरणविश्लेषण यन्त्र के सहारे ऐसे ऐसे नक्षत्रों की दूरी और गति आदि का पता लगा है जिनके विषय में दूरबीन कुछ भी नहीं बतला सकते थे। इसके अतिरिक्त दूरबीन के साथ फोटोग्राफी का जो संयोग हुआ उसके द्वारा

ऐसी बातों का पता लगा जिनका 50 वर्ष पहले स्वप्न में भी किसी को ध्यान नहीं था। केतुओं अर्थात् पुच्छल तारों, उल्काओं, तारकपुंजों और ज्योतिष्क नीहारिकाओं का जो सूक्ष्म अन्वीक्षण किया गया उसके द्वारा उन असंख्य छोटे छोटे पिंडों का महत्त्व प्रकट हुआ जो नक्षत्रों के बीच के अन्तर स्थानों में भरे पड़े हैं।

पहले लोगों का ख्याल था कि अन्तरिक्ष में घूमनेवाले पिंडों के मार्ग बिलकुल बँधे हुए हैं, उनमें कुछ भी फेरफार नहीं होता, पर अब यह मालूम हो गया है कि उनके मार्गों में भी फेरफार पड़ता रहता है। वे एक ही लीक पर बिना कुछ इधर उधर हुए बराबर नहीं घूमते रहते हैं। किरणविश्लेषण तथा विद्युत्क्रिया और ईथर के निरूपण आदि भौतिक विज्ञान के अंगों का योग पाकर इधर ज्योतिष विद्या ने बहुत ही पूर्णता प्राप्त की है। द्रव्य और गतिशक्ति की अक्षरता सम्बन्धी जो परमतत्त्व का नियम निरूपित हुआ उसके द्वारा आधुनिक विज्ञान में बड़ी भारी सिद्धि प्राप्त हुई। अब हमारी ज्ञानदृष्टि इस सौर जगत् के भी बहुत आगे लोकलोकान्तरों तक पहुँची है और हमने सर्वत्र इसी नियम को पाया है। अब हम कह सकते हैं कि यह नियम सर्वदेशव्यापी है। इसी प्रकार हमें यह भी मानना पड़ता है कि द्रव्य और शक्ति की अक्षरता का यह नियम सर्वकालव्यापी है अर्थात् नित्य है। जिस प्रकार समस्त विश्व आज इसके अधीन है उसी प्रकार सदा से रहा है और सदा होगा।

आधुनिक विज्ञान और ज्योतिष के सहारे विश्व के विधान और विकास के सम्बन्ध में जो तत्त्व निरूपित हुए हैं वे संक्षेप में ये हैं—

1. जगत् या विश्व का विस्तार अनन्त है। वह कहीं शून्य नहीं है, सर्वत्र द्रव्यमय है।

2. जगत् शाश्वत और नित्य है, वह सदा से है और सदा रहेगा। उसका न कहीं आदि है, न अन्त।

3. परमतत्त्व सतत गतिशील और परिणामी है। वह सदा गति में रहता है और उसका बराबर रूपान्तर या अवस्थान्तर होता रहता है। जगत् में कहीं पूर्ण शान्ति या अचलता नहीं है। पर इस गति के होते हुए भी जगत् में द्रव्य और सतत परिणामशील गति की जो मात्रा है वह सदा वही रहती है।

4. मूलप्रकृति या परमतत्त्व की जो नित्य गति है वही लोकों के विकास में कल्प का रूप धारण करती है। जिसके भीतर लोकों का विकास और लय होता रहता है। कल्पों का यह विधान अनन्त विश्व में अलग अलग बराबर चलता रहता है। दिक् के जिस भाग में विकास कल्प का आरम्भ रहता है वहाँ लोकों की उत्पत्ति होती है और जिस भाग में उसका अन्त होता है वहाँ लोकों का लय होता है। यह क्रम बराबर साथ ही साथ चलता रहता है।

5. विकास कल्प का आरम्भ इस प्रकार होता है कि कल्पान्त के पीछे जब मूलप्रकृति अल्पकाल के लिए साम्यावस्था में आ जाती है तब फिर से उसके घनत्व

में भेद पड़ता है और स्थूल द्रव्य तथा आकाश द्रव्य अर्थात् ईथर इन दो रूपों में आदि विभाग होता है।

6. यह विभाग द्रव्य के उत्तरोत्तर जमने से होता है जिनके कारण जमाव के अनन्त केन्द्र बन जाते हैं। केन्द्ररूप परमाणुओं में प्रवृत्ति और संवेदन परमतत्त्व के ये ही दो मूल गुण होते हैं जो विविध व्यापारों के कारणस्वरूप हैं।

7. जब दिक् के एक भाग में जमाव के द्वारा इस प्रकार क्रमशः छोटे से बड़े पिंडों का विधान होता है और आकाशद्रव्य का तनाव बढ़ता है तब दूसरे भाग में इसी का उलटा होता है अर्थात् बड़े बड़े लोकपिंड एक दूसरे से टकरा कर नष्ट हो जाते हैं।

8. वेग के साथ भ्रमण करते हुए लोकपिंडों के टकराने से प्रचुर परिणाम में जो ताप उत्पन्न होता है, वही व्यक्त गतिशक्ति होकर फैली हुई ज्योतिष्क नीहारिका को अमित वेग से घुमाता है और नए घूमते हुए ज्योतिष्कपिंडों का विधान करता है। इस प्रकार लोकविधान का क्रम फिर से जारी होता है। इसी प्रकार हमारी यह पृथ्वी भी, जो न जाने कितने अरब वर्ष पहले इसी प्रकार बनी थी, अन्त में ठंढी और निर्जीव हो जायगी और अपने घूमने की कक्षा को क्रमशः छोटी करती हुई अर्थात् सूर्य से जितनी दूरी पर वह घूमती है उससे क्रमशः और कम दूरी पर घूमती हुई सूर्य में जा गिरेगी।

आधुनिक विज्ञान और ज्योतिष के द्वारा निर्धारित ऊपर लिखी बातों से विकास सिद्धान्त के व्यापकत्व का पूरा बोध हो जाता है। विश्वविधान सम्बन्धी इन बातों पर विस्तृत दृष्टि रखकर यदि हम अपनी पृथ्वी को देखें तो वह रन्ध्रगत प्रकाश में दिखाई पड़ते हुए त्रसरेणु के तुल्य भी नहीं ठहरती। ऐसे ऐसे असंख्य लोकपिंड अणुओं के रूप में अपार दिक् समुद्र में भ्रमण कर रहे हैं। मनुष्य जो मोह में पड़कर अपने को ईश्वरतुल्य कहता है, इस दृष्टि से एक क्षुद्र जरायुज जन्तु के अतिरिक्त और कुछ नहीं ठहरता। अनन्त विश्वविधान में उसका महत्त्व और उपयोग चींटी, जलकीटाणु आदि से अधिक नहीं दिखाई पड़ता। नित्य और अनन्त परमतत्त्व के विकास का मनुष्य जाति एक क्षणिक रूप या अवस्था मात्र है।

तत्त्वज्ञवर कांट ने दिक् और काल की व्याख्या करते हुए कहा कि ये दोनों चित् के स्वरूप या आभास मात्र हैं। दिक् वाह्याभास का स्वरूप है और काल अन्तराभास का[1]। ये हमारी अनुभूति या मन के ही दो रूप हैं जिनमें ढला हुआ सारा जगत्

1. पहले के कुछ दार्शनिक देश और काल को वाह्यपदार्थ मानते थे। वैशेषिक में दिक् और काल नौ द्रव्यों में तो माने गए हैं पर समवायिकारण नहीं कहे गए हैं केवल असाधारण या निमित्त कारण कहे गए हैं। दे परत्व अपरत्व सम्बन्धी प्रत्यय अर्थात् भाव या ज्ञान के कारण हैं। देश और काल दोनों विभु, →

दिखाई पड़ता है। जगत् का चित्तनिरपेक्ष वास्तव रूप क्या है यह मनुष्य कभी नहीं जान सकता। कांट के इस कथन को लेकर अनेक प्रकार की निराधार दार्शनिक कल्पनाएँ चल पड़ीं जिनसे जगत् की सत्ता तक में सन्देह किया गया। कल्पनाप्रधान दार्शनिकों को यह कहने का मौका मिल गया कि वास्तव ज्ञान निराधार चिन्तन या भावनाओं को लेकर ही हो सकता है, निरीक्षण या परीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं। यह बात कांट के अभिप्राय को न समझने के कारण हुई। कांट का उक्त कथन प्रमातृपक्ष के सम्बन्ध में था प्रमेय पक्ष के सम्बन्ध में नहीं। उसका मतलब यह था कि देश और काल को जिस रूप में मन ग्रहण करता है वह मन ही का रूप है। कांट ने स्पष्ट कहा है कि 'देश और काल की विषयसत्ता है पर उसकी भावना दृश्य जगत् से अतीत है।' कांट का यह निरूपण हमारे आधुनिक तत्त्वाद्वैतवाद के सर्वथा अनुकूल है। पर उसके सिद्धान्त का एक अंग लेकर जो विस्तार एकांगदर्शी दार्शनिकों ने किया है वह सर्वथा असंगत है। बर्क्ले ने यह सिद्धान्त प्रकट किया था कि 'पिंड प्रत्यय या भावना मात्र हैं; उनकी सत्ता उनके बोध में ही है।' इस सिद्धान्त को इस रूप में कहें तो ठीक हो—'पिंड हमारे चित्त के लिए प्रत्यय या भावना मात्र हैं। उनकी सत्ता उसी प्रकार वास्तविक है जिस प्रकार हमारे अन्तःकरण की, जो पिंडों को विषयरूप से ग्रहण करता है।' देश और काल की सत्ता को अस्वीकार करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है जब कि स्वप्न, सन्निपात, उन्माद आदि में लोग अपनी ऊटपटाँग कल्पनाओं को ही ठीक समझते हैं। डेकार्ट का प्रत्यक्ष ज्ञान के विरुद्ध यह कहना कि 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ' अब माना नहीं जा सकता।[1]' परमतत्त्व के नियम और जगदुत्पत्ति के विधान की अद्वैत व्याख्या हो जाने से आधुनिक दर्शन की पहुँच

---

→ सर्वव्यापी और परम महान् हैं। यद्यपि दिक् एक है और काल भी एक ही है पर उपाधि भेद से संख्या, परिणाम, पृथकत्व, संयोग और विभाग ये गुण उनमें आरोपित किए जाते हैं। काल और दिक् में मुख्य भेद यह है कि कालिक सम्बन्ध स्थिर रहता है और दैशिक सम्बन्ध बदलता रहता है। काल में जो आगे और पीछे होता है वह सदा ज्यों का त्यों रहता है, जो पहले हो गया वह सदा पहले ही रहेगा जो पीछे हुआ वह सदा पीछे ही रहेगा। दो भाइयों में जो बड़ा होगा वह सदा बड़ा ही रहेगा और जो छोटा होगा वह छोटा ही रहेगा पर देश में जो एक बार आगे है वह पीछे हो सकता है और जो पीछे है वह आगे हो सकता है।

आजकल के मनोविज्ञानवेत्ता भी देश की भावना को नेत्रेन्द्रियगत संवेदन और पेशीगत गतिसंवेदन के योग से उत्पन्न मानते हैं।

1. डेकार्ट न कहा था कि प्रत्यक्ष ज्ञान में मतभेद देखा जाता है, अतः वाह्यवस्तुमात्र भ्रम हो सकती है यह संशय रहता है। पर यदि यह निश्चित हुआ कि मुझे संशय है तो यह भी निश्चित है कि मैं सोचता हूँ। पर जो वस्तु है वही कुछ कर सकती है। इसलिए यदि मैं विचार करता हूँ तो मैं अवश्य हूँ। 'मैं हूँ' यही एक निश्चय ऐसा है जिसमें कभी किसी प्रकार का भेद नहीं पड़ सकता। चेतना में 'आत्मबोध' अर्थात् अपने होने का निश्चय सदा एक रहता है यदि भेद पड़ता है तो उस क्रियाविशेष के बोध में जो विषय ग्रहण में वह आप करती है।

अब बहुत बढ़ गई। उसके अनुसार देश और काल की सत्ता अब पूर्णरूप से प्रतिपादित हो गई है। अब सौभाग्यवश 'शून्य देश' का भ्रम छूट गया है और सर्वदेशव्यापी द्रव्य का पिंड और आकाशद्रव्य दो रूपों में अस्तित्व सिद्ध हो गया है। इसी प्रकार सर्वकालव्यापी व्यापार नित्य गति या शक्ति के रूप में सिद्ध हो गया है जिसकी अभिव्यक्ति नित्यगतिशील जगत् के ब्रह्मांडों के विकासक्रम के रूप में होती रहती है।

कोई पिंड यदि चला दिया जाय तो तब तक बराबर चलता रहता है जब तक कि उसे बाहरी अवरोध नहीं मिलता। पर बाहरी अवरोध अवश्य मिलता है और उसकी गति धीरे धीरे मन्द हो जाती है। एक लटकता हुआ लंगर यदि हिला दिया जाय तो बराबर एक चाल से अनन्तकाल तक चलता रहे, यदि चारों तरफ फैली हुई वायु का अवरोध न हो और जिस जगह वह लटका है वहाँ रगड़ न लगे। इस अवरोध और रगड़ के कारण लंगर में हिलने की जो व्यक्त गतिशक्ति होती है वह ताप के रूप में होकर निकल जाती है। हमें उस लंगर को फिर चलाने के लिए कमानी आदि के द्वारा फिर से गतिशक्ति पहुँचानी पड़ती है। अस्तु हम ऐसी कोई कल नहीं बना सकते जो आप से आप यह गतिशक्ति पहुँचाती रहे और बराबर चलती रहे; ऐसी कल बनाना असम्भव है जो अनन्त काल तक चलती रहे कभी बन्द न हो[1]।

पर विश्व या जगत् की गति ऐसी नहीं है, यह नित्य है। विश्व अपार और अनन्त है। जिस अनन्त द्रव्य से वह व्याप्त है उसकी भावना या प्रत्यय को ही हम 'देश' या 'दिक्' कहते हैं। उसकी नित्य गति की जो भावना हमारे चित्त में होती है उसे हम 'काल' कहते हैं। इस नित्यगति की विषय रूप में जो अभिव्यक्ति होती है वही विकासकल्प है। अनुभूति के ये दोनों रूप—स्वानुभूति अर्थात् चित्त को अपने ही संस्कार या भावना का अनुभव और वाह्यानुभूति अर्थात् वाह्य विषय रूप में अनुभव, जगत् की अनन्तता और नित्यता का आभास देते हैं। यह जगत् सदा से चलती हुई और सदा चलती रहनेवाली कल है। इस अनन्त और नित्य क्रियावान् जगद्रूप यन्त्र की नित्य गति बनी रहती है क्योंकि उसमें अवरोध से होनेवाली कमी की पूर्ति गतिशक्ति की अक्षय समष्टि से हो जाती है और विश्व में व्यक्त और अव्यक्त गतिशक्ति का अनन्त योग सदा वही रहता है। गतिशक्ति की अक्षरता का जो नियम है उससे जिस प्रकार समष्टि विश्व की नित्यगतिशक्ति सिद्ध होती है उसी प्रकार उसके किसी खंड व्यापार की नित्यगति असम्भव भी सिद्ध होती है। यह नित्यगति समष्टि के सम्बन्ध में कही जा सकती है, किसी खंड या व्यष्टि के सम्बन्ध में नहीं। अस्तु शक्तिलय

---

1. रेडियम की सहायता से अब ऐसी कल बनाई जा सकती है जो कई सौ वर्ष तक बराबर आपसे आप चलती है। कुछ घड़ियाँ ऐसी बनाई भी गई हैं। रेडियम एक ऐसा द्रव्य है जिसे हम ज्योतिःस्वरूप या गतिशक्तिरूप कहें तो विशेष अत्युक्ति नहीं।

का सिद्धान्त, जिसके द्वारा समस्त जगत् या विश्व का प्रलय कुछ वैज्ञानिकों ने कहा, कभी माना नहीं जा सकता।

भौतिक विज्ञान में तापसम्बन्धी सिद्धान्त के प्रवर्तक क्लाशियस सन् 1850 ने विश्वव्यापिनी गतिशक्ति को दो प्रकार की बतलाया—एक तो वह जो कार्य रूप में परिणत हो जाती है, जैसे ऊँचे परिमाण का ताप जिससे भौतिक पिंडविधान तथा विद्युत् और रासायनिक व्यापार होते हैं और दूसरी वह जो कार्य रूप में परिणत नहीं हो सकती। क्लाशियस के अनुसार यह दूसरे प्रकार की गतिशक्ति वह है जो एक बार ताप के रूप में होकर ठंढे पदार्थों में मिल जाती है। यह गतिशक्ति सब दिन के लिए लयप्राप्त हो जाती है, फिर इससे जगत् का कोई कार्य नहीं हो सकता। इसी को क्लाशियस ने शक्तिलय कहा है। यह शक्तिलय बराबर बढ़ता जाता है। इस प्रकार जगत् की जो विधायिनी और कार्यकारिणी गतिशक्ति है वह बराबर ताप के रूप में परिणत होकर लय को प्राप्त होती जाती है और फिर कार्यकारिणी गतिशक्ति के रूप में परिणत नहीं हो सकती। अतः जगत् में ताप का जो मात्राभेद है वह न रह जायगा। ताप बिलकुल अन्तर्लीन होकर एक अखिल और अचल द्रव्य में समान रूप से व्याप्त हो जायगा। इस साम्यावस्था के कारण जगत् की सब प्रकार की गति बन्द हो जायगी, जीवजन्तु कुछ भी न रह जायँगे। शक्तिलय के इस प्रकार परमावस्था को पहुँचने पर महाप्रलय या समस्त विश्व का अन्त हो जायगा।

शक्तिलय का यह सिद्धान्त यदि ठीक माना जाय तो जिस प्रकार जगत् का अन्त होगा उसी प्रकार उसका आदि भी मानना ही पड़ेगा, जिसमें शक्तिलय आरम्भावस्था में होगा और ताप का मात्राभेद अपनी पूरी हद पर रहेगा। पर ये दोनों बातें द्रव्य और शक्ति की अक्षरता के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। जगत् का न कोई आदि है, न अन्त। समष्टि रूप में विश्व या जगत् शाश्वत और नित्य गतिवान् है। उसमें व्यक्त गतिशक्ति निहित और निहित गतिशक्ति व्यक्त के रूप में बराबर परिणत होती रहती है। दोनों शक्तियों का योग विश्व में सदा वही रहता है।

शक्तिलय की बात विश्व में खंडव्यापारों के सम्बन्ध में ही कही जा सकती है, विश्वसमष्टि के सम्बन्ध में नहीं। अलग अलग जो विधान होते हैं उनमें अलबत ऐसा होता है कि जो शक्ति ताप के रूप में अन्तर्लीन हो जाती है वह फिर क्रिया रूप में नहीं परिणत की जा सकती; जैसे, एंजिन में ताप क्रिया रूप में तभी परिणत होता है जब वह गरम पदार्थ भाप से निकल कर ठंढे पदार्थ जल में जाता है। इस प्रकार गए हुए ताप को हम फिर क्रियारूप में नहीं ला सकते, उससे फिर काम नहीं ले सकते। पर अखिल विश्वविधान की व्यवस्था दूसरी है उसमें लयप्राप्त गतिशक्ति फिर कार्यरूप में परिणत होती है। जब लोकपिंड वेग से टकरा कर चूर चूर हो जाते हैं जब प्रचुर मात्रा में ताप छूटता है जिससे भ्रमण करते हुए उल्कासमूहों की और उनसे लोकपिंडों की फिर से उत्पत्ति होती है। यह भवचक्र बराबर चलता ही रहता है।

## 2. पृथ्वी की उत्पत्ति

जिस पृथ्वी के निर्माण का संक्षिप्त वृत्तान्त मैं देना चाहता हूँ वह जगत् का एक अत्यन्त क्षुद्र अंश है। पृथ्वी की उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध में भी नाना प्रकार की कल्पनाएँ, अनेक प्रकार के प्रवाद बहुत दिनों से चले आते थे। इस विषय की वैज्ञानिक रीति से छानबीन सन् 1822 से आरम्भ हुई। प्रत्यक्ष बातों के आधार पर पृथ्वी के क्रमशः वर्तमान रूप में आने के इतिहास का पता लगाया गया। उसकी अलग अलग तहों की परीक्षा की गई और उनके निर्माण के कारण और काल आदि निश्चित किए गए। इस प्रकार भूगर्भशास्त्र की नींव पड़ी।

सूर्य से ग्रहपिंडों के निकल निकल कर अलग होने के पहले एक बड़ा भारी गोल ज्योतिष्कनीहारिका पिंड था जो चक्र के समान अत्यन्त वेग से घूमता था। जब यह पिंड क्रमशः जमने लगा तब केन्द्ररूप ज्वाला का एक घूमता गोला मध्य में हो गया और किनारे उसी प्रकार घूमते हुए ज्वलन्त नीहारिकारूप कटिबन्ध या छल्ले रह गए। ये छल्ले भी क्रमशः जम कर घने पिंड के रूप में हो गए और स्वतन्त्र रूप से अपने अपने अक्षों पर फिरते हुए उस मध्यवर्ती ज्वलन्त गोले के चारों ओर परिक्रमा करने लगे। मध्यवर्ती ज्वलन्त गोला हमारा सूर्य है और उसकी परिक्रमा करते हुए पिंड ग्रह हैं। इन्हीं ग्रहों में से हमारी यह पृथ्वी है। पहले यह भी ज्वलन्त गोले के रूप में थी पीछे ताप के निकलने से ऊपरी तह ठंढी होकर पतले ठोस छिलके या पपड़ी के रूप में हो गई। भूतल जब कुछ और ठंढा पड़ा तब वह भाप जो उसे चारों ओर से आच्छादित किए थी, जमकर जल के रूप में हो गई। इस प्रकार पृथ्वी पर जल का आविर्भाव हुआ जो आगे चलकर जीवोत्पत्ति का आधार हुआ। जल ही में जीवों की उत्पत्ति हुई। जल के बिना जीवों की उत्पत्ति नहीं हो सकती[1]। भूतल पर जल का प्रादुर्भाव सोचिए तो कब हुआ होगा। कम से कम दस करोड़ वर्ष हुए होंगे।

## 3. जीव की उत्पत्ति

इस भूलोक में जीवों का प्रादुर्भाव विकास कल्प की तीसरी अवस्था है। किस प्रकार पृथ्वी पर भिन्न भिन्न रूप के जीव हुए यह एक बड़ा दुरूह प्रश्न समझा जाता था। इसका ठीक उत्तर आज से 100 वर्ष पहले कहीं से नहीं मिलता था। पर आधुनिक जीवविज्ञान और जात्यन्तरपरिणाम या रूपान्तर परम्परा के सिद्धान्त द्वारा इस प्रश्न का उत्तर अब सहज हो गया। जीवधारियों के बहुत से व्यापारों की व्याख्या अब भौतिक नियमों के अनुसार हो गई है। यह दिखला दिया गया है कि चेतन प्राणियों

---

1. जल का एक नाम जीवन भी है।

की गतिविधि भी उन्हीं नियमों के अनुसार होती है जिन नियमों के अनुसार जड़ पदार्थों की। इसका मार्ग पहलेपहल 1809 में फरासीसी वैज्ञानिक लामार्क ने दिखलाया। उसने बतलाया कि आजकल जो असंख्य प्रकार के पेड़पौधे और जीव दिखाई पड़ते हैं वे सब एक मूलरूप से क्रमशः रूपान्तरित होते हुए अपने वर्तमान रूपों को प्राप्त हुए हैं। यह रूपान्तर स्थितिपरिवर्तन के अनुसार होता आया है। जीवोत्पत्ति के सिद्धान्त में जो कुछ कसर थी वह डारविन ने अपने प्राकृतिक ग्रहणसिद्धान्त द्वारा पूरी कर दी। यह विषय पाँचवें प्रकरण में आ चुका है इससे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं।

## 4. मनुष्य की उत्पत्ति

विकास कल्प की चौथी अवस्था वह है जिसमें मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ। सन् 1809 में ही लामार्क ने इस बात का आभास दिया था कि मनुष्य का विकास प्राकृतिक विधान परम्परा के अनुसार बनमानुसों से ही मानना पड़ता है। इसके पीछे हक्सले ने इस सिद्धान्त का समर्थन अंगविच्छेद शास्त्र, गर्भविज्ञान और भूगर्भस्थ पंजरपरीक्षा द्वारा किया। अन्त में डारविन ने सन् 1860 में अपने 'मनुष्य की उत्पत्ति' नामक ग्रन्थ में इसे अनेक प्रकार से सिद्ध कर दिखाया। मैंने भी 1866 में विविध जन्तुओं के अंगविधान पर जो पुस्तक लिखी थी उसमें विकास सिद्धान्त पर एक प्रकरण दिया था। सन् 1874 में अपने मानवोत्पत्ति नामक ग्रन्थ में मैंने पहलेपहल मूल अर्थात् एक घटक अणुजीव मोनरा से लेकर मनुष्यपर्यन्त उत्पत्तिपरम्परा का क्रम मिलाया। मैंने दिखलाया कि किस प्रकार एक मूल अणुजीव से अनेक प्रकार के जीव क्रमशः उत्पन्न होते गए हैं और मनुष्य का भी इसी परम्परा के अनुसार विकास हुआ है। अस्तु, मनुष्य का भी सबसे आदिम मूल पूर्वज मोनरा के ऐसा कोई सूक्ष्म अणुजीव रहा होगा।

चौदहवाँ प्रकरण

# प्रकृति की अद्वैत सत्ता

परमतत्त्व के नियम द्वारा सिद्ध होनेवाली सबसे बड़ी बात यह है कि एक प्रकार की प्राकृतिक शक्ति परिणाम द्वारा दूसरे प्रकार की प्राकृतिक शक्ति का रूप धारण कर सकती है। शब्द और ताप, प्रकाश और विद्युत् आदि शक्तियाँ एक दूसरे के रूप में परिवर्तित की जा सकती हैं। वे एक ही मूलशक्ति के भिन्न भिन्न रूप मात्र हैं। इस प्रकार सब प्राकृतिक शक्तियों की मौलिक एकता या अद्वैतता सिद्ध होती है। यह सिद्धान्त भौतिक विज्ञान और रसायनशास्त्र में, जहाँ तक उनका सम्बन्ध जड़ पदार्थों से है, सर्वस्वीकृत है।

पर सजीव सृष्टि के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। शरीर के बहुत से व्यापारों का तो भौतिक और रासायनिक शक्ति के द्वारा, प्रकाश और विद्युत् के प्रभाव से, होना प्रत्यक्षरूप से बतलाया जा सकता है। ये व्यापार भौतिक और रासायनिक कारणों से होते हैं, इसमें किसी को कोई सन्देह नहीं। पर कुछ व्यापार ऐसे हैं, विशेषकर मनोव्यापार और चेतना, जिनके यदि भौतिक और रासायनिक कारण बतलाए जाते हैं तो लोग विरोध करते हैं। विरोध भी ऐसा वैसा नहीं, बड़ा गहरा। पर आधुनिक विकाससिद्धान्त ने सिद्ध कर दिया है कि इन दोनों कोटि के व्यापारों में जो भेद प्रतीत होता है वह वास्तविक नहीं है। अब यह निश्चित हो गया है कि शरीर के समस्त व्यापार क्या चलना फिरना, क्या सोचना विचारना, उसी प्रकार भौतिक नियमों के वशवर्ती हैं जिस प्रकार जड़ पदार्थों के व्यापार।

इस प्रकार प्रकृति की अद्वैतता सिद्ध हो गई है और द्वैतभाव का खंडन हो गया है। 'जगत् की मूल अद्वैतता', जड़ सृष्टि और चेतन सृष्टि की वास्तविक अभिन्नता, उनके व्यापारों का द्रव्य और गतिशक्ति के विविध रूपों में अन्तर्भाव दिखाकर, अपने कई ग्रन्थों में मैं सिद्ध कर चुका हूँ। अधिकांश वैज्ञानिकों ने इसे स्वीकार कर लिया है, पर कई तरफ से इसके विरोध का भी प्रयत्न किया गया है और सृष्टि के इन दोनों विभागों जड़ और चेतन में तत्त्वभेद सिद्ध करने की प्रवृत्ति दिखाई गई है। इस

द्वैतभाव के बड़े भारी समर्थकों में से उद्भिद्वेत्ता रेन्के है जिसने कहा है कि 'जड़सृष्टि में तो केवल भौतिक और रासायनिक शक्तियों ही के द्वारा सब व्यापार होते हैं पर सजीव सृष्टि में चेतन शक्तियाँ कार्य करती हैं।' उनके अनुसार जड़ सृष्टि द्रव्य और भौतिक गतिशक्ति के नियमाधीन है पर चेतन सृष्टि नहीं। इस कथन पर विचार करने के पहले दूसरे दो सिद्धान्तों का उल्लेख कर देना चाहिए जो वैज्ञानिकों ने सजीव सृष्टि के सम्बन्ध में स्थिर किए हैं। इनमें एक है अंगारक (कारबन) सिद्धान्त और दूसरा है स्वतः उत्पत्ति का सिद्धान्त।

शारीरिक रसायन ने अनेक विश्लेषणों के उपरान्त ये पाँच बातें स्थिर की हैं–

1. सजीव पिंडों में वे ही मूल द्रव्य पाए जाते हैं जो जड़ सृष्टि में पाए जाते हैं।

2. मूलद्रव्यों के जिन मिश्रणों से सजीव पिंड बनते हैं और जिनके कारण अनेक प्रकार के सजीव व्यापार होते हैं वे शरीरधातुओं के कललरसरूप यौगिक द्रव्य हैं।

3. शरीरव्यापार एक भौतिक और रासायनिक क्रिया है जो इन कललधातुओं के द्रव्यों के गुण और परिणाम के आधार पर होती हैं।

4. अंगारक या कारबन ही वह मूल द्रव्य है जिसमें कुछ और मूलद्रव्यों अम्लजन, उद्जन, नत्रजन और गन्धक आदि के विशेष मात्रा में मिश्रित होने से यौगिक कललधातुएँ बनती हैं।

5. अंगारक या कारबन से बनी हुई इन यौगिक कललधातुओं में और मूलद्रव्यों के रासायनिक संयोग से बने दूसरे यौगिक द्रव्यों में यह विशेषता होती है कि इनके अणुओं का मेल अत्यन्त जटिल होता है और ये अस्थिर तथा मधु की तरह गाढ़े रस की होती हैं।

इन पाँच बातों के आधार पर अंगारक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई जो इस प्रकार है–'अंगारक से अत्यन्त जटिल मिश्रण के द्वारा बनी हुई इन यौगिक कललधातुओं के द्रवत्व और विश्लेषणशीलत्व आदि गुण ही उन विशिष्ट गतियों के एकमात्र कारण हैं जो जीवधारियों में देखी जाती हैं।' इस अंगारक सिद्धान्त का कहीं कहीं विरोध तो किया गया पर इससे अधिक उपयुक्त कोई और सिद्धान्त स्थिर नहीं हुआ। इधर मूल घटकों के जीवन व्यापार का जो अधिक अन्वीक्षण किया गया और कललरस की रासायनिक और भौतिक विशेषताओं का जो पता लगा, उससे इस सिद्धान्त का समर्थन अच्छी तरह हुआ है।

अब स्वतःउत्पत्ति[1] को लीजिए। 'स्वतःउत्पत्ति' से लोग कई अर्थ लेते हैं, इससे उसके सम्बन्ध में बहुत झगड़ा है। अतः इसका अर्थ विशिष्ट और स्पष्ट हो जाना चाहिए। स्वतः उत्पत्ति से अभिप्राय है जीवसृष्टि के आदि में जड़ अंगारक द्रव्यों से

1. ए बायोजेनेसिस वह उत्पत्ति जो जनक पिंड से छूटकर पृथक् होनेवाले अंश की वृद्धि द्वारा जैसा कि समस्त प्राणियों में होता है, न हो, किन्तु जड़ द्रव्य से आप से आप हो।

सजीव कललरस का प्रथम प्रादुर्भाव। जीवसृष्टि के इस आरम्भ की दो अवस्थाएँ कही जा सकती हैं—प्रथम अंगारक घटित द्रव्यों से कललरस की योजना और द्वितीय कललरस का अलग अलग आदिम अणुजीवों में विभाग। इस प्रकार का स्वयं भूतवाद विकाससिद्धान्त के अनुसार अवश्य मानना पड़ता है, और वैज्ञानिकों ने माना भी है। इसे न मानना जीवोत्पत्ति को 'ईश्वर की लीला' या 'खुदा की करामात' मानना है।

स्वतःउत्पत्ति मान लेने पर फिर वह मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि सृष्टि की रचना किसी उद्देश्य रखनेवाले ने अपने उद्देश्य के अनुसार की है। जगत् या प्रकृति से भिन्न कोई उद्देश्य रखनेवाला है इस द्वैतभाव की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। डारविन ने अपने 'प्राकृतिक ग्रहण सिद्धान्त' का एक ऐसा सूत्र हमारे हाथ में दे दिया है जिसके सहारे हम चेतन सृष्टि में जो अनेक प्रकार की क्रमव्यवस्था दिखाई पड़ती है उसके भौतिक और प्राकृतिक हेतु निरूपित कर सकते हैं। अब किसी उद्देश्य रखनेवाली अप्राकृतिक शक्ति को मानने की जरूरत बाकी नहीं है। फिर भी कुछ लोग उसे अब तक मानते चलते जाते हैं। तत्त्वज्ञवर कांट ने उपादान कारण और निमित्त कारण में जैसा गूढ़ भेद किया है वैसा और किसी दार्शनिक ने नहीं। इसी भेद के अनुसार उसने जगद्विधान की व्याख्या की है। जगत् के सम्पूर्ण विस्तारजाल की व्याख्या उसने न्यूटन के निर्धारित भौतिक नियमों के अनुसार की है। उसका ज्योतिष्क नीहारिका सिद्धान्त न्यूटन के आकर्षण सिद्धान्त पर स्थित है। फरासीसी ज्योतिषी लाप्लेस ने कांट के सिद्धान्त की पुष्टि गणित की रीति से की। फ्रान्स के बादशाह ने उससे पूछा कि आपने 'अपने सृष्टि निरूपण में सृष्टि के कर्ता और पालक ईश्वर को कहाँ स्थान दिया है'? उसने बड़ी सच्चाई के साथ जवाब दिया कि 'महाराज, अपने निरूपण में मुझे उसके मानने की जरूरत नहीं पड़ी है'। अतः जगदुत्पत्ति विज्ञान में भी और दूसरे जड़ पदार्थ सम्बन्धी विज्ञानों के समान ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं पड़ी है। उसकी भी वैज्ञानिक व्याख्या भौतिक नियमों के अनुसार हुई है।

आपसे आप होनेवाले भौतिक विधानों के द्वारा ही हम प्राकृतिक व्यापारों के यथार्थ कारणों अर्थात् समवायिकारणों का निरूपण कर सकते हैं और यह बतला सकते हैं कि सब व्यापार द्रव्य की अचेतन और अन्ध प्रवृत्तियों के द्वारा होते हैं। कांट ने भी एक जगह साफ कहा है कि 'भूतों के इस स्वतःप्रेरित विधान की व्याख्या के बिना कोई विज्ञान विज्ञान नहीं कहा जा सकता। मनुष्य बुद्धि में व्यापारों के भौतिक हेतु निरूपित करने की अपार सामर्थ्य है।' पर पीछे जब कांट सजीव सृष्टि के जटिल व्यापारों की ओर आया तब उसने कह दिया कि भौतिक हेतु पर्याप्त नहीं है, इन व्यापारों की व्याख्या के लिए हमें निमित्त कारणों का सहारा लेना पड़ता है और यह मानने के लिए विवश होना पड़ता है कि ये व्यापार किसी उद्देश्य रखनेवाली विधायिनी शक्ति की प्रेरणा से होते हैं। बुद्धि की भौतिक हेतुनिरूपण की शक्ति वहाँ परिमित हो जाती है। जीवधारियों के विविध व्यापारों की व्याख्या करने में कुछ दूर तक तो

वह चलती है पर बहुत से व्यापार, विशेषतः मानसिक, ऐसे हैं जिनके लिए हमें निमित्त कारणों का आरोप करना पड़ता है; यह मानना पड़ता है कि वे व्यापार उद्देश्य रखने वाली स्वतन्त्र शक्ति के द्वारा होते हैं। किसी पदार्थ के प्राकृतिक उद्देश्य को समझने के लिए स्वयंभू भौतिक विधान को उद्दिष्ट विधान के अधीन मानना पड़ता है, कांट ने अन्त में यही प्रतिपादन किया। जीवधारियों के विलक्षण कौशल के साथ बने हुए अवयवों और उनके व्यापारों की व्यवस्था को देख कांट को उनका 'शुद्ध और भौतिक हेतु निरूपित करना असम्भव प्रतीत हुआ। उसने कहा कि शुद्ध भौतिक और प्राकृतिक सिद्धान्तों के आधार पर ही किसी सजीव पिंड और उसकी अन्तर्वृत्ति अर्थात् अन्तःकरण व्यापार का वास्तविक तत्त्व समझाना तो दूर रहा, समाधानपूर्वक समझना भी कठिन है। किसी मनुष्य की यह आशा दुराशामात्र है कि प्राणिविज्ञान में भी कोई न्यूटन पैदा होगा जो एक क्षुद्र तृण तक की उत्पत्ति को जड़ प्रकृति का ही कार्य सिद्ध कर देगा; जो यह प्रमाणित कर देगा कि भिन्न भिन्न जीवों की रचना एक सोचे समझे हुए ढाँचे के अनुसार नहीं बल्कि आप से आप भौतिक नियमों के अनुसार होती है'। बतलाने की जरूरत नहीं कि कांट के 70 वर्ष पीछे डारविन के रूप में 'सजीवसृष्टि विज्ञान का न्यूटन' पैदा हुआ और उसने उस बात को कर दिखाया जिसे कांट ने असम्भव बतलाया था।

जबसे न्यूटन ने आकर्षण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और कांट, लाप्लेस आदि ने जगत् की योजना और उत्पत्ति को स्वतः क्रियमाण भूतों का विधान सिद्ध कर दिया तबसे जड़सृष्टि सम्बन्धी समस्त विज्ञान शुद्ध भौतिक हो गए और उनमें ईश्वर या भूतातीत शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं रह गई। ज्योतिष, जगदुत्पत्ति शास्त्र, भूगर्भशास्त्र, पदार्थविज्ञान, रसायन इत्यादि सब में व्यापारों की व्याख्या नपेतुले भौतिक नियमों के अनुसार होती है। किसी व्यापार को ईश्वरकृत कह देने की चाल अब उनमें नहीं है। जड़सृष्टि में जो कुछ दिखाई पड़ता है वह किसी की इच्छानुरूप रचना है ऐसा इन विज्ञानों में कहीं नहीं प्रतिपादित किया जाता। 'इच्छानुरूप रचना' का भाव ही जड़सृष्टिसम्बन्धी विज्ञान के क्षेत्र से उठ गया। अब कोई वैज्ञानिक इस बात की जिज्ञासा करने नहीं जाता कि अमुक व्यापार जो जड़ सृष्टि में देखा जाता है उसका 'उद्देश्य' क्या है। अब कोई वैज्ञानिक यह विश्वास नहीं रखता कि ईश्वर या किसी उद्देश्य रखनेवाली शक्ति ने कभी किसी समय सृष्टि का सारा ढाँचा सोचकर जगत् का विधान करनेवाले नियमों की सृष्टि की थी और उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार बराबर चला रहा है। इस प्रकार के पुरुषविशेष या कर्ता के स्थान पर अब 'प्रकृति के अखंड और शाश्वत नियम' ही माने जाते हैं।

पर सजीवसृष्टि को देखकर 'किसी की इच्छानुरूप रचना' का भ्रम अवश्य होता है। जीवधारियों के शरीर की बनावट और अंगव्यापारों को देखने से यह प्रतीत अवश्य होता है कि उनकी रचना सोचेविचारे हुए उद्देश्य के अनुसार हुई है। जन्तुओं और

पेड़पौधों के अवयव उसी प्रकार बैठाए हुए पाए जाते हैं जिस प्रकार किसी मनुष्य की बनाई हुई कल के पुरजे बैठाए हुए होते हैं। जीवित अवस्था में इन अवयवों के व्यापारों से विशेष उद्देश्यों की पूर्ति उसी प्रकार होती दिखाई पड़ती है जिस प्रकार कल के बनाए हुए पुरजों की चाल से। अतः ज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था में यही ख्याल हो सकता था कि सृष्टि का कोई पूर्ण ज्ञानमय कर्ता है जिसने प्रत्येक पेड़पौधे और जीवजन्तु के ढाँचे को खूब सोचसमझ कर चतुराई के साथ बनाया है। पहले तो इस सर्वशक्तिमान् सृष्टिकर्ता की भावना पुरुषविशेष के रूप में थी। जब तक वह नराकार समझा जाता था, आँखों से देखनेवाला, कानों से सुननेवाला, हाथों से करनेवाला माना जाता था, तब तक तो उसका स्वरूप थोड़ा बहुत ध्यान में आ भी जाता था। पर पीछे जब बुद्धिमान् बननेवाले लोगों ने उसको निराकार बताया और वे 'बिनु पद चलै, सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै बिधि नाना' कहने लगे तब तो उसका ध्यान में आना ही असम्भव हो गया। वैज्ञानिकों ने इधर यह चाल पकड़ी कि वे पुरुषविशेष के स्थान पर एक 'शक्तिविशेष' कहने लगे। शरींरव्यापारविज्ञान में बहुत से लोगों ने चेतन सर्वशक्तिमान् कर्ता के स्थान पर एक अचेतन विधायिनी शक्ति का आरोप किया जो भौतिक गतिशक्ति से भिन्न और परे होने पर भी उसे अपने अधीन कार्य में नियोजित करती है। शरीरव्यापारविज्ञान में यह 'शक्तिवाद' बहुत दिनों तक चलता रहा। सन् 1833 में मूलर ने इस 'शक्तिवाद की जड़ हिलाई। उसने अनेक प्रकार की परीक्षाओं द्वारा प्रमाणित किया कि मनुष्य तथा और जीवों के शरीर के अधिकतर व्यापार भौतिक और रासायनिक नियमों के अनुसार होते हैं और उनमें बहुत से तो ऐसे हैं जिनके विषय में यह बतलाया जा सकता है कि वे किस हिसाब से होते हैं। उसने रक्तसंचालन, पाचन और खाए हुए द्रव्य के शरीर की धातु में परिणत होने की प्रक्रिया से लेकर संवेदनसूत्रों जिनसे शरीर में संवेदना होती है, और पेशियों जिनसे अंगों में गति होती है, की गति तक को भौतिक और रासायनिक क्रियाविधान सिद्ध कर दिया। प्रजनन और मानसिक व्यापार अर्थात् विचार, चिन्तन आदि ये ही दो बातें ऐसी रह गईं जिनका समाधान बिना कोई शक्तिविशेष माने शुद्ध भौतिक कारणों के द्वारा न हो सका। पर मूलर की मृत्यु के उपरान्त ही डारविन का प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रकाशित हुआ जिसमें ग्रहणसिद्धान्त के द्वारा यह दिखला दिया गया कि शरीरयोजना में जो व्यवस्थाक्रम दिखाई पड़ता है वह भौतिक कारणों ही से उत्पन्न होता है। डारविन ने अपने ग्रहणसिद्धान्त द्वारा भिन्न भिन्न ढाँचे के जीवों के बनने का प्राकृतिक विधान और कारण समझा दिया। उसने प्रतिपादित किया कि 'जीवन प्रयत्न' ही ऐसी मूल वृत्ति है जिसके अधीन एक ढाँचे के शरीर से दूसरे ढाँचे के शरीर का क्रमशः विकास होता है। जिस स्थिति या अवस्था के बीच जीव रहते हैं वह परिवर्तनशील होती है। चारों ओर की स्थिति के बदलने से कुछ जीवों में कुछ अवयवों की विशेषताएँ उत्पन्न होती हैं जो उस परिवर्तित स्थिति के उपयुक्त

होती हैं। फिर उन जीवों की जो सन्तति होती है उसमें भी वे ही विशेषताएँ रहती हैं। इस प्रकार नए ढाँचे के जन्तुओं का विकास होता है जो अपने पूर्वज जन्तुओं से भिन्न होते हैं। इसी प्राकृतिक नियम के अनुसार एक सादे ढाँचे के मूल अणुजीव से भिन्न भिन्न ढाँचों के जीव क्रमशः उत्पन्न हुए हैं। अतः क्रिया के अनुकूल ढाँचे बिना किसी उद्देश्य रखनेवाले के केवल भूतों की जड़क्रिया से किस प्रकार उत्पन्न हो सकते हैं, लोग जो यह पूछा करते थे उसका उत्तर मिल गया। अब तो जीवों के अत्यन्त जटिल और सूक्ष्म विधानों की व्याख्या 'व्यापार के अनुकूल शरीर की आपसे आप उत्पत्ति' मानकर की जाती है। अब भूतों से परे किसी उद्देष्टा या विधायिनी शक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है।

पर इधर कुछ दिनों से भूतातीत 'विधायिनी शक्ति' का भूत फिर कुछ लोगों के सिर पर सवार हुआ है। कई एक जीवविज्ञानियों ने उसकी चर्चा नए ढंग से चलाई है। उद्भिद्वेता रेनके ने इस विषय में विशेष प्रयत्न किया है। उसने सजीव सृष्टि के विधान को प्रेरणा करनेवाली एक शक्ति का कार्य बतलाया है और पौराणिक (बाइबिल की) सृष्टिकथा आदि के मण्डन की चेष्टा की है। दूसरे नए शक्तिवादियों ने एक पुरुषविशेष या कर्ता माना है जिसने सब जीवधारियों को उनके जीवनव्यापार के अनुकूल शरीर के ढाँचे सोचसमझकर प्रदान किए हैं। पर ऐसी बातों पर वैज्ञानिक लोग अब ध्यान नहीं देते।

जीवों के ढाँचों को किसी पूर्णज्ञानमय सर्वज्ञ कर्ता ने अपनी इच्छा के अनुसार सब बातों को सोच कर बनाया है; इसका कोई प्रमाण भिन्न भिन्न जीवों के शरीरनिरीक्षण से नहीं मिलता है। भिन्न भिन्न जीवों के शरीर का यदि निरीक्षण किया जाय तो प्रायः सब में कुछ न कुछ ऐसे फालतू अवयव मिलेंगे जिनका कोई काम नहीं और जिनसे कभी कभी बड़ी हानि पहुँच जाती है। बहुत से पौधों के फूलों में स्त्री और पुरुष केसरों के अतिरिक्त जिनसे गर्भाधान होता है, बहुत से ऐसे दल होते हैं जिनका कोई प्रयोजन नहीं। उड़नेवाले फतिंगों और पक्षियों में बहुत से ऐसे होते हैं जिनके पर बेकाम होते हैं, जो उड़ नहीं सकते। बहुत से ऐसे जन्तु होते हैं जो अँधेरे में रहते हैं, जिन्हें आँखें तो होती हैं पर वे देखने के काम की नहीं होतीं, निरर्थक होती हैं। मनुष्य के शरीर में बहुत से अवयव ऐसे हैं जो निरर्थक हैं, जो मूल पूर्वज अवस्था के अवशिष्ट चिह्न मात्र हैं। कान की मांसपेशियाँ, पुरुषों के स्तनचिह्न चुचुक आदि इसी प्रकार के अवयव हैं। बन्द बड़ी आँत निरर्थक ही नहीं भयंकर भी है। इसकी सूजन से प्रतिवर्ष न जाने कितने मनुष्य मरते हैं[1]।

इन निरर्थक विधानों का आधुनिक शक्तिवाद कोई हेतु नहीं दे सकता, पर विकास द्वारा उत्पतितक्रिया का जो सिद्धान्त है उसकी दृष्टि से विचार करने पर इनके

---

1. इस बन्द आँत को योरप में अब कुछ लोग निकलवा देते हैं और कष्ट तथा प्राणभय से बच जाते हैं।

रहने का कारण सहज में समझ में आ जाता है। विकास की दृष्टि से यदि देखा जाय तो पता लग जाता है कि ये अवयव प्रयोग के अभाव से क्षीण और बेकाम हो गए हैं। जिस प्रकार हमारी इन्द्रियाँ, पेशियाँ और नाड़ियाँ इत्यादि अधिक प्रयोग के द्वारा सबल और पुष्ट होती हैं, उसी प्रकार व्यवहार में न आने या कम आने से वे विकल और बेकाम हो जाती हैं। प्रयोग के अभाव से अवयव क्षीण और बेकाम तो हो जाते हैं पर उनके चिह्न एकबारगी नहीं मिट जाते, वंशपरम्परा के नियमानुसार वे बहुत पीढ़ियों तक बने रहते हैं, धीरे धीरे बहुत काल बीतने पर वे लुप्त होते हैं। भिन्न भिन्न अवयवों के बीच भी स्थिति के लिए जो अन्धप्रयत्न चलता रहता है उसी के अनुसार कुछ अवयवों की वृद्धि और कुछ का ह्रास आप से आप होता है। इसमें किसी उद्देश्य रखनेवाले का कोई और भीतरी मतलब नहीं है।

जिस प्रकार मनुष्य के शरीरविधान में कुछ अपूर्णता रहती है उसी प्रकार और जन्तुओं और पौधों के शरीरविधान में भी पाई जाती है। बात यह है कि प्रकृति नित्य परिणामी है। वह सदा परिणाम की अवस्था में रहती है, उसमें बराबर फेरफार होता रहता है। जहाँ तक हमारे इस भूग्रह की सजीव सृष्टि को देखने से पता लगता है, विकास की गति द्वारा सजीव पिंड सादे से जटिल, क्षुद्र से उन्नत और अपूर्ण से पूर्ण होते रहते हैं। पूर्णताप्राप्ति का यह विधान प्राकृतिक ग्रहणवृत्ति द्वारा होता है, किसी सोची समझी हुई युक्ति के अनुसार नहीं। इसका प्रमाण यह है कि कोई सजीव पिंड सर्वांगपूर्ण नहीं रहता है। यदि किसी समय वह स्थिति के सर्वथा अनुकूल घटित होकर पूर्णता प्राप्त भी करता है तो भी यह पूर्णता बहुत काल तक नहीं चलती, क्योंकि स्थिति में बराबर परिवर्तन होता रहता है। सन् 1876 में प्रसिद्ध जीवविज्ञानी बेयर ने उद्देश्यवाद का जो नए ढंग से समर्थन किया वह शक्तिवादियों और दैववादियों को बहुत भाया, उसकी बातों को लेकर अब तक लोग उछला कूदा करते हैं। यद्यपि बेयर अत्यन्त उच्च कोटि का विज्ञानवेत्ता था पर ज्यों ज्यों वह बुड्ढा होने लगा उसके तात्त्विक विचार क्षीण होने लगे यहाँ तक कि अन्त में वह शरीर और आत्मा, द्रव्य और शक्ति को परस्पर भिन्न माननेवाला पूरा द्वैतवादी हो गया। गर्भांड के वृद्धिक्रम का सूक्ष्म निरीक्षण करके उसने उन उत्तरोत्तर होनेवाले परिवर्तनों को दिखलाया जिनसे वह अंडे से रीढ़वाले जीव के रूप में आता है। उसने उन परिवर्तनों के कारणों और नियमों का भी पता लगाया और यह सिद्धान्त स्थिर किया कि व्यक्ति के विकास का जो यह क्रम है वही व्यक्तित्व मात्र के विकास का क्रम है। इस सिद्धान्त से उसने यह तत्त्व निकाला कि 'वह परमभाव जिसके अनुसार अनेक रूपों में जन्तुओं का विकास होता है वही है जिसके अनुसार अन्तरिक्ष के विकीर्ण खंड लोकपिंडों के रूप में बने और सौरब्रह्मांड का विधान हुआ। वह परमभाव ही जीवन है। विविध प्रकार के जीव ही वे वर्ण और शब्द हैं जिनमें वह परमभाव व्यक्त होता है। बेयर

का यह उद्देश्यरूप परमभाव प्लेटो[1] और अरस्तू के 'नित्यभाव' की पुनरुक्ति मात्र है।

बतलाने की आवश्यकता नहीं कि बेयर ने सृष्टि के उत्पत्तिक्रम के एक ही अंग पर दृष्टि डाली थी, उसने गर्भ से लेकर एक एक जीव के उत्पत्तिक्रम का ही विचार किया था। इसी क्रम से जीवों की भिन्न भिन्न योनियों और जातियों की भी उत्पत्ति हुई है, यह बात उसे नहीं सूझी थी यद्यपि सन् 1809 में ही लामार्क ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया था। अतः जब सन् 1859 में डारविन ने इसे सिद्धान्तरूप में प्रकट किया और अपने ग्रहणसिद्धान्त की स्थापना की तब बेयर इसे स्वीकार न कर सका। वह इसका विरोध ही करता रहा। जीवोत्पत्ति की यह बात बेयर की समझ में न आई कि गर्भावस्था से लेकर जिस क्रम से किसी एक जीव (व्यक्ति) का उत्तरोत्तर विकास होता है उसी क्रम से आदिम अणुजीवों से भिन्न भिन्न जीववर्गों का भी विकास हुआ है।

इतिहास के क्षेत्र में न्यायपूर्ण दैवी विधान दिखाने की चाल बहुत अधिक है। इतिहासलेखक किसी देश के निवासियों के अभ्युदय, पतन, वृद्धि, दुर्दशा इत्यादि को ईश्वर की न्यायव्यवस्था के अनुसार बतलाने का प्रयत्न करते हैं। वे यह दिखाना चाहते हैं कि एक जाति जो दूसरी जाति के ऊपर विजयी होकर शासन करती है उसमें पूर्णज्ञानमय ईश्वर का कुछ परम उद्देश्य रहता है। जड़ सृष्टि के सम्बन्ध में तो 'न्यायपूर्ण व्यवस्था' की बात नहीं उठती। अब रहा जीवविज्ञान, उसमें भी यदि हम मनुष्य को थोड़ी देर के लिए छोड़ दें तो कहीं इस प्रकार की व्यवस्था नहीं दिखाई पड़ती जो चैतन्य रूप ईश्वर की कृति कही जा सके। डारविन ने अपने प्राकृतिक ग्रहणसिद्धान्त द्वारा यह अच्छी तरह दिखा दिया है कि जन्तुओं और पौधों की शरीररचना और जीवनवृत्ति में जो व्यवस्थित विधान दिखाई पड़ता है वह भौतिक नियमों के अनुसार उत्पन्न हुआ है, किसी पहले से सोची समझी हुई युक्ति के अनुसार नहीं। उसने यह भी सिद्ध कर दिया है कि 'जीवनप्रयत्न' ही वह प्रबल प्राकृतिक शक्ति है जिसके वशवर्ती होकर भिन्न भिन्न जीवों का विकास और स्थितिविधान हुआ है। 'जीवप्रयत्न' का अर्थ यह है कि जीवों के बीच स्थिति के लिए जो घोर समर चलता रहता है उसमें वे ही जीव विजयी होते या रह जाते हैं जो सबसे अधिक योग्य या श्रेष्ठ होते हैं। सबसे अधिक योग्य या श्रेष्ठ वे ही हैं जो सबसे अधिक बलवान होते हैं। प्रकृति में यही नीति और यही न्याय है।

---

1. प्लेटो या अफलातून ईसा से 300 वर्ष पहले यूनान में हुआ है। उसने कहा है कि समस्त जगत् एक परमभाव या संवित् 'आइडिया' के अनुसार चल रहा है। सामान्य प्रत्ययों को लेकर विचार करने से मनुष्य संवित या परमभाव तक पहुँच सकता है। संसार में बहुत से लोग वीर आदि हैं पर उन सबमें जो वीरता आदि सामान्य धर्म हैं, जिनके द्वारा कौन कितना वीर है हम यह समझते हैं, वे ही वीरता के 'भाव' या वास्तव स्वरूप हैं, उन्हीं के नमूने पर सब वीर, उदार आदि बने हैं। वीरता, उदारता आदि के ये स्वरूप या 'भाव' केवल मनुष्यों के मन में ही है, ऐसा नहीं है। ये स्वयंभू और सनातन हैं, इनकी स्थिति किसी के अधीन या आश्रित नहीं है।

मनुष्य जातियों के इतिहास में भी हम कोई दूसरी बात नहीं पाते। उसमें भी हमें कहीं शील के उन्नत आदर्श का अथवा न्यायकारी, दयालु परमेश्वर का पता नहीं लगता। हम बराबर यह नहीं देखते कि जो जातियाँ बहुत ही शीलवान्, सीधी सादी रही हैं वे ही समृद्ध और विजयी हुई हैं। इतिहासों से बराबर यही पाया जाता है कि जिन जातियों ने जितना ही अधिक जीवनप्रयत्न किया है, स्थिति और उन्नति के लिए वे जितना ही अधिक अग्रसर हुई हैं, उतना ही उनके भाग्य का उदय हुआ है। उसी 'जीवनप्रयत्न' के द्वारा उनके भाग्य का भी निबटारा हुआ है जिसके अनुसार समस्त सजीव सृष्टि में स्थिति और विनाश का क्रम करोड़ों वर्षों से चला आ रहा है।

भूगर्भवेत्ता सजीवसृष्टि के इतिहास को भूगर्भस्थ पंजरों की परीक्षा द्वारा तीन कल्पों में विभक्त करते हैं--प्रथम, द्वितीय और तृतीय। उनकी गणना के अनुसार प्रथम कल्प लगभग 34,000,000 वर्षों का, द्वितीय कल्प 11,000,000 वर्षों का और तृतीय कल्प 3000,000 वर्षों का था। इन्हीं तीन कल्पों के बीच अस्थिवाले जीवों का प्रादुर्भाव और विकास हुआ है। प्रथम कल्प में मछलियाँ हुईं जो रीढ़वाले जीवों में सबसे निम्नश्रेणी की हैं। द्वितीय कल्प में मछलियों से और उन्नत कछुए, मगर, घड़ियाल, छिपकली, साँप इत्यादि कूर्मज या सरीसृप हुए। तृतीय कल्प में दूध पिलाने वाले स्तन्य जीव हुए जो सबसे उन्नत हैं। इन तीन प्रधान जीववर्गों के इतिहास को यदि ध्यान से देखा जाय तो पता लगेगा कि इनके अन्तर्गत जीवों की जो अनेक शाखाएँ हुईं वे भी क्रमशः अधिक पूर्णता को पहुँचती गईं। उन्नति के इस क्रमागत विधान को क्या हम किसी चैतन्य को सोचा समझा हुआ कार्य, किसी सर्वशक्तिमान् कारीगर की रचना कह सकते हैं? कभी नहीं। ग्रहणसिद्धान्त की सहायता से जब हम सृष्टि के बीच उस जीवनप्रयत्न को देखते हैं जिसके द्वारा सबल जीव निर्बलों को दबाकर या नष्ट करके अग्रसर हुए हैं और बराबर उन्नति करते गए हैं तब हम न्याय, नीति और शील की कोई व्यवस्था नहीं पाते। पाँच करोड़ वर्षों के बीच जन्तुओं की न जाने कितनी सुन्दर सुन्दर जातियों का कुल नष्ट हो गया और उनके स्थान पर वे ही जीव रह गए जो सबल निकले। उन सबल जीवों के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे न्याय और शील में बहुत बढ़ कर थे।

यही बात मनुष्य जातियों के सम्बन्ध में भी ठीक है। उनके इतिहासों में भी यही बात पाई जाती है। एशिया के पश्चिमी भागों में फारस, अफगानिस्तान, तुर्किस्तान आदि देशों में इसलाम धर्म का जो प्रचार हुआ वह न्याय, नीति और शील के बल से नहीं। इन बातों का उन देशों में भी अभाव नहीं था। अत्याचार और क्रूरता के बल से देखते देखते उन देशों से प्राचीन आर्यसभ्यता का, ज्ञान के संचित भंडार का, लोप हो गया। ईश्वर की न्याय नीति और दया कहीं देखने में न आई। जिन असभ्य, दरिद्र और मरभूखी जातियों को आवश्यकतावश अधिक जीवनप्रयत्न करना पड़ा वे अग्रसर हो गईं।

एक एक मनुष्य के जीवन को लेकर यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करते हैं तो उसकी दशा भी मनुष्यजातियों की दशा के समान किसी चेतन शक्ति के अधीन नहीं जान पड़ती। उसकी गति का विधान भी भौतिक कार्यकारण परम्परा के अनुसार होता है। मनुष्य के जीवन में जो जो बातें होती हैं सब का सम्बन्ध कुछ पूर्ववर्ती कारणों से होता है। ये कारण प्रकृति की अन्धपरम्परा के अनुसार ही खड़े होते रहते हैं, किसी सोची समझी हुई न्यायव्यवस्था के अनुसार नहीं। भावी प्रबल होती है, पर यह भावी कार्यकारण भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं। हानि, लाभ, जीवन, मरण, यश, अपयश किसी विधाता के हाथ में नहीं। विधाता और दयानिधान् परमेश्वर तभी अधिक सूझता है जब किसी की कोई कामना पूरी होती है, किसी अनर्थ से रक्षा होती है। जब कोई आपत्ति आती है, कोई प्यारा मनोरथ पूरा नहीं होता तब प्रायः मुँह से यही निकलता है—'ईश्वर न जाने कहाँ है?' इधर विज्ञान और व्यापार की जो अपूर्व वृद्धि हुई है उसके कारण प्रतिवर्ष अनेक दुर्घटनाएँ होती रहती हैं, हजारों जानें रेल लड़ने से, पुल टूटने से, जहाज डूबने से जाती हैं। सहस्रों निरपराध मनुष्यों के प्राण युद्ध में लिए जाते हैं, इतने पर भी ईश्वर के न्याय और नीति की चर्चा बराबर चली चलती है।

जगत् के विकासक्रम का मनन करने से उसमें किसी विशेष उद्देश्य का पता नहीं लगता। प्रकृति के जितने व्यापार हैं सब कारण इकट्ठे होने से होते हैं। संसार में जितनी बातें होती हैं सब संयोग से, किसी संकल्प के अनुसार नहीं। प्रकृति के गुण या अन्धप्रवृत्ति के अनुसार जब जैसा संयोग उपस्थित होता है तब वैसी बात होती है। अतः विकासवादियों के सिद्धान्त पर लोग यह आक्षेप करते हैं कि उसमें सब बातें 'संयोग' के अधीन बतलाई जाती हैं। शक्तिवादियों की समझ में यह नहीं आता कि सृष्टि का इतना बड़ा चरखा बिना किसी के सोचसमझ कर चलाए कैसे चल रहा है। इसी बात को लेकर दार्शनिकों के दो भिन्न दल हो गए हैं। द्वैतवादी दल अपनी भावना के अनुसार यही कहता जाता है कि सम्पूर्ण जगत् ज्ञानकृत व्यवस्था के अनुसार चल रहा है, छोटी से छोटी बात भी जो होती है उसका कोई न कोई उद्देश्य होता है, संयोग कोई चीज नहीं। हेतुवादियों[1] का दल कहता है कि जगत् का विकास एक भौतिक या प्राकृतिक विधान है जिसमें कोई उद्देश्य या ज्ञानकृत व्यवस्था नहीं है। सजीव सृष्टि में जो व्यवस्था दिखाई पड़ती है वह शरीरद्रव्य की प्रवृत्तियों के योग का परिणाम है। न तो और लोकपिंडों के विकास में न पृथ्वी के नाना तलों[2] के विकास में किसी चैतन्य की कोई करतूत प्रकट होती है; सब बातें

---

1. राज समाज कुसाज कोटि कटु कल्पत कलुष कुचाल नई है।
   नीति, प्रतीति, प्रीति, परिमिति, पति हेतुवाद हठि हेरि हई है। —तुलसी।
2. पुराणों में पृथ्वी तल के तल, वितल, सुतल, रसातल आदि सात भाग किए गए हैं।

संयोग पाकर होती हैं। 'संयोग' शब्द का अर्थ यहाँ स्पष्ट कर देना चाहिए। 'संयोग' पहले से निश्चित अदृष्ट व्यवस्था का नाम नहीं है, कारणों के समाहार का नाम है। संयोग से कोई बात हो गई इसका यह मतलब नहीं कि बिना कारण कोई बात हो गई। प्रकृति में जो कुछ व्यापार होता है सबका भौतिक कारण होता है। यदि कहीं जाने पर कोई किसी आपदा में पड़ता है तो लोग प्रायः कहते हैं कि 'संयोग उसे ले गया'। 'संयोग' नहीं ले गया, उसके जाने से ऐसा संयोग उपस्थित हुआ कि वह आपदा में पड़ गया। 'संयोग' का अर्थ है कई भिन्न भिन्न बातों का भिन्न भिन्न कारणों से एक साथ घटित होना।

पन्द्रहवाँ प्रकरण

# ईश्वर और जगत्

कई हजार वर्षों से मनुष्य जाति सृष्टि के समस्त व्यापारों का एक परम कारण मानती चली आ रही है जिसे ईश्वर कहते हैं। और सब सामान्य भावनाओं के समान ईश्वरसम्बन्धिनी भावना में भी बुद्धि के विकास के साथ साथ अनेक प्रकार के फेरफार होते आए हैं। सच पूछिए तो और किसी पदार्थ की भावना में समय समय पर इतने परिवर्तन नहीं हुए हैं। बात यह है कि बुद्धि और आन्वीक्षिकी विद्याओं के जितने मुख्य विषय हैं, कल्पना और मनोवेग के जितने आधार हैं, सबका इसके साथ गहरा लगाव है। ईश्वर के सम्बन्ध में जितनी प्रकार की भावनाएँ हैं उन सबको यदि परस्पर मिलान करके देखते हैं तो बहुत सी बातें प्रकट होती हैं। कई ऐसे उपयोगी ग्रन्थ लिखे भी जा चुके हैं जिनमें इस ढंग की आलोचना की गई है। पर यहाँ अधिक स्थान नहीं है। अनेक रूपों में लोग ईश्वर की भावना करते हैं, कुछ लोग कहते हैं कि वह ऐसा है, कुछ लोग कहते हैं ऐसा नहीं ऐसा है। मुख्य मत दो हैं—देववाद और ब्रह्मवाद या सर्वात्मवाद। देववाद द्वैतवादियों का है और ब्रह्मवाद अद्वैतवादियों का।

**देववाद**—देववादी ईश्वर को जगत् से भिन्न, उसका कर्ता और पालक मानते हैं। देववाद में ईश्वर एक 'पुरुषविशेष' माना गया है जो मनुष्यों ही के समान सोचता, विचारता और काम करता है। अन्तर इतना ही है कि उसके सोचने, विचारने और काम करने की कोई हद नहीं है। ईश्वर की यह नराकार भावना अनेक रूपों में पाई जाती है असभ्य जातियों के भूतप्रेत से लेकर सभ्य जातियों के एक ईश्वर तक सब इसी के अन्तर्गत हैं। देववाद चार प्रकार का पाया जाता है। बहुदेववाद, त्रिदेववाद और एकदेववाद।

**बहुदेववाद**—बहुदेववादी बहुत से देवीदेवता मानते हैं और समझते हैं कि संसार में जो कुछ होता है सब उन्हीं के द्वारा। इसमें कोई जड़ प्रतीक लेते हैं कोई चेतन प्रतीक। जड़ प्रतीकवाले अग्नि, वायु, जल, पर्वत, नदी, मूर्ति इत्यादि निर्जीव पदार्थों में देवताओं का आरोप करते हैं। चेतन प्रतीकवाले मनुष्य, पशु आदि में देवताओं

की भावना करते हैं। हिन्दुओं, यूनानियों तथा और प्राचीन जातियों में ये दोनों प्रकार के भाव विशद् रूपों में प्रकट किए गए हैं। ईसाई आदि एकेश्वरवादी कहलाने वालों में भी बहुदेवाराधन किसी न किसी रूप में पाया जाता है। कैथलिक ईसाई ईसा की माता मरियम तथा अनेक महात्माओं को मानते हैं और उनके अनुग्रह की प्रार्थना करते हैं।

**त्रिदेववाद**–त्रिदेववाद भी कई रूपों में मिलता है। ईसाइयों का एक ईश्वर तीन रूपों में व्यक्त किया गया है–(1) परमपिता ईश्वर जो सर्वशक्तिमान् सृष्टिकर्ता है। (2) तत्पुत्र ईसामसीह और (3) पवित्रात्मा। यह पवित्र आत्मा क्या बला है इसे समझने समझाने के लिए हजारों वर्ष से ईसाई धर्माचार्य सिर मारते चले आ रहे हैं। इस गोरखधन्धे का आधार है बाइबिल, पर उसमें कहीं यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि यह पवित्रात्मा है क्या और इसका पिता पुत्र से सम्बन्ध क्या है। बात यह है कि यह देवत्रयी और अधिक प्राचीन धर्मों से ली गई है। मूसा के पहले जो प्राचीन यहूदी धर्म बाबिलन के मगों की सूर्योपासना के आधार पर प्रचलित था, उसमें सृष्टिकर्ता इलू की तीन रूपों में भावना की गई थी। 'अलू' जो शून्यरूप माना जाता था, 'बेल' जो ब्रह्मा या जगत् की रचना करनेवाला माना जाता था और 'आइ' जो दिव्य ज्योति या ज्ञानस्वरूप माना जाता था। प्राचीन हिन्दू धर्म में भी ब्रह्मा, विष्णु और शिव यह त्रिमूर्ति बहुत काल पहले मानी गई थी। प्राचीन धर्मों में यह तीन की संख्या विशेष रूप में ग्रहण की गई थी।

**द्विदेववाद**–युग्मदेववादियों के अनुसार जगत् का सारा व्यापार सत्व और तमस् इन्हीं दो देवताओं के आदेश पर चल रहा है। सात्विक देव अच्छी बातों का प्रवर्तक है और तामस देव बुरी बातों का। इन दोनों में बराबर विरोध चलता रहता है। संसार की अवस्था इसी नित्य विरोध का परिणाम है। दयामय सात्विक देवता या भगवान् सुख, शान्ति और सौन्दर्य के मूल हैं। यदि उन्हीं की चलती तो यह संसार सुख और शान्ति का धाम होता, पर उनके कार्य में तामस देवता या शैतान बराबर बाधा डालता रहता है। संसार में जो अनेक प्रकार के क्लेश और अनर्थ हैं सब इसी शैतान की करतूत है। ईश्वर की इस दोरंगी भावना से संसार में जो कुछ हो रहा है उसका बहुत कुछ समाधान हो जाता है। अतः ईसा से कई हजार वर्ष पहले सभ्यताप्राप्त प्राचीन जातियों में यह युग्मदेववाद प्रचलित था। प्राचीन भारत में सुर और असुर परस्पर विरोधी माने जाते थे। प्राचीन मिस्र में रक्षक देवता ओसिरीज के कार्य का बाधक क्रूर देवता टाइफन माना जाता था। प्राचीन पारसियों के जंद धर्म का भी यही सिद्धान्त था कि ज्योतिःस्वरूप अहुरमुज्द धर्म द्वारा संसार की रक्षा करता है और तमोमय अहमान अधर्म द्वारा उसके सुख और शान्ति का भंग करता है।

ईसाइयों की पौराणिक कथा में भी शैतान का दर्जा खुदा से किसी बात में कम नहीं है। एक स्वर्ग का राजा है तो दूसरा नरक का। एक में यदि भलाई की

शक्ति है तो दूसरे में बुराई की। एक अच्छे कर्मों की प्रेरणा करता है तो दूसरा बुरे कर्म करने के लिए बहकाता है। बतलाने की आवश्यकता नहीं कि इस शैतान की भावना बराबर पुरुष रूप में होती चली आई है। इधर थोड़े दिनों में अपने धर्म को युक्तिसंगत प्रकट करने के लिए लोग इसे रूपक कहकर उड़ाना चाहते हैं, पर इसी का जोड़ा जो जमीन और आसमान बनानेवाला खुदा है, उसका पल्ला कस कर पकड़े हुए हैं। पर ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि शैतान और खुदा की जोड़ी मानने से इस सुखदुःखात्मक जगत् की बातों का समाधान जितना सुगम है उतना और दूसरी कल्पना से नहीं।

**एकदेववाद या एकेश्वरवाद**–साधारणतः लोग एकेश्वरवाद को बहुत ठीक और युक्तिसंगत मत समझते हैं और उसे धर्म का एक प्रधान अंग मानते हैं। उनकी धारणा है कि सारे सभ्य देशों के लोग एकेश्वरवादी हैं, पर यह बात नहीं है। जितने मत एकेश्वरवादी बनकर दूसरे मतों की निन्दा किया करते हैं उनकी यदि परीक्षा की जाये तो उनमें भी एक सर्वोपरि देव ईश्वर के अतिरिक्त बहुत से उपदेव, गण, दूत, पारिषद इत्यादि के रूप में पाए जाते हैं। क्या यहूदी, क्या ईसाई, क्या मुसलमान इन सब मतों में आसमानी खुदा के सिवाय पैगम्बर, फरिश्ते, शैतान इत्यादि भी माने जाते हैं। मोटे हिसाब से इस पृथ्वी पर डेढ़ अरब के लगभग मनुष्य बसते हैं। इनमें 60 करोड़ तो हिन्दू और बौद्ध हैं, 50 करोड़ ईसाई कहलाते हैं, 18 करोड़ के लगभग इसलाम मत के माननेवाले हैं, 10 करोड़ यहूदी हैं, 20 करोड़ दूसरे भिन्न भिन्न मत मानते हैं या भूतप्रेत आदि पूजते हैं, बाकी 10 करोड़ ऐसे हैं जिनका कोई धर्म नहीं। इनमें जो एकेश्वरवादी[1] होने का डंका पीटते हैं ईश्वर के सम्बन्ध में उनकी भावना स्पष्ट नहीं है।

एकेश्वरवाद दो रूपों में पाया जाता है, प्राकृतिक और पौरुषेय। प्राकृतिक एकेश्वरवाद ईश्वरीय विभूति का आरोप अपरिमित तेज और शक्ति के प्राकृतिक अधिष्ठानों में करता है। कई हजार वर्ष पहले प्राचीन सभ्य जातियों ने उस सूर्य की उपासना चलाई जो अपार शक्ति और तेज का अधिष्ठान है, जिस पर समस्त सजीव सृष्टि अवलम्बित है। वैज्ञानिकों की दृष्टि में सूर्योपासना से बढ़कर उपयुक्त ईश्वरोपासना की ओर कोई विधि नहीं, क्योंकि वैज्ञानिक सिद्धान्तों से उसका कोई विरोध नहीं पड़ता। आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान और भूगोलोत्पत्ति शास्त्र द्वारा यह निरूपित हो चुका है कि पृथ्वी सूर्य का ही एक खंड है जो उससे छूटकर अलग हुआ है और फिर उसी में जाकर मिल जायगा। आधुनिक शरीरव्यापार विज्ञान हमें यह बताता है कि सजीव सृष्टि का मूल तत्त्व कललरस है और इस कललरस की सृष्टि जल, अंगारक, अमोनिया आदि निर्जीव द्रव्यों के संयोगविशेष से होती है जो सूर्य की ज्योति के प्रभाव

---

1. एशिया के पश्चिमी भागों में प्रवर्त्तित ईसाई, यहूदी आदि पैगम्बरी मत।

से ही होता है। इसी कललरस से आदि में रसात्मक अणूद्भिदों की सृष्टि हुई, फिर रसात्मक अणुजीवों की, जिनका पोषण उन अणूद्भिदों के द्वारा होता है। इसी जीवोत्पत्ति परम्परा के अनुसार अन्त में मनुष्य की भी उत्पत्ति हुई है। सच पूछिए तो हमारे समस्त जीवन व्यापार सूर्य की ज्योति और ताप पर ही निर्भर है। अतः शुद्ध बुद्धि से यदि विवेचन किया जाय तो उन ईसाई, मुसलमान आदि एकेश्वरवादी मतों की उपासना की अपेक्षा जो ईश्वर की भावना पुरुष रूप में करते हैं, सूर्योपासना कहीं अधिक युक्तिसंगत है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसीसे हजारों वर्ष पूर्व हिन्दू, पारसी, मग इत्यादि सूर्योपासक जातियाँ ज्ञान और सभ्यता की जिस सीमा तक पहुँची थीं उस सीमा तक दूसरी जातियाँ नहीं।

अब दूसरी भावना ईश्वर के विषय में यह है कि वह मनुष्य ही के समान सोचता, विचारता और कार्य करता है। भेद इतना ही है कि उसके सोचने, विचारने और कार्य करने की कोई हद नहीं है। पुरुष या पुरुषोत्तम रूप में ईश्वर की इस भावना का सभ्यता के इतिहास पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है। पर सबसे विलक्षण और दुर्बोध रूप इस भावना को यहूदी, ईसाई और इसलाम इन तीन पैगम्बरी मतों में प्राप्त हुआ है। ये तीनों मत परस्पर सम्बद्ध हैं और एशिया के पश्चिमी किनारे पर इबरानी अनार्य जातियों के कुछ भावोन्मत्त लोगों के द्वारा प्रवर्तित हुए हैं। इनमें प्राचीन यहूदी मत है जिससे ईसाई मत निकला। ईसाई मत के सिद्धान्तों को लेकर ही इसलाम धर्म की स्थापना हुई। जिस प्रकार ईसाई मत पौराणिक कथाएँ मूसा के यहूदी धर्म से ली गई हैं उसी प्रकार मुसलमान मत की कथाएँ दोनों पूर्ववर्त्ती मतों से संगृहीत हुई हैं। उक्त तीनों मत पहले पहले एकेश्वरवाद को लेकर खड़े हुए पर ज्यों ज्यों उनका प्रसार बढ़ता गया त्यों त्यों उनमें बहुदेववाद आता गया।

जिस एकदेववाद को मूसा ने ईसा से 1600 वर्ष पहले चलाया और जिसमें एकमात्र 'यह्वा' की उपासना मानी गई वह बहुदेववाद ही से निकला था। 'यह्वा' उन अनेक देवताओं में से एक का नामान्तर है जिन्हें प्राचीन यहूदी पूजते थे। यह यह्वा आदि में स्वर्ग का देवता माना जाता था जो और देवताओं ही के समान कठोर और क्रूर था और पूजा न पाने पर कड़ा दंड देता था। इस यह्वा के अतिरिक्त और भी अनेक देवता थे जिन्हें प्राचीन यहूदी पूजते थे पर मूसा के पीछे इसे प्रधानता प्राप्त होती गई और सिद्धान्त रूप से यह यहूदियों का एकमात्र देवता कहा जाने लगा। यद्यपि 'यह्वा' का यह वचन था कि 'मैं ही तेरा एकमात्र प्रभु और ईश्वर हूँ, मेरे सिवा और किसी देवता को न मानना' पर और बाकी देवताओं का संस्कार बहुत दिनों तक बना रहा।

मूसाई धर्म से निकले हुए ईसाई धर्म की भी यही दशा हुई। यद्यपि सिद्धान्त रूप में ईसाई धर्म एकेश्वरवादी ही था पर व्यवहार में वह बहुदेववादी हो गया।

एकेश्वरवाद का त्याग तो एक प्रकार से तभी हो गया जब पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा की देवत्रयी मानी गई। पर इस देवत्रयी के अतिरिक्त ईसा की माता मरियम की उपासना इतनी प्रबल पड़ी कि वह स्वर्ग की अधीश्वरी देवी मानी गई। कैथलिक सम्प्रदाय के ईसाइयों के बीच स्वर्ग की इस अधीश्वरी ने इतनी प्रधानता प्राप्त की कि देवत्रयी मन्द पड़ गई। यहीं तक नहीं, ईसाई भक्तों की भावुकता ने अनेक सन्तों और महात्माओं की मण्डली बिठाकर स्वर्ग को और गुलजार कर दिया। पोप लोग इस मण्डली को बराबर बढ़ाते ही गए। गाने बजानेवाले फरिश्तों का जमावड़ा तो वहाँ पहले ही से था। इस प्रकार स्वर्ग में खुदा का एक खासा दरबार लग गया और उस दरबार में 'ईसा के नायब' पोपों के द्वारा अर्जियाँ भी गुजरने लगीं।

ईसाई धर्म के तत्त्वों को जानकर मुहम्मद ने ईसा से 600 वर्ष बाद अपना नया एकेश्वरवादी मत इसलाम के नाम से चलाया। ईसाइयों के संसर्ग से ही मुहम्मद ने अपने देशवासी मूर्तिपूजक अरबों को तिरस्कार और घृणा की सृष्टि से देखना सीखा और उनके बीच अपने ज्ञान का आतंक जमाया। उन्होंने ईसाई मत की मुख्य मुख्य बातों को तो ले लिया पर ईसा को परमेश्वर का पुत्र नहीं माना, मूसा के समान एक पैगम्बर ही माना। देवत्रयी को भी उन्होंने अपने मत में स्थान नहीं दिया। मरियम की उपासना को उन्होंने मूर्तिपूजा ठहराया। सारांश यह कि अपने एकेश्वरवाद को जहाँ तक विशुद्ध रखते बना उन्होंने रक्खा। पर उनका ईश्वर भी नरस्वरूप या देवता स्वरूप ही था। खुशामद सुनने और बदला लेने में वह मनुष्य के समान ही था। उसके यहाँ भी पूरी दरबारदारी होती थी।

भिन्न भिन्न मतों की ईश्वरसम्बन्धिनी जिन निर्दिष्ट भावनाओं का ऊपर विवेचन हुआ उन सबसे अधिक प्रचार मिश्र भावना का है जिसमें कई प्रकार की, कभी कभी परस्पर विरुद्ध भावनाओं का मेल रहता है। यद्यपि सिद्धान्तरूप में इस प्रकार का मिश्रित मत कोई स्वतन्त्र मत नहीं स्वीकार किया गया है पर व्यवहार में सबसे अधिक चलन इसी का देखा जाता है। मनुष्यों का अधिकांश इसी को माननेवाला है। अधिकतर लोगों की ईश्वर के सम्बन्ध में जो भावना होती है वह कुछ अपने मत और सम्प्रदाय की भावना और कुछ दूसरे मतों और सम्प्रदायों की भावनाओं से मिलजुल कर बनी होती है। लड़कपन में ही अपने मत या सम्प्रदाय की जो भावना प्राप्त होती है उसमें आगे चल कर दूसरे मतों और सम्प्रदायों के साथ संसर्ग होने से कुछ फेरफार हो जाता है। शिक्षित मनुष्यों में दर्शन और विज्ञान के अध्ययन के प्रभाव से भी ईश्वरसम्बन्धिनी भावना में बहुत कुछ फेरफार और रूपान्तर हो जाता है। इस प्रकार के परस्परविरुद्ध संस्कार मन में जम कर आजीवन बने रहते हैं। बात यह है कि लड़कपन में पुरानी कथा कहानियों का जो वंशपरम्परागत संस्कार होता है वह बड़ा प्रबल होता है, वह तो बना ही रहता है। पीछे शिक्षा तथा दूसरे मतों के परिचय द्वारा जो भाव प्राप्त होते हैं वे भी पुराने भावों के साथ जा मिलते हैं। इस प्रकार

लोगों का अन्तःकरण 'भानमती का पिटारा' हो जाता है जिसमें ईश्वरविषयक रंगबिरंग की परस्पर असम्बद्ध और असंगत भावनाएँ भरी हुई रहती हैं।

ऊपर जितने प्रकार के देववादों (ईश्वरवादों) का जिक्र हुआ उन सबमें ईश्वर प्रकृति या भूतों से परे माना गया है। वह जगत् से भिन्न, वाह्य और स्वतन्त्र तथा उसका कर्ता और नियन्ता कहा जाता है। उसकी भावना पुरुषविशेष या देवविशेष के रूप में ही हुई है। वह मनुष्यों ही के समान सोचता विचारता, अनुभव करता तथा प्रसन्न और अप्रसन्न होता है। भेद इतना ही समझा गया है कि मनुष्य में सब बातें अपूर्ण रूप में होती हैं पर उसमें परम पूर्णता को प्राप्त रहती हैं। ईश्वर के विषय में ऐसी ही धारणा अधिकतर मनुष्यों की है—किसी की स्थूल किसी की सूक्ष्म। जिन मतों में ईश्वर की भावना सूक्ष्म रूप में की गई है उनमें स्थूल शरीर आदि का आरोप न कर ईश्वर को 'शुद्ध आत्मा' माना है। पर बिना शरीर की इस निराकार आत्मा के व्यापार भी ठीक उसी तरह के माने जाते हैं जिस तरह साकार पुरुषरूप ईश्वर के। शरीरियों के मस्तिष्क या अन्तःकरण के जो व्यापार हैं वे सब उसमें आरोपित किए जाते हैं।

## ब्रह्मवाद या सर्ववाद[1]

सर्ववाद कहता है कि ईश्वर और जगत् अभिन्न अर्थात् एक है। ईश्वर की यह भावना मूलप्रकृति या परमतत्त्व ही की भावना के अनुरूप है[2]। यह भावना उन सब भावनाओं के विरुद्ध पड़ती है जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है। 'यह भी ठीक, वह भी ठीक' कहनेवाले बहुत से लोगों ने इन दोनों प्रकार की भावनाओं में जो विरोध है उसके परिहार का व्यर्थ प्रयास किया है। पर यह विरोध अपरिहार्य है। दोनों प्रकार की भावनाओं में बड़ा अन्तर है। ईश्वरवाद में ईश्वर प्रकृति से सर्वथा स्वतन्त्र, भूतों से परे, और जगत् से वाह्य समझा जाता है पर सर्ववाद या ब्रह्मवाद में ब्रह्म जगत् में अन्तर्व्यापी और ओतप्रोत भाव से शक्ति रूप में उसका संचालन करनेवाला माना जाता है। सर्ववाद की भावना ही वैज्ञानिकों के अनुकूल पड़ती है। परम तत्त्व की अक्षरता का जो वैज्ञानिक सिद्धान्त है उसके साथ इसका मेल हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि सर्ववादियों का ब्रह्म अनन्त विश्वविधान ही का नामान्तर है।

---

1. सर्व खल्विदं ब्रह्म।
2. हैकल के अद्वैतवाद और ब्रह्मवाद के बीच सिद्धान्तभेद है। ब्रह्मवाद चेतना समष्टि को ब्रह्म मानता है—उसका ब्रह्म चिन्मय और ज्ञानस्वरूप है। हैकल का परमतत्त्व प्रवृत्तिधर्मयुक्त होने पर भी जड़ हैं, चेतन का उसके साथ नित्य सम्बन्ध नहीं। उसके गुणविकास की एक अवस्था का नाम ही चेतना है, जिसका अधिष्ठान शरीरियों के अन्तःकरण के अतिरिक्त और कहीं नहीं। भौतिक अन्तःकरण ही द्रष्टा है। अतःसांख्य के प्रकृति पुरुष के द्वैत में से यदि हम पुरुष को निकाल केवल जड़ प्रकृति ही को रखें तो हैकल का अद्वैत मत निकलता है जिसे हम प्रकृतिवाद ही कह सकते हैं।

यह सच है कि अब भी कुछ वैज्ञानिक ऐसे हैं जो इसे नहीं मानते और पुरुषाकार भावना के साथ इस जगद्विधान समष्टिरूप सर्ववाद का सामंजस्य सम्भव समझते हैं पर उनका यह सब विचार व्यर्थ का वितण्डा है।

सर्ववाद या ब्रह्मवाद ज्ञान की अत्यन्त उन्नत अवस्था का सूचक है अतः पृथ्वी की प्राचीन सभ्य जातियों के बीच ही इसका उदय हुआ। प्राचीन भारतवासियों और चीनियों के बीच इसका बीजारोपण ईसा से कई हजार वर्ष पहले हो चुका था। पीछे यूनान और रोम के तत्त्वज्ञानियों के बीच इसका प्रचार हुआ। यूनान में इस सिद्धान्त को पूर्णरूप से अनग्जिमेंडर ने व्यक्त किया। उसी ने अनन्त विश्व की एकता की स्पष्ट व्याख्या की ओर जगत् के सम्पूर्ण व्यापारों का मूलाधार एक विभु, नित्य आदितत्त्व बतलाया। उसने लोकपिंडों की उत्पत्ति और लय के अखंड क्रम का भी आभास दिया। इंपिडाक्लीज आदि अन्य तत्त्वदर्शियों ने भी ईश्वर और जगत्, शरीर और आत्मा की अभिन्नता का प्रतिपादन अपने ढंग पर किया। ईसाई धर्माचार्यों ने इस तत्त्व को दबाने की लाख अन्याय चेष्टाएँ कीं पर यह बिलकुल दबा नहीं। पोपों के क्रूर अत्याचारों के समय में भी इस सत्य की घोषणा समय समय पर होती रही। सन् 1600 में इस सर्ववाद के समर्थन के अपराध में पोप की आज्ञा से ब्रूनो जीता जलाया गया।

योरप में ब्रह्मवाद या सर्ववाद की विशुद्ध और पूर्ण व्याख्या सन् 1700 में स्पिनोजा द्वारा हुई। उसने वस्तुसमष्टि का ऐसा लक्षण निरूपित किया जिसके अन्तर्गत ईश्वर और जगत् दोनों आ गए[1]। इस तत्त्ववेत्ता ने अपने शुद्ध चिन्तन के बल से जिस सिद्धान्त की स्थापना की, पीछे परीक्षात्मक विज्ञान से भी उसका समर्थन हुआ। इसका अद्वैतवाद ही वैज्ञानिकों का तत्त्वाद्वैतवाद हुआ।

अनीश्वरवाद के अनुसार जगत् का कर्ता और नियन्ता कोई ईश्वर या देवता नहीं। अनीश्वरवादियों के इस 'ईश्वरानपेक्ष विश्वविधान' का आधुनिक वैज्ञानिकों के तत्त्वाद्वैतवाद या सर्ववाद के साथ पूरा मेल हो जाता है। सच पूछिए तो दोनों एक ही हैं, केवल नाम का भेद है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर ने ठीक ही कहा है कि 'सर्ववाद प्रच्छन्न अनीश्वरवाद ही है। सर्ववाद ईश्वर और जगत् इस द्वैतभाव का खंडन करके यह प्रतिपादित करता है कि जगत् अपनी ही निहित शक्तियों के

---

1. स्पिनोजा ने एक ही शुद्ध निरपेक्ष द्रव्य का प्रतिपादन किया है और निरपेक्षता को द्रव्य का लक्षण माना है। उसके अनुसार वस्तुतः एक ही द्रव्य है जो स्वयंभू, अपरिच्छिन्न और अद्वितीय है; क्योंकि यदि वह किसी दूसरी वस्तु से उत्पन्न, किसी वस्तु से घिरा हुआ या किसी के साथ रहता तो बिना द्वितीय वस्तु के उसका बोध न होता और सापेक्ष होने से उसकी द्रव्यता जाती रहती। इस स्वयंभू अपरिच्छिन्न और अद्वितीय द्रव्य के नाम के विषय में कोई विवाद नहीं। सामान्यतः ईश्वर शब्द से इसका बोध होता है। पर तार्किकों और धार्मिकों ने इच्छा ज्ञान आदि विशिष्ट व्यक्तिविशेष को जैसा ईश्वर समझ रखा है, वैसा वह नहीं है। सर्वगत जो सामान्य सत्ता है वही ईश्वर है।

द्वारा परिचालित हो रहा है। वैज्ञानिक अद्वैतवादियों का यह कहना कि ईश्वर और जगत् एक ही है प्रच्छन्न रूप से ईश्वर को विदा दे देना ही है।'

लोक में अनीश्वरवादी बहुत बुरे समझे जाते हैं। लोग मानते हैं कि उनकी बहुत बुरी गति होगी। इसी से सब बातों को समझने बूझने वाले लोग भी ऊपर से इस बात की चेष्टा में रहते हैं कि वे अनीश्वरवादी न समझे जायँ। सत्य के अनुसंधान में सच्चे हृदय से तत्पर अनीश्वरवादी वैज्ञानिक लोग दुनिया भर की बुराई मानने के लिए तैयार रहते हैं पर घंटों पूजापाठ और टंटघंट करनेवाले को, चाहे वह कपट और व्यभिचार ही में डूबा रहता हो, लोग परम साधु और क्रियानिष्ठ कहते पाए जाते हैं। यह दुरवस्था तभी दूर होगी जब ज्ञान का प्रचार होगा और लोगों को तत्त्वदृष्टि प्राप्त होगी।

सोलहवाँ प्रकरण

# ज्ञान और विश्वास

सत्य की खोज करना ही सच्चे विज्ञान का काम है। प्रत्येक विज्ञान इस बात का प्रयत्न करता है कि सत्य का ज्ञान प्राप्त हो। प्रकृति का ज्ञान ही हमारा वास्तव ज्ञान है। यह उन अन्तराभासों से संघटित होता है जिनका वाह्यपदार्थों से बिम्बप्रतिबिम्ब सम्बन्ध होता है। यह ठीक है कि हमारी बुद्धि इस जगत् की आभ्यन्तर सत्ता या वास्तविक स्वरूप तक नहीं पहुँच सकती, पर विशुद्ध विज्ञानदृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि ज्ञानेन्द्रियों और मस्तिष्क की अविकृत क्रियाओं के द्वारा, वाह्य जगत् के जो अनुभव होते हैं वे सब मनुष्यों में समान होते हैं और अन्तःकरण की अविकृत क्रियाओं के द्वारा, कुछ ऐसे अन्तराभास उत्पन्न होते हैं जो सर्वत्र एक होते हैं। ऐसे अन्तराभासों को हम 'सत्य' कहते हैं क्योंकि हमें इस बात का निश्चय रहता है कि वे वस्तुओं के ज्ञेय स्वरूप के ठीक ठीक प्रतिबिम्ब हैं।

सत्य का सारा ज्ञान दो विभिन्न, परस्परसम्बद्ध, शरीरव्यापारों पर निर्भर है, वाह्यार्थ या विषय के इन्द्रियानुभव पर जो इन्द्रियों की क्रियाओं द्वारा प्राप्त होता है, और इन्द्रियानुभावों की योजना द्वारा संघटित और स्वयं द्रष्टा या विषयी ही में उपस्थित अन्तराभास पर। इन्द्रियानुभव जिनके द्वारा होते हैं उन्हें वाह्यकरण अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं और अन्तराभासों को जो ग्रहण और संयोजित करते हैं उन्हें अन्तःकरण कहते हैं। वाह्यकरण विज्ञानमयकोश के ऊपरी तल के अंश हैं और अन्तःकरण भीतरी केन्द्रस्थान के। इसी जटिल मनोविज्ञानमय कोश के द्वारा समस्त मनोव्यापार होते हैं।

मनुष्य के इन्द्रियव्यापार बनमानुसों के इन्द्रियव्यापार के समुन्नत रूप हैं। जिस प्रकार बनमानुसी शरीर से क्रमशः उन्नत होते होते मानव शरीर का विकास हुआ है उसी प्रकार बनमानुसी इन्द्रिव्यापारों से मनुष्य के इन्द्रियव्यापारों का विकास हुआ है। किंपुरुष वर्ग जिसके अन्तर्गत बन्दर, बनमानुस और मनुष्य हैं, के सब प्राणियों की इन्द्रियों की बनावट एक ही ढाँचे की होती है। जिन भौतिक और रासायनिक

नियमों के अनुसार एक के इन्द्रियव्यापार होते हैं उन्हींके अनुसार दूसरे के भी। जिस क्रम से और जिन अवस्थाओं में होते हुए एक के इन्द्रियव्यापार गर्भावस्था से क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होते हैं उसी क्रम से और उन्हीं अवस्थाओं में होते हुए दूसरे के भी। प्रारम्भ में सम्पूर्ण त्वक् ही वाह्यकरण अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का काम देता है। भ्रूण की ऊपरी कला (झिल्ली) के जो संवेदनात्मक घटक होते हैं वे ही ज्ञानेन्द्रियों के मूल हैं। भिन्न भिन्न विषयों प्रकाश, शब्द, ताप आदि को विशेष रूप से ग्रहण करने के कारण वे मिलकर विशिष्ट इन्द्रियों के रूप में हो जाते हैं। जिस विषय का जिन घटकों के साथ अधिक संयोग हुआ उसे ग्रहण करने ही के उपयुक्त वे हो गए। नेत्रपटल के शलाकाघटक, कानों के भीतर के श्रोत्रघटक, नाक भीतर के घ्राणघटक, जिह्वा पर के रसघटक, सबके सब आरम्भ में ऊपरी झिल्ली के घटक थे और उसपर सर्वत्र फैले थे। मनुष्य तथा और दूसरे उन्नत जीवों के भ्रूणवृद्धिक्रम को ध्यानपूर्वक देखने से इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाता है। पहले कहा जा चुका है कि गर्भाधान के उपरान्त किसी एक जीव के उत्तरोत्तर एक अवस्था से दूसरी अवस्था में होते हुए विकास का जो क्रम है, वही क्रम एक प्रकार के जीवों से दूसरे प्रकार के जीवों के उत्पन्न होने का भी है। सामान्य कलाकोश या झिल्ली की थैली के रूप के जो क्षुद्र आदिम जीव थे जैसे पेट के केंचुए आदि, उनमें भिन्न भिन्न इन्द्रियों का विभाग नहीं था। उनकी बाहरी झिल्ली में जो संवेदनग्राही घटकों की तह थी उन्हीं से सर्वत्र समानरूप में संवेदन व्यापार होता था। विकास क्रमानुसार उन क्षुद्र जीवों से ज्यों ज्यों उत्तरोत्तर उन्नत जीवों की उत्पत्ति होती गई त्यों त्यों उनके त्वक् के घटक इस प्रकार विभक्त होते गए कि कुछ केवल एक प्रकार का संवेदन ग्रहण करने लगे और कुछ दूसरे प्रकार का। कुछ प्रकाश को ग्रहण करने लगे, कुछ शब्द को और कुछ गन्ध को। इस प्रकार इन भिन्न भिन्न प्रकार के घटकों की योजना से उन्नत जीवों में भिन्न भिन्न प्रकार के संवेदनसूत्रों और ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई। एक प्रकार के संवेदनसूत्र से वाह्य पदार्थ के एक ही गुण का ग्रहण होता है, और का नहीं। आँख में जो संवेदनसूत्र हैं उनसे रूप ही का, कान में जो हैं उनसे शब्द ही का, नाक में जो हैं उनसे गन्ध ही का बोध होगा।

संवेदनसूत्रों की इस विशेषधर्मता से, उनके विशेष विशेष गुणों को ही ग्रहण करने की शक्ति रखने से, लोगों ने कई प्रकार के भ्रान्त सिद्धान्त निकाले। बहुतों ने यह कहना आरम्भ किया कि मस्तिष्क या आत्मा को संवेदनसूत्र की विशेष अवस्था ही का बोध हो सकता है अतः उसकी इस क्रिया द्वारा वाह्यपदार्थ के अस्तित्व और वास्तव स्वरूप के विषय में कोई सिद्धान्त नहीं स्थिर किया जा सकता। संशयवादियों ने वाह्य जगत् के होने तक में सन्देह प्रकट किया और मायावादियों ने तो उसका होना अस्वीकार ही कर दिया।

इस प्रकार के मत भ्रम से उत्पन्न हुए हैं। सबसे पहले तो समझने की बात

यह है कि भिन्न भिन्न संवेदनसूत्रों के जो 'विशेष धर्म' कहे जाते हैं वे उनके मूल गुण नहीं हैं बल्कि ऊपरी झिल्ली के घटकों के क्रमशः एक एक विषय में अधिकाधिक अभ्यस्त होने से प्राप्त हुए हैं। आरम्भ में ऊपरी झिल्ली के ये घटक भिन्न भिन्न विषयों को ग्रहण करने के लिए अलग अलग वर्गों में विभक्त नहीं थे, सबमें सब विषयों को अत्यन्त अल्प परिमाण में ग्रहण करने की समान शक्ति थी। क्रमशः कुछ घटक एक विषय के रूप मे करने में अभ्यस्त होते गए और कुछ दूसरे विषय के। कुछ घटक प्रकाशरश्मियों को ही ग्रहण करने के योग्य हो गए, कुछ शब्दतरंगों को, कुछ गन्ध के रासायनिक उत्तेजन को, इत्यादि। इस प्रकार कार्यविभाग हो जाने से विषयों को ग्रहण करने की शक्ति क्रमशः तीव्र होती गई और एक एक विषय को ग्रहण करने वाले घटकों की अलग अलग योजना और स्थिति से ऊपरी झिल्ली के बनावट में भी विभेद पड़ते गए। प्राकृतिक ग्रहणप्रवृत्ति द्वारा ये विभेद उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त करते गए और आँख, कान आदि भिन्न भिन्न इन्द्रियों का प्रादुर्भाव हुआ।[1] इस प्रकार भिन्न भिन्न इन्द्रियों के संवेदनसूत्र और उनके विशेष विशेष धर्म उत्तरोत्तर अभ्यास द्वारा प्रादुर्भूत हुए हैं और प्रादुर्भूत होकर वंशपरम्परा के नियमानुसार पीढ़ी दर पीढ़ी बराबर चले आ रहे हैं।

मनुष्यों के इन्द्रियव्यापारों को और दूसरे रीढ़वाले जन्तुओं के इन्द्रियव्यापारों के साथ ध्यानपूर्वक मिलाने से कई बातें मालूम होती हैं। ज्ञान और भावुकता के सबसे बड़े कारण आँख और कान ही को ले लीजिए। और जन्तुओं के आँख कान से रीढ़वाले जन्तुओं के आँख कान की बनावट भी भिन्न और पेचीली होती है और गर्भ में उनकी वृद्धि भी विशेष प्रकार से होती है। सब मेरुदंड जीवों की इन्द्रियों के ढाँचे और उनकी गर्भवृद्धि के क्रम को देखने से यही निश्चय होता है कि वे एक ही मूल जीव से उत्पन्न हुए हैं। मेरुदंड वर्ग के जीवों में भी कई प्रकार के ढाँचे देखने में आते हैं। यह विभिन्नता भिन्न भिन्न परिस्थिति में पड़ने और तदनुसार

---

1. सांख्यशास्त्र में अव्यक्त प्रकृति से सृष्टि की उत्पत्ति का जो क्रम निर्धारित किया गया है उसमें एक ही मूल इन्द्रिय से क्रमशः और इन्द्रियों की उत्पत्ति नहीं मानी गई है, बल्कि अहंकार से पहले पाँचों सूक्ष्म इन्द्रियाँ और फिर पाँच स्थूल इन्द्रियाँ सब की सब एक साथ और एक दूसरे से स्वतन्त्र उत्पन्न हुईं, ऐसा कहा गया है। सांख्य में जिस प्रकार इन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, तन्मात्र रूप से अर्थात् परस्पर अभिश्रित और सूक्ष्म मूलरूप में एक साथ उत्पन्न माने गए हैं उसी प्रकार उनको ग्रहण करनेवाली पाँचों इन्द्रियाँ भी। पर सृष्टितत्त्व के आधिभौतिक आचार्यों ने परीक्षा द्वारा यह निश्चित किया है कि आरम्भ में त्वचा ही एक मूल इन्द्रिय थी जिससे और इन्द्रियाँ क्रमशः उत्पन्न हुई हैं, जैसे त्वचा पर प्रकाश का संयोग होते होते आँख उत्पन्न हुई। इस पर सांख्यवादी यह कह सकते हैं कि मूल प्रकृति में यदि भिन्न भिन्न इन्द्रियों के उत्पन्न होने की शक्ति न हो तो क्षुद्र कीटों की त्वचा पर प्रकाश का चाहे जितना आघात या संयोग होता रहे तो भी उन्हें आँखें नहीं उत्पन्न हो सकतीं। उत्पन्न होने की शक्ति तो आधिभौतिक तत्त्वज्ञ भी मानते हैं पर उनका कहना है कि यह शक्ति अस्पष्टरूप में थी विशिष्ट या पृथक् रूप में नहीं थी।

भिन्न भिन्न प्रकार से जीवननिर्वाह करने के कारण उत्पन्न हुई है। परिस्थिति के अनुसार किसी को किसी इन्द्रिय का अधिक उपयोग करना पड़ा और किसी का कम। इस प्रकार मेरुदंड वर्ग में भिन्न भिन्न आकार और प्रकार की इन्द्रियों वाले भिन्न भिन्न जीव उत्पन्न हुए। मनुष्य, कुत्ते, बिल्ली, बैल आदि के आँख, कान की रचना और शक्ति में भेद दिखाई पड़ता है।

मनुष्य सबसे उन्नत प्राणी है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी इन्द्रियाँ सबसे अधिक पूर्ण हैं। गीध की दृष्टि मनुष्य की दृष्टि से कहीं अधिक तीव्र होती है। जितनी दूर की चीजें उसकी आँखें देख सकती हैं उतनी दूर की चीजें मनुष्य की भी आँखें नहीं देख सकतीं। स्तन्यजन्तुओं में शेर, भेड़िए आदि हिंसक जन्तुओं, खुरवाले जन्तुओं और कुतरनेवाले जन्तुओं, जैसे चूहों, गिलहरियों आदि की श्रवणशक्ति मनुष्य की श्रवणशक्ति से कहीं अधिक तीव्र होती है। उनके कानों के भीतर की कुंडली को देखने से ही इसका पता लग जाता है। कोकिल आदि पक्षियों की वाणी कोमल संगीत स्वर निकालने में मनुष्य की वाणी से श्रेष्ठ होती है। कुत्ते यदि मनुष्य की घ्राणशक्ति को अपनी घ्राणशक्ति से मिलावें तो उन्हें मनुष्यों पर दया आ सकती है। इसी प्रकार रसना, काम वेदना, स्पर्श आदि की शक्तियों के विषय में भी कह सकते हैं कि वे कुछ जन्तुओं में जितनी तीव्र हैं उतनी मनुष्य में नहीं।

हम उन्हीं संवेदनों के विषय में कुछ कह सकते हैं जिनका हमें अपनी इन्द्रियों के द्वारा अनुभव होता है। पर अंगविच्छेद परीक्षा द्वारा बहुत से जन्तुओं में कुछ और ऐसी इन्द्रियाँ पाई गई हैं जिनसे हम परिचित नहीं। मछलियों तथा कुछ और जलजन्तुओं की त्वचा में कुछ ऐसे इन्द्रियगोलक होते हैं जो विशेष प्रकार के संवेदनसूत्रों से सम्बद्ध होते हैं। मछली के दाहिने और बाएँ एक एक लम्बी नली होती है जिससे और छोटी छोटी नलियाँ शाखा के रूप में निकली होती हैं। इन नलियों में एक विशेष प्रकार के संवेदन सूत्र होते हैं जो स्थलचारी जन्तुओं में नहीं पाए जाते। इन संवेदन सूत्रों के बाहरी छोर पर अनुभवात्मक इन्द्रियगोलक होते हैं। यह शरीरव्यापी इन्द्रिय शायद जल के दबाव तथा उसके और और गुणों के अनुभव के लिए होती है। कुछ जाति की मछलियों में कुछ और भी इन्द्रियगोलक होते हैं जिनका क्या उपयोग है हम नहीं कह सकते।

इन बातों से यह स्पष्ट है कि मनुष्य के इन्द्रियानुभव परिमित हैं। पहले तो जितनी इन्द्रियाँ उसे प्राप्त हैं उनके द्वारा पदार्थों के सब गुणों का अनुभव नहीं हो सकता। उन्हीं गुणों का अुनभव हो सकता है जिन्हें विषय रूप से ग्रहण करने के लिए इन्द्रियाँ हैं। दूसरी बात यह है कि जिन गुणों का जो अनुभव हमें होता भी है वह किसी हद तक होता है। यह नहीं है कि हमारी आँखें सूक्ष्म अणुओं को देख सकती हैं या हमारे कान नाड़ियों के रक्तसंचार का शब्द सुन सकते हैं[1]। हमारी इन्द्रियाँ

---

1. जो अनाहत नाद सुनने लगते हैं उनकी बात दूसरी है।

अपूर्ण हैं। सम्पर्क या आघात को जिस रूप में इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं उसी रूप में संवेदनसूत्र उन्हें मस्तिष्क या अन्तःकरण तक पहुँचाते हैं।

हमारी इन्द्रियाँ चाहे अपूर्ण हों पर उनके महत्त्व को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। हमारे सारे ज्ञान विज्ञान का मूल इन्द्रियबोध है। ज्ञान का प्रथम साधन इन्द्रियाँ हैं। अन्तःकरण जबतक काम के योग्य नहीं होता है तब तक इन्हीं इन्द्रियों, वाह्यकरणों से ही हमारा काम चलता है; ये ही हमें बतलाती हैं कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। अतः जो लोग इन्द्रियों के एकबारगी दमन या नाश का उपदेश दिया करते हैं वे बड़ी भारी भूल करते हैं। यदि कोई आदमी इसलिए अपनी आँखें निकलवा डाले कि वे एक बार बहुत बुरी चीजों पर पड़ गई थीं, अथवा इस डर से अपना हाथ कटा डाले कि वह 'पराए माल' पर न पड़े तो उसे लोग क्या कहेंगे? इन्द्रियज ज्ञान के आधार पर ही सारे दर्शन विज्ञान प्रतिष्ठित हैं। इन्द्रियों के बिना ज्ञान हो नहीं सकता।

पर इन अपूर्ण इन्द्रियों के द्वारा वाह्यजगत् का जो परिज्ञान होता है उससे शिक्षितों और विचारवानों को सन्तोष नहीं हो सकता। वे इन्द्रियों द्वारा प्राप्त संस्कारों को मस्तिष्क की संवेदन ग्रन्थियों के भीतर अनुभवरूप में ग्रहण करते हैं और फिर अन्तःकरण की ब्रह्मग्रन्थि में अन्तराभास के रूप में उनकी योजना करते हैं। अन्त में इन अन्तराभासों की योजना से सम्बद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है। पर बुद्धि की यह योजना शक्ति परिमित होती है। कल्पना शक्ति यदि बीच बीच में कुछ स्वरूपों का न्यास करके इन अन्तराभासों को अच्छी तरह संयोजित न करे तो सम्बद्ध ज्ञान पूरा नहीं हो सकता। इस प्रकार अन्तःकरण की भिन्न भिन्न वृत्तियों के द्वारा खंडज्ञान के संयोजित और समन्वित हो जाने पर एक नए सामान्य स्वरूप का आभास होता है जिससे उपस्थित विषय का समाधान हो जाता है और हमारी कार्यकारण बुद्धि तुष्ट हो जाती है।

वह अन्तराभास जिसकी उद्भावना ज्ञान की शृंखला पूरी करने के लिए अथवा निश्चयात्मक ज्ञान के अभाव में उसका स्थान ग्रहण करने के लिए की जाती है, 'विश्वास' कहलाता है। प्रतिदिन के व्यवहार में हमें इसका काम पड़ता है। जब हमें यह निश्चय नहीं होता है कि बात ऐसी ही है तब हम कहते हैं कि हमें विश्वास है कि बात ऐसी ही है। इस प्रकार का विश्वास विज्ञान तक में चलता है। दो बातों के बीच अमुक सम्बन्ध है इसका प्रत्यक्ष द्वारा निश्चय न होने पर भी हम यह अनुमान कर लेते या मान लेते हैं कि सम्बन्ध है। यदि यह सम्बन्ध कार्यकारण का हुआ तो इस प्रकार का मानना अभ्युपगम कहलाता है। विज्ञान में ऐसे ही अभ्युपगम ग्राह्य होते हैं जो मनुष्य की बुद्धि में आ सकते हैं और अनुभव के विरुद्ध नहीं पड़ते। भौतिक विज्ञान में ईथर की गति, रसायन शास्त्र में परमाणु और उनकी प्रवृत्ति, जीवविज्ञान में सजीव कललरस का अण्वात्मक होना इसी प्रकार के अभ्युपगम हैं।

ईथर इतना सूक्ष्म है कि उसकी गति को हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। इसी प्रकार रासायनिक मूल द्रव्यों के परमाणुओं और कललरस के अणुओं का निश्चय भी हम परीक्षा आदि द्वारा नहीं कर सकते।

बहुत सी सम्बद्ध बातों का समाधान एक सामान्य कारण मान कर करना सिद्धान्त निकालना कहा जाता है। चाहे अभ्युपगम हो, चाहे सिद्धान्त, विश्वास दोनों में आवश्यक है। दोनों में कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। वस्तु सम्बन्ध ज्ञान के लिए अकेली बुद्धि ही को नहीं काम करना पड़ता। कुछ बातों का तो हमें प्रत्यक्ष होता है, कुछ का बुद्धि के द्वारा निश्चय होता है और कुछ का कल्पना के सहारे अनुमान होता है। इन तीनों के मेल से ही बड़े बड़े सिद्धान्त निकलते हैं। दर्शन या विज्ञान में कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं जिसमें अनुमान से काम न लिया गया हो। शुद्ध प्रत्यक्ष ही के आश्रय पर यदि कोई किसी विज्ञान की स्थापना करना चाहे तो नहीं कर सकता। कार्यकारण सम्बन्ध ज्ञान केवल प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं हो सकता।

ज्योतिष में आकर्षणसिद्धान्त, भौतिकविज्ञान में गतिशक्ति का सिद्धान्त, रसायन में परमाणुसिद्धान्त प्राणिविज्ञान में विकाससिद्धान्त इत्यादि बड़े महत्त्व के सिद्धान्त हैं। इनके द्वारा प्रायः समस्त प्राकृतिक व्यापारों का सामंजस्य भिन्न भिन्न क्षेत्रों में बहुत सी बातों के लिए एक एक सामान्य कारण मान लेने से हो जाता है। इन सामान्य कारणों का स्वरूप आदि चाहे हम न भी स्थिर कर सकें पर इनका अस्तित्व मान लेने से हमारा काम चल जाता है। संशयवादी कह सकते हैं कि आकर्षण, परमाणु, विकास इत्यादि काम चलाने के लिए मानी हुई बातें हैं। इनका आधार 'शास्त्रीय विश्वास' है और कुछ नहीं। पर इस प्रकार के शास्त्रीय अनुमान या शास्त्रीय विश्वास के बिना किसी प्रकार का ज्ञान हो नहीं सकता।

यह तो हुआ 'शास्त्रीय विश्वास' जो अनुमान के आधार पर होता है। इससे सर्वथा भिन्न वह विश्वास होता है जो साम्प्रदायिक या मतमतान्तरसम्बन्धी कल्पित बातों में होता है। साम्प्रदायिक विश्वास का अर्थ है अलौकिक और अप्राकृतिक बातों में विश्वास जिनकी संगति बुद्धि के अनुसार नहीं बैठ सकती। इस प्रकार का विश्वास व्यवस्थित अनुमान[1] के उपरान्त नहीं होता, यों ही बुद्धि को किनारे रख कर किया जाता है। अतः इसे एक प्रकार का अन्धविश्वास ही कह सकते हैं। इसमें और शास्त्रीय विश्वास में बड़ा भारी भेद यह है कि यह ऐसी बातों के प्रति होता है जिनका प्रकृति में प्रायः अत्यन्ताभाव होता है, जो विज्ञान द्वारा निश्चित प्राकृतिक नियमों के सर्वथा

1. जो कल्पना प्रत्यक्ष के आधार पर और हेतुज्ञानपूर्वक की जाती है उसी को अनुमान कहते हैं। बुद्धि की सहयोगिता से या उसके आदेश पर प्रयोजनवश जो अन्तराभास कल्पना उपस्थित करती है वही अनुमान है। इसीसे अनुमान एक प्रकार से बुद्धि ही का कार्य कहा जाता है। कल्पना की अव्यवस्थित क्रीड़ा को अनुमान नहीं कह सकते।

विरुद्ध पड़ती हैं। भिन्न भिन्न धर्मों में विश्वास रखनेवाले एक या कई भूतातीत शक्तियाँ मान कर अनेक प्रकार की कल्पित और असम्भव बातें मानते हैं।

भूमंडल पर बसनेवाली मनुष्यजातियों की जो इधर खूब छानबीन की गई तो अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों का पता लगा जो भिन्न भिन्न असभ्य जातियों के बीच अब तक प्रचलित हैं। इन अन्धविश्वासों का परस्पर मिलान करने पर उनमें विलक्षण सादृश्य पाया जाता है। कुछ विचार करने पर बहुतों का, और तत्त्वदृष्टि से विचार करने पर सब का, एक ही मूल निश्चित होता है। सब का मूल है कारणजिज्ञासा जो मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। मनुष्य प्रकृति के बहुत से व्यापारों को देखता है और उनका कारण जानना चाहता है। ऐसी बातों के कारणों को जानने की व्यग्रता सबसे अधिक होती है जिनसे मन में किसी प्रकार का भय उत्पन्न होता है, जैसे बादल गरजना, बिजली चमकना, भूकम्प आना, ग्रहण लगना इत्यादि। असभ्य से असभ्य, जंगली से जंगली जातियों में ऐसी बातों के कारण जानने की व्यग्रता पाई जाती है। और कहाँ तक कहें कुछ पशुओं तक में पाई जाती है। कुत्ते जब पूर्ण चन्द्र को देखकर, फहराते हुए झंडे को देख कर, शंख या घंटे का शब्द सुनकर भूँकने लगते हैं तब वे केवल अपना भय ही प्रकट नहीं करते बल्कि इन रहस्यपूर्ण व्यापारों के कारण जानने की व्यग्रता भी प्रकट करते हैं। प्राचीन जातियों के बीच धर्म का उदय ऐसे ही व्यापारों के कल्पित कारणों में विश्वास करते करते हुआ है। आगे की पीढ़ियों में ये विश्वास संस्कार के रूप में और अधिक बद्धमूल होते गए। इस प्रकार अन्धविश्वास, पितरों की उपासना और अनेक प्रकार के मनोरागों से भिन्न भिन्न जातियों के बीच मत मतान्तरों की स्थापना हुई।

आजकल की सभ्य जातियों के बीच जो धर्म विश्वास प्रचलित हैं वे असभ्य जंगली जातियों के अन्धविश्वास से बहुत उन्नत समझे जाते हैं। ये जातियाँ समझती हैं कि सभ्यता द्वारा हमारे सब अन्धविश्वास दूर हो गए हैं। पर यह बड़ी भारी भूल है। निष्पक्ष भाव से यदि मिलान करके देखा जाय तो धर्मविश्वास जैसा असभ्य जातियों का है वैसा ही सभ्य कहलानेवाली जातियों का भी। दोनों में केवल स्वरूपभेद है, ऊपरी बातों में थोड़ा बहुत फर्क है। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सभ्य जातियों के परिमार्जित धर्मविश्वास भी वैसे ही असंगत और ऊपपटाँग हैं जैसे जंगली जातियों के, जिन्हें वे अहंकारवश उपेक्षा की दृष्टि से देखती हैं। सभ्य देशों में जो मत प्रचलित हैं उनकी यदि समीक्षा की जाय तो वे सब अन्धविश्वासपूर्ण ही पाए जायँगे। ईसाई मत को ही लीजिए। सृष्टि की 6 दिन में रचना, देवत्रयी अर्थात् पिता, पुत्र और पवित्रतात्मा, पवित्रात्मा द्वारा कुमारी मरियम का गर्भाधान, ईसा का मर कर जी उठना और सदेह स्वर्ग जाना इत्यादि वैसी ही बेसिर पैर की बातें हैं जैसी मुसलमान, हिन्दू, बौद्ध आदि और मतों में पाई जाती हैं। इनमें से किसी एक मत पर जिसे पक्का विश्वास है वह अपने ही मत को एकमात्र सत्य और दूसरे मत को मिथ्या क्या घोर अधर्म समझता

है। जितना ही जो सम्प्रदाय अपने मत का अनन्य और दृढ़विश्वासी होगा उतने ही कट्टरपन और भीषणता के साथ वह और सम्प्रदायों के साथ झगड़ा करने के लिए तैयार रहेगा। संसार में धर्म के नाम पर जो इतने भीषण युद्ध हुए हैं वे सब इसी अनन्य विश्वास, इसी अन्धविश्वास के कारण। शुद्ध बुद्धि की कसौटी पर तो सारे प्रचलित मत समान रूप से असंगत, मिथ्या और कपोलकल्पित हैं! युक्ति और विश्वास के सामने कोई ठहरने के योग्य नहीं।

इस अन्धविश्वास ने मनुष्य जाति का कितना अपकार किया है। धर्मान्धता के कारण कितना रक्तपात हुआ है, कितने प्राणियों का सुख धूल में मिल गया है। कितने आदमियों को घरबार छोड़ दूर देशों में भागना पड़ा है। राज्यशासन में जहाँ जहाँ धर्मान्धता का प्रवेश रहा है वहाँ वहाँ घोर अनर्थ हुए हैं। बहुत से देशों में धर्मशिक्षा स्कूलों में अनिवार्य रखी गई है जिसका फल यह होता है कि बालकों के कोमल हृदयों पर ऐसे कुसंस्कार जम जाते हैं जो कभी नहीं जाते। उनका वित्त अन्धविश्वास का अनुयायी हो जाता है, फिर उन्हें व्याहत और असंगत बातें अभ्यास के कारण नहीं खटकतीं। दुःख की बात है कि जिन देशों में सौभाग्यवश धर्मशिक्षा की अनिवार्य व्यवस्था नहीं है वहाँ भी अब कुछ लोग गला फाड़ फाड़ कर उसकी आवश्यकता बतला रहे हैं। पर आधुनिक सभ्य राज्यों के लिए यह परम आवश्यक है कि सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए ऐसे विद्यालय खुलें जो साम्प्रदायिक बन्धनों से मुक्त हों।

साम्प्रदायिक शिक्षा के लिए जो इतना आग्रह किया जाता है वह कई प्रकार के मनोरागों के कारण। इनमें सबसे प्रबल है परम्परा से चली आती हुई बातों पर 'आस्था'। जिन बातों को बापदादे मानते चले आए हैं उनसे एक प्रकार की आसक्ति हो जाती है—उनका मानना धर्म समझा जाता है। पर ऐतिहासिक दृष्टि जो विचार करेगा उसे प्रकट हो जायगा कि पूर्वजों की परम्परा में बराबर एक ही प्रकार का विश्वास नहीं रहा है। 1000 वर्ष पहले के बापदादे जिन बातों को मानते थे वे उनसे भिन्न थीं जिन्हें 2500 वर्ष पूर्व के बापदादे मानते थे। इसी प्रकार 300 वर्ष पहले जिन जिन बातों पर लोगों का विश्वास था उनका 1000 वर्ष पहले कहीं नाम तक न था। लोगों के विश्वास और धारणा में देशकालानुसार बराबर परिवर्तन होता आया है। दूसरी बात यह है कि अपनी विद्या, बुद्धि और स्थिति के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने लिए धर्म का एक विशेष रूप ग्रहण कर लेता है जो और लोगों के तथा बापदादों के धर्म से कुछ निराला ही होता है।

सबसे प्रबल अन्धविश्वास जिसका जनता पर अब तक बहुत कुछ प्रभाव है अध्यात्म वा आत्मविद्या है। दुःख और आश्चर्य की बात है कि करोड़ों शिक्षित पुरुष, बड़े बड़े विज्ञानवेत्ता तक इस घोर अन्धविश्वास में निमग्न हैं। अध्यात्म सम्बन्धी बहुत सी पत्रिकाएँ प्रकाशित होकर इस अन्धविश्वास को चारों ओर दूर दूर तक फैलाती हैं। अच्छे खासे पढ़ेलिखे और प्रतिष्ठित लोग ऐसे चक्रों में सम्मिलित होते हैं जिनमें

प्रेतात्माएँ आकर बोलती, लिखतीं और परलोक का हाल बताती हैं। अध्यात्मवादी प्रायः इस बात का गर्व प्रकट किया करते हैं कि उनके अन्धविश्वासों का समर्थन बड़े बड़े विज्ञानविशारद करते हैं। वे अपने पक्ष की पुष्टि में ऐसे लोगों का नाम लेते हैं जैसे जरमनी के जोलनर और फेक्नर, इंगलैंड के वालेस और क्रुक्स। ऐसे ऐसे प्रसिद्ध वैज्ञानिक जो अध्यात्म के चक्कर में पड़ जाते हैं इसका कारण है कुछ तो उनकी कल्पना की अधिकता और विवेचन शक्ति की न्यूनता और कुछ उन प्रबल संस्कारों का प्रभाव जो साम्प्रदायिक शिक्षा द्वारा उनके चित्त में बचपन ही में जमा दिए जाते हैं। अमेरिका के प्रसिद्ध इन्द्रिजालिक स्लेड ने जोलनर, फेक्नर और बेवर को अपने चक्र में सम्मिलित करके कैसे धोखे में डाला था इस बात को जरमनी में प्रायः सब लोग जानते हैं। पीछे उसकी चालाकियाँ खुल गईं और वह एक धूर्त प्रमाणित हुआ। इसी प्रकार आत्मविद्या के चमत्कार जहाँ जहाँ दिखाए गए हैं वहाँ वहाँ अनुसंधान करने पर उनके भीतर गहरी चालबाजियाँ पाई गई हैं। जिनके ऊपर प्रेतात्माएँ बुलाई जाती हैं वे या तो पक्के धूर्त होते हैं अथवा दुर्बलचित्त के मनुष्य। आत्माओं का अन्य लोक से आना, बातचीत करना, परोक्ष का वृत्तान्त कहना ये सब बातें कल्पना की उच्छृंखलता, विवेचना की न्यूनता और शरीरविज्ञान की अनभिज्ञता से उत्पन्न हैं।

संसार के प्रचलित मतों के बीच बहुत सी बातों में परस्पर भेद होते हुए भी एक बात ऐसी है जो सबमें समानभाव से पाई जाती है और जिसे प्रत्येक अपना बड़ा भारी सहारा समझता है। जितने मत हैं सब इस बात का दावा करते हैं कि हम जगत् की स्थिति, जीवन के रहस्य आदि के सम्बन्ध में दैवी आभास वा दिव्यदृष्टि द्वारा ऐसी बातों का ज्ञान कराते हैं जो मनुष्य की प्राकृतिक बुद्धि के बाहर हैं। भिन्न भिन्न मतवाले अपने उपदेशों और वितंडावादों को दैवी आभास द्वारा प्राप्त बतलाते हैं। उनका कहना है कि उन्हीं के अनुकूल आचरण और विश्वास करना मनुष्य का धर्म है। मानवजीवन का शासन उन्हीं के अनुसार होना चाहिए, वे ही ईश्वरीय धर्मशास्त्र हैं। बहुत सी ऊटपटाँग गढ़ी हुई कथाओं का मूल भी दैवी आभास ही बतलाया जाता है। कहीं तो ईश्वर साक्षात् प्रकट होकर मनुष्य की तरह बातचीत करता हुआ बताया गया है और कहीं मेघगर्जन, आँधी, भूकम्प, दावाग्नि में प्रज्वलित झाड़ी, जैसी मूसा ने देखी थी इत्यादि द्वारा अपने को व्यक्त करता हुआ कहा गया है। पर जिस ज्ञान को ईश्वर इनके द्वारा व्यक्त करता है वह वैसा ही होता है जैसा मनुष्य अपने मस्तिष्क में उद्भावित करके अपने कंठ और वाणी द्वारा प्रकट करता है। प्राचीन भारत, मिस्र, यूनान और रोम की धर्मकथाओं में, नई और पुरानी बाइबिल में देवता या ईश्वर मनुष्य ही के समान बोलता, सोचता, विचारता और काम करता हुआ बतलाया गया है। अतः जिस ज्ञान को वह कल्पित रीति से व्यक्त करता हुआ बतलाया गया है वह मनुष्यों की कपोलकल्पना मात्र है। उसे ज्ञान नहीं कह सकते। उसमें विश्वास करना घोर अन्धविश्वास है।

सच्चे ज्ञान का आभास प्रकृति ही में मिल सकता है; उसमें ही उसे ढूँढ़ना चाहिए। उसके लिए अप्राकृतिक शक्ति की कल्पना करना प्रमाद और बुद्धि का आलस्य है। सत्य का ज्ञान जो कुछ मनुष्य को हुआ है और हो सकता है कि प्रकृति की समीक्षा द्वारा प्राप्त अनुभवों तथा इन अनुभवों की संगत योजना द्वारा स्थिर सिद्धान्तों द्वारा ही। प्रत्येक बुद्धिसम्पन्न और अविकृत मस्तिष्क का मनुष्य सत्य का आभास प्रकृति निरीक्षण द्वारा प्राप्त कर सकता है और अपने को अज्ञान और अन्धविश्वास के बन्धन से मुक्त कर सकता है।

सत्रहवाँ प्रकरण

# विज्ञान और ईसाई मत

विगत शताब्दी से विज्ञान और ईसाई मत के बीच विरोध बढ़ता चला जाता है। ज्यों ज्यों विज्ञान की उन्नति होती जाती है त्यों त्यों उन मतों की असारता प्रमाणित होती जाती है जो दिव्य दृष्टि या दैवी आभास के बल पर बुद्धि का दमन करके उसे बन्धन में रखते आए हैं। ऐसे ही मतों में से एक ईसाई मत भी है। जितनी ही दृढ़ता के साथ आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान, भौतिक विज्ञान और रसायन शास्त्र ने समस्त जगत् के चलानेवाले नियमों का निरूपण किया है और उद्भिद्विज्ञान, जन्तुविज्ञान और मानवविज्ञान ने इन नियमों की चरितार्थता सजीव सृष्टि के बीच दिखलाई है, उतने ही कट्टरपन के साथ ईसाई मत ने द्वैतवादी दर्शन का सहारा लेकर 'आध्यात्मिक क्षेत्र' में अर्थात् मस्तिष्क व्यापार के एक विभाग में, इन प्राकृतिक नियमों की चरितार्थता अस्वीकार की है।

आधुनिक विज्ञान द्वारा निश्चित बातों और ईसाई मत की पुरानी सड़ी गली बातों के बीच कितना गहरा विरोध है, इसे कई लेखक अच्छी तरह दिखा चुके हैं। ईसाई मत ने अपनी स्थिति के लिए विज्ञान से जो लड़ाई ठानी उसके द्वारा उसने अपने विनाश के सामान और भी अधिक इक्कट्ठे कर लिए। दार्शनिक रीति से इस बात को हार्टमान ने अपने 'ईसाई मत का आत्मविनाश' नामक ग्रन्थ में अच्छी तरह दिखाया है। इस मत का संसार के एक बड़े भाग की सभ्यता पर कितना प्रभाव पड़ता है इसको देखते हुए उसके इतिहास पर दृष्टि डालना आवश्यक है। ईसाई मत के चार रूप कहे जा सकते हैं जो उसे आरम्भ से अब तक प्राप्त हुए हैं–(1) प्राचीन ईसाई मत ईसवी सन् की पहली से तीसरी शताब्दी तक, (2) पोपों द्वारा परिचालित महन्ती ईसाई मत चौथी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक, (3) पुनः संस्कारप्राप्त ईसाई मत सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक और (4) आजकल का नाममात्र का ईसाई मत।

## प्राचीन ईसाई मत

ईसाई मत अपने आदि रूप में 300 वर्ष तक रहा। ईसा, जिसने ईसाई मत चलाया, दया और प्रेम से परिपूर्ण था पर उस समय की यूनानी, मिस्री आदि सभ्य जातियों के ज्ञान विज्ञान से कोसों दूर था। यहूदियों में प्रचलित किस्से कहानियों के अतिरिक्त वह और कुछ भी नहीं जानता था। वह अपनी लिखी एक पंक्ति भी नहीं छोड़ गया। यूनानी दर्शन और विज्ञान उससे 500 वर्ष पहले ही किस उन्नत अवस्था को पहुँच चुके थे इसका उसे कुछ भी परिज्ञान न था।

उसके विषय में हमें जो कुछ जानकारी है वह नई बाइबिल (इंजील) के द्वारा जिसके अन्तर्गत चार सुसमाचार और प्रेरितों के पत्र हैं। पहले चार सुसमाचारों की बात लीजिए। प्रत्येक इतिहासवेत्ता जानता है कि उनका संग्रह पहली और दूसरी शताब्दी के ढेर के ढेर जाली कागजों और पोथियों में से चुन कर हुआ है। दूसरी शताब्दी में यह संग्रह धर्मशास्त्र के रूप में व्यवस्थित हुआ पर चौथी शताब्दी तक घटाने और बढ़ाने का काम थोड़ा बहुत जारी रहा। सेंट जिरोम नामक एक प्राचीन धर्माचार्य ने लिखा है कि ईसवी सन् 325 में निकेआ के धर्मसंघ में उक्त संग्रह में एक पोथी और जोड़ी गई थी। आधुनिक विद्वानों ने तीन सुसमाचारों, मत्ती, मार्क और लूक जो इन तीनों के मरने के पीछे औरों के द्वारा लिखे गए; का ईसवी सन् 65 और 100 के बीच और योहन के समाचार का ईसवी सन् 125 के कुछ पहले लिखा जाना निश्चित किया है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि ये चारों सुसमाचार जिस रूप में आज मिलते हैं उसी रूप में पहले भी थे। इनमें न जाने कितना फेरफार हुआ है। ईसा की मृत्यु के 150 वर्ष तक तो इन सुसमाचारों का पुस्तक रूप में संकलन हुआ ही नहीं था। सेंट जस्टिन के समय से ही इनका एक सम्बद्ध ग्रन्थ के रूप में होना पाया जाता है। उसके पहले इनके कुछ वाक्य ही इधर उधर उद्धृत पाए जाते हैं, पुस्तकों के रूप में इनका उल्लेख नहीं मिलता। अस्तु, इन सुसमाचारों में जो कथाएँ पाई जाती हैं उनका यदि कोई इन पुस्तकों के संकलन के पहले प्रमाण ढूँढ़ना चाहे तो नहीं मिल सकता। ईसा की मृत्यु के 100-125 वर्ष पीछे ही इन कथाओं का प्रचार पाया जाता है। किसी महात्मा या मतप्रवर्तक के सम्बन्ध में कितनी जल्दी जल्दी अलौकिक कथाएँ जुड़ती जाती हैं इसका जिन्हें अनुभव है वे कदापि इतने पीछे संकलित की हुई पुस्तकों में लिखी हुई बातों को ठीक नहीं मान सकते[1]।

---

1. भारतवर्ष में तो साधुओं और महात्माओं के सम्बन्ध में अलौकिक कथाओं का जोड़ा जाना एक बहुत साधारण बात है। सारा भक्तमाल ऐसी ही अलौकिक और अप्राकृतिक कथाओं से भरा पड़ा है। मुर्दे जिलानेवाले, लड़की से लड़का कर देनेवाले, नदी के जल से घी का काम लेनेवाले न जाने कितने हुए हैं। अयोध्या में बाबा रघुनाथ दास, बाबा माधोदास अभी हाल में ही हुए हैं। एक जीवित महात्मा →

सबसे पहले लिखी जानेवाली पोथी (मार्क) का काल यदि हम ईसवी सन् 70 मान लें तो भी कथाओं के जुड़ने और फैलने के लिए यथेष्ट समय माना जा सकता है।

पाल प्रेरित के पत्रों से भी ईसा के जीवनवृत्तान्त का कुछ विशेष पता नहीं लगता। अस्तु, ईसाई मत का प्रवर्तक कैसा था, उसने क्या क्या काम किए, यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। उसके सम्बध में जो अनेक प्रकार की कथाएँ पीछे लिखी गई हैं उन्हें माननेवाले अब दिन दिन कम होते जा रहे हैं। पवित्रात्मा द्वारा क्वारी कन्या के गर्भ से ईसा की अलौकिक उत्पत्तिवाली कथा अब इंगलैंड, जरमनी आदि देशों में प्रक्षिप्त कह कर टाली जा रही है। इसी प्रकार कब्र से उठना, सदेह स्वर्ग जाना, मुर्दे जिलाना इत्यादि जो अलौकिक बातें धर्मपुस्तक में पाई जाती हैं, उनकी चर्चा अब पढ़ेलिखे लोगों के बीच नहीं होती। इस प्रकार ईसा का जो चित्र बाइबिल ने जनसाधारण के चित्त में अंकित कर रखा था वह क्रमशः हवा होता जाता है।

ज्यों ज्यों विद्वान् लोग ईसा के वास्तविक चरित्र और उपदेश के सम्बन्ध में ऐतिहासिक छानबीन करते जाते हैं और कुछ कुछ असल बातों का पता लगता है त्यों त्यों मतभेद बढ़ता जाता है। दो तत्त्व निर्विवाद ठहरते हैं, दया दाक्षिण्य का सिद्धान्त और आचरण का प्रधान नियम अर्थात् दूसरों के साथ तू वैसा ही कर जैसा तू चाहता है कि दूसरे तेरे साथ करें। पर धर्म के ये दोनों तत्त्व ईसा से हजारों वर्ष पहले प्राचीन सभ्य जातियों के बीच पूर्णरूप से प्रतिष्ठित थे[1]।

## महन्ती या रोमक मत

कैथलिय सम्प्रदाय में धर्माचार्य पोप की आज्ञा सब बातों में मान्य समझी जाती है। पुराने समय में पोप लोगों का प्रताप और वैभव बहुत बढ़ा चढ़ा था। योरप के बड़े बड़े बादशाह उनके डर से काँपते थे। राजाओं को राजसिंहासन से च्युत करना, धर्मद्रोह का अपराध लगा कर लोगों को चिता पर बिठा कर भस्म करना उनके लिए एक साधारण बात थी। ईसाई मत ईसा के शिष्यों द्वारा पहले यूनान में पहुँचा, वहाँ से फिर रोम में गया। रोम ही से वह इंगलैंड आदि देशों में फैला। अतः महन्त की

---

→ का जीवनचरित उनके कुछ भक्तों ने लिखा है जिसमें बहुत से चमत्कार वर्णन किए गए हैं, जैसे आँख मूँदते ही सैकड़ों कोस दूर एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन पर पहुँच जाना, ईश्वर का आकर सरकारी काम पूरा कर जाना इत्यादि। किसी साधारण आदमी से पूछिए वह किसी न किसी करामाती बाबा का नाम जरूर जानता होगा। पर ऐसे ऐसे करामातियों की कथाएँ मूर्ख सम्प्रदायों या पन्थों ही में विशेषतः प्रचलित हैं। शंकराचार्य का अनुयायी कोई वेदान्ती ऐसी बातों की चर्चा नहीं करेगा।

1. शरशय्या पर भीष्म ने जो उपदेश दिए हैं उनमें एक यह भी है कि जो अपने को अच्छा लगे उसे दूसरों के लिए भी अच्छा समझे और जो अपने को अप्रिय है उसे दूसरों के लिए भी अप्रिय समझे। जैगीषव्य ने इसी प्रकार देवल से कहा था कि 'जो उनके ऊपर आघात करते हैं उनसे वे (मनीषी) बदला लेने की भी इच्छा नहीं रखते।'

गद्दी वहीं स्थापित हुई। रोमक सम्प्रदाय के ईसाई सब बातों में पुरानी पद्धति के अनुयायी हैं। उनके यहाँ जो प्रार्थना होती है वह लैटिन भाषा में। उनके गिरजों में ईसा की माता मरियम तथा अनेक महात्माओं या सन्तों की मूर्तियाँ होती हैं। 1200 वर्ष तक योरप का आध्यात्मिक शासन इसी सम्प्रदाय के हाथ में रहा। अब भी इसको मानने वाले संसार में बहुत अधिक हैं। 50 करोड़ ईसाइयों में से 25 करोड़ रोमक मत के हैं। सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि इतने दिनों के बीच यह एशिया के प्राचीन धर्मों पर कुछ भी प्रभाव न डाल सका। अब भी वहाँ साढ़े पचास करोड़ बौद्ध और बीस बाईस करोड़ हिन्दू वर्तमान हैं।

चौथी शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक योरप में रोमक मत का एकाधिपत्य रहा। उस बीच में घोर अन्धकार छाया रहा। पोपों के अत्याचार से स्वतन्त्र विचार का अवरोध रहा, ज्ञान विज्ञान का मार्ग बन्द रहा, अन्याय और व्यभिचार का प्रचार रहा। ईसा के पूर्व यूनान और रोम आदि की प्राचीन सभ्यता के प्रभाव से जो जातियाँ ज्ञान के उन्नत सोपान पर आरूढ़ हो चुकी थीं वे ईसाई मत के कुप्रभाव के कारण एकदम पतित होकर बर्बरावस्था को प्राप्त हो गईं। विश्वास को बुद्धि पर प्रधानता दी गई। बुद्धि के द्वारा तत्त्वचिन्तन और वैज्ञानिक अनुसंधान का कुछ महत्त्व ही न रह गया क्योंकि सब लोग ईसाई धर्माचार्यों के उपदेशानुसार कल्पित परलोक की तैयारी ही में हैरान रहने लगे।

सन् 325 में पोप कांस्टेंटाइन की अध्यक्षता में निकेआ के धर्मसंघ की बैठक हुई थी। तभी से प्राचीन काल के दर्शन और साहित्य पर प्रहार आरम्भ हुआ। उनका प्रचार बन्द किया गया। यहाँ तक कि बहुत से ग्रन्थ नष्ट कर दिए गए। स्वतन्त्र दर्शन और विज्ञान की चर्चा ही उठ गई। जो कोई सृष्टिविज्ञान आदि के सम्बन्ध में अपना स्वतन्त्र विचार प्रगट करता था वह जीता जला दिया जाता था। इस प्रकार 1200 वर्ष तक परम शक्तिशाली पोपों के अत्याचार से सारा योरप अज्ञान के बन्धन में पड़ा रहा।

ईसाई धर्म के जो मुख्य तत्त्व हैं वे सदाचार सम्बन्धी हैं। उनकी रक्षा लोकरक्षा के लिए परम आवश्यक है। अतः यह बात नहीं है कि ईसाई मत ने ही पहले पहल उन तत्त्वों का उद्घाटन किया, ईसा के पहले किसी को उनका ज्ञान नहीं था। ईसा के कई हजार वर्ष पहले से धर्म के वे आदर्श भारतीय आर्यों, पारसियों, चीनियों, मिस्रियों, यूनानियों तथा और दूसरी सभ्यताप्राप्त जातियों के बीच पूर्णरूप से प्रतिष्ठित थे। इन प्राचीन जातियों के बीच उनकी स्थापना अत्यन्त दृढ़ नींव पर थी। पोपों के आडम्बर के आगे धर्म के वास्तव अंग छिप गए। स्वर्गप्राप्ति कराने का ठेका होने लगा, मुक्ति बिकने लगी। अधर्मियों अर्थात् पोप की इच्छा के प्रतिकूल चूँ करनेवालों के लिए स्थान स्थान पर विशेष न्यायालय (या अन्यायालय) खुल गए। सन् 1481 और 1498 के बीच अकेले स्पेन में 8000 मनुष्य जीते जलाए गए, 900 मनुष्यों

की जायदाद जब्त की गई। इसी प्रकार हालैंड में पाँचवें चार्ल्स के राजत्वकाल में पादरियों की रक्तपिपासा यहाँ तक बढ़ी कि 500 मनुष्यों के प्राण अनेक प्रकार की दुर्दशा से लिए गए। एक ओर तो निरपराध प्राणी घोर यन्त्रणा से हाहाकार करते थे दूसरी ओर सारे योरप का धन धर्मदंड के रूप में पोप के खजाने में जाता था और अनेक प्रकार के उपभोगों से ईसा के अनुयायी धर्माचार्यों की आत्माएँ तुष्ट होती थीं। उपदंसग्रस्त पोप दसवें लिओ ने एक बार मौज में आकर कह ही डाला कि 'ये सब अधिकार और उपभोग हमलोगों को ईसा की कहानी की बदौलत ही प्राप्त हैं।'

रोमक मत के प्रताप से समाज की दशा एकदम बिगड़ गई, उसकी सारी व्यवस्था नष्ट हो गई। अज्ञान, दारिद्र्य और अन्धविश्वास के साथ साथ व्यभिचार खूब बढ़ा। क्वारे रहने का जो नियम चलाया गया उससे व्यभिचार में पूरी सुगमता हो गई। एक एक मठ में हजारों क्वारे बाबा और क्वारी संन्यासिनें रहने लगीं। अनेक प्रकार के छल, पाखंड और मिथ्या प्रवादों के द्वारा व्यभिचार लीला होने लगी। अनीश्वरवादी ईश्वर के न होने के जो अनेक प्रमाण दिया करते हैं उनमें यह भूल जाते हैं कि 1200 वर्ष तक 'ईसा के नायब' ने जो अनेक प्रकार के घृणित अत्याचार प्रजा पर किए वे सब ईश्वर के नाम पर ही। मुहम्मद के अनुयायियों ने जो इतने प्राणियों की हत्या की वह अल्लाह के नाम पर ही।

## संस्कारप्राप्त ईसाई मत

सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ के साथ ही योरप में एक नया युग उपस्थित हुआ। जरमनी के लूथर ने ईसाई मत का संस्कार किया। पोप द्वारा प्रचारित व्यवस्था का खंडन किया गया। उसका एकाधिपत्य अस्वीकृत किया गया। छापे के प्रचार और देशों के संसर्ग से विद्या की चर्चा पहले ही से हो चली थी। अतः संशोधित मत के प्रचार में बड़ी सुगमता हुई। जो पोपों के अत्याचार से दबे हुए थे वे इस नए सम्प्रदाय का सहारा पाकर बहुत प्रबल हुए। संस्कृत सम्प्रदाय दिन दिन बढ़ता गया। लोगों की बुद्धि, जो इतने दिनों तक कड़े बन्धन में पड़ी थी, कुछ कुछ मुक्त हो कर इधर उधर दौड़ने लगी। सृष्टि के वास्तव तत्त्वों की ओर ध्यान जाने लगा। लूथर ने पोपों के पाखंड का तो खंडन किया पर जिस घोर अन्धविश्वास का सहारा लेकर ईसाई मत खड़ा हुआ था उससे वह अपने को मुक्त नहीं कर सका था। वह जिन्दगी भर बाइबिल की बातों को ईश्वरवाक्य कहता रहा। ईसा का कब्र से जी उठना, मनुष्य जाति का शापवश मूल ही से पापग्रस्त होना, संसार में होनेवाली छोटी से छोटी बात का पूर्व ही से निश्चित होना, केवल विश्वास द्वारा ही धर्मसम्बन्धी बातों का समाधान तथा इसी प्रकार की ओर दूसरी कल्पनाओं का वह कट्टर समर्थक था। कोपरनिकस के भूभ्रमणसिद्धान्त को उसने मूर्खता बतलाया क्योंकि बाइबिल में जोशुवा ने सूर्य को ठहर जाने के लिए कहा है पृथ्वी को नहीं। सुधारे हुए ईसाई मत के अनुयायियों

का कट्टरपन भी कुछ कम नहीं था। उन्हीं में से एक ने एक डॉक्टर को इसलिए जलवा दिया कि उसने ईसाई मत की त्रिदेव कल्पना पर अविश्वास प्रकट किया था। पर इन दोषों के रहते हुए भी ईसाई मत के संस्कार द्वारा बड़ा काम हुआ। पोपों का भय हट जाने से लोगों की बुद्धि बन्धनमुक्त हो गई और अनेक विषयों पर स्वतन्त्र विचार प्रकट किए जाने लगे। दर्शन और विज्ञान की उन्नति का रास्ता खुल गया और थोड़े ही दिनों में उस नवीन युग का आरम्भ हो गया जो 'विज्ञानयुग, कहलाता है।

## आजकल का ईसाई मत

अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ ही से विद्या के विविध अंगों की उन्नति आरम्भ हुई। प्रकृति के अनेक विभागों की छानबीन में लोग अग्रसर हुए। उन्नीसवीं शताब्दी ने तो ज्ञान के अनेक नए क्षेत्र खोल दिए। अंगविच्छेद शास्त्र की सहायता से भिन्न भिन्न जन्तुओं की शरीररचना का मिलान किया गया। भिन्न भिन्न जीवों की उत्पत्ति किस क्रम से हुई इसके निर्धारित हो जाने पर मनुष्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त स्थिर किया गया। सन् 1838 में शरीरसंयोजक घटकों का पता लग जाने से यह प्रत्यक्ष हो गया कि सब प्राणियों के शरीर इन्हीं घटकों या जीवाणुओं की व्यवस्थित योजना से बने हैं। भौतिक कारणों से ही पृथ्वी की उत्पत्ति सिद्ध हो गई। द्रव्य और शक्ति की अक्षरता के सिद्धान्त द्वारा सृष्टि के समस्त व्यापारों की व्याख्या की गई। लोकों की उत्पत्ति और लय का व्यापार नित्य स्थिर किया गया। अन्त में डारविन ने अपने विकास सिद्धान्त द्वारा सजीव सृष्टि में होनेवाले व्यापारों का समाधान भौतिक रीति से करके इन सबका एक में समाहार कर दिया।

अब देखना चाहिए कि इस विज्ञान की इस अपूर्व उन्नति के आगे आधुनिक ईसाई मत की स्थिति क्या है? ईसाई मत की बातें तो वैज्ञानिक अनुसंधान से सर्वथा असंगत और निःसार प्रमाणित हुईं। इससे रोमक सम्प्रदाय ने तो हताश होकर अपना कट्टरपन और भी अधिक बढ़ा दिया। वह अब तक अपने अन्धविश्वासों का समर्थन तथा दिन दिन बढ़ते हुए विज्ञान का विरोध तन मन से करता चला आ रहा है। रहा संस्कारप्राप्त (प्रोटेस्टांट) उदार ईसाई मत, उसने सर्वात्मवाद या अद्वैतवाद की शरण ली और विरोधों के परिहार की नाना युक्तियाँ ढूँढ़ने में लगा। वैज्ञानिक अन्वेषणों द्वारा जो प्राकृतिक नियम स्थिर हुए और उन नियमों को लेकर जो दार्शनिक तत्त्व निरूपित हुए, उनके साथ वे ऐसी परिमार्जित धर्मभावना का अविरोध दिखाने में तत्पर हुए जिसमें अन्य मतों से भिन्न कोई विशेष लक्षण ही न रह गया। सामान्य धर्म जिसे हम ईसाई या इसलाम किसी एक नाम से नहीं पुकार सकते; ही को लेकर यह भी ठीक वह भी ठीक वाला वितंडावाद कुछ चल सकता था अतः उसी को उन्होंने ग्रहण किया। पर यह बात लोगों पर अच्छी तरह खुल गई कि जिसे हम ईसाई मत

कहते हैं उसका प्रत्येक आधार खंडित हो गया, अब केवल उसकी सदाचार सम्बन्धिनी बातों को ही लोग स्वीकार कर सकते हैं। लोगों के विचारों में तो इस प्रकार का परिवर्तन हुआ पर आधुनिक राज्यों में ईसाई मत के ऊपरी आडम्बर ज्यों के त्यों बने हुए हैं जिसके कारण शिक्षितों के बीच ईसाई मत मिथ्याडंबर के रूप में पाया जाता है। अब सभ्य देशों में ईसाई मत एक कृत्रिम और दिखाऊ रीति रस्म के ही रूप में रह गया है। भीतर भीतर तो आधुनिक विद्यालयों के प्रभाव से लोगों के विचार बिलकुल बदल गए हैं पर ऊपर से दिखाने के लिए वे अपने को ईसाई मत के अनुयायी प्रकट करते हैं। यह पाखंड या कपटधर्म समाज के लिए अनिष्टकर है। यह मिथ्या व्यवहार बहुत दिनों तक चल नहीं सकता।

इधर यह कृत्रिम ईसाई मत इतना ढीला है कि इससे ज्ञानार्जन में किसी प्रकार की बाधा अब नहीं पड़ती है। उधर रोमक सम्प्रदाय ने ज्ञान का जो खुल्लमखुल्ला विरोध आरम्भ किया उससे शिक्षितों में बड़ी खलबली मची और उन पर उसका कुछ भी प्रभाव न रह गया। सन् 1854 में पोप ने मरियम की निर्दोष भावना के सिद्धान्त[1] की घोषणा की। 1864 में पोप की ओर से जो धर्माज्ञा निकली उसमें जितने वैज्ञानिक और दार्शनिक सिद्धान्त निकले थे उन सबकी निन्दा की गई और उनका मानना धार्मिकों के लिए पाप ठहराया गया। 6 वर्ष पीछे पोप ने मूर्खता की हद कर दी और यह घोषणा प्रचलित की कि पोप दोष और भ्रम से परे है, उसके कार्य में कभी दोष और भ्रम हो ही नहीं सकता। वर्तमान समय में ऐसी ऐसी घोषणाओं का शिक्षित समुदाय पर क्या प्रभाव पड़ सकता है यह समझने की बात है।

अब रही अप्राकृतिक रीति से कुमारी मरियम के गर्भ से ईसा के जन्मवाली कथा। जो भिन्न भिन्न मतों की पौराणिक कथाओं से परिचित हैं वे अच्छी तरह जानते हैं कि इस प्रकार की जन्मकथाएँ ईसा के जन्म से बहुत पहले से प्राचीन जातियों में प्रचलित थीं। हिन्दूधर्म, बौद्धधर्म, पारसीधर्म, सबमें ऐसी कथाएँ पाई जाती हैं। जब किसी राजा या बड़े आदमी की कोई कन्या कुमारिकावस्था में ही गर्भवती हो जाती थी तब इस बात का प्रचार किया जाता था कि उसे किसी देवता, जैसे सूर्य, इन्द्र आदि से गर्भ रहा। ईसाइयों ने भी इसी प्रकार की कथा गढ़ी और ईसा की उत्पत्ति पवित्रात्मा से बतलाने लगे। इस प्रकार के 'देवपुत्र' प्रायः बड़े प्रतापी, यशस्वी और बुद्धिमान हुआ करते थे। यवन (यूनानी) और रोमक (रोमन) लोगों की प्राचीन कथाओं में इस प्रकार के देवपुत्रों के बहुत से वृत्तान्त हैं।

---

1. ईसाइयों के सिद्धान्त के अनुसार पाप आदि ही से मनुष्य जाति के साथ लगा हुआ है। प्रत्येक मनुष्य पाप के साथ उत्पन्न होता है। ईसा की माता मरियम ही पाप से सर्वथा निर्लिप्त उत्पन्न हुईं। युक्तिपूर्वक विचार किया जाय तो पाप के साथ उत्पन्न होना और पाप से सर्वथा निर्लिप्त होना ये दोनों बातें कपोलकल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

पवित्रात्मा द्वारा कुमारी मरियम के गर्भाधान की जो कथा है उस पर थोड़ा विचार आवश्यक है। बाइबिल की केवल दो पोथियों—मत्ती और लूक में इस कथा का उल्लेख पाया जाता है। पर इन दोनों पोथियों में शेष पोथियों के अनुकूल यह भी लिखा है कि मरियम की मँगनी यूसफ नाम के बढ़ई के साथ हो चुकी थी पर संयोग के पूर्व ही पवित्रात्मा द्वारा मरियम गर्भवती हो गई। पर जैसा पहले कहा जा चुका है ये चारों पोथियाँ ढेर पोथियों में से अधिक प्रामाणिक समझी जाकर चुन ली गई थीं। शेष पोथियाँ अत्यन्त अधिक असम्बद्ध बातों और असम्भव वृत्तान्तों के कारण प्रक्षिप्त और अग्राह्य मानी गईं, जैसे; जेम्स, टामस और निकोडेमस रचित सुसमाचार। पर उनमें कई ऐसी हैं जो चार गृहीत सुसमाचारों से प्राचीनता में कम नहीं हैं। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से जैसे ये चार सुसमाचार वैसी ही वे अगृहीत पोथियाँ जिन्हें प्रक्षिप्त बतलाकर लोगों ने अलग कर दिया है। उन अगृहीत पुस्तकों में से निकोडेमस रचित सुसमाचार है जिसका ईसा से 100-150 वर्ष बाद लिखा जाना विद्वानों ने निश्चित किया है। उसमें लिखा है कि यहूदियों ने ईसा पर व्यभिचार से उत्पन्न होने का दोष लगाया था। इस बात का समर्थन सेल्सस नामक एक यूनानी लेखक ने भी किया है जो ईसा की दूसरी शताब्दी में अर्थात् निकोडेमसकी पोथी लिखे जाने के थोड़े ही आगे पीछे हुआ था। उसने लिखा है कि ईसा की माता को यूसफ नाम से बढ़ई ने तिलाक देकर इसलिए छोड़ दिया था कि उस पर व्यभिचार का अभियोग लगाया गया था और पांथरास नामक एक सैनिक से उसे एक लड़का पैदा हुआ था। यह कथा यहूदियों के यहाँ भी पाई जाती है कि रोमन सेना के एक अफसर और मरियम के अनुचित सम्बन्ध से ईसा की उत्पत्ति हुई।

पर बाइबिलसम्बन्धी अनुसंधान करनेवाले अधिकांश विद्वानों ने ईसा को उस बढ़ई का पुत्र मानना ही अधिक उपयुक्त ठहराया है। कई देशों में यूसफ और मरियम के विवाह के पूर्व की प्रेमलीला बड़ी भावभक्ति के साथ कहीसुनी जाती है। पवित्रात्मा वाली अप्राकृतिक कथा का अब विद्वानों में आदर नहीं रहा है। अतः जब इस अप्राकृतिक कल्पना का परित्याग हो ही रहा है तब इसका पता लगा तो क्या, न लगा तो क्या कि ईसा का बाप यथार्थ में था कौन। बाइबिल में औदार्य, दया, परोपकार और प्रेमभाव आदि के जो धर्मोपदेश हैं वे इन अप्राकृतिक और असंगत कल्पनाओं के आधार के बिना भी ज्यों के त्यों मान्य बने रह सकते हैं। यह मानने की आवश्यकता नहीं है कि वे ईश्वर द्वारा कहे गए या आभास के रूप में प्रकट किए गए। इस प्रकार की बातें विज्ञान द्वारा निश्चित सिद्धान्तों के सर्वथा विरुद्ध पड़ती हैं।

अठारहवाँ प्रकरण

# ज्ञानतत्त्वोपासना या तत्त्वाद्वैतदृष्टि से उपासनाकाण्ड

आजकल के बहुत से वैज्ञानिक और दार्शनिक यह कहने लगे हैं कि मत या मजहब, जैसे ईसाई, इसलाम आदि की अब कोई आवश्यकता नहीं रह गई। उनके इस कथन का अभिप्राय यह है कि विज्ञान की अपूर्व उन्नति से जगद्विकास के जो नाना रहस्य खुल पड़े हैं उनसे केवल हमारी बुद्धि ही तुष्ट न होगी बल्कि भक्ति, श्रद्धा, प्रेम आदि वृत्तियाँ भी जाग्रत होंगी। सारांश यह कि यदि हमें सम्यक् तत्त्वदृष्टि प्राप्त हो जाय तो उसमें ज्ञानकांड और उपासनाकांड दोनों का मेल हो जाता है। पर बड़े दुःख की बात है कि इस प्रकार की तत्त्वदृष्टि बहुत ही कम लोगों को प्राप्त होती है। अधिकांश शिक्षितों की यही धारणा रहती है कि मतविश्वास एक और ही चीज है जिसका ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं। वे कहते हैं कि मजहब में अक्ल का दखल नहीं। पर अब ऐसा कहना ठीक नहीं। विज्ञान की आधुनिक उन्नति से हमें जो नए नए तर्क और नई नई युक्तियाँ प्राप्त हुई हैं वे तो हमारे मन में अवश्य रहेंगी पर उनके साथ ही साथ हमारे अन्तःकरण को श्रद्धा, भक्ति आदि उदात्त वृत्तियों के लिए यथेष्ट सामग्री भी प्राप्त होगी, अतः हमारी भावुकता नें किसी प्रकार की कमी न होने पाएगी। अन्तर इतना ही होगा कि हमारी श्रद्धा, भक्ति आदि वेगवती वृत्तियों के लिए, हमारी भावुकता के लिए, जो सामग्री अप्राकृतिक और असत्य कल्पनाओं के द्वारा उपस्थित की गई थी उनके स्थान पर अब सत्य वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा प्राप्त सामग्री होगी।

आधुनिक विज्ञान ने अन्धविश्वास की बातों का खंडन तो कर डाला; अब उसको चाहिए कि वह मनुष्य की श्रद्धाभक्ति के लिए एक भाव्य ज्ञानमन्दिर खड़ा करे जिसमें तत्त्वदृष्टि प्राप्त करके लोग सत्य, सत्व और रजस् (सौन्दर्य) इन तीन देवताओं की उपासना करें। इस दिव्य भाव की प्राप्ति के लिए यह देख लेना आवश्यक है कि प्रचलित मतमतान्तरों की कौन कौन सी बातें हमें रखनी होंगी और कौन छोड़नी होंगी। हजारों वर्षों से जिन मतों का अधिकार मनुष्य जाति के हृदय पर चला आ

रहा है उनकी शील और सदाचार सम्बन्धिनी बातों को हम नहीं छोड़ सकते, उनका महत्त्व हम कभी अस्वीकार नहीं कर सकते। अतः हमें चाहिए कि इन मतों में जो सदाचार तत्त्व है उसी पर अपना आग्रह प्रकट करें। उसी पर दृष्टि रखने के लिए भिन्न भिन्न मतों और सम्प्रदायों से अनुरोध करें। इसी रीति का अवलम्बन करने से आधुनिक ज्ञानमूलक धर्म की स्थापना सुगम होगी। हमें अपने धार्मिक जीवन में विप्लव नहीं उपस्थित करना है, संस्कार करना है। जिस प्रकार प्राचीन सभ्य जातियाँ आदर्श के लिए भिन्न भिन्न सद्गुणों की मूर्त भावना करती थीं उसी प्रकार हमें भी चाहिए कि हम सत्य, सत्व और रजस् को देवरूप में ग्रहण करें।

1. **सत्य**–पहले सत्य को लीजिए। जो कुछ पीछे कहा जा चुका है उससे यह दृढ़ हो गया कि विशुद्ध सत्य प्रकृति ही के भीतर साधनापूर्वक ढूँढ़ने से मिल सकता है और इस साधना के दो ही मार्ग हैं, सूक्ष्म अन्वीक्षण और चिन्तन। पहले प्रकृति में जो व्यापार वास्तव में होते हैं उनका एक एक करके पता लगाना चाहिए फिर उनके कारणों का खूब मनन करना चाहिए। इसी रीति से हम शुद्ध बुद्धि के बल से उस सत्य ज्ञान या विज्ञान तक पहुँच सकते हैं जो मनुष्य की सब से बड़ी सम्पत्ति है। हमें 'ईश्वराभास', 'दैवी प्रेरणा' आदि बातों का एकदम परित्याग करना होगा क्योंकि उनका मतलब यह है कि ज्ञानप्राप्ति के जो दो मार्ग ऊपर बतलाए गए हैं केवल उन्हीं से नहीं, बल्कि बिना बुद्धि के प्रयास के, आसमान से भी ज्ञान टपक सकता है[1]। अब यह बात पूर्णतया स्थिर हो गई है कि ज्ञान अप्राकृतिक या अलौकिक रीति से न कभी किसी को प्राप्त हुआ है और न हो सकता है। प्रकृति का मन्दिर ही सत्यदेव का निवासस्थान है। वे हरेभरे जंगलों, नीलाभ समुद्रों और तुषारमंडित गिरिशृंगों में रहते हैं; मन्दिरों, मसजिदों और गिरिजों के अँधेरे कोने में नहीं। सत्य और ज्ञानरूप देवताओं की प्राप्ति के लिए हमें प्रकृति से प्रेम करना चाहिए और उसके नियमों का मनन करना चाहिए। ज्ञानतत्त्वोपासना के लिए हमें अपार और अनन्त नक्षत्रों और लोकों की दूरबीनों द्वारा, और सूक्ष्म घटक या अणुजगत् की सूक्ष्मदर्शक यन्त्रों द्वारा छानबीन करनी होगी; कर्मकांड के निरर्थक विधानों तथा पूजा की लम्बी चौड़ी पद्धतियों की कोई आवश्यकता न होगी। सत्यदेव के प्रसाद से हमें ज्ञानवृक्ष के विशद फल प्राप्त होंगे जिनसे हमारी दृष्टि स्वच्छ हो जायगी और हम जगत् के नाना रहस्यों का आनन्द ले सकेंगे।

2. **सत्व**–सावित्कशीलता या सत्व के सम्बन्ध में हमें उतना उलटफेर करने की आवश्यकता न होगी जितना सत्य के सम्बन्ध में करना पड़ेगा। सत्य की स्थापना के लिए हमें 'ईश्वराभास', 'आकाशवाणी', 'इलहाम' इत्यादि को कपोलकल्पना कहकर

---

1. किसी देवी देवता के प्रसाद से किसी मूर्ख का एकबारगी भारी कवि या पंडित हो जाना इसी प्रकार की बात है।

एकदम किनारे कर देना होगा, पर सद्गुण या सात्विकशीलता के सम्बन्ध में प्रचलित मतों से हमारा कोई विरोध न होगा। ईसाई धर्म को ही लीजिए। उसमें वदान्यता, उदारता, दया, दैन्य और परोपकार के जो भाव हैं वे सब को समान रूप से मान्य हैं। हमारे ज्ञानमूलक धर्म में भी उनका वही स्थान रहेगा। सदाचार के वे तत्त्व संसार के सब सभ्य मतों में हैं, अकेले ईसाई मत में नहीं। अस्तु, ईसाई लोग अन्य मतावलम्बियों को अपने मत में लाने का क्यों प्रयत्न किया करते हैं समझ में नहीं आता। एक विषय में ईसाई मत एकांगदर्शी है[1]। कर्माकर्म की व्यवस्था में, सदाचार के नियम में, यह मत परार्थ ही पर ज्यादा जोर देता है, स्वार्थ का एकदम निषेध करता है। हमारा ज्ञानमूलक धर्म दोनों पर समान दृष्टि रक्खेगा। वह स्वोपकार और परोपकार दोनों का पलड़ा ठीक रखने का उपदेश देता है।

**3. रजस्**–जिससे हमारी प्रकृति का अनुरंजन हो उसे रजस् या सौन्दर्य कहना चाहिए। सौन्दर्य के सम्बन्ध में हमारे तत्त्वाद्वैत धर्म का वैराग्यप्रधान मतों से बड़ा भारी विरोध है। ये मत सांसारिक जीवन को सर्वथा असार समझते हैं, उसे केवल परलोक की तैयारी के लिए समझते हैं। अतः मनुष्य के जीवन की जो बातें हैं, प्रकृति, विज्ञान और कलाकौशल में जो कुछ सौन्दर्य हम देखते हैं, वह सब उन मतों की दृष्टि में निरर्थक है। सच्चे धार्मिक को इससे दूर रहना चाहिए, उसे केवल परलोक की चिन्ता में रहना चाहिए। प्रकृति से घृणा, उसकी नाना शोभाओं से विरक्ति, सुन्दर कलाओं से कुरुचि ये सब धर्म के अंग हैं। ये अंग यहाँ तक पूर्णता को पहुँचाए जाते हैं कि लोग स्ववर्गियों से अलग जाकर रहते हैं, शरीर को नाना प्रकार के क्लेश देते हैं, मढ़ियों और कुटियों में पड़े पड़े अपना समय नाम जपने और भजन गाने में बिताते हैं।

जिस उद्देश्य से प्रकृति का यह तिरस्कार किया गया वह सिद्ध भी नहीं हुआ। इतिहास इस बात का साक्षी है। संन्यास आश्रम इसलिए निकाला गया था कि कुछ लोग विषय वासनाओं से निर्लिप्त रहकर यम, नियम और पवित्रता के आदर्श बनेंगे। पर हुआ इसका उलटा। मढ़ियों के स्थान पर साधुओं के बड़े बड़े मठ खड़े हो गए जिनमें ऐसी ऐसी व्यभिचार लीलाएँ होने लगीं जिनका बेचारे गृहस्थ अनुमान तक नहीं कर सकते। बड़े बड़े मठधारी महन्तों के धनवैभव और भोगविलास को देख बड़े बड़े राजा दंग रहने लगे। लोग कहेंगे कि ईसाई, जैन, बौद्ध, शैव आदि मत वैराग्यप्रधान हैं, पर उनके द्वारा कलाकौशल की कितनी उन्नति हुई है, उनके अनुयायियों ने कैसे सुन्दर सुन्दर मन्दिर, गिरजे आदि बनवाए हैं। यह ठीक है, पर उन मतों की शिक्षा से सुन्दर रचनाओं से क्या सम्बन्ध? इनका निर्माण तो उनकी शिक्षाओं से स्वतन्त्र हुआ है। कहाँ उनकी शिक्षा कि इस संसार के आमोद प्रमोद से दूर रहो, इस जीवन

1. जैन आदि अन्य वैराग्यप्रधान धर्म भी इसी प्रकार के कहे जा सकते हैं।

के भौतिक सौन्दर्य पर मत भूलो, स्त्रियों के प्रेमजाल में मत फँसो, धन, परिजन आदि सबको माया समझो, कहाँ मन्दिरों और गिरजों का ठाटबाट, महन्तों और धर्माचार्यों की धूमधाम की सवारियाँ! कैथलिक सम्प्रदाय के गिरजों तथा और दूसरे मतों के मन्दिरों की चित्रकारियाँ होती कैसी हैं? इन गिरजों को जाकर देखिए तो उनमें ईसा, मरियम और महात्माओं की अलौकिक भावनापूर्ण प्रतिमाएँ मिलेंगी, उनके अप्राकृतिक चरित्र अंकित पाए जायँगे। मन्दिरों को देखिए तो उनमें कहीं बौद्ध जातकों की कल्पित कहानियाँ चित्रित मिलेंगी, कहीं कई सिरपैर वाले देवताओं की मूर्तियाँ सामने आयँगी। इन चित्रकारियों का प्रभाव भी जनता पर विलक्षण पड़ता आया है। जनसाधारण के चित्त पर यह संस्कार बराबर जमता रहा कि जिस रूप के देवी देवता हैं, वैसे कभी रहे हैं और जो अलौकिक बातें चित्रकारियों में दिखाई गई हैं वे वास्तव में कभी हुई हैं।

मतों और सम्प्रदायों के आश्रय से कलाकौशल को जो रूप प्राप्त हुआ है उससे कलाकौशल की वह नई प्रवृत्ति जो आजकल विज्ञान के सम्बन्ध से जाग्रत हुई है, सर्वथा विरुद्ध है। विज्ञान द्वारा प्रकृति के क्षेत्र में हमारी दृष्टि का जो विस्तार बढ़ गया है और हमें जीवों और पदार्थों के असंख्य रूपों का जो पता लगा है उससे हमारे अन्तःकरण में सौन्दर्य के नए नए भावों का उदय हुआ और चित्रकारी तथा शिल्पविद्या को नई उत्तेजना प्राप्त हुई है। पृथ्वी के नाना प्रदेशों, द्वीपों और खंडों की जो छानबीन हुई है उससे नए नए प्रकार के असंख्य जीव, विशेषतः छोटे जीव जिनकी ओर पहले किसी का ध्यान तक नहीं गया था, मिले हैं जिनके मनोहर रूप रंग को लेकर बहुत सुन्दर चित्रकारी और कारीगरी हो सकती है। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र ने हमें सूक्ष्म से सूक्ष्म कीटाणुओं की; विशेषतः जल कीटाणुओं की एक नई दुनिया दिखा दी है। सहस्रों प्रकार के चित्रविचित्र समुद्री जीव, मूँगे, छत्रक, शुक्तियाँ, केकड़े इत्यादि हमें देखने को मिले हैं जिनके सौन्दर्य और आकृतिभेद के सामने मनुष्यों की कल्पना झख मारे। जन्तुविज्ञान और उद्भिद्विज्ञान की कोई बड़ी सचित्र पुस्तक खोलकर देखिए, इस बात का निश्चय हो जायगा।

आधुनिक विज्ञान ने हमें सूक्ष्म जगत् की ही सैर नहीं कराई है बल्कि प्रकृति के विशाल पदार्थों का भी अधिक परिचय कराया है। एक समय था जब हिमालय ऐसे पर्वतों और पर्वताकार तरंगवाले समुद्रों को लोग भय की दृष्टि से देखते थे। अब विज्ञान ने ऐसे सुबीते कर दिए हैं कि साधारण वित्त के मनुष्य भी ऊँचे ऊँचे पर्वतों पर जाकर हिमप्रपातों के निकट महीनों रह सकते हैं और वहाँ के विशाल और मनोहर दृश्यों का आनन्द ले सकते हैं; तथा समुद्र के अपार वक्षस्थल पर निर्भय विचरण करते हुए नीलांबुराशि की क्रीड़ा का अवलोकन कर सकते हैं। आजकल जिस प्रकार प्रकृति के नाना रहस्यों के परिज्ञान के साधन सुलभ हो गए हैं उसी प्रकार उसके असीम सौन्दर्य के उपभोग के भी। इसी अवस्था में हमारे अन्तःकरण

की भिन्न भिन्न वृत्तियाँ परिपुष्ट हो सकती हैं और तत्त्वाद्वैत धर्म का भाव दृढ़ हो सकता है।

वर्तमान काल की चित्रकारी को देखने से इस बात का अच्छा प्रमाण मिल सकता है। पुराने समय में जो चित्र बनते थे वे अधिकतर मनुष्य या कुछ थोड़े से जन्तुओं के ही होते थे। अब वन, नदी, पर्वत, समुद्रतट आदि नाना प्राकृतिक पदार्थों के सुन्दर सुन्दर चित्र देखने को मिलते हैं। न जाने कितने मासिकपत्र चित्रों के ही निकलते हैं जिनमें अनेक प्रकार के प्राकृतिक दृश्य अंकित रहते हैं। प्राकृतिक दृश्यांकन में आजकल बड़ी उन्नति हुई है। इन दृश्यों के द्वारा प्रकृति से हमारा प्रेम बढ़ता है और उसके रहस्यों के जानने की उत्कंठा उत्पन्न होती है। इस प्रकार के चित्र शिक्षा के अच्छे साधन हैं। बच्चों में इनकी ओर अभिरुचि उत्पन्न करनी चाहिए। प्रकृति अनन्त सौन्दर्य का भांडार है। उसके सौन्दर्य का आनन्द, उसके अविचल और नित्य नियमों से सम्बद्ध होने के कारण, ज्ञानविज्ञान का उत्तेजक है। इस आनन्दानुभव की उत्कंठा द्वारा ज्ञान की ओर सच्ची प्रवृत्ति होती है। यही प्रवृत्ति मार्ग ज्ञान का सच्चा मार्ग है। जिस विस्मय के साथ हम तारकित गगनमंडल को और एक जलबिन्दु के भीतर की सजीव सृष्टि को देखते हैं, जिस स्तब्धता के साथ द्रव्य की नाना गतियों में उसकी शक्ति की क्रीड़ा का परिचय पाते हैं, जिस पूज्य भाव से 'परमतत्त्व की अक्षरता' के नियम की विश्वव्यापकता का अनुभव करते हैं, वह विस्मय, वह स्तब्धता और वह पूज्यभाव सब के सब हमारी धर्मभावना के ही अंग हैं। ये ही धर्म के सच्चे आवेश हैं। इन सच्चे आवेशों द्वारा प्रेरित धर्म हमारा प्रकृत धर्म है।

प्रकृत सत्य का बोध और प्रकृत सौन्दर्य का उपभोग दोनों हमारे तत्त्वाद्वैत धर्म के अंग हैं। ईसाई आदि वैराग्यप्रधान मतों से इन दोनों अंगों का विरोध प्रत्यक्ष है। ये दोनों अंग ऐहिक हैं, इसी लोक से सम्बन्ध रखनेवाले हैं। पर ईसाई आदि मत सदा परलोक ही की ओर ध्यान रखने का उपदेश देते हैं। तत्त्वाद्वैत धर्म बतलाता है कि हम लोग इस पृथ्वी पर के मर्त्य जीव हैं जो कुछ काल तक इसके नाना पदार्थों का उपभोग कर सकते हैं, इसके सौन्दर्य का आनन्द ले सकते हैं और इसकी अद्भुत शक्तियों की क्रीड़ा का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ईसाई आदि मत कहते हैं कि यह संसार दुःख का समुद्र है जिसमें हम अल्प काल तक के लिए इस कारण डाल दिए गए हैं कि नाना प्रकार के क्लेशों द्वारा अपनी आत्माओं को शुद्ध करें जिससे परलोक में अनन्त सुख के अधिकारी हों। यह परलोक कहाँ है? इसका सुख किस प्रकार का है? यह सब ये मत कुछ भी नहीं बतलाते। जब तक लोग पृथ्वी के ऊपर असंख्य नक्षत्रों से दीप्त नीलमंडल को ही स्वर्गधाम समझते थे, तबतक तो उनकी कल्पना में यह बात किसी प्रकार आ सकती थी कि वहाँ देवता लोग नित्य विहार किया करते हैं। पर अब ये सब देवता और अमर जीव बिना ठौरठिकाने के हो गए हैं; क्योंकि अब यह बात ज्योतिर्विज्ञान द्वारा अच्छी तरह स्पष्ट हो गई है कि इस नीलमंडल

में उस ईथर या आकाशद्रव्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है जिसमें असंख्य लोकपिंड बनते और बिगड़ते हुए चक्कर मार रहे हैं।

वे स्थान जहाँ लोग अपनी धर्मभावनाओं की पुष्टि और ईश्वर या देवता की उपासना के लिए जाते हैं अत्यन्त पवित्र माने जाते हैं और 'मन्दिर', 'मसजिद' या 'गिरजे' कहलाते हैं। उनमें जाकर लोग जीवन के झंझट और हाय हाय को भूल एक उच्च भावमय जगत् में प्रवेश करके शान्ति पाते हैं। वर्तमान शताब्दी के 'कला और विज्ञानसम्पन्न' शिक्षित मनुष्य को इस बात के लिए दीवारों से घिरे हुए किसी संकीर्ण स्थान की आवश्यकता न होगी। उसके लिए सम्पूर्ण प्रकृति का पवित्र क्षेत्र खुला हुआ है। वह जिधर आँख उठा कर देखेगा उधर उसे 'जीवन की हाय हाय' तो मिलेगी पर उसके साथ ही साथ सर्वत्र 'सत्य, सत्व और सौन्दर्य' की शान्तिदायिनी दिव्य प्रभा का भी साक्षात्कार होगा।

उन्नीसवाँ प्रकरण

# तत्त्वाद्वैतदृष्टि से धर्म या कर्माकर्मव्यवस्था[1]

जीवन के व्यवहार में प्रत्येक मनुष्य के कुछ कर्तव्य होते हैं जो तभी पूरे हो सकते हैं जब कि वे उसके जगत्सम्बन्धी सिद्धान्त के अनुकूल हों। इस सिद्धान्त के अनुसार हमारी कर्माकर्म व्यवस्था उस अद्वैत भाव के अनुकूल होनी चाहिए जो प्राकृतिक नियमों के समुन्नत ज्ञान द्वारा हमें प्राप्त हुआ है। जिस प्रकार हम इस अनन्त विश्व को एक अखिल अद्वितीय सत्ता या समष्टि मानते हैं उसी प्रकार मनुष्य के आध्यात्मिक या धार्मिक जीवन को भी उसी विश्वविधान का एक अंग मानते हैं। आध्यात्मिक और भौतिक दो अलग अलग जगत् नहीं हैं।

पर अधिकांश दार्शनिकों और धर्ममीमांसकों का मत इसके विरुद्ध है। जैसे कांट ने कहा है वैसे ही वे भी कहते हैं कि धार्मिक और आध्यात्मिक जगत् भौतिक जगत् से सर्वथा अलग और स्वतन्त्र है अतः मनुष्य की सद्सद्विवेक बुद्धि भी उस ज्ञान से सर्वथा स्वतन्त्र है जो विज्ञान द्वारा जगत् के सम्बन्ध में हमें प्राप्त होता है। सद्सद्विवेक बुद्धि अपने मत के विश्वास पर अवलम्बित होती है। कांट के कथन के अनुसार सद्सद्विवेक का आभास केवल व्यवसायात्मिका बुद्धि को होता है, शुद्ध बुद्धि को नहीं जिससे भौतिक या दृश्य जगत् का बोध होता है, जिससे चिन्तन, तर्क और अनुमान आदि किए जाते हैं। ज्ञान की यह द्वैध भावना। कांट के दर्शन का बड़ा भारी दोष है। इससे अनेक प्रकार के भ्रम फैले हैं। पहले तो कांट ने 'शुद्ध बुद्धि' का एक अपूर्व और विशाल भवन खड़ा करके अच्छी तरह सिद्ध कर दिया कि उसमें ईश्वर अर्थात् पुरुषविशेष तथा स्वतन्त्र और अमर आत्मा के लिए कोई

---

1. धर्म से अभिप्राय आचरण पर शासन रखनेवाले नियमों से है, मत या मजहब से नहीं। मनु ने धर्म के दस मूल लक्षण बतलाए हैं–

   धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
   धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

   इस लक्षण में स्वार्थ (धृति, शौच दम) और परार्थ (क्षमा, अक्रोध, सत्य) दोनों आ गए हैं।

स्थान नहीं है, उसकी सत्ता का कोई प्रमाण नहीं है। पीछे उसने भी प्रमाणहीन कल्पना का सहारा लिया और 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' का एक दूसरा हवाई महल खड़ा करके उसमें इन कल्पित वस्तुओं के लिए जगह की।

विश्वास के आधार पर स्थित इस भवन में उसने 'कर्माकर्म की व्यवस्था' प्रतिष्ठित की। इस व्यवस्था के अनुसार सदसत्सम्बन्धी व्यापक नियम सर्वथा स्वतन्त्र और स्वतःप्रमाण हैं, वे और किसी वस्तु की प्रामाणिकता पर निर्भर नहीं। भौतिक या दृश्य जगत् में जो नियम दिखाई पड़ते हैं उनके द्वारा उनका समाधान नहीं हो सकता। वे चिन्मय जगत् के अन्तर्गत हैं। वे आत्मानुभूति के नियमों में दाखिल हैं अर्थात् किसी कर्म के उपस्थित होने पर आत्मा उसके भले या बुरे होने के सम्बन्ध में अपनी स्थिति का आप जो बोध करती है वह सदा एक ही प्रकार का होता है। इसी आदेश पर चलना धर्म या सदाचार है। कांट का सिद्धान्त यदि ठीक मानें तो संसार के सब मनुष्यों में एक ही प्रकार की कर्तव्यबुद्धि होनी चाहिए। पर इधर जो पृथ्वी पर की भिन्न भिन्न जातियों का अनुसंधान किया गया है उससे यह बात पाई नहीं जाती। अनुसंधान से यही पाया जाता है कि भिन्न भिन्न जातियों में, विशेषतः असभ्य जातियों में, कर्तव्य की भावनाएँ भिन्न भिन्न हैं। वे कर्म और रीतिरिवाज जिन्हें हम घोर पाप और अपराध समझते हैं, कुछ जातियों द्वारा कुछ अवस्थाओं में धर्म और कर्तव्य माने जाते हैं।

कांट ने बुद्धि के जो दो परस्परविरुद्ध भेद किए उसका खंडन यद्यपि पीछे से लोगों ने किया पर उसे बहुत से लोग अभीतक मानते जाते हैं। बात यह है कि उससे मतवादियों और ख्याली पुलाव पकानेवालों की निराधार कल्पनाओं को बहुत कुछ सहारा मिला है। इसीसे यह द्वैधभाव उन्हें अत्यन्त प्रिय है। पर कांट ने 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' का जो आडम्बर खड़ा किया था उसे आधुनिक विज्ञान ने छिन्न भिन्न कर दिया है। परमतत्त्व की अक्षरता के नियम द्वारा जगद्विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि कोई पुरुषविशेष रूप ईश्वर नहीं है। भिन्न भिन्न जन्तुओं के मनोव्यापारों के मिलान और अन्तःकरण के क्रमागत विकास के निरीक्षण द्वारा जिस आधुनिक मनोविज्ञान की स्थापना हुई, उसने प्रमाणित कर दिया है कि अमर आत्मा कोई वस्तु नहीं। शरीरव्यापार शास्त्र द्वारा 'कर्मसंकल्पवृत्ति' के स्वातन्त्र्य का भी खंडन हो गया है। विकास सिद्धान्त से यह अच्छी तरह स्थिर हो गया है कि प्रकृति के उन्हीं अविचल या शाश्वत नियमों के अधीन सजीव सृष्टि तथा उसके धर्म आदि सब व्यापार भी हैं जिनके अधीन जड़ सृष्टि है। अस्तु, मनुष्य तथा उसका कोई व्यापार, क्या मानसिक, क्या धर्म और क्या आचारसम्बन्धी, उन नियमों के परे नहीं है।

आधुनिक विज्ञान ने कांट के द्वैधभाव का खंडन ही नहीं किया है उसके स्थान पर सच्ची कर्तव्याकर्तव्य व्यवस्था भी स्थापित की है। इस व्यवस्था के अनुसार कर्तव्यबुद्धि कल्पना के आधार पर स्थित नहीं है बल्कि 'सामाजिक प्रवृत्ति' पर निर्भर

है जो समुदाय में रहनेवाले सब जन्तुओं में पाई जाती है। धर्म या सदाचार का सबसे बड़ा उद्देश्य यह है कि स्वार्थ और परार्थ के बीच सामंजस्य स्थापित हो। दोनों के पलड़े इस प्रकार तुले रहें कि व्यवहार में किसी प्रकार की बाधा न पड़े, अपनी भलाई और दूसरे की भलाई दोनों का साधन बराबर होता जाय, दोनों के बीच विरोध न आने पावे। प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर ने विकास सिद्धान्त की दृढ़ नींव पर इस प्रकार की तात्त्विक कर्तव्याकर्तव्य व्यवस्था स्थापित की है।[1]

मनुष्य समुदाय में रहनेवाला प्राणी है अतः समुदाय में रहनेवाले और दूसरे जन्तुओं के समान उसके दो प्रकार के कर्तव्य हैं; एक अपने प्रति और दूसरा उस समाज के प्रति जिसमें वह रहता है। एक का साधन स्वार्थ कहलाता है और दूसरे का परार्थ या परोपकार। मनुष्य के लिए दोनों उचित हैं। यदि मनुष्य को समाज में रहना है तो उसे केवल अपना ही भला न देखना चाहिए, दूसरों का भला भी देखना चाहिए जिनके साथ उसे रहना है। उसे यह समझना चाहिए कि समाज के हित से उसका भी हित है। यदि समाज का कोई भी अनिष्ट होगा तो उस समाज में रहने के कारण वह उस अनिष्ट से बच नहीं सकता। सिद्धान्त रूप में तो इसका खंडन कोई नहीं कर सकता पर इसके विरुद्ध व्यवहार लोग बराबर करते हैं।

'स्वार्थ' और 'परार्थ दोनों पर समान दृष्टि रखना हमारे तत्त्वाद्वैत धर्म का मुख्य तत्त्व है। आत्मोपकार और परोपकार दोनों इस धर्म के अन्तर्गत हैं। 'दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करें', ईसाई धर्म की इस शिक्षा में यह बात स्पष्ट है कि हमारे लिएं अपने प्रति भी वैसे ही पवित्र कर्तव्य हैं जैसे दूसरों के प्रति। ये युगपद् धर्म कुटुम्ब और समाज की रक्षा के लिए परम आवश्यक प्राकृतिक नियम हैं। आत्मभाव से व्यक्ति की रक्षा होती है और परार्थभाव से व्यक्तियों से बनी हुई जाति की। प्राणियों के समूहबद्ध होने के लिए उनमें एक प्रकार की सामाजिक प्रवृत्ति सजीव सृष्टि की आदिम अवस्था में ही उत्पन्न हुई। यह वंशपरम्परागत प्रवृत्ति समूह में रहनेवाले छोटे बड़े सब जन्तुओं में पाई जाती है।

---

1. पाश्चात्य दर्शन में कर्तव्याकर्तव्य शास्त्र के सम्बन्ध में कई प्रकार के सिद्धान्त पाए जाते हैं—(इन्ट्यूशनल थ्योरी) 'विवेकबुद्धिवाद' जो सदसत् का भेद करनेवाली बुद्धि को स्वभावसिद्ध मानता है, 'प्रेरणावाद' (सेंटिमेन्टल ऑर इमोशनल थ्योरी। जो कर्मों के प्रति स्वाभाविक रुचि और घृणा की प्रेरणा को सदसद्भेद का मूल बतलाता है, सुखवाद (युटिलिटेरियन थ्योरी) जो समाज के लाभालाभ की दृष्टि से, अर्थात् किस कर्म से सबसे अधिक लोगों के सबसे अधिक सुख का साधन होता है, कर्माकर्म का निर्णय करता है। प्रथम दो सिद्धान्तों के अनुयायियों में ही कुछ आध्यात्मिक दृष्टि रखनेवाले दार्शनिक हुए हैं जो धर्म और आचार के नियमों को नित्य और स्वतन्त्र मानते हैं। पर प्रायः सब दार्शनिकों ने शब्दों पर ही तर्कवितर्क करके भारी वाग्जाल खड़ा किया है। पर जब से आधिभौतिक शास्त्रों के विविध अंगों की अपूर्व उन्नति होने लगी तब से विचारपद्धति बदल गई। व्यवहार और समाजविकास की दृष्टि से धर्म और आचार इन दोनों की व्याख्या की गई।

विकास परम्परानुसार उत्तरोत्तर उन्नत कोटि के जीवों की उत्पत्ति के साथ साथ यह प्रवृत्ति भी वृद्धि को प्राप्त होती गई। लोक के प्रति जो हमारे धर्म हैं वे इसी मूल प्रवृत्ति के उन्नत या प्रवर्द्धित रूप हैं जो धीरे धीरे वर्तमान अवस्था को पहुँचे हैं।

सभ्य मनुष्यों के बीच सदाचार सम्बन्धी जो नियम पाए जाते हैं वे बहुत कुछ उनकी उस धारणा के अनुसार होते हैं जो जगत् के विषय में होती है। अतः उन नियमों का सम्बन्ध किसी न किसी मत या मजहब से रहता है।

धर्म का मुख्य तत्त्व उस सिद्धान्त में है जिसे ईसाई लोग भी अपने मत की प्रधान शिक्षा मानते हैं। 'तुम दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम चाहते हो दूसरे तुम्हारे साथ करें', इस कथन में धर्म का सम्पूर्ण सार है पर यह बात भी समझ रखनी चाहिए कि इस धर्मतत्त्व की स्थापना ईसा के जन्म से हजारों वर्ष पहले प्राचीन सभ्य देशों में ही हो चुकी थी। सबसे पहले इस तत्त्व का निरूपण भारत[1] और चीन में हुआ। ईसा से 500 वर्ष पहले कनफूची ने जो पुरुषविशेष ईश्वर और अमर आत्मा नहीं मानता था, उपदेश दिया था कि 'हर एक आदमी के साथ वैसा कर जैसा तू चाहता है कि वह तेरे साथ करे, दूसरे के साथ वैसा कभी न कर जैसा कि तू चाहता है कि वह तेरे साथ न करे। तुझे एकमात्र इसी उपदेश की आवश्यकता है।' इसी प्रकार यूनान के कई तत्त्वज्ञों ने इस सिद्धान्त को प्रकट किया था। अरस्तू का कथन है कि 'हमें दूसरों के साथ वैसा ही करना चाहिए जैसा हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे साथ करें।' सारांश यह कि ईसाई मत ने इस सिद्धान्त को भी अपने और सिद्धान्तों के समान, अपने से पूर्व के मतों से विशेषतः बौद्धमत से लिया है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस सिद्धान्त का महत्त्व हमारा तत्त्वाद्वैत धर्म भी स्वीकार करता है; क्योंकि इसमें स्वार्थ और परार्थ दोनों पर समान दृष्टि रखी गई है। पर ईसाइयों की तथा और और मतों की पुस्तकों में बहुत से विरुद्ध वाक्य मिलते हैं जिनमें स्वार्थ का एकदम परित्याग करने को कहा गया है और परार्थ ही की ओर लक्ष्य रखा गया है। पर स्वरक्षा के लिए स्वार्थ पर दृष्टि रखना आवश्यक है। आत्मरक्षा पहला धर्म है। ईसाई मत की शिक्षा है कि 'जो तुम्हें एक गाल में चपत मारे उसके लिए दूसरा गाल भी फेर दो, अपने वैरियों से प्रेम करो, जो तुम्हें शाप दें उसे आशीर्वाद दो, जो तुम्हें सतावें उनके कल्याण के लिए प्रार्थना करो' इत्यादि। ये बातें सुनने में तो बहुत अच्छी लगती हैं पर अस्वाभाविक हैं और व्यवहार में नहीं चल सकतीं। यदि कोई दुष्ट धूर्तता करके हमारा आधा माल उठा ले जाय तो क्या हमें यही चाहिए कि हम बाकी आधा भी उसके आगे उठाकर रख दें। यदि व्यापार,

---

1. शरशय्या पर भीष्म ने जो उपदेश दिए हैं उनमें एक यह भी है कि ''जो अपने को अच्छा लगे उसे दूसरों के लिए भी अच्छा समझे और जो अपने को अप्रिय हो उसे दूसरों के लिए भी अप्रिय समझे।'' बौद्ध धर्म में भी यह सिद्धान्त कई जगह कहा गया है।

राजनीति आदि में इन उपदेशों का पालन किया जाय तो क्या दशा होगी। अतः यही कहना पड़ता है कि ईसाई आदि मत एकांगदर्शी हैं। उनमें परार्थभाव को तो बढ़ाकर कल्पित आदर्श खड़े किए गए हैं पर स्वार्थ का कुछ भी ध्यान नहीं रखा गया है। यही कारण है कि 'पर उपदेश कुशल' लोगों की बातें मनुष्य समाज के बीच कहीं नहीं पाई जातीं।

दूसरी बात यह है कि ईसाई धर्मपुस्तक में शरीर को एक क्षणभंगुर पिंजरा मात्र समझने के कारण उसकी रक्षा के लिए शौच आदि नियमों का समावेश नहीं है। हिन्दूधर्म में नित्यस्नान आदि के जैसे नियम हैं वैसे ईसाई मत में नहीं। यहाँ तक कि कैथलिक सम्प्रदाय के बहुतेरे मठों में सबसे पवित्र और धार्मिक वह समझा जाता है जो शरीर के मैले कुचैले रहने की परवा नहीं करता, अपने कपड़े धोनेधुलाने की चिन्ता नहीं करता, किसी काम के किनारे नहीं फटकता और अनेक प्रकार के व्रत, उपवास तथा स्तुतिपाठ आदि में ही सारा समय व्यतीत करता है। जैन आदि कुछ मतों में शौच का इतना अभाव है और व्रत, उपवास आदि के नियम इस हद तक पहुँचाए गए हैं कि आश्चर्य होता है। शौचसम्बन्धी आचार प्रथम धर्म है—'आचारः प्रथमो धर्मः'। इसी प्रकार शरीररक्षा भी प्रधान कर्तव्य है—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'।

एक और बड़ा भारी दोष ईसाई आदि पैगम्बरी, शमई या इबरानी मतों में यह है कि उनमें मनुष्य सारी सृष्टि से अलग किया जाकर एक अतीत पद को पहुँचा दिया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि सारी सृष्टि मनुष्य ही के लिए है, उसमें जो कुछ होता है सब मनुष्य ही के हानिलाभ के लिए। आदमी न होता तो शायद दुनिया भी न होती। इन मतों में मनुष्य की दृष्टि मनुष्य ही तक रह गई है, आगे सृष्टि के उस अपार विस्तार की ओर जरा भी नहीं गई है मनुष्य जिसका एक क्षुद्र से क्षुद्र अंश मात्र है। बाइबिल में मनुष्य ने अपने को 'ईश्वर की प्रतिमूर्ति' कहा है पर सच पूछिए तो ईश्वर को ही उसने अपनी प्रतिमूर्ति समझा है। अपनी प्रधानता के मद में इन मतप्रवर्तकों ने यह न समझा कि कुत्ते, बिल्ली, बन्दर आदि जो सुखदुःख का अनुभव करनेवाले और प्रयत्नशील जीव हैं उन्हीं में से एक मनुष्य भी है। अहंकारवश यदि मनुष्य अपने को अलग समझे और अपने से छोटे जीवों के जी को जी न समझे तो यह उसकी सरासर भूल है। सम्यक् दृष्टि के अभाव से ही ईसाई आदि मतों में अन्य जीवों, गाय, भैंस, कुत्ते, बन्दर इत्यादि के प्रति दया और स्नेह का वैसा भाव थोड़ा बहुत भी नहीं पाया जाता जैसा हिन्दू, बौद्ध आदि धर्मों में कूट कूट कर भरा हुआ है। ईसाई देशों में जाकर देखिए कि पशुओं के प्रति कितनी निष्ठुरता की जाती है, किस निर्दयता से उनके प्राण लिए जाते हैं। ईसाई लोग पशुओं के जी को जी ही नहीं समझते। इस विषय में हमारा तत्त्वाद्वैत धर्म कितना उदार है। डारविन ने अपने विकासवाद द्वारा हमें यह सुझा दिया है कि हमारी उत्पत्ति बनमानुसों से हुई है और सब जीव एक ही प्रकार के मूल अणुजीवों से क्रमशः विकास द्वारा उत्पन्न

हुए हैं। अतः यों तो सभी जीव हमारे सम्बन्धी हैं पर स्तनपायी पशु हमारे सगे हैं। आधुनिक शारीरिक या शरीरव्यापार विज्ञान ने हमें यह बतला दिया है कि हममें और उनमें एक ही प्रकार के संवेदन सूत्र हैं, एक ही प्रकार की इन्द्रियाँ हैं और एक ही प्रकार की सुखदुःख का अनुभव करने की वृत्ति है। कोई तत्त्वाद्वैतवादी या प्रकृतिविज्ञानी पशुओं के प्रति वैसी निष्ठुरता और क्रूरता नहीं कर सकता जैसी ईश्वर के सगे बनकर ईसाई लोग करते हैं। ईसाई मत हमें प्रकृति के प्रेम से दूर रखता है।

ईसाई आदि वैराग्यप्रधान मतों में सांसारिक जीवन तो कुछ समझा ही नहीं गया है, अतः उनकी शिक्षाओं पर लोग यदि चलें तो फिर वही दशा हो कि 'सकल पदारथ हैं जग माहीं। भाग्यहीन नर पावत नाहीं।' विज्ञान ने जो रेल, तार आदि के सुबीते कर दिए हैं; संगीत, चित्रकारी आदि में जो अपूर्व चमत्कार आविष्कृत हुए हैं, वे सब सभ्य मनुष्य के 'सांसारिक सुख' हैं अतः उनसे सच्चे ईसाइयों को, सच्चे विरक्तों को दूर ही रहना चाहिए। अस्तु, यही कहना पड़ता है कि ईसाई मत सभ्यता का शत्रु है। यहीं तक नहीं, उस पारिवारिक जीवन की भी ईसाई मत उपेक्षा करता है जो समूह में रहनेवाले समस्त उच्च कोटि के प्राणियों का प्रकृत लक्षण है। परलोक की ओर ही लौ लगाए रखने के कारण ईसा ने इस लोक के पारिवारिक कर्त्तव्यों की ओर ध्यान नहीं दिया। अपने माता पिता के प्रति उनके स्नेह का कोई दृष्टान्त पाया नहीं जाता। स्वयं घरबारी न होने के कारण दाम्पत्य प्रेम की वे निन्दा ही करते रहे। उनके शिष्य पाल ने यहाँ तक कहा कि 'स्त्री का स्पर्श तक करना बुरा है।' यदि इस शिक्षा पर दुनिया चलती तो धर्म अधर्म का आचार ही नष्ट हो जाता। पारिवारिक जीवन ही उन्नति का प्रथम विकास है। पारिवारिक जीवन से सामाजिक जीवन का और सामाजिक जीवन से राजनीतिक या राष्ट्रीय जीवन का विकास होता है। स्त्रियों की उपेक्षा करने से संसार नहीं चल सकता। स्त्री और पुरुष दोनों समाज के अंग हैं, दोनों के मेल से ही अर्थ, धर्म आदि का साधन हो सकता है। ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ी स्त्री जाति का महत्त्व स्वीकार किया गया, स्त्री पुरुष की अर्द्धांगिनी कहलायी। स्त्रियों के रूप में गुण आदि द्वारा मनुष्य में सौन्दर्य की भावना का कितना विकास हुआ है और काव्य तथा चित्रकला आदि में कितनी मोहिनी शक्ति आई है। पर स्त्रियों को 'पैर की धूल' समझनेवाली प्राचीन असभ्य जातियों का भाव ईसा में भी भरा था।

ईसा के इस भाव का परिणाम यह हुआ कि पोप द्वारा प्रवर्तित ईसाई मत में उपदेशकों और पादरियों के लिए अविवाहित रहने का कठोर नियम बनाया गया। पर इस कठोर नियम का फल क्या हुआ? व्यभिचार की घोर वृद्धि। पोप के अधीन धर्माचार्य लोग जिस समय नास्तिकों के दंड की व्यवस्था देने बैठते थे उस समय वे व्यभिचारिणी स्त्रियों से घिर कर बैठते थे। पादरियों के व्यभिचार की सीमा इतनी बढ़ी कि प्रजा घबरा गई। अब भी योरप के उन देशों में जिनमें कैथलिक सम्प्रदाय

के ईसाई बसते हैं, अविवाहित रहने के नियम के विरुद्ध आन्दोलन चला करते हैं।

अब यह देखना चाहिए कि संसार में प्रचलित भिन्न भिन्न मतों या मजहबों के प्रति वर्तमान सभ्य राज्यों का क्या कर्त्तव्य है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अब वह समय आ गया है जब राज्य से किसी मतविशेष से कोई लगाव न रहे। न राज्य अपनी ओर से किसी मत को आश्रय दे, न सतावे। किसी मजहब के प्रचार आदि के लिए राज्य की ओर से कोई प्रयत्न नहीं होना चाहिए। सब मजहबवालों को अपने अपने विश्वास के अनुसार चलने देना चाहिए। हाँ यदि कोई सम्प्रदाय ऐसा है जिसके विधान व्यभिचारमय हैं और जिससे सदाचार को धक्का पहुँचने की सम्भावना है तो उस पर कुछ रोक रखनी चाहिए, बस। दूसरी बात यह है कि सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए जो व्यवस्था हो वह मतमतान्तरों से सर्वथा स्वतन्त्र रहे। विद्यालय में मतामतान्तरों की शिक्षा को स्थान न देना चाहिए। यह बालकों के माता पिता का काम होना चाहिए कि वे उनका विश्वास जिस मत या मजहब पर चाहे जमावें। स्कूलों और कॉलिजों को मजहबी झगड़ों से अलग रखना चाहिए। वे शुद्ध ज्ञान के मन्दिर हैं। उनमें मानसिक शक्ति की वृद्धि की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि उनमें से निकले हुए लोगों को अन्वीक्षण द्वारा सृष्टि के नाना रहस्यों को समझने में सहायता मिले। सर्वसाधारण की शिक्षा के सम्बन्ध में नीचे लिखी बातों का ध्यान यदि रखा जाय तो बहुत अच्छा हो।

1. अबतक शिक्षा का जो क्रम रहा है उसमें मनुष्य की कृतियों का परिचय कराने की ओर ही अधिक प्रवृत्ति रही है। व्याकरण, कानून, धर्मशास्त्र आदि पर अधिक जोर रहा है जिनमें मनुष्यों के बनाए हुए नियम संगृहीत हैं। प्रकृति के अध्ययन की ओर उतना ध्यान नहीं रहा है।

2. अब जो विद्यालय होंगे उनमें अध्ययन की प्रधान वस्तु होगी प्रकृति। यह जगत् किस प्रकार का है इस बात को अब शिक्षा प्राप्त करके लोग समझेंगे। वे अपने को प्रकृति से अलग करके न देखेंगे बल्कि उसी का एक सर्वोच्च विकास समझेंगे।

3. अबतक संस्कृत, अरबी, लैटिन, यूनानी इत्यादि पुरानी भाषाओं के पठनपाठन में बहुत लोगों का बहुत अधिक समय लगाया जाता था। इन भाषाओं का जानना जरूरी है पर एक हदतक, सो भी सबके लिए नहीं। अब इन भाषाओं के बिना भी ज्ञान की वृद्धि हो सकती है। दर्शन, विज्ञान आदि के नवीन तत्त्व अब प्रचलित भाषाओं में ही लिखे जाते हैं।

4. अब प्रचलित देशभाषाओं की उन्नति की ओर ही ध्यान होना चाहिए, उनमें नई पुरानी सब बातों का समावेश होना चाहिए।

5. इतिहास की शिक्षा में ऊपरी बातों जैसे, राजवंश परम्परा, युद्ध इत्यादि की ओर उतना ध्यान न होना चाहिए जितना किसी जाति की आभ्यन्तर दशा तथा उसकी सभ्यता और ज्ञान की वृद्धि और ह्रास के क्रम की ओर।

6. विकासशास्त्र की शिक्षा की पूर्णता के लिए यह आवश्यक है कि जगद्विकास विज्ञान की शिक्षा हो। भूगोल के साथ भूगर्भशास्त्र, प्राणिविज्ञान और मानवविज्ञान जिसमें मनुष्यजाति के विकास आदि का विस्तृत वर्णन होता है, की भी शिक्षा अवश्य होनी चाहिए।

7. प्राणिविज्ञान के स्थूल तत्त्वों का ज्ञान प्रत्येक शिक्षित पुरुष को होना चाहिए। वैज्ञानिक शिक्षा द्वारा अन्वीक्षण की शक्ति प्राप्त हो जाने से उनकी ओर चित्त आप से आप आकर्षित होगा। पीछे शारीरिक अर्थात् शरीरव्यापारविज्ञान और अंगविच्छेदशास्त्र का भी कुछ अभ्यास कराना चाहिए।

8. पदार्थविज्ञान और रसायनशास्त्र की शिक्षा भी गणित के साथ साथ अवश्य होनी चाहिए।

9. रेखाओं द्वारा आकृतिलेखन (ड्राइंग) और यदि हो सके तो थोड़ी बहुत चित्रकारी का अभ्यास भी प्रत्येक छात्र को होना चाहिए। फूलपत्ते, पशु, पक्षी, समुद्र, मेघ आदि के अपने हाथ से बनाए चित्रों के द्वारा मनोरंजन भी होगा और प्रकृति के अन्वीक्षण की उत्कण्ठा और उसके रहस्यों को समझने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न होगी।

10. छात्रों के व्यायाम की ओर भी अधिक ध्यान रखना होगा। कसरत करने और तैरने का अभ्यास सबको रहना चाहिए। पर सबसे अच्छा तो यह होगा कि कम से कम सप्ताह में एक दिन दूर दूर तक भिन्न भिन्न स्थानों में पैदल सैर करने जाया करें। इससे उन्हें प्रकृति के नाना पदार्थों के अन्वीक्षण का अवसर मिलेगा। इस प्रकार के अन्वीक्षण द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होगा वह अधिक स्थायी होगा।

अबतक शिक्षा का उद्देश्य यही समझा जाता रहा है कि छात्र ऐसे व्यवसायों और ऐसे राजकीय पदों के लिए तैयार हो जायँ जो समाज में प्रतिष्ठित समझे जाते हैं। अब से शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यह होगा कि उनमें स्वतन्त्र विचार करने की और सीखी हुई बातों को स्पष्ट रूप से समझने की शक्ति आवे। यदि ऐसे आदर्श राज्य की स्थापना वांछनीय है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को राजकीय सदस्य आदि चुनने का अधिकार हो, तो यह आवश्यक है कि शिक्षा द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि इस प्रकार उन्नत और परिष्कृत कर दी जाय कि वह राज्य का हित अहित समझ सके।

बीसवाँ प्रकरण

# जगत् के रहस्यों का उद्घाटन

अब यह देखना है कि विज्ञान के अनेक अंगों की अपूर्व उन्नति से जगत् के रहस्यों का कहाँ तक उद्घाटन हुआ है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि इधर 100 वर्षों के बीच प्रकृति के नाना क्षेत्रों का जितना सूक्ष्म अनुसंधान हुआ है उतना पहले कभी नहीं हुआ था। बहुत से ऐसे नए नए शास्त्रों और विज्ञानों की स्थापना हुई है जिनकी ओर 100 वर्ष पहले किसी का ध्यान भी न गया था। अब विचारने की बात यह है कि ज्ञानविज्ञान की इस उन्नति से हम जगत् के नाना विधानों को समझने में अधिक समर्थ हुए हैं अथवा जैसे पहले थे वैसे ही हैं। मेरा कहना यह है कि हम कहीं अधिक समर्थ हैं। विज्ञान ने दिखा दिया है कि कार्यकारण का भौतिक नियम समस्त जगत् में चलता है और समस्त जगत् को चलाता है। कोई वस्तु उसके बाहर नहीं। मनुष्य का अन्तःकरण भी इसी कार्यकारण परम्परा द्वारा उत्पन्न हुआ है और चल रहा है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि विज्ञान के मुख्य मुख्य क्षेत्रों में जो अभूतपूर्व उन्नति हुई है उसका संक्षेप में उल्लेख कर दिया जाय।

## 1. ज्योतिर्विज्ञान की उन्नति

मनुष्य ने अपने विकास आदि का ज्ञान तो अब प्राप्त किया है पर आकाश के नक्षत्रों और ग्रहों की स्थिति के सम्बन्ध में सभ्य जातियों ने 5,000 वर्ष पहले भी बहुत जानकारी प्राप्त की थी। हिन्दू, चीनी, मिस्री इत्यादि प्राचीन पूर्वीय सभ्य जातियों को ज्योतिष की जितनी जानकारी थीं उतनी योरप के ईसाइयों को उनसे 4,000 वर्ष पीछे भी नहीं प्राप्त थी। चीन देश में ईसा से 2697 वर्ष पहले एक सूर्य ग्रहण का ज्योतिष की रीति से विचार किया गया था और 1100 वर्ष पहले क्रान्तिवृत्त का धरातल शंकु के प्रयोग द्वारा निश्चित किया गया था। बेचारे ईसा को ज्योतिष का कुछ भी ज्ञान न था। वे आकाश और पृथ्वी को किसी के हाथ की बनाई चीजें समझते थे। पृथ्वी ही को वे सम्पूर्ण जगत् का केन्द्र और मनुष्य ही को सब कुछ समझते

थे। अतः ईसाई मत के कारण योरप में ज्योतिष के सम्बन्ध में बहुत दिनों तक कुछ उन्नति नहीं हो सकी। अन्त में सन् 1500 में जब कोपरनिकस ने टालमी के सिद्धान्त का खंडन करके यह सिद्धान्त स्थापित किया कि सूर्य ही केन्द्र है जिसकी पृथ्वी इत्यादि ग्रहपिंड परिक्रमा कर रहे हैं, तब ईसाई धर्माचार्यों में बड़ा कोलाहल मचा, क्योंकि ईसाई मत की दृष्टि में पृथ्वी ही जगत् का केन्द्र है और मनुष्य ही उसका एकमात्र अधिष्ठाता देवता है। पीछे गैलीलियो और केप्लर ने कोपरनिकस के सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए ग्रहों की गति आदि का भौतिक नियमानुसार निरूपण किया। अन्त में सन् 1686 में न्यूटन ने अपने आकर्षणसिद्धान्त द्वारा गति की मीमांसा की और आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान की दृढ़ नींव डाली।

सन् 1755 में प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने सम्पूर्ण जगत् के प्राकृतिक विकास का क्रम न्यूटन के सिद्धान्त के आधार पर निरूपित किया। लाप्लेंस अपनी स्वतन्त्र परीक्षाओं द्वारा उसी सिद्धान्त पर पहुँचा जिस पर कांट पहुँचा था। उसने सम्पूर्ण जगत् की गति को प्राकृतिक या भौतिक विधान सिद्ध कर दिया और नए नए अनुसंधानों के लिए मार्ग खोल दिया। फोटोग्राफी और रश्मिविश्लेषण के द्वारा ज्योतिष के साथ भौतिक विज्ञान और रसायन का योग हुआ जिससे एक बड़ा भारी सिद्धान्त निकला। यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि समस्त विश्व में एक ही द्रव्य का प्रसार है। जिस द्रव्य से हमारा यह भूपिंड बना है उसी द्रव्य से सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध इत्यादि सब ग्रह, नक्षत्र आदि बने हैं और उस द्रव्य के भौतिक और रासायनिक गुण हम यहाँ देखते हैं, वे ही सर्वत्र हैं।

ज्योतिष के साथ विज्ञान के मिलने से जिस ज्योतिर्विज्ञान की सृष्टि हुई उसकी सहायता से अब हमें निश्चय हो गया है कि समस्त विश्व वस्तुतः एक है, एक ही अद्वितीय तत्त्व का प्रसार सर्वत्र है। यह नहीं है कि जिस द्रव्य को अनेक रूपों में हम इस पृथ्वी पर पाते हैं उससे परे या सर्वथा भिन्न कोई और तत्त्व दूसरे लोकों या ग्रहनक्षत्रपिंडों में है। द्रव्य के गुण जो यहाँ हैं वे ही अन्तरिक्ष के सब भागों में हैं। जो भौतिक नियम यहाँ चलते हैं वे ही सर्वत्र चलते हैं। जगत् की गति नित्य है। उसके प्रत्येक भाग में रूपान्तर या परिवर्तन का क्रम सदा चलता रहता है। प्रकृति के भीतर विकृति का क्रम अलग अलग बराबर जारी रहता है। भारी भारी दूरबीनों से यदि हम अन्तरिक्ष में चारों ओर देखते हैं तो कहीं कहीं लपट के रूप का अत्यन्त सूक्ष्म और पतला ज्वलन्त वायव्य पदार्थ फैला दिखाई पड़ता है जिसे ज्योतिष्क नीहारिका कहते हैं। इसके ताप और तेज का अनुमान तक हमलोग नहीं कर सकते। इसी को हम हिरण्यगर्भ[1] कह सकते हैं जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है। इसी तेजःपुंज के

---

1. हिरण्यगर्भ : समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। अर्थात् पहले हिरण्यगर्भ था और उस हिरण्यगर्भ से सब सृष्टि उत्पन्न हुई। —ऋ. 10-121-1

जमने से ग्रह, नक्षत्र आदि के पिंड बनते हैं। यह द्रव्य का वह प्रारम्भिक रूप है जो रासायनिक मूल द्रव्यों में विभक्त नहीं हुआ रहता। सबसे मूल साम्यावस्था में तो द्रव्य ग्राह्य अर्थात् ईथर या आकाश द्रव्य इन दो रूपों में भी विभक्त नहीं रहता। जिस प्रकार आकाश में कहीं-कहीं लोकों के उपादान तेजःपुंज दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार कहीं-कहीं ऐसे तारे भी दिखाई पड़ते हैं जो ज्वलन्त वायव्य पदार्थ के कुछ ठंढे पड़ने से देदीप्यमान द्रवपदार्थ जैसे गरमी से पिघलकर पानी से भी पतला होकर बहता हुआ लाल लोहा के रूप में हो गए हैं। कहीं ऐसे तारे मिलते हैं जो बिलकुल ठंढे पड़ गए हैं; जिनमें कुछ भी गरमी नहीं रह गई है। शनि के समान बहुत से ऐसे तारे भी देखे जाते हैं जो चारों ओर घूमते हुए ज्योतिर्वलय से वेष्ठित रहते हैं। ज्योतिष्कनीहारिका के ये वलय क्रमशः जमते जमते चन्द्रमा बन जायँगे जो उन तारों की परिक्रमा किया करेंगे। हमारा चन्द्रमा वलय के रूप में था जो जमकर पृथ्वी से उसी प्रकार अलग हुआ है जिस प्रकार पृथ्वी सूर्य से अलग हुई है। कौन सा तारा विकास की किस अवस्था में है इसका बहुत कुछ पता हमें उसके रंग से लग सकता है।

बहुत से नक्षत्र, जिनके प्रकाश के यहाँतक पहुँचने में हजारों वर्ष लगते हैं, हमारे सूर्य के ही समान हैं। उनके अधीन भी अनेक ग्रह, उपग्रह हैं जो उनकी परिक्रमा किया करते हैं। इन ग्रहों में हजारों लाखों ऐसे होंगे जो उसी अवस्था में होंगे जिस अवस्था में हमारी पृथ्वी है, अर्थात् उनके ऊपर न तो इतना उग्र ताप ही होगा कि जल वाष्प के रूप में ही रहे, और न इतनी गहरी सरदी ही होगी कि वह ठोस होकर ही जमा रहे, उनमें भी जल द्रव अवस्था में होगा। जल की इसी अवस्था में अंगारक द्रव्य में वह अपूर्व संयोग सम्भव होता है जिससे कललरस का प्रादुर्भाव होता है। यही कललरस जीवनतत्त्व है। अत्यन्त सूक्ष्म जीवाणु कललरस रूप ही होते हैं और अंगारक और नाइट्रोजन के संयोगविशेष से स्वतः उत्पन्न होते हैं। बहुत सम्भव है कि पृथ्वी से मिलती जुलती अवस्थावाले ग्रहों में भी जीवोत्पत्ति उसी क्रम में हुई हो जिस क्रम से पृथ्वी पर हुई है। जीवोत्पत्ति के लिए जल का द्रव रूप में होना आवश्यक है। जो तारे तरल तेजःस्वरूप हैं उनमें जल भाप के ही रूप में रहता है और जो नक्षत्र या सूर्य जीवनशक्ति का विसर्जन करके बिलकुल ठंढे हो गए हैं उनमें जल जब रहेगा तब ठोस बर्फ के रूप में। ऐसे तारों में जीव नहीं रह सकते। अपने वर्तमान ज्ञान के अनुसार हम नीचे लिखी बातों का अनुमान कर सकते हैं—

1. यह बहुत सम्भव है कि जिस प्रकार क्रमशः हमारी पृथ्वी पर जीवोत्पत्ति हुई है उसी प्रकार हमारे इस सूर्य के और ग्रहों में जैसे, मंगल और शुक्र तथा दूसरे सूर्यों के ग्रहों में भी हुई हो, अर्थात् आदि में कललरस के अणुरूप जीव मोनरा और फिर उनसे एकघटक अणुजीव पहले अणूद्भिद और फिर कीटाणु उत्पन्न हुए हों।

2. यह बहुत सम्भव है कि इन एकघटक अणुजीवों से पहले घटकों के समूहपिंड

जैसे, स्पंज आदि बने हों और फिर तन्तुजाल द्वारा एकीभूत अनेकघटक जीवों का प्रादुर्भाव हुआ हो।

3. यह बहुत सम्भव है कि पौधों में पहले निरवयव निष्पुष्प पौधे जैसे, भुकड़ी खुमी आदि जिनमें जड़, डाल, पत्ते, फूल आदि नहीं होते केवल घटकों की तह पर तह मात्र होती है, उत्पन्न हुए हों फिर दलकांडयुक्त निष्पुष्प पौधे जैसे, पानी के ऊपर की काई, सेवार आदि जिनमें डाल, पत्ते तो होते हैं पर जड़ नहीं होती, हुए हों और सबके पीछे पुष्पवान् पौधे।

4. यह बहुत ही सम्भव है कि जन्तुओं की उत्पत्ति भी इस क्रम से हुई हो अर्थात् पहले कललात्मक अणुजीवों से कलात्मक अनेकघटक जीव जिनके शरीर में घटकजाल की दो झिल्लियों से बना केवल एक कोठा होता है, जैसे स्पंज, मूँगा आदि हुए हों और उनसे द्विकोष्ठ जीव जिनके शरीर के कोठे से पेट का कोठा अलग होता है, उत्पन्न हुए हों।

5. पर इसमें बहुत सन्देह है कि इस पृथ्वी पर जीवधारियों की भिन्न भिन्न शाखाएँ जिन जिन रूपों में प्रकट हुई हैं, ठीक उन्हीं रूपों में और ग्रहों पर भी प्रकट हुई हैं। सम्भव है कि जीवों की शाखाओं ने वहाँ भिन्न भिन्न रूप धारण किए हों। वहाँ और ही आकार प्रकार के जीव मिलते हैं।

6. कौन कह सकता है कि और ग्रहों पर रीढ़वाले जन्तु हुए हों और उनमें फिर लाखों वर्ष के अनन्तर दूध पिलाने वाले जन्तु हुए हों, जिनमें सबसे श्रेष्ठ मनुष्य नाम का प्राणी हुआ हो। ऐसा कहने के पहले यह मानना पड़ेगा कि उन ग्रहों पर भी ठीक ठीक ब्योरेवार वे ही घटनाएँ हुई हैं जो यहाँ हुई हैं। पर ऐसा मानना कठिन है।

7. अस्तु, यह बात अधिक सम्भव जान पड़ती है कि और और ग्रहों पर और ढाँचे के उन्नत जीव उत्पन्न हुए हों जो इस पृथ्वी पर नहीं पाए जाते। जैसे, यहाँ रीढ़वाले जन्तुओं में मनुष्य हुआ वैसे ही सम्भव है वहाँ किसी और ही उन्नत शाखा से मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली और ज्ञानसम्पन्न जीव उत्पन्न हुए हों।

8. इस बात की कभी सम्भावना नहीं कि दूसरे ग्रहों के निवासियों के साथ कभी हमारी बातचीत हो सके क्योंकि एक तो वे बहुत ही दूर हैं, दूसरे पृथ्वी के और उनके बीच बराबर हवा नहीं है, केवल ईथर या आकाशद्रव्य मात्र है।

पहले बतलाया जा चुका है कि जिस प्रकार बहुत से तारे उसी अवस्था में हैं जिस अवस्था में हमारी पृथ्वी है उसी प्रकार बहुत से ऐसे भी हैं जो इस अवस्था को पार कर गए हैं और इतने जीर्ण हो गए हैं कि नष्ट होने के निकट हैं। यही दशा कभी हमारी पृथ्वी की भी होनेवाली है। बात यह है कि किसी लोकपिंड को लीजिए, उसके ताप का बराबर विसर्जन होता रहा है, उसकी गरमी निकल निकल कर बराबर आकाश में लीन होती जाती है। गरमी जब बिलकुल घट जायगी तब सारा जल जमकर ठोस बर्फ के रूप में हो जायगा और सम्पूर्ण प्राणियों, जन्तु बनस्पति

आदि सबका नाश हो जायगा। घूमता हुआ लोकपिंड और भी ठोस होता जायगा और उसके परिभ्रमण की गति बराबर मन्द पड़ती जायगी। सूर्य से जितनी दूरी पर वह परिक्रमा कर रहा है वह बराबर घटती जायगी और वह सूर्य के निकट आता जायगा। यही दशा अन्त में सब ग्रहों और उपग्रहों की होगी। उपग्रह ग्रहों पर जा गिरेंगे और ग्रह सूर्य में जा पड़ेंगे जिससे वे निकले थे। इस घोर संघर्ष से अत्यन्त प्रचुर परिमाण में फिर ताप उत्पन्न होगा। जिस द्रव्य से लोकपिंड बने थे वह चूर्ण होकर अन्तरिक्ष में दूर तक व्याप्त हो जायगा और उसी से नए सूर्य और नए लोकों की उत्पत्ति का विधान फिर से चलेगा। इस प्रकार अनन्त लोकपिंड बनते और बिगड़ते रहते हैं। अन्तरिक्ष में कहीं नए सूर्य और नए लोकपिंड बन रहे हैं, कहीं पुराने सूर्य और ग्रहपिंड नाश को प्राप्त हो रहे हैं। उत्पत्ति और लय का यह क्रम सदा साथ साथ चलता रहता है। द्रव्य कभी एक अवस्था में नहीं रहता। कहीं तेजस् या ज्योतिष्क निहारिका से नए लोकों का गर्भाधान हो रहा है, कहीं उससे बहुत दूर ज्योतिष्क नीहारिका से जमकर तरल अग्नि का बड़ा भारी घूमता हुआ गोला बन गया है। दूसरी ओर देखिए तो उसी प्रकार से घूमते हुए गोले के कान्तिवृत्त से वलय टूटकर अलग हो गए हैं, जो क्रमशः जमकर उस बड़े गोले की परिक्रमा करनेवाले ग्रह के रूप में हो रहे हैं। कहीं वह गोला खासा सूर्य हो गया है जिसकी परिक्रमा अनेक ग्रह अपने चन्द्रमाओं या उपग्रहों के सहित कर रहे हैं। सारांश यह कि अन्तरिक्ष के बीच द्रव्य कहीं किसी अवस्था में और कहीं किसी अवस्था में पाया जाता है। पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाने से द्रव्य के परिमाण में कोई घटती या बढ़ती नहीं होती। उत्पत्ति और लय का यह चक्र भिन्न भिन्न स्थानों में चलता है पर द्रव्य और शक्ति का योग विश्व में सदा वही रहता है। परमतत्त्व नित्य और अक्षर है।

## 2. भूगर्भशास्त्र की उन्नति

भूगर्भशास्त्र का यथार्थ ज्ञान न होने से प्राचीनों को पृथ्वी की उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध में पक्की जानकारी नहीं थी। बहुत दिनों तक लोग धर्मग्रन्थों में दी हुई कथाओं पर ही सन्तोष किए बैठे थे। यहूदी और ईसाई यही समझे हुए थे कि पृथ्वी को बने केवल 6,000 वर्ष हुए। पृथ्वी बनी किस प्रकार इसका उत्तर देने के लिए वे मूसा की कहानी का ही सहारा लेते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि मूसा ने जो सृष्टिकथा लिखी है वह प्राचीन असुरों और हिन्दुओं की पौराणिक कथाओं से ली गई है। सन् 1750 के उपरान्त पृथ्वी की नाना तहों की जाँच शुरू हुई जिससे बहुत सी नई बातों का पता लगा। भूगर्भशास्त्र के संस्थापक बर्नर का कहना था कि पृथ्वी की जितनी तहें हैं सब की सब जल के भीतर बनी हैं। पर 1788 में हटन आदि वैज्ञानिकों ने यह निर्धारित किया कि केवल पर्तवाली तहें या चट्टानें जल के भीतर बनी हैं, इसीसे उनमें

पूर्वकाल के प्राणियों के पंजर पाए जाते हैं। बाकी जो ढोंको की आग्नेय पर्वतश्रेणियाँ हैं उनकी चट्टानें आग से पिघले हुए द्रव्य के ठंढे पड़कर जमने से बनी हैं। सन् 1830 में लायल ने यह अच्छी तरह सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी का तल लगातार होनेवाले प्राकृतिक व्यापारों के द्वारा बहुत धीरे धीरे अपने वर्तमान रूप को पहुँचा है। फिर इस विश्वास के लिए कोई जगह नहीं रह गई कि किसी दैवी प्रेरणा से पृथ्वी बात की बात में बन गई।

सबसे बड़ा काम उन अस्थिपंजरों की परीक्षा द्वारा हुआ जो पृथ्वी की नाना तहों के भीतर पाए गए। पृथ्वी के भिन्न भिन्न कल्पों का भोगकाल और उन कल्पों के प्राणियों का बहुत कुछ ब्योरा इस परीक्षा द्वारा मालूम हुआ। यह बात पूर्णतया निश्चित हो गई कि पृथ्वी की वह ठोस पपड़ी जिस पर हमलोग बसते हैं, द्रव्य अग्नि के गोले क्रमशः ठंढे पड़कर जमने से बनी है। कड़ी पपड़ी के सुकड़ने, पिघले हुए आग्नेय द्रव्य के ठंढी सतहपर आने तथा जल की क्रीड़ा से ही पृथ्वी की परतें और पहाड़ आदि बने हैं। ये शक्तियाँ अब भी बराबर कार्य कर रही हैं पर उनका कार्य इतने धीरे होता है कि हमें उसका कुछ भी पता नहीं लगता।

आधुनिक भूगर्भ विद्या की दो बातें तो सब दिन के लिए सिद्ध हो गईं। एक तो यह कि इस भूतल और उसपर के पहाड़ों आदि की रचना किसी भूतातीत चेतन शक्ति द्वारा बात की बात में नहीं हुई है। दूसरी यह कि इस सृष्टि को हुए जितना काल पैगम्बरी मतवाले समझते थे उससे कहीं अधिक काल एक एक पहाड़ या चट्टान की तह बनने में लगा है।

## 3. भौतिकविज्ञान और रसायन की उन्नति

इन 100 वर्षों के बीच विज्ञान में जो उन्नति हुई है वह किसी से छिपी नहीं है। भाप और बिजली के द्वारा मनुष्य के नाना व्यापारों में जो अपूर्व चमत्कार आ गया है उससे सत्यज्ञान का प्रभाव प्रत्यक्ष है। व्यवहार के जितने अंग हैं, क्या व्यापार, क्या कृषि, क्या शिल्प, क्या चिकित्सा सबमें विज्ञान द्वारा अपूर्व उन्नति हुई है। व्यवहारदृष्टि से भी कहीं अधिक तत्त्वदृष्टि से इस उन्नति का महत्त्व हमें स्वीकार करना पड़ता है। प्रकृति का अधिक ज्ञान होने से अब हम जगत् के रहस्यों पर पहले से कहीं अधिक ठीक विचार कर सकते हैं। विज्ञान द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर जो दार्शनिक सिद्धान्त स्थिर किए जायँगे, वे कहीं अधिक सुसंगत होंगे।

## 4. प्राणिविज्ञान की उन्नति

इस विद्या का पहले लोगों को कुछ भी ज्ञान नहीं था। इधर 100 वर्षों के बीच प्राणियों के सम्बन्ध में जितनी बातों का पता लगा है, पुराने समय के लोगों के अनुमान तक में वे नहीं आई थीं। अंगविच्छेद-शास्त्र, शरीर-व्यापार विज्ञान, वनस्पति-शास्त्र, जन्तु-विभाग

शास्त्र, जन्तुविकासशास्त्र, जातिविकासशास्त्र में इतनी नई नई बातों का पता लगा है कि हमारी आँखें खुल गई हैं। प्राणिविज्ञान की उन्नति दो रूपों में हुई है, एक तो बहुत सी बातों के अलग अलग और ठीक ठीक ब्योरे मालूम हुए हैं जिनसे बहुत कुछ काम निकलता है। दूसरे इन बातों की संगति मिलाकर देखने से प्राणतत्त्व तथा उसके कारण आदि के सम्बन्ध में हम सुव्यवस्थित सिद्धान्त स्थिर कर सकते हैं। इस क्षेत्र में डारविन ने सबसे बढ़कर काम किया। उसने यह दिखला दिया कि किस प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म कललकणिकारूप जीवों में से प्राकृतिक ग्रहण द्वारा क्रमशः अनेक रूपों के जीव प्रकट हुए हैं। अब हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि क्षुद्र कीटाणुओं से लेकर मनुष्य तक में एक ही तत्त्व का विधान नाना रूपों में हुआ है, किसी में कहीं से और किसी अतिरिक्त तत्त्व की योजना नहीं हुई है। मनुष्य की उत्पत्ति किस प्रकार क्रमशः बनमानुसों से हुई है यह अब अच्छी तरह सिद्ध हो चुका है और आदिम क्षुद्र जीवों से लेकर मनुष्य तक की शृंखला दिखाई जा चुकी है।

## उपसंहार

प्रकृति परिज्ञान की उन्नति होने से इधर जगत्सम्बन्धी बहुत से गुप्त भेद खुल गए हैं। अब केवल परमतत्त्व का भारी भेद रह गया है। वह सत्ता कैसी है जिसे वैज्ञानिक विश्व या प्रकृति कहते हैं, दार्शनिक परमतत्त्व कहते हैं और भक्तजन ईश्वर या कर्ता कहते हैं? क्या हम कह सकते हैं कि आधुनिक विज्ञान की अपूर्व उन्नति से इस 'परमतत्त्व का भेद' खुल गया है अथवा कुछ खुलनेवाला है? इस अन्तिम प्रश्न के विषय में यही कहना पड़ता है कि यह आज भी उसी प्रकार बना हुआ है जिस प्रकार 25,00 वर्ष पहले के तत्त्वज्ञों के सामने था। बल्कि यों कहना चाहिए कि इधर इस परमतत्त्व के अनेकानेक व्यक्त रूपों का जितना ही अधिक ज्ञान हमें होता जाता है, उसके दृश्य व्यापारों का जितना ही अधिक पता हमें लगता जाता है, उतना ही उसका रहस्य हमारे लिए अभेद्य और अपार होता जाता है। वही कहावत है कि 'ज्यों ज्यों भीजै कामरी त्यों त्यों भारी होय।' इस नामरूपात्मक दृश्य जगत् की ओट में वस्तुतः क्या है यह हम न जानते हैं और न जान सकते हैं। पर इस 'वस्तुतः' के फेर में हम क्यों पड़ने जायँ, उसके लिए हम क्यों हैरान रहें जबकि यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसका अस्तित्व तक है या नहीं। अतः इस काल्पनिक 'वास्तव सत्ता' के पीछे 'कल्पनात्मक दार्शनिक' ही पड़े रहें, हमें 'सच्चे वैज्ञानिकों' के समान प्रकृति के सम्बन्ध में अपने उत्तरोत्तर बढ़ते हुए ज्ञान पर आनन्द मनाना चाहिए।

वर्तमान समय में सबसे बड़ी बात यह हुई कि द्रव्य और शक्ति की अक्षरता सिद्ध हो गई। परमतत्त्व नित्य गतिशील और परिवर्तनशील है अतः विकास का चक्र भी नित्य और विश्वव्यापी है। सम्पूर्ण विश्व इस विकास नियम का वशवर्ती है। कोई वस्तु इससे परे नहीं, अतः प्रकृति की अद्वैत सत्ता हमें माननी पड़ती है। हमारा यह

अद्वैतवाद इस बात की स्पष्ट घोषणा करता है कि समस्त जगत् प्रकृति के अटल और शाश्वत नियमों पर चल रहा है। हमारे इस अद्वैतवाद द्वारा द्वैतभावापन्न दार्शनिकों के पुरुषोत्तम रूप ईश्वर, आत्मा के अमरत्व और आत्मस्वातन्त्र्य इन तीन वितंडावादों का खंडन हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि हममें से बहुतों का उन देवताओं के सब दिन के लिए विदा हो जाने पर बहुत दुःख होगा जो हमारे पुरखों को इतने प्रिय थे। उनका वियोग हमें बहुत दिनों तक खटकेगा। पर अब यह समझकर ढाँढ़स बाँधना होगा कि पुरानी बातें सब दिन नहीं बनी रह सकतीं।

दुःख की कोई बात भी नहीं है। यदि परोक्षवाद और अन्धविश्वास की पुरानी इमारत गिरी तो उसके स्थानपर विज्ञान की नई नींव पर प्रकृति का भव्य और विशाल मन्दिर खड़ा हुआ। यदि 'पुरुषविशेष ईश्वर, आत्मस्वातन्त्र्य और अमरत्व' का विश्वास हमने खोया तो उसके स्थानपर 'सत्य, सत्व और रजस् अर्थात् सौन्दर्य' की उपासना का प्रकृत धर्म स्थापित हुआ।

अबतक जो कुछ कहा गया उससे हमारे विज्ञानानुमोदित तत्त्वाद्वैतवाद की व्याख्या स्पष्ट रूप से हो गई। इस अद्वैततत्त्ववाद का आजकल के प्रायः उन सब वैज्ञानिकों ने अनुमोदन किया है जिनमें सुसंगत सिद्धान्त स्वीकार करने का साहस है। पर अब भी बहुत से ऐसे दार्शनिक और विज्ञानवेत्ता हैं जो द्वैतभाव को नहीं छोड़ सके हैं; जो द्रव्य और शक्ति, शरीर और आत्मा, जगत् और ईश्वर, प्रकृति और पुरुष को परस्पर भिन्न और स्वतन्त्र कहते चले जाते हैं। इस दशा में भी इस बात की पूरी आशा है कि इस विरोध का आगे चलकर बहुत कुछ परिहास हो जायगा और अन्त में एक अखंड, अद्वितीय सत्ता सबको मान्य होगी। सबसे विलक्षण बात तो यह है कि अधिकांश तत्त्ववेत्ता एक ओर तो प्रत्यक्षाश्रित विशुद्ध ज्ञान को स्वीकार करते जाते हैं, दूसरी ओर संस्कारवश परोक्षवाद और अन्धविश्वास के लिए मार्ग ढूँढ़ते रहते हैं। पर विज्ञान द्वारा नए नए रहस्यों के उद्घाटन से हमारा प्रकृतिसम्बन्धी ज्ञान दिन दिन बढ़ रहा है, जिससे आशा होती है कि यह विरुद्ध स्थिति न रहेगी, और एक ही अद्वितीय विश्व की भावना के भीतर सब भेदों का अन्तर्भाव हो जायगा।

# मेगास्थिनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन

# भूमिका

महाभारत की लड़ाई से लेकर 5वीं शताब्दी तक मगध के राजाओं की नामावली क्रमपूर्वक पुराणों में मिलती है, जिसका समर्थन बीच बीच में विदेशी लेखों से भी होता आया है। महाभारत के अन्त में मगध का राजा, जरासंध का पुत्र सहदेव था। उससे 35वीं पीढ़ी में अजातशत्रु हुआ जिसके राजत्व काल में महात्मा बुद्धदेव का वर्तमान रहना प्रसिद्ध है। इसमें बहुत कम संदेह है कि बुद्ध का निर्वाण 550 ईसवी पूर्व हुआ। नीचे विष्णु पुराण और लंका के पाली ग्रन्थ महाबंसो में दी हुई कुछ राजाओं की नामावली लिखी जाती है–

| विष्णुपुराण | महावंसो |
|---|---|
| 1. शिशुनाग | 6. अजातसत्रु |
| 2. काकवर्ण | 7. उदइ भद्धको |
| 3. क्षेमधर्म्मन | 8. अनुरुद्धको |
| 4. क्षत्रैयस | 9. मुंडो |
| 5. बिम्बिसार | 10. नागदसको |
| 6. अजातशत्रु | 11. सुसुनागो |
| 7. दर्भक | 12. कोलाशोको |
| 8. उदयश्व | 13. उपर्युक्त के दस पुत्र |
| 9. नन्दिवर्द्धन | 14. चन्दगुत्तो |
| 10. महानन्दि | 15. बिन्दुसारो |
| 11. सुमाल्य इ. नौनन्द | |
| 12. चन्द्रगुप्त | |
| 13. बिन्दुसार | |

इन नामावलियों में परस्पर विरोध है। किन्तु मुझे यहाँ पर केवल चन्द्रगुप्त ही के विषय में कुछ कहना है। चन्द्रगुप्त के विषय में विष्णुपुराण में इस प्रकार लिखा है "कौटिल्यप्रधान एक ब्राह्मण (चाणक्य) इन नव नन्दवंशियों का नाश करेगा। नन्दवंशियों के नष्ट होने पर मौर्य्य शूद्र राजगण पृथ्वी पर भोग करेंगे। चाणक्य ही मौर्य्यवंशीय

चन्द्रगुप्त को राज्य पर अभिषिक्त करेगा।'' चन्दगुप्त की कथा पुराणों में तो लिखी है किन्तु उसके काल इत्यादि का पता पूरे निश्चय के साथ तब तक नहीं लगा जब तक यूनानी ग्रन्थों की छानबीन नहीं की गई। धन्य वह घड़ी थी जिसमें सर विलियम जोन्स इन पुराणों की नामावली के चन्द्रगुप्त और यूनानियों के 'सैण्ड्राकोटस' (Sandrakottos) में सादृश्य देखकर चौंके थे। भली प्रकार जाँच करने पर उन दोनों के गुप्त वृत्तान्तों में भी उन्हें कुछ अन्तर न देख पड़ा। फिर क्या था, चन्द्र को बैक्ट्रिया (बलख़) के बादशाह सिल्यूकस का समकालीन मानकर उन्होंने बहुतेरे ऐतिहासिक तत्त्वों तक पहुँचने के लिए मार्ग खोल दिया। डायोडोरस (Diodorus) का 'ज़न्द्रमस' (Zandramas) भी चन्द्रमस वा चन्द्रमा से मिलाया गया जो कि संस्कृत ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त का नामान्तर है (दे. मुद्राराक्षस)। उसके जन्म की व्यवस्था, राज्य को हस्तगत करने के उपाय, यूनानी और भारतीय दोनों आख्यानों में समान पाए गए। उसके राज्य की स्थिति भी वहीं पाई गई जहाँ मेगास्थिनीज़ ने लिखा था। प्रजा का नाम 'प्रेसिआई' (Prasai) संस्कृत का 'प्राच्य' ही प्रतीत हुआ। सब से बढ़कर मगध की प्राचीन राजधानी 'पाटलिपुत्र' ही यूनानियों की 'पालीबोथ्रा' सिद्ध हुई।

अतः यूनानी ग्रन्थों के अनुसार चन्द्रगुप्त का राजत्वकाल सिकन्दर के प्रस्थान और सिल्यूकस की मृत्यु के मध्यवर्ती काल में होना चाहिए था अर्थात् 326 और 280 ई. पू. के बीच में। पर आवा के बौद्ध ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त का काल 392 और 376 ई. पू. के बीच ठहरा और लंका के पाली ग्रन्थ महाबंसो के अनुसार 381 और 347 के मध्य में। पर यूनानियों ही का निर्धारित समय ठीक माना गया क्योंकि समय निरूपण में विदेशी लोग हम लोगों से अधिक विश्वसनीय होते हैं। पहिले तो इस देश में इस विषय में यत्न ही नहीं किया गया और यदि कहीं एक आध जगह (जैसे राजतरंगिणी में) किया भी गया तो निष्फल और भ्रान्तिदायक हुआ। फिर भी, इधर के बौद्ध और पुराणादिक ग्रन्थों में आपस ही में इतना विरोध है कि उनसे कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं हो सकता। इसलिए हमें विदेशी लेखों का ही सहारा लेना चाहिए जो कि अधिक क्रमबद्ध हैं। अब यह निश्चय हो गया है कि चन्द्रगुप्त 316 ई. पू. मगध के सिंहासन पर बैठा और 24 वर्ष (292 ई. पू. तक) उसने राज्य किया।

अब यह देखना चाहिए कि यूनानियों को भारतवर्ष से किस प्रकार और कब जानकारी हुई। भारतवर्ष से व्यापार की वस्तुएँ पश्चिम के देशों में बहुत प्राचीन काल से जाती थीं। यूनानी कवि होमर (800 वर्ष ई. पू.) से भी पता लगता है कि उस काल में भी भारत की कई वस्तुओं का व्यवहार यूनानी लोग करते थे, जिनके संस्कृत नाम कुछ रूपान्तर के साथ उनके बीच प्रचलित थे। जैसे (Cassiteros) कैसिटरस=जिस्ता और (Elephas) एलिफ़स=हाथीदाँत। कैसिटरस संस्कृत का 'कस्तीर' है जिसका अर्थ जिस्ता है; यह धातु हिन्दुस्तान के किनारे के टापुओं से जाती थी। 'एलिफ़स' संस्कृत 'इभ' से सम्बन्ध सूचित करता है; 'अल' शायद अरबवालों ने उसमें जोड़ दिया हो।

बाइबिल में भी बहुत सी भारतीय वस्तुओं के नाम हैं। किन्तु ये वस्तुएँ एक के उपरान्त दूसरे देशों से होकर यूनान में जाती थीं, सीधे भारतवर्ष से उन्हें ले जानेवाला कोई नहीं था। इससे इन वस्तुओं के अन्तिम व्यापारियों से वे उस देश के विषय में जहाँ से वे जाती थीं कुछ न जान सकते थे।

इसके पीछे पारसी जाति का प्रताप चमका और यूनानियों का अन्धकार दूर हुआ। प्राचीन काल में पारसी जाति बड़ी साहसी और शक्तिसम्पन्न थी। ये पारसी शुद्ध आर्य्यवंश के थे और आर्य्य ही धर्म्म के किसी अंश का पालन करते थे। अग्नि और सूर्य्य की ये आराधना करते थे। बहुत काल तक सारे पश्चिमी एशिया में इनका डंका बजता रहा। साइरस (Cyrus) वा कैखुसरो इनमें बड़ा प्रतापी बादशाह हुआ। यह ई. पू. 558 के लगभग पारस के सिंहासन पर बैठा। इसी ने एशिया माइनर के पश्चिमी किनारे पर लीडियन (Lydians), आयोनियन (Ionians), और डोरियन (Dorians) लोगों पर चढ़ाई करके विजय प्राप्त की। ये लोग यूनानी थे। लीडिया का बादशाह उस समय क्रीसस था जो क़ारूं के नाम से प्रसिद्ध है। क़ारूं का ख़ज़ाना अब तक बोलचाल में दृष्टान्त के लिए आता है। यही यूनानी और पारसी जाति की पहिली देखा देखी हुई; इसी काल में एशिया और योरप का समागम हुआ; इस काल में यूनानी लोग भारतसम्बन्धी कथाओं को सुनने के लिए प्रस्तुत हुए। कहा जाता है कि कैखुशसरो पूर्व की ओर सिन्ध नदी तक बढ़ आया था। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि भारतवासी लोग पारसियों से बहुत प्राचीन काल से परिचित थे।

इसके उपरान्त 490 ई. पू. में दारा हिश्तस्प (Darius Hystaspes) ने हेलिस्पांट (आधुनिक डार्डेनल का मुहाना) पार किया और थ्रेसिया और मेसिडोनिया आदि यूनान के उत्तरीय देशों को विजय किया। वह इस चढ़ाई में आधुनिक रूस की जंगली जातियों को परास्त करता हुआ बहुत दूर तक बढ़ गया था। पूर्व की ओर इसने सिन्ध नदी तक अपना अधिकार बढ़ा लिया था। बलख़ और समरकन्द से लेकर मिस्र और मेसिडोनिया तक इस बादशाह के छत्र के नीचे था।

दारा का पुत्र खशयर्श वा ज़र्क्सीज़ (Xerxes) हुआ जिसने बड़ी भारी सेना लेकर ग्रीस (यूनान) पर चढ़ाई की; वहाँ के मन्दिरों को लूटा और पुजारियों को क़ैद किया। 430 वर्ष ईसा से पहिले सलेमिस (Salamis) और मेकाली (Mycale) की प्रसिद्ध लड़ाइयाँ हुईं जिनका परिणाम यह हुआ कि योरप में मेसिडोनिया और थ्रेसिया का राज्य भी पारसियों के हाथ से निकल गया। धीरे धीरे यूनानी लोग जीविका के लिए पारस में आने लगे जहाँ के धन और वैभव की बड़ाई से सारा यूनान गूँज रहा था। पारस के बादशाह यूनानी सेना भी अपने यहाँ नौकर रखने लगे।

इन्हीं पारसी चढ़ाइयों के पीछे ही पहले पहिले यूनानियों को भारतवर्ष की स्थिति आदि से जानकारी हुई। हिकेटैयस (Hekataios of Miletos) ही पहिला इतिहास लेखक हैं जिसने स्पष्ट रूप से इस देश की चरचा की (ई. पू. 549-486)। हिरोडोटस

(Herodotus) ने कुछ विशेष ब्योरे के साथ इस देश और इसके निवासियों के विषय में लिखा। किन्तु इसकी पहुँच सिन्ध नदी ही तक थी। इसके पीछे यूनानी हकीम टीशियस (Ktesias) ने, 401 ई. पूर्व में जब कि वह पारस में बादशाह अर्दशीर ममनून (Artaxerxes Memnon) का राजचिकित्सक था, बहुत सी सामग्री भारत सम्बन्धी वृत्तान्त के लिए इकट्ठी की। उसका यूनानी भाषा में इस विषय पर पहिला ग्रन्थ हुआ। किन्तु इसके विवरण किस्से कहानियों से भरे थे; तोते और बन्दरों ही की चरचा इनमें अधिक थी।

अतएव सिकन्दर के साथियों के ही भाग्य में इस देश और इसके निवासियों का ठीक ठीक वृत्तान्त लिखना बदा था। इन्हीं लोगों ने सिन्ध नदी के पूर्व के देशों का हाल पहिले पहिल लिखा। सिकन्दर के साथ बहुत से विद्वान पुरुष भी आए थे। बेटो (Baeto), डायोग्निटस (Diognetos), न्यार्कस (Nearchos), आनेसिक्रिटस (Onesikritos) अरिस्टोब्युलस (Aristobulos), कालिस्थिनीज़ (Kallisthenes) इत्यादि के विवरण इसी चढ़ाई के बीच लिखे गए। ये पुस्तकें अब नहीं हैं किन्तु उनका सारांश स्ट्रेबो (Strabo), प्लिनी (Pliny) और एरियन (Arrian), में उद्धृत मिलता है। सिकन्दर की चढ़ाई भारतवर्षीय इतिहास को खोलनेवाली सबसे प्राचीन घटना है इसलिए इसके संक्षिप्त वृत्तान्त से पाठकों का मनोरंजन ही नहीं होगा वरन् इस ग्रन्थ के पढ़ने में भी सहायता पहुँचाने के लिए आवश्यक होगा।

ऊपर जर्क्सीज़ (Xerxes) की चढ़ाई की बात लिखी जा चुकी है जिसका परिणाम यह हुआ कि मेसिडोनिया का बादशाह स्वतन्त्र हो गया। अस्सी वर्ष के उपरान्त मेसिडोनिया का बादशाह फिलिप हुआ जिसने सारे ग्रीस को मिला कर एक किया। उसके पुत्र महाप्रतापी सिकन्दर ने सिंहासन पर बैठते ही अपने देश की हानियों का बदला चुकाने के लिए पारस की ओर प्रस्थान किया। 334 ई. पू. इसने हेलिस्पाण्ट (डार्डेनल का मुहाना) पार किया और वह एशिया माइनर में पहुँचा जहाँ पर बहुत से यूनानी लोग जो पारस की प्रजा थे उसकी सेना में मिल गए। पारसी साम्राज्य का अधीश्वर उस समय तृतीय दारा (Darius Codomanus) था। इधर तो सिकन्दर सार्डिस (Sardis) तक अधिकृत कर चुका था और उधर दारा का सबसे योग्य सेनापति ममनून (Memnon) दूसरी ही युक्ति बाँध रहा था। वह जहाज़ी बेड़ा इकट्ठा करके यूनान की ओर इस अभिप्राय से बढ़ रहा था कि मेसिडोनिया पर जाके आक्रमण करें; और सिकन्दर को अपने देश की रक्षा के लिए लौटना पड़े। किन्तु वह बीच ही में मर गया और पारसी साम्राज्य की रक्षा की आशा भी उसी के साथ चली गई। इसस (Issus) में दारा ने बहुत बड़ी पारसी सेना लेकर सिकन्दर का सामना किया किन्तु वह ठहर न सका। सिकन्दर इफरात (Euphrates) और दजला (Tigris) को पार करके असीरिया में आया। यहाँ अरबेला की अन्तिम लड़ाई हुई और कायर दारा पीठ दिखाकर पूरब की ओर भागा। सिकन्दर बाबिलन पर अधिकार करके ख़ास

पारस वा परसिस (Persis-फ़ारस मुहाने के पूर्वी तट का देश) की ओर झुका और उसने सहज ही में सूसा वा शौशन[1] परसिपोलिस (Persepolis) और पस्सगर्द (Passargadae) आदि पारस की प्राचीन राजधानियों पर अधिकार कर लिया। उस समय मुख्य राजधानी परसिपोलिस ही थी इससे सिकन्दर को वहाँ पर बहुत सा ख़ज़ाना हाथ लगा; उसे एक ज़िन्द आवेस्ता की प्रति भी मिली जो 12000 चर्म्मखण्डों पर सोने के अक्षरों में लिखी हुई थी।

इस बीच में दारा (Darius III) इकबटना (आ. हमदन) में इस आशा से पड़ा था कि सिकन्दर को इन तीनों राजधानियों के पाने से सन्तोष हो जायगा और वह लौट जायगा। पर उसकी यह आशा व्यर्थ हुई। जब उसने सुना कि सिकन्दर उसकी ओर बढ़ रहा है तो उसने अपने कुटुम्ब को कैस्पियन सागर के दक्षिण पूर्व तटस्थ मज़न्दरन (Hyrkania) नाम के अलबुर्ज़ के पहाड़ी देश में भेज दिया, और आप भी उसी ओर नगर का ख़ज़ाना (7000 टेलंट वा 1610000 पाउंड) लेकर रवाना हुआ और पार्थिया में जा निकला। उसका विचार पारसी साम्राज्य की पूर्वीय सीमा बैक्ट्रिया (बलख़, अफ़ग़ानिस्तान के उत्तर) में भागने का था। किन्तु उसके इस विचार के पूरे होने की सम्भावना दिन दिन घटती जाती थी। उसके बचे बचाए साथी भी उसे उसकी कायरता से अप्रसन्न होकर धीरे धीरे छोड़ते जाते थे।

दारा को इकबटना छोड़े आठ ही दिन हुए थे कि सिकन्दर उसकी खोज में वहाँ पहुँचा। यहाँ पर उसने सूसा और परसिपोलिस आदि नगरों की लूट का माल जमा किया और 7000 मेसिडोनियन सिपाही परमीनियो (Permenio) के अधिकार में छोड़कर वह आगे बढ़ा। उसे पूरी आशा थी कि वह दारा को 'कैस्पियनद्वार' तक पहुँचते पहुँचते पकड़ लेगा। 11 दिन लगातार चलकर वह रेगी (Rhagae) नगर तक पहुँचा जहाँ से 'कैस्पियनद्वार' 25 कोस दक्खिन पड़ता था। यहाँ से वह फिर आगे बढ़ रहा था कि मार्ग में उसे बजिस्तनीज़ (Bagistanes) और अंटिबेलस (Antibelus) नाम के दो पारसी मिले जिन्होंने उससे कहा कि दारा तो पहिले ही से राज्यच्युत कर दिया गया है और अब उसका प्राण जाया चाहता है।

बैक्ट्रिया (बलूख़) के क्षत्रप बेसस (Bessus), सीस्तान (Drangiana) के क्षत्रप बरसयंतीज (Barsaentes), और रक्षकों के प्रधान नायक नबुरज़नीज़ (Nabarzanes) ही अपने अपने सिपाहियों के सहित दारा के साथ रह गए थे। इन तीनों को इस विपत्ति के समय विश्वासघात सूझा। बेसस के चित्त में पारस के भूविख्यात साम्राज्य को हथियाने की इच्छा नाचने लगी। थारा नामक पार्थिया के एक गाँव में इन्होंने दारा को सोने की बेड़ियों से बाँधा और एक ढपे हुए रथ में बैठाकर, जो चारों ओर

1. मुरग़ाब के मैदान में इस प्राचीन राजधानी के खँडहर अब तक पड़े हैं। दारा (Darius) और खशयर्श (Xerxes) के महलों के अवशेष-स्तम्भ, फाटक, और सीढ़ियाँ इत्यादि अब तक प्राचीन पारसी बादशाहों के महत्त्व का स्मरण दिलाती हैं।

बैक्ट्रियन सेना से घिरा था, वे पूरब की ओर भागने लगे। बेसस की इच्छा थी कि झटपट बैक्ट्रिया (बलख़) में पहुँचकर सिकन्दर के विरुद्ध प्रबल सेना खड़ी करें। किन्तु सिकन्दर की दारा को जीता पकड़ने की इच्छा इससे भी अधिक प्रबल थी। वह ज्यों त्यों करके बहुत सी कठिनाइयों के उपरान्त इन लोगों पर आ टूटा। बेसस नहीं चाहता था कि दारा जीता हुआ सिकन्दर के हाथ में पड़ने पावे। इसलिए, उसने दारा से रथ पर से उतर कर अपने साथ भागने को कहा। जब बादशाह ने न माना तो क्रुद्ध होकर तीनों ने अपने अपने भालों से उसे घायल करके वहीं छोड़ दिया और अपना रास्ता लिया। पालिस्ट्रेटस नामी सिकन्दर का एक सिपाही ढूँढ़ते ढूँढ़ते दारा के पास उस समय पहुँच गया था जब वह अपना प्राण छोड़ रहा था। उसने मरते समय केवल सिकन्दर को उस कृपा के लिए धन्यवाद दिया जो उसने उसके कुटुम्ब के साथ दिखाई थी और इस बात पर अपनी प्रसन्नता प्रकट की कि उसका वृहत् पारसी साम्राज्य ऐसे दयावान विजयी के हाथ में गया। सिकन्दर ने बड़ी धूमधाम के साथ दारा के शरीर को पारस के शाही समाधिस्थल में गड़वाया।

इस घटना के पीछे सिकन्दर का कोप बेसस के ऊपर बहुत बढ़ा। 329 ई.पू. में वह सीस्तान और अफ़ग़ानिस्तान (Aria, Draugiana, and Archosia) आदि प्रदेशों को जय करता हुआ बैक्ट्रिया (बलख़) में जा धमका जहाँ पर बेसस ने अपने को पारस का बादशाह प्रसिद्ध कर रक्खा था। सीस्तान के क्षत्रप बरसयंतीज़ ने, जो दारा के मारने में बेसस का सहयोगी था, पहिले ही से भाग कर भारतवासियों के बीच शरण ली थी। बेसस उत्तर की ओर भागा और आकास नदी (आमू दरिया) को पार करके सारदियाना (आ. तुर्किस्तान) में जा पहुँचा। जाते समय वह नदी की समस्त नावों को नष्ट करता गया जिससे सिकन्दर उतर न सके। पर यहाँ सिकन्दर ने चमड़े के डेरों में भूसा भरवा कर उन्हें नदी में छोड़वा दिया और इस प्रकार अपनी सेना आक्सस पार उतार ले गया। बेसस के साथी यह देखते ही घबड़ा गए और वह (बेसस) एक गाँव में टालमी द्वारा गिरिफ्तार किया गया। सिकन्दर ने बेड़ी डलवाकर उसे अपने सामने बुलाया और कोड़े लगवा कर बैक्ट्रिया (बलूख़) में बन्दी बनाकर भेज दिया। सिकन्दर समरकन्द (Marcanda) होता हुआ उत्तर की ओर जक्सरटीज़ (सर दरिया) नदी के किनारे उस स्थान तक पहुँच गया जहाँ पर प्राचीन पारसी विजयी कैखुसरो (Cyrus) ने कैरा (Kyra or Kyrapolis) नगर बसाया था। यहाँ पर सिकन्दर ने अपनी उत्तरी चढ़ाई की हद की भाँति अलेग्ज़ेंड्रिया धा इस्कन्दरिया (Alexandria and Jaxartem) बसाया। सिकन्दर को इन प्रदेशों में शान्तिस्थापन करने के लिए बहुत प्रबन्ध करना पड़ा। यहीं उस बैक्ट्रियन सरदार आक्सीरेटीज़ (Oxyrates) की कन्या रोक्साना प्राप्त हुई जिसके साथ उसने अपना विवाह किया। 328 ई. पू. में वह ज़रयस्पा (बलूख़ के पास) को लौट आया और जाड़े भर वहीं रहा। यहीं पर उसने बेसस को बुलाया और अपने स्वामी के प्रति विश्वासघात के लिए बहुत बुरा

भला कहा और उसका नाक, कान कटवाकर इकबटना (हमदन) में क़तल करने के लिए भेजवा दिया।

इसके पीछे सिकन्दर ने दक्षिण की ओर भारतवर्ष पर चढ़ाई करने का विचार किया। हिन्दूकुश को पार करता हुआ वह 327 ई.पू. में अपनी प्रबल सेना के साथ काबुल के पास आ पहुँचा। पंजाब उस काल में बहुत से राजाओं के बीच बँटा था जिनमें से कई एक झेलम और चेनाब के मध्यवर्त्ती देश के अधीश्वर महाराज पोरस के आधीन थे। सिकन्दर के साथी इतिहासलेखकों ने यह भी लिखा है कि उसके आगे का प्रदेश भी पोरस (Porus) नाम के एक दूसरे राजा के ही आधीन था। इससे स्पष्ट है कि पोरस इन राजाओं का नाम नहीं था वरन् वह विशाल वंश 'पौरव' को सूचित करता था। यह बात पहिले पहल प्रो. लैसन को विदित हुई। इसके सिवाय, प्लूटार्क (Plutarch) ने यह भी लिखा है कि 'सिकन्दर के प्रतिद्वन्द्वी पोरस के पितामह का नाम जिगेसियस (Gegasious) था' जो कि अवश्य चन्द्रवंशियों के आदि पुरुष 'ययाति' से मिल जाता है। महाराज पोरस के आधीन कई एक राजा उत्तर से आए हुए शक लोगों की सन्तान थे, जो सदा महाराज पोरस से जो शुद्ध क्षत्रिय वंश के थे, असन्तुष्ट रहा करते थे। इन लोगों ने यह अच्छा अवसर बिचारा और वे भेंट ले लेकर सिकन्दर के यहाँ हाज़िर हुए। तक्षशिला (Taxila) का राजा इनमें मुख्य था। कहते हैं कि वह तक्षक वंश का था जो नागवंशियों का आदि पुरुष था। ये लोग सर्प की पूजा करते थे। जब सिकन्दर तक्षशिला में गया उसने वहाँ दो बड़े सर्प राजा के यहाँ देखे थे। 50 हाथी लेकर तक्षशिला का राजा सिकन्दर से मिला और उसने आधीनता स्वीकार की। 326 ई.पू. में सिकन्दर ने अटक के पास सिन्ध पार किया और वह तक्षशिला में जाकर टिका। यहीं पर उसने राजा की भी सेना को अपनी सेना में मिलाया और फिर वह पोरस से युद्ध के लिए पूरी तैय्यारी करने लगा। तक्षशिला ही में सिकन्दर ने मगध के विस्तृत और ऐश्वर्य्यशाली राज्य की चरचा सुनी। उस समय मगध के सिंहासन पर महाप्रतापी महानन्द आसीन था। नन्दों की सभा से निकाला हुआ राजकुमार चन्द्रगुप्त भी उन दिनों तक्षशिला ही में था। सिकन्दर से उससे वहीं भेंट हुई। महानन्द के प्रताप और ऐश्वर्य्य की कथा राजकुमार ने सिकन्दर से कही इस पर उस देश पर चढ़ाई करने की बात छेड़ी गई। सिकन्दर ने सुझाया कि यदि वे दोनों (चन्द्रगुप्त और सिकन्दर) मिलकर मगध पर चढ़ाई करैं तो चन्द्रगुप्त को मगध का सिंहासन प्राप्त हो सकता है। कई दिनों तक चन्द्रगुप्त सिकन्दर के कैम्प में रहा, पर पीछे से उसने सिकन्दर को इतना चिढ़ा दिया कि उसको (चन्द्रगुप्त को) आप ही वहाँ से भागना पड़ा।

टैक्सिला तथा उसके निकटवर्ती देशों का फ़िलिपस (Phillipus) को क्षत्रप बनाकर सिकन्दर आगे बढ़ा और बेरोकटोक झेलम के किनारे पर आ पहुँचा। यदि ये देशद्रोही राजा सिकन्दर से न मिल जाते तो उसका यहाँ तक बढ़ आना बहुत

कठिन था। झेलम के दूसरे किनारे पर महाराज पोरस की सेना मार्ग रोकने को पड़ी थी। जिस कौशल के साथ सिकन्दर ने अपनी सेना सहित झेलम (Hydaspes) पार किया और पोरस को हराया वह भारत के इतिहास में प्रसिद्ध ही है।

पुरु पराजय के पीछे सिकन्दर ने अपनी विजय के उपलक्ष में झेलम के किनारे देवताओं को बलिप्रदान किया और बड़ी धूमधाम के साथ उत्सव मनाया। उसने दो नगर निर्म्माण करने की आज्ञा दी—एक तो 'निकेआ' (Nikaea) जो झेलम के पूरबी किनारे पर निर्मित हुआ और दूसरा ब्यूकिफ़ेलिया जो उसके पच्छिमी किनारे पर उसके प्यारे घोड़े ब्यूकिफ़ेलस की मृत्यु के स्मारक में स्थापित किया गया। सिकन्दर आगे पूरब की ओर चेनाब (अकेसिनीज़—Akesines) की तरफ़ बढ़ा। ग्लौकी (Glaukoe) का प्रदेश जिसमें 37 नगर और बहुत से ग्राम थे पोरस के राज्य में मिला लिया गया। इसी समय अबिसरीज़ (Abisares=अभिसार) तथा एक दूसरे पोरस ने जो पहिले पोरस से शत्रुता रखता था, आधीनता का सन्देसा भेजा। इसके अनन्तर सिकन्दर ने रावी (Hydraotes-हाइड्राओटीज़) पार किया। यहाँ केठियन (Katheans) आदि कुछ स्वतन्त्र भारतवासियों ने 'सङ्गल' नामक नगर में एकत्रित होकर उसका सामना किया। नगर के चारों ओर छकड़ों की तिहरी पंक्ति खड़ी करके वे रक्षा में तत्पर हुए। सिकन्दर ने नगर के भीतर प्रवेश किया और बहुत से मनुष्यों को कटवाया और बन्दी किया। यहाँ से चलकर वह सतलज (हाइफ़ेसिस—Hyphasis) के किनारे पहुँचा। सिकन्दर ने सुना कि उस नदी के आगे एक रेगिस्तान पड़ता है जो गंगा नदी तक चला गया है और उसके आगे गंगदरिदी (Gangdaridae) लोगों का प्रदेश है जो बड़े बीर और साहसी हैं और हाथियों की संख्या और शिक्षा के लिए प्रसिद्ध हैं। सिकन्दर ने तुरन्त सतलज पार करने की आज्ञा दी। किन्तु यहीं ऐसा अवसर हुआ जब सिकन्दर के आज्ञापालन में विलम्ब हुआ। बहुत लालच और धमकी देने पर भी सिपाहियों ने आगे बढ़ना स्वीकार न किया। अपनी पूरबी चढ़ाई के अन्तिम स्थान को सूचित करने के लिए उसने सतलज के किनारे 12 अत्यन्त ऊँची और लम्बी चौड़ी बेदियाँ उठवाईं; देवताओं को बलि दिया और धूमधाम के साथ उत्सव मनाया। सतलज से पश्चिम का सारा देश उसने पोरस के राज्य में मिला दिया।

लाचार लौटकर सिकन्दर फिर झेलम के किनारे आया और ई. पू. 326 नवम्बर के महीने में पोरस और तक्षिलस की सहायता से 2000 नावों का बेड़ा बनवाकर उसने सिन्ध नदी के मुहाने की ओर प्रस्थान किया। पाँचों नदियों के संगम पर उसने अलेग्ज़ेंड्रिया (Alexandria) नाम का एक नगर बसाया और सिन्ध के मुहाने पर पहुँच के 'पटल' (आधुनिक हैदराबाद—सिन्ध) की नींव दी। यहाँ से फिर उसने कुछ सेना तो जहाज़ी बेड़े के नायक न्यार्कस (Nearchus) के अधिकार में अरब समुद्र की राह से यूफ़्रेटिस (इफ़रात) के मुहाने की ओर भेजी और आप खुश्की के रास्ते रवाना हुआ। सिकन्दर ने भारतवर्ष के किसी प्रान्त पर अधिकार नहीं किया, केवल अपने बसाए चारों नगरों

में कुछ यूनानी सेना और तक्षशिला में एक यूनानी हाकिम वह छोड़ता गया।

ज्यों ही सिकन्दर हिन्दुस्तान छोड़कर पीछे लौट रहा था भारतवासियों ने तक्षशिला के यूनानी हाकिम को मार डाला। सिकन्दर ने एक दूसरा हाकिम नियत करके भेजा जिसने आकर मारकाट मचाई और महाराज पोरस को मरवा डाला। अन्त में उसको भी देश छोड़कर भागना पड़ा क्योंकि इसी बीच में मौर्य्य चन्द्रगुप्त ने नवनन्दों का नाश करके मगध का सिंहासन प्राप्त किया और असंख्य सेना लेकर पंजाब को यूनानियों से खाली कर दिया। भारतवर्ष के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक इसका प्रचण्ड शासन स्थापित हो गया।

इधर जाते जाते सिकन्दर बाबिलन पहुँचा जहाँ जून 323 ई. पू. तीसरे पहर के समय 32 वर्ष 8 महीने की अवस्था में 12 वर्ष 8 महीने राज्य करके यह जगद्विजयी परलोक सिधारा। उसके मरने पर उसके विस्तृत राज्य का बँटवारा हुआ जिसके अनुसार बैक्ट्रिया (बल्ख़)[1] सिरिया के सिल्यूकस के बाँट में पड़ा। किन्तु यह प्रबन्ध बहुत दिन नहीं चला। सब क्षत्रप लोग सिकन्दर के विस्तृत राज्य को हथियाने की चेष्टा करने लगे। गहिरा अंधाधुंध मचा। सिल्यूकस भी अपने भाग्य की परीक्षा करने को पहुँचा। पर्डिकाज़ (Perdiccas) ने जो बाबिलन में सिकन्दर के बच्चे का निरीक्षक था, राज्य को अपने अधिकार में रखना चाहा। किन्तु वह मारा गया और मिडिया के क्षत्रप पिथो ने अपना अधिकार जमाया। पर और दूसरे क्षत्रपों ने मिलकर उसे भी उतार दिया और यूमेनिस (Eumenes) को 316 ई. पू. में सिकन्दर के सिंहासन पर बैठाया। किन्तु यूमेनिस भी अंटिगोनस (Antigonus) नामी सिकन्दर के एक सेनापति के हाथ में पड़ गया। अन्त में अंटिगोनस को भी राज्य बैक्ट्रिया के सिल्यूकस के हवाले कर देना पड़ा। यही अन्त में सिकन्दर का उत्तराधिकारी और विख्यात 'सिल्यूसडी' (Seleucidae) वंश का संस्थापक हुआ। सिल्यूकस इसके अनन्तर बाबिलन को हस्तगत करके 312 ई.पू. में बैक्ट्रिया (बलख़) में अपना अधिकार स्थिर करने के लिए आया। यहीं से उसने पंजाब को फिर प्राप्त करने की आशा से भारतवर्ष पर चढ़ाई की और चन्द्रगुप्त से हार खाई।

जस्टिनस (Justinus, XV.4) सिल्यूकस निफेटर के विषय में लिखता है, "उसने अपने तथा सिकन्दर के दूसरे उत्तराधिकारियों के बीच मेसिडोनियन साम्राज्य के बँट जाने के पीछे पूरब में बहुत सी लड़ाइयाँ की। पहिले उसने बाबिलोनिया को छीना फिर बैक्ट्रिया को अधिकृत किया। इसके पीछे वह हिन्दुस्तान में गया, जिसने सिकन्दर

1. बैक्ट्रिया वा बलूख़-संस्कृत में इस देश का नाम 'बाल्हीक' है। मुद्राराक्षस के द्वितीय अंक के ये वाक्य ध्यान देने योग्य हैं, "सुनिए शक, यवन, किरात, काम्बोज, पारस, बाल्हीकादिक देश के चाणक्य के मित्र राजों की सहायता से और चन्द्रगुप्त पर्वतेश्वर के बलरूपी समुद्र से कुसुमपुर (पटना) चारों ओर से घिरा हुआ है।"

की मृत्यु के उपरान्त अपने गरदन पर से दासत्व का जुआ हटाने के बिचार से हाकिमों (गवर्नरों) को मार डाला था। सैंड्राकोटस ने उसको स्वाधीन किया था; किन्तु जब विजय प्राप्त हो गई तब उसने स्वाधीनता के नाम को बन्धन से बदल दिया क्योंकि वह उन्हीं लोगों को दासत्व से पीड़ित करता था जिन्हें उसने विदेशीय राज्य से बचाया था।''

''इस प्रकार राजमुकुट प्राप्त करके सैंड्राकोटस उस समय हिन्दुस्तान का स्वामी था जब सिल्यूकस अपने आगामी महत्त्व की नींव दे रहा था। सिल्यूकस ने उससे सन्धि की, और पूरब के सब कामों को ठीक करके वह अंटिगोनस (Antigonus) के विरुद्ध लड़ाई में तत्पर हुआ (302 ई. पू.)''

अपिएनस (Appianus—Syr. C. 55) लिखता है–''उसने (सिल्यूकस ने) सिन्ध पार किया और भारतवासियों के राजा सैंड्राकोटस से लड़ाई ठानी; अन्त में उसने मित्रता कर ली और विवाह का नाता जोड़ा।''

स्ट्रेबो (Strabo—XV. p. 724)–''सिल्यूकस निफेटर ने सैंड्राकोटस को एरियानी का बहुत बड़ा भाग दिया।''

प्लूटार्क (Plutarch Alex 62)–''क्योंकि थोड़े ही दिन पीछे राजा सैंड्राकोटस ने सिल्यूकस को 500 हाथी भेंट किए और छः लाख आदमियों के साथ सारे भारतवर्ष को चढ़ाई करके परास्त किया।''

सिल्यूकस की इस चढ़ाई के विषय में कोई कोई कहते हैं कि वह गंगा के किनारे पटना (पाटलिपुत्र) के पास तक चला आया था। किन्तु यह बात बिलकुल झूठ है। लैसन, शिलजिल और श्वानबक आदि विद्वानों ने यह अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि सिल्यूकस केवल सिन्ध नदी के इस पार तक आया था। यहीं पर उसने चन्द्रगुप्त की असंख्य सेना और उसके अखंड प्रताप को देखकर हार मानी और सन्धिपत्र लिखा जिसके अनुसार उसे काबुल के दक्षिण का सारा देश चन्द्रगुप्त को देना पड़ा। उसने अपनी कन्या भी चन्द्रगुप्त को ब्याह दी। यह सब हो जाने पर चन्द्रगुप्त ने अपनी सभा में एक यूनानी राजदूत रखना स्वीकार किया। अतएव मेगास्थिनीज़ नामक एक व्यक्ति जो अर्कोशिया (अफ़गानिस्तान) के क्षत्रप साइबरटिअस के यहाँ सिल्यूकस के प्रतिनिधि की भाँति रहता था, राजदूत बनाकर पाटलिपुत्र (पटना) भेजा गया। कहते हैं कि वह पाँच वर्ष चन्द्रगुप्त के साथ रहा जिसके बीच उसने भारतवर्ष का विवरण (Ta Indika) 'टा इंडिका' के नाम से लिखा। अभाग्यवश यह पुस्तक अब नहीं है केवल उसके अंश इधर उधर दूसरे यूनानी तथा रोमन ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं।[1]

---

1. मेगास्थिनीज़ के पीछे डिमाकस (Deimachos) पटना में बहुत दिन तक रहा। इसको सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार (Allitrochades वायु पु. भद्रसार कहीं–'अमित्रघट') के यहाँ भेजा था। अपोलोनियस (Apollonius and Tyna) की भी एक यात्रा है जो असीरियन डेमिस (Damis) के साथ 42 व 45 ईस्वी के बीच तक्षशिला में आया था, उसने ज्वालामुखी को देखा था। →

इन्हीं छितराए हुए खंडों को डॉक्टर श्वानबक (Dr. Schwanbeck) नामक एक पश्चिमी विद्वान ने एकत्रित करके इतिहास के खोजियों का असीम उपकार किया है। इन्हीं महाशय के अलौकिक परिश्रम से आज साठ वर्ष से यह खंड 'मेगास्थिनीज़ इंडिका' के नाम से संसार में प्रसिद्ध हैं।

–रामचन्द्र शुक्ल

रमई पट्टी–मिरज़ापुर
10 जुलाई 1905।

→ ग्रीक लोगों में Eratosthenes, Hipparchos, Polemo, Muaseos, Apollodoros, Agatharchides, Alexander Polyhider, Strabo, Marinos of Tyre और Ptolemy और रोमन लोगों में P. Terentius Varro of Atax, M. Vipsanius Agrippa, Pomponius, Mela, Seneca, Pliny; Salinus आदि ने भी इस विषय पर लिखा है।

## खंड 1

### (Diod. II 35-42)

(35) भारतवर्ष, जो आकार में चौखूँटा है पूर्व तथा पश्चिम की ओर महासागर से घिरा है, परन्तु उत्तर की ओर यह हिमोदास पर्वत (Mount Hemodas) द्वारा सीदिया के उस भाग से अलग किया गया है जिसमें वे सीदियन निवास करते हैं जो सकाई (Sakai) कहलाते हैं; और चौथा अर्थात् पश्चिमी पार्श्व इण्डस (सिन्ध) कहलानेवाली एक नदी से घिरा है जो कदाचित् नाइल को छोड़ संसार की सब नदियों से बड़ी है। सारे देश का विस्तार पूर्व पश्चिम 28000 स्टेडिया कहा जाता है और उत्तर दक्षिण 32000 स्टेडिया। इतना बड़ा विस्तार होने के कारण यह पृथ्वी के लगभग समस्त क्रान्तिवृत्त (Tropic Zone) को छेंके हुए जान पड़ता है और वास्तव में भारत की अन्तिम छोर पर धूपघड़ी की कील बहुधा छाया डालती हुई नहीं देखी जाती, और सप्तऋषि का मण्डल रात में अदृश्य रहता है, और अत्यन्त दूरस्थित भागों में आर्कटरस (Arcturus) तक दृष्टि से लोप हो जाता है। इसी के अनुकूल यह भी कहा जाता है कि छाया वहाँ दक्षिण की ओर पड़ती है।

भारतवर्ष में बड़े भारी भारी पहाड़ हैं जो हर प्रकार के फलदार पेड़ों से भरे हैं और जिनमें बहुतेरे विस्तृत उपजाऊ मैदान पड़े हुए हैं जो सुन्दर तो (एक दूसरे से) घट बढ़ कर हैं पर नदियों के समूह से सब एक रूप से ढके हैं। भूमि का अधिक भाग सिंचाव में है। अतएव उसमें एक वर्ष के भीतर ही दो फ़सल पैदा होती है। इसके सिवाय यह सब प्रकार और सब परिमाण के बल और डीलडौल के जन्तुओं—मैदान के चौपायों और आकाश के पक्षियों से भरी है। यहाँ हाथियों की बहुतायत है जोकि बड़े विशाल आकार के होते हैं; यहाँ की भूमि खाने की सामग्री इतनी अधिक बहुतायत से प्रदान करती है कि वह इन जन्तुओं को उनसे कहीं अधिक बल में बढ़ा देती है जो लिबया[1] (Libya) में पाए जाते हैं। चूँकि ये भारतवासियों द्वारा संख्या में बहुत से पकड़े जाते हैं और युद्ध के लिए सिखाए जाते हैं इसलिए विजय का पल्ला फेर देने में ये बड़े काम के होते हैं।

1. लिबया=मध्य अफ्रिका का प्राचीन नाम।

(36) इसी प्रकार निवासी लोग निर्बाह की सब सामग्री बहुतायत से पाकर प्रायः मामूली डीलडौल से अधिक होते हैं और अपनी गर्बीली च्येष्टा के लिए प्रसिद्ध होते हैं। वे कला कौशल में भी बड़े निपुण पाए जाते हैं; जैसी कि ऐसे मनुष्यों से आशा की जा सकती है जो स्वच्छ वायु सांस लेते हैं और अत्यन्त उत्तम जल पान करते हैं। भूमि तो अपने ऊपर हर प्रकार के फल जो कृषि द्वारा जाने गए हैं उपजाती ही है, पर उसके गर्भ में भी सब प्रकार के धातुओं की अनगिनत खाने हैं; क्योंकि उसमें सोना और चाँदी बहुत होता है, ताँबा और लोहा भी कम नहीं, और जस्ता और दूसरे धातु भी होते हैं जो व्यवहार और आभूषण की वस्तु तथा लड़ाई के हथियार और साज इत्यादि बनाने के निमित्त काम में लाए जाते हैं।

अनाज (Cereals) के अतिरिक्त सारे भारतवर्ष में जो नदी नालों की बहुतायत के कारण भली प्रकार सींचा रहता है, जुआर इत्यादि भी बहुत पैदा होता है; और अनेक प्रकार की दाल, चावल और बास्फोरम (Bosphorum) कहलानेवाला एक पदार्थ तथा और बहुत से खाद्योपयोगी पौधे उत्पन्न होते हैं जिनमें से बहुतेरे तो एक साथ होते हैं। भूमि पशुओं के निर्वाह योग्य तथा और खाद्य पदार्थ भी प्रदान करती है जिनके विषय में लिखना कठिन है। अतः यह माना जाता है कि भारतवर्ष में अकाल कभी नहीं पड़ा है और खाने की वस्तुओं की साधारणतः महँगी कभी नहीं पड़ी है। चूँकि यहाँ वर्ष में दो बार वर्षा होती है—एक जाड़े में जबकि गेहूँ की बोआई होती है जैसा कि अन्य देशों में, और दूसरी गरमी के टिकाव के (Solstice) समय जो तिल और ज्वार के बोने का उपयुक्त ऋतु है—अतएव भारतवर्ष के निवासी प्रायः सर्वदा वर्ष में दो फ़सल काटते हैं; और यदि इनमें से एक फ़सल कुछ बिगड़ भी जाती है तो लोगों को दूसरी का पूरा विश्वास रहता है। इसके अतिरिक्त एक साथ होनेवाले फल और मूल जो दलदलों में उगते हैं। और भिन्न भिन्न मिठाई के होते हैं मनुष्य को प्रचुर निर्बाह सामग्री प्रदान करते हैं। बात यह है कि देश के प्रायः समस्त मैदानों में ऐसी सीड़ रहती है जो सम भाव से उपजाऊ होती है, चाहे वह नदियों द्वारा प्राप्त हुई हो चाहे गरमी की वर्षा के जल द्वारा जो कि प्रत्येक वर्ष एक नियत समय पर आश्चर्य्यजनक क्रम के सथ बरसा करता है; और कड़ी गरमी जो पड़ती है, वह मूलों को पकाती है विशेषतः कसेरू को।

परन्तु, इतने पर भी भारतवासियों में बहुत सी ऐसी रीतियाँ हैं जो उनके बीच अकाल पड़ने की सम्भावना को रोकने में सहायता देती हैं; क्योंकि दूसरी जातियों में युद्ध के समय में भूमि को नष्ट करने और इस प्रकार उसको परती ऊसर कर डालने की चाल है; पर इसके विरुद्ध भारतवासियों में, जो कृषकसमाज को पवित्र और अबध्य मानते हैं, भूमि जोतनेवाले यद्यपि उनके पड़ोस में युद्ध हो रहा है तो भी किसी प्रकार के भय की आशंका से विचलित नहीं होते; क्योंकि दोनों पक्ष के लड़नेवाले युद्ध के समय एक दूसरे का संहार करते हैं, परन्तु जो खेती में लगे हुए

रहते हैं उन्हें सर्वतोभाव निर्विघ्न पड़ा रहने देते हैं। इसके सिवाय न तो वे शत्रु के देश का अग्नि से सत्यानाश करते हैं और न उसके पेड़ काटते हैं।

(37) भारत में बहुत सी बड़ी और जलयात्रा के योग्य नदियाँ हैं जो उत्तरी सीमा पर फैले हुए पर्वतों से निकलकर समथल देश पर भ्रमण करती हैं; और इनमें से बहुत सी परस्पर मिलकर उस नदी में गिरती हैं जिसको गंगा कहते हैं। अब, यह नदी जो अपने उद्गम पर 30 स्टेडिया चौड़ी है उत्तर से दक्षिण की ओर बहती है और अपना जल समुद्र में गिराती है तथा गंगरिदाइयों (Gangaridai) की पूर्वीय सीमा स्थिर करती है, जो एक जाति है जिसके पास अत्यन्त दीर्घाकार हाथियों का बड़ा झुण्ड है। इसी से उनका देश कभी किसी विदेशीय राजा द्वारा नहीं जीता गया, क्योंकि और सब दूसरी जातियाँ इन पशुओं की प्रचण्ड संख्या और उनके बल से भय खाती हैं। [ऐसे ही सिकन्दर मेसिडोनियन ने समस्त एशिया को विजय करने पर भी गंगरिदाई (Gangaridai) से युद्ध नहीं ठाना जैसा कि दूसरों से उसने किया क्योंकि जब वह अपनी समस्त सेना के साथ गंगा के तट पर आया था और अन्य सब भारतवासियों को उसने हराया था तब उसने गंगरिदाई की चढ़ाई का संकल्प छोड़ दिया था जब उसने सुना कि उनके पास चार हज़ार भली प्रकार सिखाए और युद्ध के लिए सुशिक्षित हाथी हैं।] दूसरी नदी इण्डस (सिन्धु) जो बिस्तार में प्रायः गंगा ही के बराबर है अपने प्रतिद्वन्द्वी की नाईं उत्तर ही से निकलती है और समुद्र में गिर कर अपने मार्ग द्वारा भारतवर्ष की सीमा निर्दिष्ट करती है; चौरस देश के बिपुल विस्तार के बीच इसे अपने मार्ग में कई एक सहायक नदियाँ मिलती हैं जो जलयात्रा योग्य हैं; इनमें से सब से विख्यात ह्यूपानिस (Hupanis) हूडास्पीज़ (Hudaspes) और अकिसिनीज़ (Akisines) हैं। इन नदियों के सिवाय और भी हर प्रकार की दूसरी नदियाँ हैं जो देश को तराबोर करती हैं और बगीचों में होनेवाली बनस्पतियों तथा सब प्रकार की फ़सल के पोषण के हेतु जल पहुँचाती हैं। अब, नदियों के, संख्या में, इतने अधिक होने तथा जल की प्राप्ति अत्यन्त प्रचुर होने के विषय में देशी तत्त्वज्ञ और पदार्थविज्ञान के पारदर्शीगण ये कारण उपस्थित करते हैं—वे कहते हैं कि वे देश जो भारतवर्ष को घेरे हैं—स्कीदियन, बैक्ट्रियन तथा आर्य्यों के देश—भारतवर्ष से अधिक ऊँचे हैं, इसलिए उनका जल प्राकृतिक नियम के अनुसार चारों ओर से बटुर कर नीचे मैदान की ओर बहता है, जहाँ वह क्रमशः मिट्टी को गीली कर देता है और नदियों के समूह को जन्म देता है।

भारतवर्ष की नदियों में से एक में एक विलक्षणता पाई जाती है; यह सिलास (Sillas) कहलाती है जो इसी नाम के एक झरने से बहती है। इसमें और दूसरी नदियों में यह विभिन्नता है कि इसमें छोड़ी हुई कोई चीज़ नहीं उतराती किन्तु प्रत्येक वस्तु आश्चर्य्य के साथ कहना पड़ता है, नीचे डूब जाती है।

(38) कहा जाता है कि भारतवर्ष जो समस्त भूभाग को लेने से बड़े दीर्घ आकार

का है असंख्य तथा भिन्न भिन्न जातियों से बसा है जिनमें से एक भी आदि में विदेशीय बंश से न थीं वरन् प्रत्यक्षतः सब आदिम थीं। और फिर न तो भारतवर्ष ने अन्य देश से बस्ती (colony) प्राप्त की और न किसी दूसरी जाति के बीच अपनी बस्ती भेजी। जनश्रुति इतना और बतलाती है कि प्राचीन काल में निवासी जन ऐसे फलों पर निर्वाह करते थे जिन्हें पृथ्वी आप से आप उत्पन्न करती थी और उन पशुओं के चमड़े पहिनते थे जो देश में पाए जाते थे जैसा यूनानी लोग करते थे। और इसी प्रकार (जैसा यूनानियों में) कला कौशल और दूसरे कार्य्य जो मानव जीवन को उन्नत करते हैं क्रमशः आविष्कृत हुए। स्वयं आवश्यकता ने इन्हें ऐसे जीवों को सिखाया जो अत्यन्त सीधे और न कि केवल समस्त प्रयत्नों में सहायता देने के लिए प्रस्तुत हाथों ही से संयुक्त थे वरन् ज्ञान और तीव्र बुद्धि से भी।

भारतवासियों में बड़े बड़े पंडित लोग कई कथाएँ कहते हैं जिनका एक संक्षिप्त वृत्तान्त दे देना उचित होगा। वे वर्णन करते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल में जब इस देश के लोग गाँवों ही में रहते थे, डायोनुसस (Dionusos) बड़ी भारी सेना साथ लेकर पश्चिम ओर के देशों से आकर प्रगट हुआ। उसने समस्त भारतवर्ष को तहस नहस किया क्योंकि उसके अस्त्रों के रोकने योग्य कोई बड़ा नगर न था। पर गरमी के प्रचंड हो जाने से और डायोनुसस (Dionusos) के सिपाहियों के मरीरोगग्रस्त होने के कारण, सेनानायक, जो अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के हेतु विख्यात था, अपनी सेना को मैदान से हटा कर पर्व्वतों पर ले गया। वहाँ पर सेना शीतल वायु और जल से जो झरनों से ताज़ा बहकर आता था स्वस्थ होकर रोग से मुक्त हुई। पर्व्वतों के बीच वह जगह जहाँ डायोनुसस ने अपनी सेना को आरोग्य किया था मीरस (Meros) कहलाती थी। इसी घटना को लेकर निस्सन्देह यूनानी लोगों ने अपनी सन्तति के बीच यह देवसम्बन्धिक कथा पहुँचाई कि डायोनुसस अपने पिता के जंघे में पाला गया था। इसके उपरान्त उपयोगी पौधों की कृत्रिम उपज की ओर ध्यान जाने पर उसने यह भेद भारतवासियों को भी बतलाया और उन्हें मद्य बनाने की रीति तथा और बहुत सी मनुष्यों की हितसाधक युक्तियाँ बतलाई। इसके अतिरिक्त वह बड़े बड़े नगरों का स्थापक था, जिनको उसने गाँवों को सुगम स्थानों परं हटा कर निर्मित किया; और उसने लोगों को यह भी बताया कि किस प्रकार देवता की पूजा करनी चाहिए तथा धर्म्मशास्त्र और न्यायालय चलाए। इस प्रकार बहुत से बड़े और अच्छे कामों को पूरा करने पर वह देवता माना जाने लगा और उसने अनन्त प्रतिष्ठा लाभ की। यह भी उसके विषय में कहा जाता है कि वह अपनी सेना के साथ स्त्रियों का एक बड़ा दल लेकर चलता था और अपनी सेना को लड़ाई के लिए सुसज्जित करने में ढोल और झाँझ का व्यवहार करता था क्योंकि तुरही उसके समय में नहीं बनी थी; और 250 वर्ष तक सारे भारतवर्ष पर राज्य करके वह वृद्ध होकर मरा और उसके पुत्र राज्यशासन पर आरूढ़ होकर अपने वंशधरों के बीच अखण्डित परम्परा

के लिए राज्यमुकुट छोड़ गए। अन्त में कई पीढ़ियों के आने जाने के उपरान्त राज्यशासन छिन्नभिन्न हो गया और नगरों में पंचायती शासन स्थापित हो गए।

(39) डायोनुसस और उसके वंशजों के विषय में ऐसी ही ऐसी जनश्रुतियाँ उन भारतवासियों के बीच जो पहाड़ी देशों में निवास करते हैं प्रचलित हैं।

वे यह भी मानते हैं कि हेराक्लीज (Herakles) ने भी उन्हीं के बीच जन्म लिया था। वे यूनानियों की भाँति उसे दण्ड और व्याघ्रचर्म्मधारी बतलाते हैं। वह और दूसरे मनुष्यों से शारीरिक बल और शक्ति में कहीं अधिक बढ़ा चढ़ा था। और उसने समुद्र और पृथ्वी को दुष्ट जन्तुओं से शून्य कर दिया था। बहुत सी स्त्रियों से विवाह करके उसने बहुत से पुत्र उत्पन्न किए पर कन्या केवल एक ही हुई। पुत्रों के युवा होने पर उसने समस्त भारतवर्ष को समान भागों में अपने लड़कों में बाँट जिनको उसने अपने राज्य के भिन्न भिन्न भागों में राजा बनाया। उसने अपनी एकमात्र लड़की के लिए भी वैसा ही प्रबन्ध किया जिसको उसने पाला और एक रानी बनाया। वह कुछ कम नगरों का संस्थापक भी नहीं था। उनमें से सबसे विख्यात और बड़े का उसने पालीबोथ्रा (Palibothra) नाम रक्खा। उसमें उसने बहुत से विशद हर्म्य बनवाए और उसकी दीवारों के भीतर एक बहुत बड़ी बस्ती बसाई। नगर को उसने अपूर्व बिस्तार की खाँइयों से दृढ़ किया जो नदी से लाए हुए जल से भरी जाती थीं। इससे मनुष्यों के बीच से प्रस्थान करने के उपरान्त हेराक्लीज़ ने अमर प्रतिष्ठा लाभ की, और उसके वंशजों ने कई पीढ़ियों तक राज्य करने और बहुतेरे महान कार्य्यों को पूरा करने पर भी न तो भारतवर्ष की सीमा के बाहर कोई चढ़ाई की और न विदेश में अपनी बस्ती (Colony) बसाने के लिए भेजी। अन्त में बहुत वर्षों के बीतने पर बहुत से नगरों ने प्रजापालित शासन को ग्रहण किया यद्यपि कई एक ऐसे थे जो इस देश में सिकन्दर की चढ़ाई तक राज्यशासन प्रणाली को बनाए रहे। बहुत सी प्रसिद्ध रीतियों में से जिन्हें उनके आर्षतत्त्वज्ञ निर्धारित कर गए हैं एक यह है जिसको वास्तव में प्रशंसनीय मान सकते हैं; क्योंकि (उनका) शास्त्र अनुज्ञा करता है कि उनके बीच कोई किसी अवस्था में दास (गुलाम) न हो, वरन् स्वच्छन्दता का सुख लेते हुए वे उस समान स्वत्त्व की प्रतिष्ठा को मानते हैं जो उसपर सब को प्राप्त है; क्योंकि (उन लोगों का विचार था) वे लोग जिन्होंने न तो दूसरों पर दुःशासन करना और न दूसरों की चापलूसी करना सीखा है, भाग्य के समस्त उलटफेरों के लिए उपयुक्त जीवन को प्राप्त करैंगे; क्योंकि ऐसे शस्त्रों का निर्माण करना सर्वथा उत्तम और न्यायसंगत है जो समान रूप से लोगों को बद्ध करते हैं पर सम्पत्ति को असमान भागों में बाँटने की आज्ञा देते हैं।

(40) भारतवर्ष की सारी बस्ती सात जातियों में बँटी है जिनमें पहिली दार्शनिकों के समुदाय से बनी है जो संख्या में तो और दूसरे वर्गों की अपेक्षा कम है पर प्रतिष्ठा में उन सबसे श्रेष्ठ है। क्योंकि दार्शनिक लोग समस्त राजकीय कर्त्तव्यों से मुक्त होने

के कारण न तो दूसरों के स्वामी हैं और न दूसरों के दास हैं। पर गृहस्थ लोगों के द्वारा ये बलिप्रदान करने तथ मृतक के श्राद्धकर्म्म करने के हेतु नियुक्त किए जाते हैं; क्योंकि ये देवताओं को बहुत प्रिय हैं और परलोक (Hades) सम्बन्धी बातों में बड़े निपुण समझे जाते हैं। इन क्रियाओं के बदले में वे बहुमूल्य दान और स्वत्व पाते हैं। भारतवर्ष के लोगों को वे बहुत सा लाभ भी पहुँचाते हैं; वर्ष के आरम्भ में जब वे इकट्ठे होते हैं तो एकत्रित समूह को अनावृष्टि, शीत, आँधी, रोग तथा श्रोताओं को लाभ पहुँचाने योग्य और और बातों के विषय में भी पहिले ही से सूचना दे देते हैं। इस प्रकार राजा और प्रजा जो होनेवाला रहता है उसको पहिले से जानकर आनेवाली त्रुटि की पूर्ति के निमित्त पूरा प्रबन्ध करते हैं और जो वस्तु आवश्यकता के समय काम आवेगी उसको पहिले ही से प्रस्तुत रखने में कभी नहीं चूकते। वह दार्शनिक जो अपनी भविष्यद्वाणी में भूल करता है निन्दा के अतिरिक्त और कोई दूसरा दण्ड नहीं पाता, और तब वह अपने शेष जीवन तक के लिए मौन अवलम्बन करता है।

दूसरी जाति में किसान लोग हैं जो दूसरों से संख्या में कहीं अधिक जान पड़ते हैं, पर युद्ध करने तथा और दूसरी राजकीय सेवाओं से मुक्त होने के कारण वे अपना सारा समय खेती में लगाते हैं। शत्रु, निज भूमि पर काम करते हुए किसी किसान के पास आकर उसकी कोई हानि नहीं करता, क्योंकि इस वर्ग के लोग सर्वसाधारण के हितकारी माने जाने के कारण सब हानियों से बचाए जाते हैं। भूमि इस प्रकार सुदशा में छोड़ी हुई और घनी फ़सल उपजाती हुई निवासियों को वे सब वस्तुएँ प्रदान करती है जो जीवन को सुखमय बनाने के लिए आवश्यक हैं। किसान लोग स्वयं अपनी स्त्रियों और बच्चों के साथ दिहात में रहते हैं, और नगरों में जाने से बिलकुल बचते हैं। वे राजा को भूमिकर देते हैं क्योंकि सारा भारतवर्ष राजा की सम्पत्ति है, कोई दूसरा मनुष्य भूमि रखने का अधिकारी नहीं है। भूमिकर के अतिरिक्त वे राज्यकोष में भूमि की उपज का चतुर्थांश देते हैं।

तीसरी जाति के अन्तर्गत अहीर और गड़ेरिए तथा साधारणतः सब प्रकार के चरवाहे हैं जो न नगरों में और न ग्रामों में बसते हैं वरन् डेरों में रहते हैं। शिकार करके और फँसा के वे देश को हानिकारी पक्षियों और बनैले पशुओं से शून्य करते हैं। चूँकि वे इस व्यवसाय में बड़े उत्साह और श्रम के साथ लगे रहते हैं वे भारतवर्ष को उन व्याधियों से मुक्त करते हैं जिनसे वह पूरित है अर्थात् सब प्रकार के जंगली जन्तु और पक्षी जो किसानों के बोए हुए बीज को खा जाते हैं।

(41) चौथी जाति में शिल्पकार (कारीगर) हैं। इनमें से कुछ तो कवच बनानेवाले हैं और दूसरे उन यन्त्रों को बनाते हैं जो किसान और दूसरे लोगों के काम के होते हैं। यह समाज न कि केवल कर ही देने से मुक्त है वरन् राज कोषाध्यक्ष से अर्थसहायता भी पाता है।

पाँचवीं जाति सैनिकों की है। यह भलीभाँति सुशिक्षित और युद्ध के लिए सुसज्जित रहती है; संख्या में इसका दूसरा स्थान है और शान्ति के समय यह विषय आमोद में लिप्त रहती है। सारी सेना—योद्धागण, युद्ध के हाथी सब—राजा के व्यय से रक्खी जाती हैं।

छठवीं जाति के अन्तर्गत निरीक्षक लोग हैं। इनका कर्त्तव्य यह है कि जो कुछ भारतवर्ष में होता है उसकी खोज और देखभाल करते हैं और राजा को अथवा जहाँ राजा नहीं होता न्यायाध्यक्ष को, उसकी सूचना देते हैं।

सातवीं जाति मन्त्री और सभासद लोगों की है—अर्थात् वे लोग जो राज काज की देखभाल करते हैं। संख्या की ओर देखने से तो यह समाज सबसे छोटा है पर अपने उन्नत चरित्र और बुद्धि के कारण सबसे प्रतिष्ठित है क्योंकि इसी वर्ग से राजा के मन्त्रीगण, राज्य के कोषाध्यक्ष और विचारकर्ता जो झगड़ों को निपटाते हैं लिए जाते हैं। सेना के नायक और प्रधान न्यायाधीशगण भी प्रायः इसी वर्ग के होते हैं।

प्रायः ये ही भाग हैं जिनमें भारतवर्ष का राजनीतिक समाज विभक्त है। किसी व्यक्ति को अपनी जाति से विवाह करने अथवा अपने निज के व्यवसाय वा कार्य्य को छोड़ कोई दूसरा व्यवसाय वा कार्य्य करने की आज्ञा नहीं है। उदाहरण के लिए, कोई सिपाही किसान नहीं हो सकता अथवा कोई शिल्पकार दार्शनिक नहीं हो सकता।

भारतवर्ष में बड़े बड़े हाथी संख्या में बहुत हैं जो डीलडौल और बल दोनों में उनसे कहीं बढ़ के होते हैं जो दूसरी जगह पाए जाते हैं। जैसा कि कुछ लोग कहते हैं यह जानवर मादा को एक विचित्र रीति से नहीं ढाकता, वरन् घोड़ों तथा और दूसरे चौपायों ही के समान। गर्भाधान का काल कम से कम सोलह मास है और अधिक से अधिक अट्ठारह। घोड़ियों की तरह ये प्रायः एक समय में एक ही बच्चा देती हैं और उसको हथिनी छः वर्ष तक दूध पिलाती है। बहुतेरे हाथी इतना जीते हैं जितना एक अत्यन्त वृध्द मनुष्य, परन्तु सबसे बूढ़े दो सौ वर्ष तक जीते हैं।

भारतवासियों में विदेशियों तक के लिए कर्म्मचारी नियुक्त होते हैं जिनका काम यह देखने का रहता है कि किसी विदेशी को हानि न पहुँचने पावै। यदि उन (विदेशियों) में से कोई रोगग्रस्त हो जाता है तो वे उसकी चिकित्सा के निमित्त वैद्य भेजते हैं तथा और दूसरे प्रकार से भी उसकी रक्षा करते हैं, और यदि वह मर जाता है तो उसे गाड़ देते हैं और जो सम्पत्ति वह छोड़ता है उसे उसके सम्बन्धियों के हवाले कर देते हैं। न्यायाधीश लोग भी उन मामिलों का जो विदेशियों से सम्बन्ध रखते हैं बड़े ध्यान पूर्व्वक फ़ैसला करते हैं और उन पर बड़ी कड़ाई करते हैं जो उनके साथ बुरा व्यवहार करते हैं। [जो कुछ हमने अभी भारतवर्ष और उसके पुरावृत्त के सम्बन्ध में कहा है हमारे वर्तमान अभिप्राय के लिए बस होगा]।

## पुस्तक 1

## खंड 2

Arr. Exped. Alex. v.6—2—11.

# भारतवर्ष की सीमा, उसके साधारण लक्षण और उसकी नदियों के विषय में

इरेटोस्थिनीज़, तथा मेगास्थिनीज़ के अनुसार भी जो अरकोशिया (Arachosia) के क्षत्रप साइबरटिअस (Siburtios) के साथ रहा था और जिसने, जैसा कि वह स्वयं कहता है कई बेर भारतवासियों के राजा सेण्ड्राकोटस (Sandrakottos) को देखा था, हिन्दुस्थान उन चार भागों में सबसे बड़ा है जिनमें दक्षिणी एशिया विभक्त है, और सबसे छोटा वह भाग है जो इफ़रात और स्वयं हमारे समुद्र के बीच स्थित है। शेष दो भाग जो दूसरों से इफ़रात और सिन्धु द्वारा जुदे किए गए गए हैं और इन दोनों नदियों के बीच में स्थित हैं, मुशकिल से इतने विस्तार के हैं कि यदि वे दोनों एक साथ लिए जायँ तब भी उनकी हिन्दुस्थान के साथ बराबरी की जाय। ये ही ग्रन्थकार कहते हैं कि भारतवर्ष अपने पूर्बीय पार्श्व में ठीक सीधे दक्षिण तक महासमुद्र से घिरा है, और उसकी उत्तरी सीमा काकसोस (Kaukasos) पर्व्वतश्रेणी उस स्थान तक है जहाँ टारस (Tauros) से उस श्रेणी का संगम है; और उत्तर तथा उत्तर पश्चिम की ओर की समस्त सीमा, महासागर तक सिन्ध नदी द्वारा बनी है। भारतवर्ष का अधिक भाग चौरस मैदान है और ये (मैदान), जैसा कि लोग अनुमान करते हैं, नदियों द्वारा लाए हुए रेत और मिट्टी से बने हैं—यह सिद्धान्त वे इस बात से निकालते हैं कि दूसरे देशों के मैदान जो समुद्र से दूर रहते हैं प्रायः अपनी जुदी जुदी नदियों ही से बने रहते हैं, इसी से प्राचीन काल में कोई कोई देश अपनी नदी के नाम से भी पुकारे जाते थे। उदाहरण के लिए हरमोज (Hermos) कहलानेवाला मैदान—हरमुज़ एशिया (माइनर) में एक नदी है जो माता—डिंडमीन (Mother Dindymene) से बह कर स्मरना नामी योलियन (Eolian) नगर के निकट समुद्र में गिरती है; कौस्ट्रोस (Kaiistros) का लीडियाई मैदान भी जो कि उसी लीडिआई नदी के नाम पर है; और दूसरा मिसिया (Mysia) में कैकस (Kaikos) का मैदान; तथा केरिया (Karia) में भी एक—अर्थात् मैन्ड्रोस (Manidros) का जो मिलटोज़ (Miletos) तक विस्तृत है जो एक आयोनियन (Ionian) नगर है, और मिस्र के विषय में हेरेडोटस और हिकेटियस (Hekatios) (अथवा मिस्र सम्बन्धी ग्रन्थ का लिखनेवाला यदि वह हिकेटियस

के सिवाय कोई और था) दोनों इतिहासलेखक इस (मिस्र) को नील नद ही का प्रसाद बतलाने में सहमत हैं, इसलिए वह देश कदाचित् उस नदी के नाम से भी पुकारा जाता था; क्योंकि प्राचीन काल में आइजिप्टस (Aigyptos) उस नदी का नाम था जिसको आज दिन मिस्रवाले और दूसरी जातियाँ नील कहते हैं, यह होमर के शब्द स्पष्ट रूप से सिद्ध करते हैं जब वह कहता है कि मिनिलौस (Menelaos) ने अपनी नौकाओं को आइजिप्टस नदी के मुहाने पर ठहराया। तब यदि प्रत्येक मैदान में एक ही नदी है और ये नदियाँ, यद्यपि किसी तरह बड़ी नहीं हैं, ऊँचे स्थानों से जहाँ उनके उत्पत्तिस्थान हैं कीचड़ ले आकर बहुत सी नई भूमि बनाने में समर्थ हैं, फिर भारतवर्ष के विषय में इस विश्वास को तिरस्कृत करना युक्ति विरुद्ध होगा कि उसका अधिकांश चौरस मैदान है, और यह मैदान नदियों द्वारा लाए हुए कीचड़ से बना है, यह देख करके कि हरमोज़, कौस्ट्रोस और कैकस तथा मैन्ड्रोस और एशिया की बहुत सी दूसरी नदियाँ जो भूमध्यसागर में गिरती हैं यदि सब मिल जायँ तब भी जलविस्तार में उनकी तुलना एक साधारण भारतीय नदी से नहीं की जा सकती, और उन सबसे बड़ी गंगा की क्या बात है जिसके साथ न तो मिश्री नील की और न डेनूब की जो यूरोप में होकर बहती है एक क्षण के लिए तुलना की जा सकती है। वरन् ये सब की सब यदि एक में मिल जायँ तो भी सिन्ध के बराबर न होंगी, जो कि पहिले ही से जहाँ वह अपने झरने से निकलती है एक बड़ी नदी है और जो एशिया की नदियों में बड़ी पन्द्रह सहायक नदियों को प्राप्त करके और अपने समवर्त्ती से देश को नाम देने का गौरव छीन के, अन्त में समुद्र में जा गिरती हैं।

## खंड 3

Arr. Indica. II i. 7.

## भारतवर्ष की सीमा के विषय में

(देखो एरियन का अनुवाद)

## खंड 4

Strabo. xv.i., II—p. 689

## भारत की सीमा और उसके विस्तार के विषय में

भारतवर्ष उत्तर की ओर टारस और एरियाना से लेकर पूर्वीय समुद्र तक उन पहाड़ों

से घिरा है जो इन देशों के निवासियों द्वारा तो (Parapamisos) पैरोपैमिसस, हिमोदाज़ और हिमौस (Himaos) तथा और दूसरे भिन्न भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं परन्तु मेसिडोनियनों द्वारा कौकसोस (Kaukasos अर्थात् हिमालय) के नाम से। पश्चिम की ओर की सीमा सिन्ध नदी है किन्तु दक्षिणी और पूर्बीय पार्श्व जो दोनों ओर से बहुत बड़े हैं अटलांटिक सागर तक चले गए हैं[1]। इस प्रकार देश का आकार विषम कोण चतुर्भुज है, क्योंकि प्रत्येक बड़ी भुजाएँ अपने सामने की भुजाओं से 3000 स्टेडिया अधिक हैं जो दक्षिणी और पूर्बीय किनारों के साझे में एक अन्तरीप है जो इन दोनों दिशाओं में सामान्यरूप से निकला है। [पश्चिमी पार्श्व की लम्बाई काकेशियन पर्वत से दक्षिण सागर तक अर्थात् सिन्ध के किनारे होकर उसके मुहाने तक 13000 स्टेडिया कही जाती है, इसलिए उसके सामने का पूर्बीय पार्श्व, अन्तरीप की लम्बाई 3000 स्टेडिया जोड़ने से, लगभग 16000 स्टेडिया का होगा। यह हिन्दुस्तान की लम्बाई उस जगह है जहाँ वह अधिक से अधिक और कम से कम दोनों हैं।] पश्चिम से पूर्ब की लम्बाई पालिबोथ्रा तक अधिक निश्चय के साथ बतलाई जा सकती है क्योंकि राजमार्ग जो उस नगर को गया है (Schoeni) स्कोनी से नापा गया है और लम्बाई में 10000 स्टेडिया है। बाहर के भागों के विस्तार का अनुमान केवल उस समय से किया जा सकता है जो गंगा में होकर समुद्र से पालीबोथ्रा तक जलयात्रा करने में लगता है; और वह लगभग 6000 स्टेडिया के होगा। कुल लम्बाई, कम से कम गिनती करने पर, 16000 स्टेडिया होगी। यह इरटास्थिनीज़ (Eratasthenes) की अटकल है जो कहता है कि मैंने यह राजमार्ग की चट्टियों पर के प्रामाणिक खातों (रजिस्टरों) से प्राप्त किया है। यहाँ पर मेगास्थिनीज़ इससे सहमत है [परन्तु पेट्रोक्लीज़ (Patrokles) लम्बाई को 1000 स्टेडिया और कम बतलाता है] Arr. Ind. III. I.5.

## खंड 5

### Strabo, II. i. 7-p. 69

# भारतवर्ष के विस्तार के विषय में

फिर हिपार्कस (Hipparchos) ने अपनी व्याख्या की दूसरी जिल्द में, स्वयं इरटास्थिनीज़ को पेट्रोक्लीज़ पर, भारतवर्ष की उत्तर की ओर की लम्बाई के विषय में मेगास्थिनीज़ से विरुद्ध होने का कलंक लगाने का दोषी ठहराया है कि मेगास्थिनीज़ उसको 16000 स्टेडिया बतलाता है और पेट्रोक्लीज़ उससे 1000 स्टेडिया कम।

---

1. प्राचीन काल में पृथ्वी को अटलांटिक सागर द्वारा घिरा हुआ एक द्वीप समझते थे।

## खंड 6

### Strabo, xv. i. 12-pp. 689-690

# भारतवर्ष के विस्तार के विषय में

[इससे कोई मनुष्य तुरन्त देख सकता है कि किस प्रकार दूसरे ग्रन्थकारों के विवरण एक दूसरे से विभिन्न हैं। जैसे टीशियास (Ktesias) कहता है कि भारतवर्ष विस्तार में एशिया के शेष भाग से कम नहीं है; आनीसिक्रिथस उसको जीवसम्पन्न भूमि का तृतीयांश विचारता है और नियार्कस (Nearchos) कहता है कि केवल मैदान को तै करने में चार महीने लगते हैं।] मेगास्थिनीज़ और डिमाकास (Deimachos) की अटकल इससे और घटकर है क्योंकि उनके अनुसार दक्षिण सागर से काकसोस तक का अन्तर 50000 स्टेडिया से ऊपर है। [पर डिमाकास मानता है कि कहीं कहीं दूरी 30000 स्टेडिया से अधिक है। इसकी आलोचना ग्रन्थ के पूर्वभाग में हो चुकी है।]

## खंड 7

### Strabo, II. i. 4,-pp. 68-69

# भारतवर्ष के विस्तार के विषय में

हिपार्कस उन प्रमाणों की निस्सारता दिखला कर जिन पर वह स्थित है, इस मत का विरोध करता है। वह कहता है कि पेट्रोक्लीज़ विश्वास के योग्य नहीं, क्योंकि वह डिमाकास और मेगास्थिनीज़ दो प्रवीण ग्रन्थकारों के विरुद्ध है जो कहते हैं कि किसी किसी स्थान पर दक्षिण सागर से दूरी 20000 स्टेडिया है किसी किसी पर 30000 स्टेडिया। वह कहता है कि ऐसा ही विवरण वे लोग देते हैं और वह उस देश के प्राचीन मानचित्र के भी अनुकूल है।

## खंड 8

### Arr. Indica. III. 7-8

# भारतवर्ष के विस्तार के विषय में

मेगास्थिनीज़ के अनुसार पूर्व से पश्चिम तक का विस्तार ही हिन्दुस्तान की चौड़ाई

है, यद्यपि दूसरों ने उसको लम्बाई कहा है। उसका कथन है कि चौड़ाई कम से कम 16000 स्टेडिया है और उसकी लम्बाई जिससे उसका अभिप्राय उत्तर से दक्षिण तक के विस्तार से है अत्यन्त संकीर्ण स्थान में 223000 स्टेडिया है।

## खंड 9

Strabo. II. 19,-p.76

## सप्तऋषि के अस्त होने तथा छाया के भिन्न-भिन्न दिशाओं के पड़ने के विषय में

Conf. Epit.

फिर, वह (इरटास्थिनीज़) डिमाकास की अज्ञानता तथा ऐसे विषयों के आनुभविक ज्ञान की हीनता दिखलाना चाहता था, जो कि उसके इस विचारने से प्रत्यक्ष है कि भारतवर्ष शरत्कालीन विशुप (Autumnal Equinox) और शरद क्रान्ति सीमा (Winter Tropic) के बीच स्थित है तथा उसके मेगास्थिनीज़ के इस कथन का खंडन करने से कि हिन्दुस्तान के दक्षिणी भागों में सप्तऋषि का मंडल दृष्टि से लोप हो जाता है और छाया भिन्न दिशाओं में पड़ती है—क्योंकि वह विश्वास दिलाता है कि यह रहस्य भारतवर्ष में कभी नहीं दिखाई देता, और इस प्रकार अपनी घोर अज्ञानता प्रगट करता है। वह (इरटास्थिनीज़) इस मत से सहमत नहीं है किन्तु डिमाकास को यह कहने के कारण कि भारतवर्ष में सप्तऋषि कहीं अदृश्य नहीं रहते और न छाया ही भिन्न दिशाओं में पड़ती है जैसा कि मेगास्थिनीज़ ने अनुमान किया था अज्ञानता का दोष देता है।

## खंड 10

Pliny, Hist. Nat. vi 22-6

## सप्तऋषि के अस्त होने के विषय में

आगे (प्रेसिआई के) मध्य भाग में मोनेडीस और सुअरी (Suari) हैं जिनके आधीन मल्यौस (Maleus) पर्वत है जिस पर छः छः महीने तक जाड़े में छाया उत्तरायण पड़ती है और गरमी में दक्षिण की ओर। बेटन (Baeton) कहता है कि सप्तऋषि देश के उस भाग में वर्ष भर में केवल एक ही बार दिखाई पड़ते हैं सो भी पन्द्रह दिन से अधिक नहीं। मेगास्थिनीज़ कहता है कि ऐसा हिन्दुस्तान के कई भागों में होता है।

## मिलाओ

Solin, 52-13.

पालीबोथ्रा के आगे मल्यौस पर्वत है जिस पर छः छः महीने तक जाड़े में छाया उत्तरायण पड़ती है और गरमी में दक्षिण की ओर। देश के उस भाग में वर्ष में एक बार उत्तरी ध्रुव दिखाई पड़ता है और पन्द्रह दिन से अधिक नहीं जैसा कि बेटन (Baeton) सूचित करता है जो यह मानता है कि भारतवर्ष के कई भागों में ऐसा होता है।

### खंड 11

Strabo, xv. 1.20—p. 693.

## भारतवर्ष की उर्वरता के विषय में

मेगास्थिनीज़ भारतवर्ष की उर्वरता इस बात से सूचित कराता है कि भूमि प्रतिवर्ष अन्न और फल दोनों की दो फ़सल उपजाती है। [इरटास्थिनीज़ भी यही बात लिखता है, क्योंकि वह एक जाड़े की और एक गरमी की बोआई का ज़िक्र करता है जिन दिनों में पानी बरसता है; क्योंकि वह कहता है कि कोई वर्ष इन दोनों ऋतुओं में वर्षा से ख़ाली नहीं जाता, जिससे अत्यन्त बहुतायत रहती है क्योंकि भूमि सदैव उपजाऊ रहती है। पेड़ों से बहुत फल उत्पन्न होता है; और पौधों की जड़ें, विशेषकर कसेरू की, स्वभावतः तथा उबालने से भी मीठी होती हैं क्योंकि सरदी जिससे उनका पोषण होता है सूर्य्य की किरणों से उष्ण हो जाती है—चाहे वह (सरदी) बादलों से गिरी हो चाहे नदियों से आई हो। इरटास्थिनीज़ यहाँ एक, विचित्र वाक्य का व्यवहार करता है, क्योंकि जो औरों के द्वारा फलों तथा पेड़ों के रस का पकना कहा जाता है भारतवासियों में वह उबलना कहा जाता है जो कि उत्तम स्वाद उत्पन्न करने के लिए वैसा ही गुणकारी होता है जैसे आग पर उबालना। पानी ही की गरमी को वही ग्रन्थकार पेड़ों की डालियों के अद्भुत लचीलेपन का हेतु बतलाता है जिनसे पहिए बनते हैं, तथा ऐसे ऐसे पेड़ों के होने का भी जिन पर ऊन उत्पन्न होता है]—मिलाओ. Herodotus II. 86.

## मिलाओ

Eratosthenes Ap. Strabo xv. 1. 13—p. 690

ऐसी ऐसी विस्तृत नदियों से उत्पन्न भाप से तथा वार्षिक वायु द्वारा, जैसा कि इरटास्थिनीज़ कहता है, भारतवर्ष गरमी में वृष्टि से सींचा रहता है और मैदान में बाढ़ आ जाती है। अतः इन्हीं वर्षा के दिनों में सन और बाजरा तथा तिल, चावल और वास्फोरम भी बोए जाते हैं; और जाड़े के दिनों में गेहूँ, जौ, दाल तथा और दूसरे खाने योग्य फल, जिन्हें हम लोग नहीं जानते।

## खंड 12

Strabo, xv.—1.37—p. 703

## भारतवर्ष के कुछ जंगली पशुओं के विषय में

मेगास्थिनीज़ के अनुसार सबसे बड़े बाघ प्रेसिआई (Prasii) के बीच पाए जाते हैं जो प्रायः सिंह से दूनी डीलडौल के होते हैं और इतने बलिष्ट होते हैं कि एक पालतू बाघ ने जिसको चार आदमी लिए जाते थे एक ख़च्चर की पिछली टाँग पकड़ कर उसको असक्त कर दिया और अपनी ओर खींच लिया। बन्दर बड़े से बड़े अर्थात् कुत्ते से भी बड़े होते हैं; केवल मुँह को छोड़ जो काला होता है वे श्वेत रंग के होते हैं, यद्यपि और स्थानों में इसके विरुद्ध देखा जाता है। उनकी पूँछ लम्बाई में दो क्यूबिट् से अधिक होती है। वे बहुत घरेलू होते हैं और दुष्ट प्रकृति के नहीं होते; इससे न तो वे आदमियों पर चोट करते हैं और न चोरी करते हैं। पत्थर खोदे जाते हैं जो गंधकी रंग के होते हैं और अंजीर तथा मधु [शहद] से भी मीठे होते हैं। देश के कुछ भागों में दो क्यूबिट् लम्बे साँप होते हैं जिनके चमगीदड़ों की तरह झिल्लीदार फैलनेवाले पर होते हैं। वे रात को उड़ते फिरते हैं। उस समय वे पसीने वा मूत्र के बिन्दु गिराते हैं जो उन मनुष्यों की त्वचा को जो सावधान नहीं रहते, घिनौने धारों से उधेर देते हैं। यहाँ परवाले बिच्छू भी बड़े असाधारण आकार के होते हैं। आवनूस यहाँ उत्पन्न होता है। कुत्ते भी बड़े बलवान और साहसी होते हैं, जो अपनी पकड़ी हुई चीज़ जब तक नाक में पानी न डाला जाय नहीं छोड़ते। वे इतनी तेज़ी से काटते हैं कि किसी किसी की आँखें निकल पड़ती हैं और किसी की गिर पड़ती हैं। सिंह और साँड़ दोनों एक कुत्ते द्वारा पकड़े गए थे। साँड़ अगाड़ी की ओर से पकड़ा गया था और कुत्ते से छुड़ाए जाने के पहिले ही मर गया।

## खंड 13

### Aelian, Hist, Anim. xvi.-10.

# हिन्दुस्तानी लंगूरों के विषय में

भारतवर्ष में प्रेसिआई[1] (Prasii) के बीच लोग कहते हैं कि एक जाति के लंगूर मनुष्य सरीखी बुद्धिवाले होते हैं जो देखने में प्रायः हरकेनियन (Harkanian) कुत्तों के डील के होते हैं, प्रकृति ने उनका माथा बाल के गुच्छों से विभूषित किया है जिसको यथार्थतः अनभिज्ञ मनुष्य कृत्रिम समझेगा। उनकी ठुड्डी सेटायर [Satyr] के समान ऊपर को उठी होती है और उनकी पूँछ सिंह की बलिष्ठ पूँछ के समान होती है। मुँह और पूँछ के छोर को छोड़ जिसका रंग ललाई लिए होता है, उनका शरीर सर्वत्र श्वेत होता है। वे बहुत बुद्धिमान होते हैं और स्वभावतः पालतू होते हैं, वे जंगलों में पाले जाते हैं। वहाँ वे उन फलों पर भी जिन्हें वे पहाड़ियों पर स्वाभाविक उगे हुए पाते हैं निर्वाह कर के रहते हैं। वे लाटेज (Latage) नामक भारतीय नगर के आसपास संख्या में बहुत से पाए जाते हैं। वहाँ पर वे चावल खाते हैं जो कि उनके लिए राजा की आज्ञा से रक्खा जाता है। वास्तव में ताज़ा पका हुआ भोजन नित्य उनके व्यवहार के हेतु रक्खा जाता है। कहा जाता है कि जब वे अपनी क्षुधा शान्त कर चुकते हैं तब बड़े क़रीने के साथ बिना किसी वस्तु को जो उनके रास्ते में पड़ती हो हानि पहुँचाए वे जंगल में अपने अपने निवास स्थानों को लौट जाते हैं।

## खंड 13 (ख)

### Aelian, Hist, Anim. xvii. 39. [मिलाओ खंड 12-3]

# हिन्दुस्तानी लंगूरों के विषय में

प्रेसिआई [Prasii] के देश में जो भारतीय जन हैं, मेगास्थिनीज़ कहता है कि बन्दर होते हैं जो बड़े से बड़े कुत्तों से डील में कम नहीं होते। उनके 5 क्यूबिट् लम्बी पूँछ होती है, उनके मस्तक पर बाल होते हैं और उनको घनी दाढ़ी होती है जो छाती तक लटकती है। उनका चेहरा बिलकुल सफ़ेद होता है और बाक़ी शरीर काला होता है। वे पालतू होते हैं और मनुष्य से हिलेमिले रहते हैं और दूसरे देशों के लंगूरों की तरह प्रकृति के दुष्ट नहीं होते।

---

1. प्रेसिआई—अर्थात् प्राच्य।

## खंड 14

Aelian, Hist, Anim, ii. 41. [मिलाओ खंड 12-4]

## परवाले बिच्छू और सर्पों के विषय में

मेगास्थिनीज़ कहता है कि भारतवर्ष में बड़े दीर्घ आकार के परदार बिच्छू होते हैं जो यूरोपियनों तथा देशियों को समान रूप से डंक मारते हैं। साँप भी हैं जो इसी प्रकार परवाले होते हैं। ये दिन में नहीं वरन् रात को बाहर निकलते हैं। जबकि वे मूत्र गिराते हैं जो यदि किसी मनुष्य की त्वचा पर गिरता है तो तुरन्त उस पर घिनौने घाव पैदा कर देता है। मेगास्थिनीज़ का ऐसा कथन है।

## खंड 15

Strabo, xv. 1. 56.—pp. 710—711.

हिन्दुस्तान के पशुओं तथा कन्दमूल के प्रसंग में वह (मेगास्थिनीज़) कहता है कि वहाँ चट्टान लुढ़कानेवाले बन्दर होते हैं जो ढालुओं पर चढ़ जाते हैं जहाँ से वे अपने पीछा करनेवालों पर पत्थर लुढ़काते हैं। वह कहता है कि बहुतेरे पशु जो हम लोगों के यहाँ पालतू होते हैं हिन्दुस्तान में जंगली पाए जाते हैं तथा वह ऐसे घोड़ों की चरचा करता है जिनके एक सींग होती है और जिनका सिर हिरनों के समान होता है; तथा जिनमें कोई कोई सीधे ऊपर 30 [1]आर्गी (Orguiae) की ऊँचाई तक और कोई तिरछे ज़मीन पर 50 आर्गी की लम्बाई तक बढ़ जाते हैं। इनके घेरे की मोटाई तीन से छः क्यूबिट् तक होती है।

## खंड 15 (ख)

Aelian, Hist, Anim. XVI. 20-21[मिलाओ खंड 1-2-1]

## भारतवर्ष के कुछ पशुओं के विषय में

(20) हिन्दुस्तान के कुछ जिलों में [मैं उनके विषय में कहता हूँ जो बहुत अन्तर्भाग में हैं]

1. Orguiae आर्गी चार क्यूबिट् का होता है।

लोग कहते हैं कि दुर्गम पहाड़ हैं जो बनैले पशुओं से भरे हैं और जो हमारे देश के ऐसे पशुओं के भी निवासस्थान हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि वे वहाँ जंगली मिलते, हैं, क्योंकि लोग कहते हैं कि भेड़ तक वहाँ जंगली फिरा करती हैं, तथा कुत्ते, बकरियाँ और बैल भी जो इधर उधर मनमाने घूमा करते हैं क्योंकि वे चरवाहों के आधिपत्य से स्वतन्त्र और मुक्त रहते हैं। उनकी संख्या गिनती से बाहर है। यह न कि केवल भारतवर्ष विषयक ग्रन्थकारों ही द्वारा कहा गया है वरन् उस देश के विद्वानों द्वारा भी जिनके बीच गिनती किए जाने के योग्य ब्राह्मण लोग ठहरते हैं और जिनकी साक्षी भी इसी अभिप्राय की है। यह भी कहा जाता है कि भारतवर्ष में एक जानवर एक सींग का होता है जो देशियों द्वारा (Kartazon) कर्तज़ोन कहलाता है। यह पूरे घोड़े के डील का होता है और इसके एक कलगी होती है तथा ऊन की भाँति कोमल पीले बाल होते हैं। यह बहुत उत्तम टाँगों से सुशोभित रहता है और बड़ा फुरतीला होता है। इसकी टाँगें बेजोड़ होती हैं और हाथी की टाँगों की सी बनी होती हैं और इसके सूअर के ऐसी पूँछ होती है। इसकी भौंहों के बीच से एक सींग निकलती है; यह सीधी नहीं होती वरन् अत्यन्त स्वाभाविक पेचों के साथ घूमी रहती है और काले रंग की होती है। यह सींग बहुत ही तेज़ कही जाती है। इस जानवर का स्वर, जैसा मैंने सुना है अत्यन्त ही भीषण और कर्कश होता है। यह दूसरे जानवरों को अपने पास आने देता है और उनके प्रति सीधा होता है, यद्यपि लोग कहते हैं कि अपने सवर्गों के साथ वह कुछ झगड़ालू होता है। नरों के विषय में प्रसिद्ध है कि उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति न कि केवल आपस ही में सींगों के धक्के से लड़ने की है वरन् मादा के साथ भी वे वैसे ही उद्दण्डता दिखलाते हैं; और अपने झगड़ों में वे इतने हठी होते हैं कि जब तक उनका परास्त विपक्षी मारा नहीं जाता तब तक वे उसे नहीं छोड़ते। परन्तु, फिर, न कि केवल इस जन्तु का प्रत्येक अंग ही बड़े बल से संयुक्त रहता है वरन् इसके सींग की प्रौढ़ता ऐसी होती है कि कोई वस्तु उसके सामने नहीं ठहर सकती। वह एकान्त चरागाहों में चरना पसन्द करता है और अकेला फिरा करता है, परन्तु ऋतुकाल में यह मादा का संग ढूँढ़ता है और उसके प्रति तब सुशील हो जाता है—यहाँ तक कि दोनों साथ-साथ चरते हैं। जब ऋतु बीत जाती है और मादा गर्भवती हो जाती है तब हिन्दुस्तानी कर्त्तजोन फिर उद्दण्ड हो जाता है और एकान्त ढूँढ़ता है। इसके बच्चे जब बिलकुल छोटे रहते हैं तभी प्रेसिआई के राजा के पास लाए जाते हैं और बड़े बड़े तमाशों में लड़ाए जाते हैं। किसी युवा (कर्त्तजोन) का कभी पकड़ा जाना स्मरण में नहीं आता।

(21) पथिक को जो उन पर्वतों को पार करता है जो भारतवर्ष की उस सीमा को घेरे हैं जो अत्यन्त अन्तर्भूत है लोग कहते हैं ऐसे ऐसे नाले उस ज़िले में मिलते हैं जिसे देशी लोग कोरौडा (Korouda) कहते हैं, जो बड़े घने जंगलों से ढँके रहते हैं। ये Satyr के समान गढ़त के एक विलक्षण जन्तु के निवासस्थल हैं जो चारों ओर झबरीले बालों से ढँका रहता है और जिसकी पूँछ घोड़े की सी पुट्ठे से निकली

हुई होती है। यदि ये जन्तु पड़े रहने पाते हैं तो झापसों के भीतर बनफल खाकर रहते हैं; किन्तु जब वे कहीं अहेरी की तुरही और शिकारी कुत्तों का भूँकना सुन पाते हैं तब वे ऊँचे ढालुओं पर आश्चर्य्यजनक गति के साथ झपट जाते हैं, क्योंकि वे पहाड़ों पर चढ़ने के अभ्यस्त होते हैं। वे अपनी रक्षा अपनी पीछा करनेवालों पर पत्थर लुढ़का कर करते हैं जोकि कभी कभी उनका पीछा करनेवालों को मार डालता है। सबसे कठिन उनका पकड़ना है जो पत्थर लुढ़काते हैं। कहा जाता है कि कोई कोई प्रेसिआई के राजा के पास लाए गए हैं यद्यपि बड़ी कठिनाई और दीर्घ काल के उपरान्त, पर ये या तो रोग से पीड़ित थे अथवा बच्चों से लदी हुई मादा थीं, जो भागने में असक्त थीं अथवा जो गर्भ के भार से रुक जाती थीं।

## खंड 16

### Pliny, History, Nat. VIII 14-1

## मृगाकर्षक के विषय में

मेगास्थिनीज़ के अनुसार साँप भारतवर्ष में इस आकार तक बढ़ जाते हैं कि वे बारहसिंहों और साँड़ों को पूरा निगल जाते हैं।

Solinus 52-33:—

सर्प इतने भारी होते हैं कि वे पूरा बारहसिंहा तथा (उसी के) समान डीलडौल वाले दूसरे जन्तुओं को निगल जाते हैं।

## खंड 17

### Aelian. Hist. anim, VIII, 7

## विद्युत ईल के विषय में

मेगास्थिनीज़ से मुझे ज्ञात हुआ है कि भारतसमुद्र में एक छोटी जाति की मछली होती है जो जब तक जीवित रहती है कभी नहीं देखी जाती, क्योंकि वह सदैव गहरे पानी में तैरती है और सतह पर तभी उतराती है जब मर जाती है। यदि कोई इसको छू लेता है तो वह बेहोश और मूर्च्छित हो जाता है—यहाँ तक कि अन्त में मर ही जाता है।

## खंड 18

## Pliny, Hist, Hat. VI 24. 1

# तप्रोबेन[1] के विषय में

मेगास्थिनीज़ कहता है कि तप्रोबेन महाद्वीप से एक नदी द्वारा जुदा किया गया है और निवासीगण पलैगोनोई[2] (Plaigonoi) कहलाते हैं और उनका देश भारतवर्ष की अपेक्षा अधिक सोना और बड़ी मोती उत्पन्न करनेवाला है।

Solin 53-3:—

'तप्रोबेन' बीचोवीच बहती हुई एक नदी द्वारा भारतवर्ष से जुदा किया गया है; क्योंकि उसका एक भाग बनैले पशुओं तथा उनसे बहुत बड़े हाथियों से भरा है जिन्हें भारतवर्ष उत्पन्न करता है, और दूसरे पर मनुष्य का आधिपत्य है।

---

1. यह द्वीप कई नामों से प्रसिद्ध है :
   (क) लङ्का—संस्कृत में यही नाम विख्यात है जिससे यूनानी और रोमन लोग नितान्त अनभिज्ञ हैं।
   (ख) सीमन्दु वा पालीसीमन्दु—कदाचित् संस्कृत पालीसीमन्त संस्कृत का यूनानी रूप है। यह नाम भूगोलवेत्ता टालमी के समय से पूर्व ही व्यवहार से उठ गया था।
   (ग) तप्रोबेन—संस्कृत ताम्रपर्णी अनुमान किया गया है। पाली ताम्वपन्नी का यह कुछ ही परिवर्तित रूप है जो अशोक के गिरनारवाले शिलालेख में पाया गया है।
   (घ) सेलाइस—(कदाचित् सेलाइन अधिक उपयुक्त है) संरडिवस, सिरलेडिवा, सरनदीब, जैलन, सीलोन। ये सब सिंगल से निकले हुए जान पड़ते हैं जो 'सिंहल' का प्राकृत रूप है। 'दिव' विभक्ति संस्कृत द्वीप को सूचित करती है।
2. प्रो. लैसन ने पलैगोनोई नाम का हेतु बतलाने का यह कहकर यत्न किया है "हमें अनुमान करना चाहिए कि मेगास्थिनीज़ उस भारतीय कथा से जानकार था कि उस द्वीप के आदमनिवासी राक्षस वा दैत्य कहे जाते थे जो संसार के उत्पन्नकर्ताओं के सन्तान थे जिन्हें उसके लिए पलैगोनोई कहना उपयुक्त ही था। ये इसके विरुद्ध कहा जा सकता है कि इस अपूर्व तथा असाधारण शब्द से मेगास्थिनीज़ का अभिप्राय उस जाति का नाम बतलाने का था न कि विवरण देने का। और फिर मेगास्थिनीज़ की नामों के अनुवाद करने की बात नहीं है वरन् उन्हें ध्वनि के अनुरूप बनाने की है। अन्त में थोड़ी ही दूर आगे हम तप्रोबेन और उसकी राजधानी का नाम पालिसीमन्दु पाते हैं जो 'पलैगोनोई' के बिलकुल समान है। अतः जैसे लैसन साहिब राजधानी के 'पालीसीमन्दु' नाम को संस्कृत 'पालीस्थमन्त' बतलाते हैं [पवित्र उपदेश का केन्द्र], वैसेही 'पलैगोनोई' नाम संस्कृत 'पालीजनः' का रूप बतलाना मैं उचित समझता हूँ। Schwanbeck

## खंड 19

Autigon, Caryst 647

# सामुद्रिक पेड़ों के विषय में

'इंडिका' का प्रणेता मेगास्थिनीज़ बतलाता है कि भारतसमुद्र में पेड़ उगते हैं।

## खंड 20

Arr. Ind 4-2-13

# सिन्ध और गंगा के विषय में

(एरियन का अनुवाद देखो)

## खंड 20 (ख)

Pliny. Hist. Nat. VI. 21-9-221

प्रीनस और कैनस (गंगा की एक सहायक) दोनों जलयात्रा योग्य नदियाँ हैं। वे जातियाँ जो गंगा के किनारे बसती हैं उनमें से एक कलिंगे (Calingae) है, जो समुद्र से अत्यन्त निकट और मण्डे (Mandei) के ऊपर है, और दूसरी मल्ली है जिनके बीच मलस पर्वत है। इस समस्त देश की सीमा गंगा है। कुछ लोगों ने कहा है कि यह नदी नील के समान बेजाने उद्गमों से निकलती है और उसी प्रकार जिस देश से होकर बहती है उसे सींचती है; और कोई कोई उसका उद्गमस्थान स्कीदियन पर्वतों के बीच बताते हैं। उन्नीस नदियाँ उसमें गिरती हुई कही जाती हैं, जिनमें से ऊपर लिखी हुई को छोड़ कांडोचेटस् (Condochatos) इरन्नोबोआस्, (Erannoboas) कोसोगुस् (Cosoagus), और सोनस् (Sonus) जलयात्रा योग्य हैं। दूसरे विवरणों के अनुसार यह अपने झरने से तुरन्त भीषण गर्जन के साथ निकल पड़ती है और एक ढालू और पथरीले दरार से उतर कर मैदान में पहुँचते ही एक झील में ठहर जाती है। जहाँ से धीमी धारा से वह आगे बहती है, कहीं कहीं पर वह आठ मील से कम चौड़ी नहीं है और उसकी औसत चौड़ाई सौ स्टेडिया है, और उसकी कम से कम गहराई बीस पोरसा है।

Solin 52-6.7:—

भारतवर्ष में सबसे बड़ी नदियाँ गंगा और सिन्ध हैं--गंगा, जैसा कि कुछ लोग मानते हैं अज्ञात उद्गमों से निकलती है और नील (Nile) के समान तटों तक बढ़ जाती है; पर कुछ लोग बिचारते हैं कि वह स्कीदियन पर्वतों से निकलती है। भारतवर्ष में प्रतिष्ठित नदी ह्यूपानिस[1] (Hupanis) है जो सिकन्दर की चढ़ाई की सीमा थी जैसा कि उसके तट पर की बेदियाँ सूचित करती हैं। गंगा की कम से कम चौड़ाई आठ मील है और अधिक से अधिक बीस मील। उसकी गहराई जहाँ अत्यन्त कम है वहाँ पूरी सौ फुट है। (मिलाओ खंड 25-1)

कोई कोई कहते हैं कि कम से कम चौड़ाई 30 स्टेडिया है और कोई केवल तीन ही, पर मेगास्थिनीज़ कहता है कि औसत चौड़ाई 100 स्टेडिया है और उसकी अत्यन्त कम गहराई 20 आर्गी है।

## खंड 21

Arr. Gud. 6—2-3.

## शिलास[2] नदी के विषय में

(एरियन का अनुवाद देखो)

## खंड 22

Boissonade. Alucd. Graec. I. p. 419

## शिलास नदी के विषय में

भारतवर्ष में शिलास कहलानेवाली एक नदी है जो उस झरने के नाम पर है जिससे वह बहती है; उसमें कोई चीज़ जो डाली जाती है नहीं उतराती परन्तु हर एक चीज़ साधारण नियम के विरुद्ध तले बैठ जाती है।

---

1. ह्यूपानिस—अर्थात् सतलज
2. प्रोफेसर लैसन ने इस कथा का उदाहरण भारतीय साहित्य से भी दिया है, "भारतवासी समझते हैं कि शिलास नदी उत्तर में है, प्रत्येक वस्तु उसमें डूब जाती है....जहाँ हर एक वस्तु डूब जाती है कोई नहीं तैरती।—महाभारत 2—1858। शिला=पत्थर।

### खंड 23

Strabo, xv. 1.38 p.703

## शिलास नदी के विषय में

(मेगास्थिनीज़ कहता है कि) पहाड़ी देश में एक नदी 'शिलास' है जिसके पानी पर कोई वस्तु नहीं उतराती। डिमाक्रिटस (Demokritos) जिसने एशिया के बहुत से भागों में यात्रा की थी, इस पर विश्वास नहीं करता, तथा अरस्तू भी इसे नहीं मानता।

### खंड 24

Arr. Ind. 5-2

## भारतीय नदियों की संख्या के विषय में

(एरियन का अनुवाद देखो)

### पुस्तक 2

### खंड 25

Strabo XV. 1.35-36 p 702

## पाटलिपुत्रनगर के विषय में

मेगास्थिनीज़ के अनुसार औसत चौड़ाई (गंगा की) 100 स्टेडिया है और उसकी अत्यन्त कम गहराई बीस पोरसा। इस नदी और एक दूसरी नदी के संगम पर पालिबोथ्रा स्थित है जो लम्बाई में 80 स्टेडिया और चौड़ाई में 15 स्टेडिया है। यह....के आकार का है और काठ की दीवार से घिरा है जिसमें तीर छोड़ने के लिए छेद कटे हैं। इसके सामने रक्षा के निमित्त तथा नगर का मैला बहाने के लिए एक खाई है। वे लोग जिनके देश में यह नगर स्थित है सारे भारतवर्ष में सबसे प्रख्यात हैं और प्रेसिआई कहलाते हैं। राजा को अपने कुल के नाम के अतिरिक्त पालिबोथ्रास का उपनाम रखना पड़ता है, जैसा कि सेण्ड्राकोटस ने किया था, जिसके पास मेगास्थिनीज़ दूत

बनाकर भेजा गया था। [यह रीति पार्थियन (Parthians) लोगों के बीच भी प्रचलित है, क्योंकि सबके सब अर्सकाई (Arskai) कहलाते हैं यद्यपि प्रत्येक कोई निज का अद्भुत नाम रखता है जैसे ओरोडीज़, फ़रआतीस या कोई और।]

इसके आगे ये वाक्य हैं–

ह्यूपानिस के आगे समस्त देश बहुत उपजाऊ रहता है लेकिन उसके विषय में स्पष्ट रूप से बहुत कम ज्ञात है। कुछ तो अनभिज्ञता के कारण और कुछ उसकी स्थिति की दूरी के कारण उसके विषय में प्रत्येक बात या तो बहुत बढ़ाई गई है अथवा आश्चर्य्यजनक करके दिखलाई गई है; उदाहरण के लिए सोना खोदनेवाली चींटियों, विलक्षण स्वरूप और अद्भुत शक्तियों को धारण करनेवाले जन्तुओं तथा मनुष्यों की कथाएँ; जैसे सीरिस[1] (Seres) जिन्हें लोग कहते हैं कि इतने दीर्घजीवी होते हैं कि वे 200 वर्ष से अधिक की अवस्था तक पहुँच जाते हैं। लोग 500 मन्त्रियों से संयुक्त प्रधानपालित शासन की भी चर्चा करते हैं जिनमें से प्रत्येक, राज्य को एक एक हाथी भेंट करता है।

मेगास्थिनीज़ के अनुसार सबसे बड़े बाघ प्रेसिआई के देश में मिलते हैं–इत्यादि (मिलाओ खंड 12)

## खंड 26

### Arr. Ind. 10.

# पाटलिपुत्र तथा भारतवासियों की रीति व्यवहार के विषय में

आगे यह कहा जाता है कि भारतवासी मृतक के लिए कोई स्मारक नहीं उठाते वरन् उस सत्यशीलता को जिसे मनुष्यों ने अपने जीवन में दिखलाया है, तथा उन गीतों को जिनमें उनकी प्रशंसा वर्णित रहती है, वे मरणान्तर उनके स्मारक को बनाए रखने के लिए काफ़ी समझते हैं। किन्तु उनके नगरों के विषय में कहा जाता है कि

---

1. यह किसी जाति विशेष का नाम नहीं था वरन् अस्पष्टरूप से उस देश के निवासियों को सूचित करने के अर्थ में प्रयोग किया जाता था जहाँ रेशम उत्पन्न होता था जिसका चीनी और जापानी में 'सीर' नाम है। साधारण सम्मति इस देश। (Serica सीरिका) को पूर्वीय मंगोलिया तथा चीन के उत्तर-पूर्व में बतलाती है। परन्तु पूर्वी तुर्किस्तान में, गंगा के उद्गम की ओर हिमालय में, तथा आसाम में यहाँ तक कि पेरू में भी इसका स्थान बताया गया है। यह नाम पहिले पहिल केटेशियस (Ktesias) में मिला है।

उनकी संख्या इतनी बड़ी है कि ठीक ठीक नहीं बताई जा सकती, पर ऐसे नगर जो नदियों के तटों पर वा समुद्र के किनारे स्थित हैं ईंटों के स्थान पर लकड़ी के बने हैं क्योंकि वे थोड़े ही काल तक चलने के लिए बनते हैं—गहिरा मेह जो बरसता है तथा नदियाँ जब वे अपने किनारों के ऊपर बढ़ आती हैं और मैदान को तराबोर कर देती हैं सर्वनाशिनी होती हैं। पर ऐसे नगर जो खुली जगह पर तथा ऊँचे ऊँचे टीलों पर बसे हैं ईंट और गारे से बने हैं; और भारतवर्ष में सबसे बड़ा नगर वह है जो प्रेसिआई के राज्य में पालिबोथ्रा कहलाता है, जहाँ पर इरन्नाबोआस और गंगा की धारा मिलती है—गंगा तो सब नदियों से बड़ी है और इरन्नाबोआस कदाचित् भारतीय नदियों में तीसरी बड़ी नदी है यद्यपि वह और जगह की सबसे बड़ी नदियों से भी बड़ी है; पर वह जहाँ गंगा में गिरती है वहाँ उससे छोटी है। मेगास्थिनीज़ हमें सूचित करता है कि यह नगर बस्ती में चारों ओर 80 स्टेडिया की विपुल लम्बाई में फैला हुआ था, और उसकी चौड़ाई 15 स्टेडिया थी, और एक खाई उसको चारों ओर से घेरे थी जो 600 फुट चौड़ाई में और 30 क्यूबिट् गइराई में थी, और दीवार (शहरपनाह) 570 बुर्जों से मंडित थी और उसमें 64 फाटक थे। वही ग्रन्थकार आगे चलकर भारतवर्ष के विषय में यह ध्यान देने योग्य बात कहता है कि समस्त भारतवासी स्वतन्त्र हैं, उनमें से एक भी दास (Slave) नहीं है। लैकिडिमोनियन्स (Lakedoemonians) और भारतवासी इस बात में यहाँ तक सहमत हैं। पर लैकिडिमोनियन लोग 'हेलाट' (Helots) लोगों को दास की भाँति रखते हैं और ये 'हेलाट' सेवाकर्म्म करते हैं; परन्तु भारतवासी शत्रुओं तक को दास की भाँति नहीं रखते, अपने देशवासियों की क्या बात है।

## खंड 27 (क)

### Strabo XV. 1.53-56-pp.709-710.

## भारतवासियों की रीति व्यवहार के विषय में

भारतवासी सब किफ़ायत से रहते हैं विशेषकर जब डेरों में रहते हैं। वे एक बड़ी अशिक्षित भीड़ नापसन्द करते हैं, इससे वे उत्तम क्रम बनाए रखते हैं। चोरी बहुत कम होती है। मेगास्थिनीज़ कहता है कि उन लोगों ने जो एन्ड्रोकोटस (चन्द्रगुप्त) के डेरे में थे, जिसके भीतर 400000 मनुष्य पड़े थे, देखा कि चोरी जिसकी इत्तला किसी एक दिन होती थी वह 200 द्राचमी (Drachmae) के मूल्य से बढ़ती की नहीं होती थी, और यह ऐसे लोगों के बीच जिनके पास लिपिबद्ध कानून नहीं वरन् जो लिखने से अनभिज्ञ हैं और इसलिए जिन्हें जीवन के समस्त कार्य्यों में स्मृति ही पर भरोसा करना पड़ता है। तिस पर भी वे अपने चाल ढाल में सादे और मितव्ययी

होने के कारण पूरे सुख से रहते हैं। वे यज्ञों में छोड़ मदिरा[1] और कभी नहीं पीते। उनका शरबत जौ के स्थान पर चावल संघटित एक रस है और उनका भोजन अधिकतर भात है। उनके कानून और उनके व्यवहार की सरलता इस बात से प्रमाणित होती है कि वे न्यायालय में बहुत कम जाते हैं। उनमें गिरवी और धरोहर के अभियोग नहीं होते और न वे मुहर या गवाह की ज़रूरत रखते हैं वरन् थाती रख देते हैं और एक दूसरे पर विश्वास रखते हैं। अपने घर और सम्पत्ति को वे प्रायः अरक्षित छोड़े रखते हैं। ये बातें सूचित करती हैं कि वे एक उत्कृष्ट उदार भाव रखते हैं; परन्तु वे और दूसरी बातें करते हैं जिनको कोई पसन्द नहीं कर सकता; दृष्टान्त के लिए वे सदैव अकेले भोजन करते हैं और कोई नियत घड़ी नहीं रखते जिसमें सब एक साथ मिलकर भोजन करें, परन्तु हर एक की जब इच्छा होती है खा लेता है। सामाजिक और राजनीतिक जीवन के परिणाम के लिए इसके प्रतिकूल रीति उत्तम होती।

उनके शरीर को व्यायाम देने की सर्वप्रिय रीति संघर्षण द्वारा है, जो कई प्रकार से होता है, पर विशेषतः चिकने चिकने आबनूस के बेलनों को त्वचा पर फेर कर होता है। उनके समाधिस्थल सादे होते हैं और मृतक के ऊपर उठाई हुई बेदी नीची होती है। अपने चाल की साधारण सादगी के प्रतिकूल वे बारीकी (नफ़ासत) और सजावट के प्रेमी होते हैं। उनके वस्त्रों पर सोने का काम किया रहता है और वे (वस्त्र) मूल्यवान रत्नों से विभूषित रहते हैं, और वे लोग अत्यन्त सुन्दर मलमल के बने हुए फूलदार कपड़े पहिनते हैं। सेवक लोग उनके पीछे पीछे छाता लगाए चलते हैं, क्योंकि वे सौन्दर्य्य का बड़ा ध्यान रखते हैं और अपने स्वरूप को सँवारने में कोई उपाय उठा नहीं रखते। सच्चाई और सदाचार दोनों की वे समान प्रतिष्ठा करते हैं। इससे बूढ़ों को वे कोई विशेष स्वत्व नहीं देते जब तक कि उनकी बुद्धि अधिक उत्कृष्ट न हो। वे बहुत सी स्त्रियों से विवाह करते हैं जिनको वे उनके माता पिता से, बदले में एक जूआ बैल दे कर मोल ले लेते हैं। कुछ को तो वे दत्तचित्त सहकारिणी बनाने की आशा से विवाह लाते हैं, और कुछ को केवल आनन्द के हेतु तथा घर को लड़कों से भर देने के लिए। स्त्रियाँ जब तक सती रहने के लिए बाध्य नहीं की जातीं व्यभिचार करती हैं। यज्ञ वा श्राद्ध में कोई मुकुट नहीं धारण करता; और वे बलिपशु को छुरी धँसा के नहीं मारते वरन् गला घोटते हैं जिसमें कोई खंडित वस्तु नहीं वरन् केवल वही जो समूची हो, देवता को भेंट दी जाय।

झूठी साक्षी देने का अपराधी मनुष्य अवयवभंग का दंड भोगता है। वह जो किसी का अंग भंग कर देता है न कि केवल बदले में उसी अंग की हानि उठाता है, वरन् उसका हाथ भी काट लिया जाता है। यदि वह किसी कारीगर के हाथ वा

1. यह मदिरा कदाचित् सोमरस हो।

आँख की हानि कर देता है तो वह मार डाला जाता है। वही ग्रन्थकार कहते हैं कि कोई भारतवासी दास (Slave) नहीं रखते; परन्तु आनिसिक्रिटस् (Onesikritos) कहता है कि यह विलक्षणता देश के उसी भाग में थी जिस पर म्यूसिकेनस् (Musikanos) राज्य करता था[1]।

राजा के शरीर की रखवाली स्त्रियों के सुपुर्द रहती है जो उनके माता पिता से मोल ली जाती हैं, पहरेदार तथा और बाकी सिपाही फाटकों के बाहर रहते हैं। स्त्री जो राजा को नशे में मार डालती है वह उसके उत्तराधिकारी की स्त्री होती है। पुत्र पिता के उत्तराधिकारी होते हैं। राजा दिन को नहीं भी सोता और रात को वह अपने प्राण के ऊपर साज़िशों को निष्फल करने के हेतु समय समय पर अपना बिस्तर बदलते रहने के लिए बाध्य है[2]।

राजा अपना महल न कि केवल युद्ध ही के समय में छोड़ता है वरन् मामिलों की देखभाल के निमित्त भी। तब वह कचहरी में समस्त दिन रहता है और काम को रुकने नहीं देता यद्यपि वह घड़ी भी आ जाती है जिसमें उसे अवश्य ही अपने शरीर पर ध्यान देना उचित है—अर्थात् जब वह काठ के बेलनों से मला जाने को होता है। वह इधर अभियोगों को सुनता रहता है और उधर मालिश भी होती रहती है जो चार सेवकों द्वारा सम्पादित होती है। दूसरा प्रयोजन जिसके निमित्त वह अपना महल छोड़ता है बलिप्रदान करना है। तीसरा शिकार खेलने जाना है जिसके हेतु वह बक्चनेलियन (Bacchanalian) रीति के अनुसार प्रस्थान करता है। स्त्रियों की भीड़ उसे घेरे रहती है और उस घेरे के बाहर बरछेवाले रक्खे जाते हैं। मार्ग का चिह्न रस्सों से डाला जाता है और इन रस्सों के भीतर से होकर जाना पुरुष और स्त्री के लिए समान रूप से मृत्यु है। ढोल और झाँझ लेकर आदमी इस दल के आगे आगे चलते हैं। राजा घेरों के भीतर अहेर खेलता है और एक चबूतरे से तीर चलाता है। उसकी बग़ल में दो वा तीन हथियारबन्द स्त्रियाँ खड़ी होती हैं। यदि वह खुले मैदान में शिकार करता है तो वह हाथी की पीठ पर से तीर चलाता है। स्त्रियों में से कुछ तो रथ के भीतर रहती हैं, कुछ घोड़ों पर, और कुछ हाथियों पर भी; और वे हर प्रकार के शस्त्रों से सजी रहती हैं मानो वे किसी चढ़ाई पर जा रही हैं[3]।

---

1. उसका राज्य सिन्ध नदी के किनारे सिन्ध में था और उसकी राजधानी कदाचित् बक्कर के पास थी।
2. आवा का वर्तमान राजा जो प्रत्यक्ष में इण्डो चीनी आकार का है यद्यपि वह क्षत्रिय कुल से उत्पन्न होने का दावा करता है चन्द्रगुप्त से बहुत मिलता जुलता एकान्तवास का जीवन बिताता है। वह अपना शयनागार हर रात को आकस्मिक विश्वासघात से बचाव के लिए बदला करता है—Wheelers History of India Vol, III p. 182-Notes.
3. अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में राजा दुष्यन्त के साथ यवनियाँ धनुष हाथ में लिए और वनपुष्प की माला धारण किए दिखलाई गई हैं।

[ये रीतियाँ हमारे यहाँ की रीतियों से मिलाने से बड़ी अद्भुत हैं परन्तु नीचे लिखी हुई इनसे भी बढ़ कर हैं, क्योंकि मेगास्थिनीज़ कहता है कि काकसोस पर निवास करनेवाली जातियाँ स्त्रियों के साथ खुले मैदान में प्रसंग करती हैं और अपने बान्धवों का शव भक्षण करती हैं[1]। ऐसे बन्दर होते हैं जो पत्थर लुढ़काते हैं—इत्यादि (खंड XV आगे है और फिर खंड 29)

## खंड 27 (ख)

### Aelian V. L. IV. 1.

भारतवासी न तो सूद पर रुपया देते हैं और न जानते हैं कि किस प्रकार उधार लेना चाहिए; किसी भारतवासी का हानि करना वा सहना स्थिर रीति के विरुद्ध है इसलिए न तो वे मुआहिदा करते हैं और न ज़मानत चाहते हैं।

## खंड 27 (ग)

### Nical. Damse. 44; Stob Serm. 42

भारतवासियों के बीच जो अपना कर्ज़ा वा थाती वसूल करने में असमर्थ होता है उसके लिए कानून में कोई चारा नहीं है। जो कुछ महाजन कर सकता है वह इतना ही कि अपने को एक दुष्ट पर विश्वास करने के लिए धिक्कारे।

## खंड 27 (घ)

वह जो किसी कारीगर की आँख वा हाथ की हानि करता है मार डाला जाता है। यदि कोई किसी बड़े जघन्य अपराध का दोषी होता है तो राजा उसके बालों को मुड़वा देने की आज्ञा देता है क्योंकि यह दण्ड अत्यन्त निन्द्य है।

---

1. हेराडोटस ने इन दोनों प्रथाओं का अस्तित्व किसी किसी भारतीय जाति में देखा था (Bk. III. 38, 99, 101).

## खंड 28

## Athen iv. p. 153

# भारतवासियों के भोजन के विषय में

मेगास्थिनीज़ अपनी 'इंडिका' पुस्तक के दूसरे भाग में कहता है कि जब भारतवासी खाने बैठते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति के सामने एक चौकी रक्खी जाती है जिस पर पहिले चावल धरा जाता है, जो ऐसा उसिना रहता है जैसे कोई जौ उसिने और तब वे ऊपर से बहुत से पक्वान्न रखते हैं जो हिन्दुस्तानी सामग्रियों के अनुसार तैय्यार किए जाते हैं।

## खंड 29[1]

## Strabo XV. 1.57-p.711.

# कल्पित जातियों के विषय में

परन्तु कहानियों की ओर झुककर वह कहता है कि पाँच बालिश्त और तीन बालिश्त तक के मनुष्य होते हैं जिनमें से किसी के नाक नहीं रहती, मुँह के ऊपर केवल दो छेद रहते हैं जिनसे वे साँस लेते हैं। इन तीन बालिश्त के आदमियों के विरुद्ध, जैसा कि होमर ने कहा है, सारस लोग लड़ाई ठानते हैं तथा तीतर भी इतने बड़े होते हैं जितने राजहंस[2]। ये लोग सारसों के अण्डों को बटोरते हैं और नष्ट कर

1. Cf. Strabo II. 1.9.—P.70—डिमाकास और मेगास्थिनीज़ विशेष करके विश्वास के अयोग्य हैं। ये ही लोग ऐसे ऐसे मनुष्यों की कथाएँ कहते हैं जो अपने कानों में सोते हैं, जो बिना मुँह के होते हैं, जो बिना नथुनों के होते हैं, जिनके एक ही आँख होती है, जिनकी लम्बी लम्बी टाँगें होती हैं तथा ऐसे मनुष्यों की जिनके पैर की अँगुलियाँ पीछे को होती हैं। उन्होंने होमर की सारस और बौनों के बीच की लड़ाई की कहानी को, यह कह कर कि दूसरे बौने तीन बालिश्त की ऊँचाई के होते थे, नए सिरे से कहा है। उन्होंने चींटियों की चरचा की है जो सुवर्ण के लिए पृथ्वी खोदती हैं और साँप की जो......के आकार के सिरवाले होते हैं तथा ऐसे सर्पों की जो बैल और बारहसिंहों को पूरा सींग समेत निगल जाते हैं।
2. Ktesias अपनी 'इंडिका' में पिगमी (बौने) को भारतवर्ष ही का बतलाता है। स्वयं भारतवासी लोग उन्हें 'किराती' (Kiratoe) की जाति का मानते थे जो असभ्य थे, जंगल पहाड़ों में रहते थे, आखेट द्वारा निर्वाह करते थे और जो इतने लघु होते थे कि उनका नाम ही बौने के लिए पर्य्यायवाची हो गया। उन्हें लोग समझते थे कि वे गरुड़ों और गृद्धों से लड़ा करते हैं। चूँकि वे मंगोलवंश के थे इस कारण भारतवासी उनको उस जाति के लक्षणों से युक्त प्रदर्शित करते थे यद्यपि उनके लक्षणों को वहुत बढ़ा देते थे। इसलिए मेगास्थिनीज़ ने अमुक्टरीज़ (Amukteres) की चरचा की है जो बिना नाक के आदमी थे, जिनके केवल मुँह के ऊपर साँस के लिए छिद्र रहते थे। इसमें सन्देह नहीं कि पिल्लियस के स्किराइट (Scyrites) और Periplus Maris Erythroei के Kirrhadai एक ही हैं।

डालते हैं क्योंकि उन्हीं के देश में सारस अण्डा देते हैं और इसी से अण्डे तथा सारस के बच्चे किसी दूसरी जगह नहीं मिलते। प्रायः कोई सारस उस देश के लगे हुए घाव ले कर, शस्त्र की पीतल की नोक अपने शरीर में खोंसे हुए भाग आते हैं। इनोटकैटई[1] (Enotokoitai) का वृत्तान्त, तथा जंगली मनुष्यों और दूसरे राक्षसों का भी, जो दिया गया है ऐसा ही निर्मूल है। जंगली आदमी सैंड्राकोटस (चन्द्रगुप्त) के पास नहीं लाए जा सकते थे क्योंकि वे भोजन करना अस्वीकार करते थे और मर जाते थे। उनकी एँड़ी आगे की ओर होती है और तलवा तथा पैर की अँगुलियाँ पीछे की ओर घूमी रहती हैं[2]। कोई कोई राजसभा में लाए गए थे जिनके मुँह नही थे और जो पालतू थे। वे गंगा के उद्गमों के निकट रहते हैं और भुने हुए मांस के स्वाद तथा फूल और फलों की सुगन्धि पर निर्वाह करते हैं; मुँह के स्थान पर उनके छिद्र होते हैं जिनसे वे साँस लेते हैं। वे बुरी गन्ध की वस्तुओं से कष्ट पाते हैं और इसीलिए वे कठिनता से अपना जीवन रख सकते हैं, विशेष कर डेरों में। दूसरे राक्षसों की चरचा करते हुए दार्शनिकों ने उससे[3] आकुपेडीज़ (Okupedes) के विषय में कहा, जो लोग दौड़ने में घोड़ों को पीछे डाल सकते थे, तथा इनोकैटई के विषय में जिनके कान उनके पैरों तक लटकते हुए होते थे जिससे वे उनमें सो सकते थे, और वे इतने बलिष्ट होते थे कि पेड़ उखाड़ सकते थे। धनुष की प्रत्यञ्चा तोड़ सकते थे। औरों के साथ मनोम्मटोई (Manommatoi) की भी (चर्चा हुई है) जिनके कान कुत्तों के ऐसे होते हैं, उनकी एक आँख उनके मस्तक के बीच में होती है, बाल सीधे खड़े होते हैं और उनकी छाती झबरीली होती है; तथा अमुक्तीरिज (Amukteres) की भी जो बिना नथुने के मनुष्य होते हैं जो प्रत्येक वस्तु खाते हैं, कच्चा मांस भक्षण करते हैं तथा अल्पजीवी होते हैं और वृद्धावस्था के आने के पहिले ही मर जाते हैं। उनके मुँह का ऊपरी भाग निचले ओठ, के ऊपर बड़ी दूर तक बढ़ा रहता है। हाइपरबोरियन लोगों (Hyperboreans) के विषय में, जो हज़ार वर्ष जीते हैं, वे वही वृत्तान्त कहते हैं जो सिमोनिडीज़, (Simonides) पिंडरस (Pindaros) तथा और दूसरी अलौकिक कथाओं के प्रणेताओं ने कहा है[4]। टिमाजिनीज़ (Timagenes) ने जो कथा कही है कि ताँबे के बूँदों की वर्षा होती है जो एक साथ बटोरे जाते हैं, गप्प है। मेगास्थिनीज़ कहता है—जो कि अधिक विश्वास योग्य है, क्योंकि आइबेरिया[5] में भी यही होता है—कि नदियाँ स्वर्णरज ले आती हैं और उसका एक अंश राजा को कर की भाँति दिया जाता है।

---

1. इनोटकैटई संस्कृत में कर्णप्रावस्माः कहलाते हैं; रामायण और महाभारत में इनका कई जगह उल्लेख है—जैसे महाभारत 2-1170, 1875 में। भारतवासियों के बीच सर्वसाधारण में यह बात प्रचलित थी कि असभ्य जातियों के कान बड़े बड़े होते हैं; जैसे न कि केवल कर्णप्रवर ही का ज़िक्र आया है वरन् कर्णिक, लम्बकर्ण, महाकर्ण, उष्ट्रकर्ण, ओष्ठकर्ण, पाणिकर्ण का भी—Schwanbeck 66। हीलर साहब कहते हैं कि किसी भारतवर्ष से जानकार मनुष्य के लिए इन कहानियों में से बहुतों की उत्पत्ति बतला देना सहज है। चींटियाँ इतनी बड़ी नहीं होतीं जितनी लोमड़ियाँ, परन्तु वे असाधारण →

→ खोदनेवाली होती हैं। आदमियों के पेड़ उखाड़ लेने और उनको सोंटे की भाँति काम में लाने की कथाएँ महाभारत में भरी पड़ी हैं, विशेषतः भीम के कर्म्मों के प्रसंग में। मनुष्यों के कान पैर तक लटकते हुए नहीं होते पर पुरुष और स्त्री दोनों लहर में कुछ वस्तुओं को घुसेड़ कर अपने कानों को कभी कभी बड़ी विलक्षण रीति से लम्बा कर देते हैं। यदि कोई कथा थी जिसने सबसे बढ़कर स्ट्रेबो (Strabo) के क्रोध को उभाड़ा तो वह यही ऐसे लोगों की थी जिनके कान पैरों तक लटकते हैं। पर यह कहानी हिन्दुस्तान में अब तक प्रचलित है। बाबू जौहरीदास कहते हैं कि "एक बुड्ढी स्त्री ने मुझ से एक बार कहा कि उसके पति ने, जो अँगरेज़ी फ़ौज में सिपाही था ऐसे लोगों को देखा था जो एक कान पर सोते थे और दूसरे को ओढ़ते थे"—Domestic Manners and Custom of the Hindus, Benares 1860। इस कथा का पता हिमालय में लगता है। फ़िच्, (Fitch) जिसने हिन्दुस्तान में 1525 के लगभग भ्रमण किया था, कहता है कि भूटान की एक जाति के कान एक बालिश्त लम्बे थे।

2. इन जंगली मनुष्यों की चरचा Ktesias और Bacto ने भी की है। वे अपने पैर की विलक्षण बनावट के कारण एंटिपोडीज़ कहलाते थे और इथियोपियन जातियों में गिने जाते थे। यद्यपि रामायण और महाभारत में कई जगह इनका उल्लेख पश्चादङ्गुलनाः के नाम से हुआ है—Schwanbeck
3. आकुपडीज़ थोड़े से परिवर्तन के साथ संस्कृत 'इकपदस' का यूनानी में अवतरण है, जो पैरों की गति के लिए प्रसिद्ध किराती (Kiratoe) की एक जाति का नाम है, जो गुण यूनानी शब्द से प्रगट होता है। Ktesias ने मोनापडीज़ की चरचा की है पर उसने उन्हें स्कायपोडीज़ (Skiapodes) के साथ गड़बड़ कर दिया है जो अपने पैरों की छाया ओढ़ते थे।
4. यूनानी कवि पिण्डर ने, जो हाइपरबोरियन्स को ईस्टर (Ister) नदी के मुहाने के पास कहीं बतलाता है, उनके विषय में लिखा है (10th Pythian Ode 1146 to 69) मेगास्थिनीज़ को यह निरीक्षण करने की सूक्ष्मता थी कि हाइपरबोरियन की यूनानी कथा का भारतीय उत्पत्तिस्थान 'उत्तरकुरु' सम्बन्धी कथाओं में था। इस शब्द के अर्थ होते हैं 'उत्तर के कुरु'। P. R. De. Saint Tuartin कहते हैं कि "संस्कृत वाक्य 'उत्तरकुरु' की ऐतिहासिक उत्पत्ति अज्ञात है पर उसके अर्थग्रहण में कभी भेद नहीं पड़ता। उपवैदिक साहित्य की समस्त पुस्तकों में, महाकाव्यों में, पुराणों में,—सारांश यह कि जहाँ कहीं यह शब्द मिलता है यह काव्य और कल्पना के भूगोल से सम्बन्ध रखता है। 'उत्तरकुरु' जीवधारी संसार के कहीं आगे उत्तर के अत्यंत दूरस्थित भूभाग में उन पहाड़ों के नीचे जो मेरुपर्वत को घेरे हैं स्थित हैं। यह यक्षों और पवित्र ऋषियों का निवासस्थान है जिनकी आयु कई हज़ार वर्ष तक पहुँचती है। मनुष्यों का उसके भीतर प्रवेश वर्ज्जित है। पाश्चात्य कथाकारों के हाइपरबोरियन देश के समान यह भी सदा वसन्त के सुखमय स्वत्व को भोगता है और शीत तथा ग्रीष्म के आधिक्य से वञ्चित है, वहाँ आत्मा का खेद और शरीर का क्लेश लोग नहीं जानते. ...यह पूर्ण तथा स्पष्ट है कि यह भाग्यमानों की भूमि हमारे लोक की नहीं है।

"सिकन्दर की चढ़ाई के उपरान्त भारतवासियों के समागम से यूनानी लोग उन बहुत सी ब्राह्मणकाव्य की कहानियों से जानकार हो गए जिनसे भारतवर्ष उन्हें मायावियों (Prodiquies) का देश दिखाई देने लगा। मेगास्थिनीज़ ने अपने पूर्ववर्ती टीशियास के समान बहुत सी ऐसी कथाओं का संग्रह किया था, सो या तो उसी के विवरणों से अथवा समकालीन आख्यानों से, जैसे Deimachos का, उत्तरकुरु की कहानी पश्चिम में फैली, क्योंकि प्लिनी के कथनानुसार अमोमीटस (Amometus) नामी किसी व्यक्ति ने उनके विषय में एक पुस्तक हिकेटियस (Hecataeus) के हाइपरबोरियन सम्बन्धी ग्रन्थ के ढंग पर रची थी। अवश्य ही इसी (Amometus) की पुस्तक से प्लिनी ने उन दो पंक्तियों को लिया जिन्हें उसने अपने अटोकोरी (Attacorae) के उपलक्ष में कहा है कि "सूर्य →

# खंड 30

## Pliny. Hist. Nat. VII. ii. 14-22.

## कल्पित जातियों के विषय में

मेगास्थिनीज़ के अनुसार नुलो (Nulo) नामक पर्व्वत पर मनुष्य रहते हैं जिनके पैर पीछे को घूमे रहते हैं और जिनके प्रत्येक पैर में आठ-आठ अँगुलियाँ होती हैं; और बहुत से पहाड़ों पर एक जाति ऐसे मनुष्यों की रहती है जिनका सिर कुत्तों के ऐसा होता है, जो बनैले पशुओं की खाल पहिनते हैं, जिनकी बोली भूँकने की सी होती है और जो पंजों से संयुक्त होने के कारण अहेर पर और चिड़िया पकड़ के निर्वाह करते हैं[1]। [टिशियास अपने ही आधार पर कहता है कि इन मनुष्यों की संख्या 120000 के ऊपर थी; और भारतवर्ष में एक जाति है जिसकी स्त्रियाँ अपने जीवन भर में केवल एक बार सन्तति प्रसव करती हैं और उनके बच्चे तुरन्त श्वेतकेश हो जाते हैं।]..........................................................................................

→ से तप्त पर्वतों का मंडल उन्हें विषैली वायु से रक्षित रखता था और ये हाइपरबोरियनों की नाईं चिरवसन्त का सुख भोगते थे। (Pliny. loc. cit. Ammianus Marcellinus XXIII. 6. 64)। वेग्नर (Wagner) इस वर्णन को समस्त सीरिस (Seres) के ऊपर घटाता है (Pliny की Attacorae जिसकी एक शाखा है) और कुछ वर्त्तमान समालोचकों का विश्वास है कि इसमें चीन के कहकहा दीवार की चरचा है। इसके अतिरिक्त अनेकानेक और उदाहरणों से हम देखते हैं कि भारतवर्ष की काव्यमयी कथाओं और लोकप्रिय कहानियों ने यूनानी आख्यानों में जाते समय यथार्थता तथा एक प्रकार की ऐतिहासिक अनुकूलता का रूप धारण कर लिया। E'tude, surla, Geographic, Griequeet Latine, de Inde. pp. 413-414) वही ग्रन्थकार कहता है (p. 412) "सीरिका (Serica) के लोगों में टालमी ओटरकोरी (Ottorocorrhae) को गिनता है, जिसे प्लिनी में अटकोरी (Attacorae) कर के लिखा है और जिसको (Ammanus Marcellinus) अमेनस मारसिलिनस ने, जो टालमी का अनुकरण करता है आपुरोकरा (Opurocarra) बना लिया है"। इस नाम के भीतर संस्कृत पुस्तकों के 'उत्तरकुरु' का पता लगा लेना कोई कठिन नहीं है।

श्वानबक (पृ. 70) प्रो. लैसन को उद्धृत करते हैं जो लिखते हैं कि "उत्तरकुरु सीरिका का एक भाग है और चूँकि भारतवर्ष के प्रथम वृत्तान्त पश्चिम में सीरिस से आए इससे कदाचित् सीरिस का कोई अंश भारतीय 'उत्तरकुरु' की कहानियों से सिद्ध हो। सीरिस की दीर्घायु की कथा का भेद भी इसी प्रकार खुल सकता है विशेष कर जब मेगास्थिनीज़ हाइपरबोरियन लोगों की आयु को 100 वर्ष आँकता है। महाभारत का वचन है कि उत्तरकुरु 1000 वा 10000 वर्ष तक जीते हैं, (6-164) इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि मेगास्थिनीज़ ने भी 'उत्तरकुरु' ही के विषय में लिखा है और उसने जो उनके नाम को 'हाइपरबोरियन' बना डाला वह अनुचित नहीं किया। Zeitschr. II. 67.

5. स्पेन नहीं किन्तु कैस्पियन और कालासागर के मध्य का देश जो अब जार्जिया कहलाता है।

1. Ktesias ने इन्हें Kvuokeadoi कहा है, और संस्कृत में ये 'श्वानमुख' कहलाते हैं।

घूमनेवाले भारतवासियों के बीच मेगास्थिनीज़ एक जाति के मनुष्यों की चरचा करता है जिनके नथुनों की जगह पर केवल छेद होते हैं, जिनकी टाँगें सर्पों की भाँति संकुचित होती हैं और जो स्किरिटी (Scyritoe) कहलाते हैं। पूर्व की ओर भारत के छोर पर गंगा के उद्गम के निकट बसनेवाली अस्टोमी (Astomi) जाति के लोगों का भी मेगास्थिनीज़ ज़िक्र करता है जिनके मुँह नहीं होता; जो अपने शरीर को, जो सर्वत्र लोमपूरित होता है चिकने रोंगटों से जो पेड़ों की पत्तियों पर मिलते हैं, ढाँकते हैं; और जो केवल साँस लेकर तथा नासिका द्वारा खींची हुई सुगन्ध से ही जीते हैं, वे न कुछ खाते हैं और न पीते हैं। उन्हें केवल जड़ों, फूलों और जंगली सेबों की भाँति भाँति की सुगन्धि ही की आवश्यकता होती है। जब वे किसी दूर देश को जाते हैं तब सेब वे अपने साथ ले लेते हैं जिसमें सदा उनके पास कोई वस्तु सूँघने को रहे। अत्यन्त कड़ी गन्ध उन्हें शीघ्र मार डालेगी।

अस्टोमी के आगे पर्वतों के अत्यन्त दूर स्थित भागों में त्रिसयिथामी और बौने लोगों का निवासस्थान कहा जाता है। वे ऊँचाई में हर एक तीन बालिश्त के होते हैं–अर्थात् 27 इंच से अधिक नहीं। उनकी जलवायु स्वास्थ्यकर है और वे पर्वतों की रुकावट की ओट में जो उत्तर की ओर उठे हैं चिरवसन्त भोगते हैं। वे वही हैं जिनको होमर ने सारसों की चढ़ाई से कष्ट पाते हुए कहा है। उनके विषय में कथा यह है कि मेढ़ों और बकरों की, पीठ पर चढ़ के, और बाणों से सुसज्जित हो के वे वसन्तकाल में सब एक झुंड में समुद्र की ओर चढ़ाई करते हैं और उन पक्षियों के अंडों और बच्चों को नष्ट कर डालते हैं। इस वार्षिक चढ़ाई को समाप्त करने में सदैव उन्हें तीन महीने लगते हैं; और यदि वे यह न करें तो वे आगामी वर्षों के विपुल समूह से अपनी रक्षा न कर सकें। उनके झोपड़े मिट्टी, परों और अण्डों के छिलक़ों के बने होते हैं। [अरस्तू कहता है कि वे गुफाओं में रहते हैं, पर और बातों में वह वही विवरण देता है जो दूसरे देते हैं।]

[Ktesias टिशियास से हम सुनते हैं कि इस जाति के अन्तर्गत कुछ लोग हैं जो पण्डोरी (Pandori) कहलाते हैं और घाटियों में बसते हैं, और 200 वर्ष जीते हैं, उनके बाल युवावस्था में भूरे रहते हैं और वृद्धावस्था में काले हो जाते हैं। प्रत्युत, कुछ लोग 40 वर्ष की अवस्था से आगे नहीं जीते–ये प्रायः मक्रोबिआई (Macrobii) से सम्बन्ध रखते हैं जिनकी स्त्रियाँ केवल एक बार सन्तान प्रसव करती हैं। अगथारचिडीज (Agatharchides) उनके विषय में यही कहता है पर इतना और बढ़ाकर कि वे टीड़ियों पर निर्वाह करते हैं और पैर के तेज़ होते हैं।] क्लिटार्कस (Clitarclus) और मेगास्थिनीज़ उन्हें मंडी[1] (Mandi) कहते हैं और उनके ग्रामों की संख्या तीन

1. कदाचित् इसे पाण्डई (Pandai) पढ़ना चाहिए। हाँ यदि मेगास्थिनीज़ का अभिप्राय मन्दराचल के निवासियों से हो तो दूसरी बात है।

सौ आँकते हैं। स्त्रियाँ सात वर्ष की अवस्था में बच्चे जनती हैं और चालीस वर्ष में बुड्ढी हो जाती हैं।

## खंड 30 (ख)

Solin 52. 26—30.

एक पहाड़ के निकट जो 'नुलो' कहलाता है, मनुष्य रहते हैं जिनके पैर पीछे की ओर घूमे रहते हैं और उनके प्रत्येक पैर में आठ आठ अँगुलियाँ होती हैं। मेगास्थिनीज़ लिखता है कि भारतवर्ष के भिन्न भिन्न पर्वतों पर कुत्ते की नाईं सिरवाले, पंजों से संयुक्त चमड़ों से ढँके ऐसे मनुष्यों की जातियाँ हैं जो मानवी भाषा के स्वर में नहीं बोलतीं वरन् केवल भूँकती हैं और उनके भयानक निकले हुए जबड़े होते हैं। [टीशियास में हम पढ़ते हैं कि कुछ भागों में स्त्रियाँ केवल एक बार सन्तति प्रसव करती हैं और बच्चे जन्म ही से श्वेत केशवाले होते हैं—इत्यादि]

.......जो गंगा के उद्गम के निकट रहते हैं और भोजन के रूप में किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं रखते हैं, जंगली सेबों की सुगन्धि पर निर्वाह करते हैं, और जब वे लम्बी यात्रा को चलते हैं तब उन्हें अपने जीवन की रक्षा के निमित्त साथ ले लेते हैं जिसका पालन वे उनकी सुगन्धि ही सूँघकर कर लेते हैं। यदि वे अत्यन्त निकृष्ट वायु सूँघ जायँ तो मृत्य अनिवार्य है।

## खंड 31

(Plutarch, de facie in orbe lunoe—opp. ed.

Reisk tom IX P. 701)

## बिना मुख के मनुष्यों की जाति के विषय में

.....क्योंकि कैसे कोई वहाँ उस हिन्दुस्तानी जड़ को उगा हुआ पा सकता है जिसकी सौरभमयी गन्ध से, मेगास्थिनीज़ कहता कि एक जाति के मनुष्य, जो न खाते हैं और न पीते हैं और जो यथार्थ में मुँह तक नहीं रखते, अपना जीवन सँभालने के हेतु उसे लोवान की भाँति जलाते हैं जब तक कि वह (जड़) चन्द्रमा से शीतलता न प्राप्त करती हो।

## पुस्तक 3

## खंड 32

Arr. Ind. XI., XII. 9.

## (एरियन की इंडिका का अनुवाद देखो)

## खंड 33

Strabo XV. 1.39—41, 46—49-pp.703,704,707.

## भारतवासियों की सात जातियों के विषय में

उस (मेगास्थिनीज़) के अनुसार भारतवर्ष की बस्ती सात भागों में विभक्त है। दार्शनिक लोग प्रतिष्ठा में प्रथम हैं, किन्तु संख्या के विचार से वे सबसे छोटे वर्ग में हैं। उनके कृत्य निज की ओर से उन लोगों द्वारा नियुक्त किए जाते हैं जो बलिप्रदान वा और दूसरे धार्मिक विधान करना चाहते हैं; तथा राजाओं के द्वारा भी वहाँ पर जो बड़ा Synod कहलाता है; जहाँ पर वर्ष के आरम्भ में समस्त दार्शनिकगण द्वारों पर राजा के सामने इकट्ठे होते हैं, जब कोई दार्शनिक कोई उपयोगी प्रस्ताव लिख लाता है वा फ़सल और चौपायों की उन्नति के लिए अथवा सर्वसाधारण की हितवृद्धि के लिए कोई उपाय सोचता है तब वह उसे सबके सामने कहता है। यदि कोई तीन बार झूठी सूचना देते हुए देखा जाता है तो न्याय उसे उसके शेष जीवन भर के लिए मौन रहने का दण्ड देता है, परन्तु वह जो गम्भीर सम्मति देता है राज्य कर वा और कोई चन्दा देने से मुक्त कर दिया जाता है।

(40) दूसरी जाति में किसान लोग संयुक्त हैं जो बस्ती के बीच सबसे अधिक हैं और स्वभाव के बड़े सीधे और सज्जन होते हैं। वे सैनिक सेवा से मुक्त रहते हैं और अपनी भूमि को बिना किसी आशंका से विचलित हुए जोतते हैं। वे नगरों में कभी नहीं जाते, क्या भीड़ भाड़ में योग देने के लिए क्या और किसी कार्य के लिए। इसलिए यह प्रायः होता है कि एक ही समय और देश के एक ही भाग में, कुछ मनुष्य तो युद्ध की पंक्ति में खड़े और अपने जीवन को भय में डालकर लड़ते हुए देखे जाते हैं और दूसरे मनुष्य पास ही पूरी संरक्षा के साथ गोड़ते और जोतते हैं, क्योंकि सिपाही उनकी रक्षा के निमित्त रहते हैं। समस्त भूमि राजा की है और किसान लोग उपज का चौथाई लेने की शर्त पर जोतते हैं।

(41) तीसरी जाति में चरवाहे और अहीर हैं केवल इन्हीं को अहेर करने, चौपाये

रखने और फुटकर पशु बेचने या उन्हें किराये पर देने की आज्ञा है। भूमि को ऐसे बनैले पशुओं और पक्षियों से स्वच्छ करने के बदले में वे राजा की ओर से अन्न का वेतन पाते हैं। वे घूम कर जीवन बिताते हैं और डेरों के भीतर रहते हैं।

**खंड 36 इसके आगे है।**

[इतना तो बनैले पशुओं के विषय में हुआ। अब हम मेगास्थिनीज़ की ओर लौटते हैं और जहाँ से छोड़ा है वहीं से फिर उठावेंगे।]

चौथी जाति, चरवाहों और अहेरियों के उपरान्त, उन लोगों से संयुक्त है जो व्यापार का काम करते हैं, वे जो बरतन बेचते हैं तथा वे जो शारीरिक परिश्रम में लगाए जाते हैं। इनमें से कोई तो कर देते हैं और राज्य के प्रति कुछ नियत सेवाएँ करते हैं; किन्तु कवचकार और जहाज़ बनानेवाले मज़दूरी और अपना भोजन राजा से पाते हैं और केवल उसी के लिए वे काम करते हैं। सेना का नायक सिपाहियों को अस्त्र पहुँचाता है, और जहाज़ी बेड़े का नायक जहाज़ों को, मुसाफ़िर तथा माल दोनों उतारने के लिए, भाड़े पर देता है।

(47) पाँचवाँ वर्ग लड़नेवाले मनुष्यों का है, जो, जब वे कार्य्य कर सेवा में नहीं फँसे रहते अपना समय निरुद्यमता और मद्यपान में बिताते हैं। वे राजा के व्यय से रक्खे जाते हैं, और इस हेतु जब अवसर पड़ता है वे युद्धक्षेत्र में जाने को सदैव प्रस्तुत रहते हैं, क्योंकि अपने अपने शरीर के अतिरिक्त वे और कोई निज की वस्तु साथ नहीं लेते।

(48) छठाँ वर्ग निरीक्षकों का है जिनको जो कुछ हो रहा हो उसे निरीक्षण करने और राजा को गुप्त रीति से उसकी सूचना देने का भार प्रदान किया गया है। किसी को नगर निरीक्षण करने का भार सौंपा गया है और किसी को सेना का। एक तो अपने सहायकों की भाँति नगर के सभासदों को संलग्न करते हैं और दूसरे डेरे के सभासदों को। अत्यन्त योग्य और विश्वासपात्र मनुष्य इन पदों पर नियुक्त किए जाते हैं।

सातवाँ वर्ग राजा के मन्त्रियों और कर्मचारियों का है। राज्य के बड़े से बड़े पद, न्याय की कचहरियाँ, और राजकाज का साधारण प्रबन्ध उनके हाथ में है। किसी को अपनी जाति के बाहर विवाह करने, एक व्यापार का व्यवसाय छोड़ कर दूसरा ग्रहण करने अथवा एक से अधिक व्यवसाय करने की आज्ञा नहीं है।

Fragment XXXIV.
Strabo xv. 50-52—pp. 707—709.

# राजकाज के प्रबंध के विषय में घोड़ों और हाथियों के व्यवहार के विषय में

(50) राज्य के बड़े बड़े कर्मचारियों में से किसी के सुपुर्द बाज़ार रहता है, किसी के नगर और किसी के सिपाही। जैसा मिस्र में होता है उसी तरह कुछ लोग नदियों का निरीक्षण करते हैं, भूमि को नापते हैं और उन मुहानों की देखभाल करते हैं जिनसे होकर प्रधान नहरों का पानी उनकी शाखाओं में जाता है जिसमें हर एक को बराबर पानी मिले। इन्हीं लोगों के सुपुर्द शिकारी लोग भी रहते हैं और इन्हीं को उनकी योग्यतानुसार उन्हें पुरस्कार वा दण्ड देने का अधिकार प्राप्त रहता है। ये कर वसूल करते हैं और भूमि से सम्बन्ध रखनेवाले व्यवसायों की देखभाल करते हैं जैसे लकड़िहारे, बढ़ई लोहार और खान खोदनेवाले। ये सड़क बनाते हैं, और हर दसवीं स्टेडिया[1] पर रास्ते और दूरी को सूचित करने के लिए स्तम्भ उठाते हैं। जिनके सुपुर्द नगर हैं वे पाँच पाँच मनुष्यों के छः समुदायों में बँटे हैं। पहिले समुदाय के लोग कला कौशल से सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक बातों की देखभाल करते हैं। दूसरे समुदाय के लोग विदेशियों का सत्कार करने पर रहते हैं; उनको ये निवासस्थान देते हैं और उन लोगों के द्वारा जिन्हें ये उन (विदेशियों) को सहायकों की भाँति देते हैं उनके रहन सहन पर भी दृष्टि रखते हैं। जब वे देश छोड़ के जाते हैं तो ये उन्हें मार्ग में पहुँचाते हैं अथवा, उनके मरने पर उनकी सम्पत्ति को उनके सम्बन्धियों को पहुँचा देते हैं। जब वे बीमार होते हैं तब ये उनकी सेवा करते हैं और यदि मर जाते हैं तो गाड़ देते हैं। तीसरा समुदाय उन लोगों से संयुक्त है जो यह पता लगाते हैं कि कब और किस प्रकार से जन्म और मृत्यु उपस्थित हुई; न कि केवल कर लगाने के अभिप्राय से वरन् इस हेतु से भी कि जिसमें उच्च और नीच दोनों के बीच जन्म और मृत्यु राज्य की सूचना से न बचने पावे। चौथा वर्ग व्यवसाय और व्यापार का निरीक्षण करता है। इस वर्ग के लोग नाप और तौल की निगरानी रखते हैं और देखते रहते हैं कि ऋतु की उपज साधारण सूचना द्वारा बेची जाय। किसी मनुष्य को एक से अधिक प्रकार की सामग्री बेचने का अधिकार नहीं है जब तक कि वह दूना कर न दे। पाँचवाँ वर्ग बनी हुई वस्तुओं की जाँच करता है जिनको लोग साधारण

---

1. इससे जान पड़ता है कि दस स्टेडिया किसी हिन्दुस्तानी नाप के बराबर था जो अवश्य ही क्रोश या कोस रहा होगा। यदि स्टेडिया 202-$\frac{1}{4}$ गज़ का माना जाय तो इस हिसाब से एक कोस में 2022-$\frac{1}{2}$ गज़ होते हैं जो 4000 हाथ के छोटे कोस से मेल खा जाता है जो पंजाब में प्रचलित है और बंगाल में भी थोड़े ही पहिले, यद्यपि अब नहीं, व्यवहार में था।

विज्ञापन द्वारा बेचते हैं। जो वस्तु नई होती है वह उससे अलग बेची जाती है जो पुरानी होती है और इन दोनों को एक साथ मिला देने पर जुरमाना होता है। छठाँ और अन्तिम वर्ग उन लोगों का है जो बेची हुई वस्तुओं के मूल्य का दशमांश वसूल करते हैं। इस कर के प्रदान में धोखा देने का दण्ड मृत्यु द्वारा दिया जाता है।

ये ही कर्त्तव्य हैं जिनका ये समुदाय पृथक् पृथक् सम्पादन करते हैं इनके मिले जुले रूप में इनके सुपुर्द इनके विशेष विभाग भी रहते हैं तथा सर्वसाधारण के हितसाधक कार्य भी जैसे सरकारी इमारतों की मरम्मत कराना, मूल्यों को निर्धारित करना, बाज़ारों, बन्दरगाहों और मन्दिरों की निगरानी। नगर के दण्डाध्यक्षों के अनन्तर एक तीसरा शासक समाज है जो सेना सम्बन्धी कार्य्यों को चलाता है। प्रत्येक पाँच पाँच मनुष्यों के इसमें भी छः विभाग हैं। एक विभाग तो जहाज़ी बेड़े के नावक के साथ योग देने के हेतु नियत किया जाता है दूसरा उन साँड़ के छकड़ों के निरीक्षक के साथ जो युद्ध के इंजिन, सिपाहियों की भोजन सामग्री, चौपायों का चारा तथा और दूसरी सैनिक सामग्रियों के ढोने के काम में आते हैं। ये सेवक पहुँचाते हैं जो ढोल बजाते हैं और दूसरे जो झाँझ लेकर चलते हैं; घोड़ों के लिए साईस भी, तथा शिल्पकार और उनके सहायक भी (यही देते हैं)। झाँझ के शब्द पर ये घसिहारों को घास लाने के लिए भेजते हैं; और पुरस्कार और दण्ड के नियम के द्वारा ये इस काम को करीने और हिफाज़त के साथ करवा लेते हैं। तीसरे वर्ग के सुपुर्द पैदल सिपाही, चौथे के घोड़े, पाँचवें के युद्ध के रथ, और छठें के हाथी रहते हैं। घोड़ों और हाथियों के लिए सरकारी अस्तबल हैं तथा हथिआरों के लिए सरकारी मेगज़ीन भी हैं, क्योंकि सिपाही को अपने शस्त्र को मेगज़ीन में और घोड़े को अस्तबल में लौटाना पड़ता है। वे हाथियों को बिना लगाम लगाए काम में लाते हैं। चढ़ाई पर रथ बैलों द्वारा खींचे जाते हैं, पर घोड़े साथ साथ बागडोर के सहारे चलाए जाते हैं जिसमें उनकी टाँगें चुटीली न हो जायँ और दे गरमा न उठें तथा रथ खींचने से उनका उत्साह ढीला न पड़ जाय। सारथी के अतिरिक्त दो योद्धा रहते हैं जो रथ में उसके इधर उधर बैठते हैं। युद्ध के हाथी चार आदमी लेकर चलते हैं—तीन तो वे जो तीर चलाते हैं, और एक फ़ीलवान।

## खंड 35

Aelian, Hist. Anim XIII—10.

## घोड़ों और हाथियों के विषय में

जो यह कहा जाता है कि एक भारतवासी घोड़े के सामने कूद कर उसकी गति रोक सकता है और उसको पीछे हटा सकता है, यह सब भारतवासियों के विषय में सत्य नहीं है वरन्

केवल उन्हीं के विषय में जो लड़कपन से घोड़े फेरना सिखाए जाते हैं। क्योंकि अपने घोड़ों को लगाम से वश में करने और उनको सधी कदम के साथ और एक सीध में चलाने की रीति उनके बीच है। पर न तो वे उनकी जीभ काँटेदार जाबों से चुटीली करते हैं और न उनके तालू को पीड़ित करते हैं। व्यवसायी शिक्षक उनको एक चक्कर में चारों ओर दौड़ा कर निकालते हैं विशेष करके जब वे अड़ीले होते हैं। ऐसे लोगों को जो इस काम को उठाते हैं बलिष्ठ भुजा तथा घोड़ों से पूरी जानकारी की आवश्यकता रहती है। अत्यन्त निपुण लोग अपने गुण की परीक्षा एक रथ को चक्कर में बार बार दौड़ा कर करते हैं; और सचमुच चार चार उद्दण्ड घोड़ों के समूह को, जबकि वे एक वृत्त में वेग के साथ घूम रहे हैं, वश में रखना कोई सहज खेल नहीं हैं। रथ पर दो आदमी रहते हैं जो सारथी के इधर उधर बैठते हैं। युद्ध का हाथी, या तो उसमें जो मण्डप कहलाता है वा सच पूछिए तो अपनी नंगी पीठ पर तीन योद्धा लेकर चलता है जिनमें से दो तो बग़ल से तीर छोड़ते हैं और एक पीछे से छोड़ता है। एक चौथा आदमी भी रहता है, जो अपने हाथ में अंकुश लिए रहता है जिससे वह उस पशु को ठीक उसी रीति से चलाता है जैसे किसी जहाज़ के कप्तान और माँझी पतवार से उसे चलाते हैं।

## खंड 36

Strabo xv. 1. 41-43,—pp.704-705.

# हाथियों के विषय में

साधारण आदमी को घोड़ा और हाथी रखने की आज्ञा नहीं है। ये पशु राजा की मुख्य सम्पत्ति समझे जाते हैं, और उनकी देखभाल के लिए मनुष्य नियुक्त किए जाते हैं। हाथी के पकड़ने की रीति यह है। भूमि के एक खुले खंड में विस्तार में लगभग पाँच वा छः स्टेडिया की एक गहरी खांई खोदी जाती है, और इस पर एक बहुत तंग पुल रक्खा जाता है जिस पर से घेरे के भीतर जाने का रास्ता रहता है। इस घेरे के भीतर तीन वा चार भली प्रकार सिखाई हुई हथिनियाँ लाई जाती हैं। मनुष्य लोग स्वयं छिपे हुए झोपड़ों में ताक में पड़े रहते है। बनैले हाथी दिन के समय इस फन्दे के निकट नहीं आते, परन्तु रात को वे इसके भीतर एक एक करके जाते हैं। जब सब द्वार से होकर निकल जाते हैं तब लोग धीरे से उसे बन्द कर देते हैं; तब, सबसे बलवान लड़नेवाले हाथियों को उसके भीतर ले जाकर जंगली हाथियों से लड़ाते हैं, जिनको कि वे भूख से भी अशक्त कर देते हैं। जब बनैले हाथी श्रम से थक जाते हैं। तब फीलवानों में सबसे साहसी चुपके से उतर आते हैं, और प्रत्येक मनुष्य अपने अपने हाथी के नीचे खिसक जाता है और इस आसन से बनैले हाथी के पेट के नीचे खिसक जाता है और

उसके पैरों को बाँध देता है। जब यह हो चुकता है तब वे पालतू हाथियों को उन्हें मारने के लिए उभाड़ते हैं जिनके पैर बँधे रहते हैं, यहाँ तक कि वे पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। तब वे जंगली और घरेलू दोनों को एक साथ गरदन से गरदन मिला कर बैल के गीले चमड़े के पट्टों से बाँध देते हैं। जिसमें वे चढ़ने के लिए यत्न करते समय हिलें न। वे उनकी गरदन के चारों ओर घाव कर देते हैं और तब घावों में चमड़े के पट्टे डाल देते हैं, इससे पीड़ा उन्हें बेड़ियों को सहन करने और चुपचाप पड़े रहने को बाध्य करती है। पकड़ी हुई संख्या में से वे ऐसों को निकाल देते हैं जो सेवा के लिए बहुत बुड्ढे अथवा बहुत बच्चे होते हैं, और शेष को वे बाड़ों में ले आते हैं। यहाँ वे उनका पैर एक दूसरे से बाँध देते हैं और गरदन एक दृढ़तापूर्वक गड़े हुए खम्भे से लगा कर जकड़ देते हैं, और उन्हें भूख से पालतू करते हैं। इसके उपरान्त वे हरे हरे नरकटों और घास से फिर (उनके शरीर में) बल लाते हैं। फिर वे उन्हें आज्ञानुवर्ती होना सिखाते हैं जिसको वे उन्हें सन्तुष्ट कर के करते हैं, कोई दमदिलासे के शब्दों से और कोई गीतों और ढोल के बाजे से। बहुत कम उनमें से ऐसे निकलते हैं जिनका पालना कठिन हो, क्योंकि वे स्वभावतः इतने सीधे और शान्त होते हैं कि वे बुद्धिसम्पन्न जीवों के निकट तक पहुँचते हैं। कोई कोई उनमें से अपने फ़ीलवान को जब वह लड़ाई में गिर जाता है ऊपर उठा लेते हैं और कुशलपूर्व्वक रणक्षेत्र से निकाल ले जाते हैं। कोई, जब उनके स्वामियों ने उनके अगले पैरों के बीच में शरण ली है, उनकी रक्षा के हेतु लड़े हैं और उन्होंने उनके प्राण बचाए हैं। यदि क्रोध के आवेग में वे उस मनुष्य को जो उन्हें चारा देता है अथवा उसको जो उन्हें शिक्षा देता है मार डालते हैं, तो वे उसकी हानि के लिए इतना पछताते हैं कि भोजन करना छोड़ देते हैं और कभी-कभी भूख से मर जाते हैं।

वे घोड़ों की नांई प्रसंग करते हैं, और मादा अपना बच्चा वसन्त काल में देती है। यह नर हाथी के लिए ऐसी ऋतु है, जब वह मद में रहता है और भयानक हो जाता है। उस समय वह कनपटियों के पास एक छिद्र में से एक चरबीला पदार्थ फेंकता है। यह मादा के लिए भी ऐसी ऋतु होती है जब उसका सम्बन्धी मार्ग खुल जाता है। वे सोलह अथवा अठारह महीने तक बच्चा लिए रहती हैं। मादा अपने बच्चों को छः वर्ष तक दूध-पिलाती है। बहुतेरे तो इतने दिन जीते हैं जितने कि मनुष्य जो अत्यन्त दीर्घायु को पहुँचते हैं, और कोई कोई 200 वर्ष से ऊपर जीते हैं। इन्हें बहुत से रोगों का भय रहता है और ये जल्दी चंगे नहीं होते। नेत्रों के रोगों के लिए गाय के दूध से उन्हें धोना दवा है। उनके और दूसरे रोगों के लिए उन्हें काली मदिरा के घूँट दिए जाते है। उनके घावों को अच्छा करने के लिए उन्हें मक्खन खिलाया जाता है क्योंकि यह लोहा बाहर खींच लेता है। उनके घाव सूअर के मांस से सेंके जाते हैं।

## खंड 37

Arr. Ind. Ch. 13-14.

## (32वाँ खंड इसके पहिले आता है)

### (एरियन की इंडिका का अनुवाद देखो)

## खंड 37 (ख)

Aelian, Hist. Anim. XII. 44.

## हाथियों के विषय में

भारतवर्ष में यदि कोई हाथी पूरी बाढ़ पर पकड़ा जाता है तो उसका पालना कठिन होता है; वह स्वतन्त्रता की इच्छा से रुधिर का प्यासा हो जाता है। यदि वह सीकड़ों में बाँध दिया जाता है तो यह उसे और भी क्रुद्ध करता है, और वह स्वामी के बस में नहीं आता है। पर, भारतवासी लोग उसे भोजन से फुसलाते हैं और बहुत सी ऐसी वस्तुओं से उसे शान्त करते हैं जिनसे उसे रुचि रहती है; उनका उद्देश्य उसका पेट भरना और उसके स्वभाव को कोमल करना रहता है। पर यह अभी तक उनसे कुपित रहता है और उन पर कुछ ध्यान नहीं देता। तब फिर वे किस युक्ति का सहारा लेते हैं? वे उसके पास अपने देशी रागों को गाते हैं और उसे सर्वसाधारण में प्रचलित एक यन्त्र की ध्वनि से प्रसन्न करते हैं जिसमें चार तार लगे रहते हैं और जो (Skindapsos) स्किण्डप्सस कहलाता है। पशु अब अपने कान उठाता है और मनोरंजक आलाप के वश में हो जाता है और उसका क्रोध धीमा पड़ जाता है। तब, यद्यपि उसका दबा हुआ क्रोध कभी कभी भड़क उठता है, यह धीरे धीरे अपनी दृष्टि भोजन की ओर फेरने लगता है। तब यह अपने बन्धनों से मुक्त कर दिया जाता है परन्तु भागने की चेष्टा, गान से मोहित होने के कारण, नहीं करता। यहाँ तक कि वह खाना चाह से खाने लगता है, और एक विशद अतिथि की भाँति भोजन की चौकी के पास खड़ा रह कर गान के प्रेम से जाने की इच्छा नहीं करता।

## खंड 38

### Aelian, Hist. Anim. XII. 7.

# हाथियों के रोग के विषय में

भारतवासी उन हाथियों के घाव को जिन्हें वे पकड़ते हैं निम्नलिखित रीति से अच्छा करते हैं—वे उनकी उसी रीति से चिकित्सा करते हैं जिससे, जैसा कि सज्जन वृद्ध होमर (Homer) कहता है, पेट्रोक्लस (Patroklos) ने यूरिपाइलस (Eurypylos) के घावों की चिकित्सा की थी,—वे उन्हें अर्द्ध उष्ण (शीरगर्म) जल से सेंकते हैं।[1] इसके उपरान्त वे उन्हें मक्खन से मलते हैं, और यदि वे गहिरे होते हैं तो वे गरम, पर रुधिर लगा हुआ सूअर का मांस लगा कर और भर कर सूजन को कम कर देते हैं। वे....को गाय के दूध से अच्छा करते हैं, जो कि प्रथम आँख को सेंकने के लिए काम में लाया जाता है और फिर उसमें डाला जाता है। पशु अपनी पलकों को खोल देते हैं, और यह देखकर कि वे अच्छी तरह देख सकते हैं, प्रसन्न होते हैं और गुण को मनुष्यों की भाँति समझते तक हैं। जैसे जैसे उनका अन्धापन घटता जाता है उसी हिसाब से उनकी प्रसन्नता बढ़ती जाती है, और यह एक चिह्न है कि बीमारी अच्छी हो गई। दूसरे रोगों की औषधि जो उन्हें होते हैं काली मदिरा है; और यदि यह अनुपान भी आरोग्यता लाने में निष्फल होता है तो दूसरी कोई वस्तु उन्हें नहीं बचा सकती।

## खंड 39

### Strabo. xv. 1. 44—p. 706.

# सोना खोदनेवाली चींटियों के विषय में[2]

मेगास्थिनीज़ इन चींटियों का निम्नलिखित विवरण देता है। भारतवासियों की एक

---

1. देखो इलियड् अ. 11; 845।
2. देखो Ind. Ant. Vol IV. pp. 225 जहाँ पर दृढ़ विवाद यह प्रमाणित करने के लिए उपस्थित किए गए हैं कि "सोना खोदनेवाली चींटियाँ आदि में न तो यथार्थ में चींटियाँ थीं जैसा कि प्राचीन लोग समझते थे, और न दूसरे कोई बड़े जानवर थे जो अपने आकार और स्वभाव के कारण भ्रम से चींटी समझे गए जैसा कि बहुत से विद्वानों ने अनुमान किया है, परन्तु वे तिब्बती खान खोदनेवाले थे जिनका रहन सहन और पहिरावा अत्यन्त प्राचीन काल में वैसा ही था जैसा कि आजकल है।

बड़ी जाति [1]दरदई Dardai के बीच जो पूर्व्वीय सीमा के पहाड़ों पर बसती है एक ऊँचा[2] प्लेटो लगभग 3000 स्टेडिया के घेरे में है। सतह के नीचे सोने की खानें हैं, और यहीं अतएव वे चींटियाँ पाई जाती हैं जो उस धातु के लिए खोदती हैं। वे डील में जंगली लोमड़ियों से कम नहीं होतीं। वे आश्चर्य्यजनक वेग के साथ दौड़ती हैं और अहेर की प्राप्ति पर निर्वाह करती हैं। उनके खोदने का समय जाड़ा है[3]। खानों के मुँह पर वे, जैसा कि छछूँदर करते हैं, मिट्टी का ढेर फेंकती हैं। स्वर्णधूलि को थोड़ा उबालना पड़ता है। पड़ोस के लोग चुपचाप बोझ ढोनेवाले पशुओं के साथ आकर इसको ले जाते हैं। यदि वे खुले मैदान आवें तो चींटियाँ उन पर आक्रमण करें और यदि वे भागें तो उनका पीछा करें, और उन्हें तथा उनके बैलों दोनों को मार डालें। इससे उनकी दृष्टि बचा कर इस डकैती को पूरा करने के लिए वे कई भिन्न भिन्न स्थलों पर जंगली पशुओं के मांस के टुकड़े डाल देते हैं, और जब चींटियाँ इस युक्ति से छितरा जाती हैं तो वे स्वर्णधूलि को उठा ले जाते हैं। इसको वे जो व्यापारी मिला उसी के हाथ जब कि यह कच्ची ही अवस्था में रहती है बेच देते हैं, क्योंकि धातुओं को गलाने की विद्या उन्हें अज्ञात है।

## खंड 40

Arr. Ind. xv; 5-7

## (एरियन की इंडिका का अनुवाद देखो)

---

1. ये प्लिनी के Dardoe, टालमी के दरद्रई Daradrai और संस्कृत साहित्य के दरदस हैं। "दार्दस लोग मिटी हुई जाति नहीं हैं। आधुनिक भ्रमणकारों के वृत्तान्तों के अनुसार उनमें कई जंगली और लुटेरे दल संयुक्त हैं जो काश्मीर की उत्तर पश्चिमी सीमा के पर्वतों पर सिन्धु नदी के तट पर बसते हैं–Ind. Ant.
2. चोजोटोल का टेबललैंड–Journal Royal Geog. Soc. Vol. xxxix pp. 149—Es Ind. Ant.
3. "थोकजालंग के खान खोदनेवाले शीत के रहते भी जाड़े ही में काम करना पसन्द करते हैं; और उनके डेरों की संख्या जो गरमी में तीन सौ रहती है जाड़े में लगभग छः सौ के पहुँच जाती है। वे जाड़ा इस हेतु पसन्द करते हैं कि जमी हुई मिट्टी अच्छी तरह लगी रहती है और गिर कर उन्हें बहुत कष्ट नहीं देती।"

## खंड 40 (ख)

Dio Chrysost or. 35,-p. 436, Morell.

# चींटियों के विषय में जो सुवर्ण के लिए खोदती हैं

(मिलाओ खंड 34 और 40)

वे सोना चींटियों से पाते हैं। ये जीव लोमड़ियों से बड़े होते हैं, परन्तु और बातों में हमारे देश की चींटियों के समान होते हैं। वे दूसरी चींटियों की तरह भूमि में बिल खोदती हैं। ढेर जो वे ऊपर फेंकती हैं। सारे संसार में सब से शुद्ध और कान्तिमय सुवर्ण का रहता है, ये टीले स्वर्णधूलि की छोटी छोटी पहाड़ियों की नांई एक दूसरे से पास पास विधानयुक्त क्रम के साथ लगाए जाते हैं जिससे सारा मैदान दीप्तिमान हो जाता है। इसलिए सूर्य्य की ओर ताकना कठिन रहता है, और बहुतों ने जिन्होंने ऐसा करने का यत्न किया है अपनी नेत्रज्योति नष्ट कर दी है। लोग जो इन चींटियों के पड़ोसी हैं इन ढेरों को लूटने के अभिप्राय से छकड़ों पर चढ़के जिनमें वे अपने सबसे तेज़ घोड़ों को जोते रहते हैं मध्यवर्त्ती रेगिस्तान को पार करते हैं जो बड़े विस्तार का नहीं है। वे दोपहर को पहुँचते हैं जिस समय चींटियाँ भूगर्भ में गई रहती हैं, और चटपट लूट को लेकर पूर्ण वेग के साथ भागते हैं। चींटियाँ जो कुछ हुआ उसका समाचार पाकर भागनेवालों का पीछा करती हैं और उन्हें पकड़ कर जब तक जीततीं वा मरतीं नहीं तब तक उनसे लड़ती हैं, क्योंकि समस्त जानवरों से वे अधिक साहसी होती हैं। इससे यह जान पड़ता है कि वे सुवर्ण के मूल्य को समझती हैं और उससे जुदा होने की अपेक्षा अपना प्राण न्यौछावर कर देना चाहती हैं।

## खंड 41

Strabo XV. 1. 58-60—pp. 7117-14.

# भारतीय दार्शनिकों के विषय में

(खंड 29 इसके पहिले है)

(58) दार्शनिकों की चरचा करते हुए वह (मेगास्थिनीज़) कहता है कि उनमें से ऐसे लोग जो पर्वतों पर रहते हैं डायोनिसस (Dionysos) के पूजक होते हैं और इसके प्रमाण की भाँति कि वह उनके बीच आया था वे जंगली अंगूर, जो केवल उन्हीं के देश में होता है, और तरुरोहिणी, और नारल (laurel) और मेंहदी (myrtle)

और शमशाद (box tree) तथा और दूसरे सदाबहार के पेड़ दिखाते हैं जिनमें से एक भी, केवल कहीं कहीं उद्यानों में छोड़ जिनकी रक्षा के हेतु बड़े ध्यान की आवश्यकता होती है, इफ़रात के आगे नहीं पाए जाते। वे कुछ रीतियों का पालन करते हैं जो बकूचनेलियन् (Bacchanalian) हैं। जैसे वे मलमल पहिनते हैं, पगड़ी देते हैं, सुगन्धित द्रव्यों का व्यवहार करते हैं और चमकीले रंगों में रंगे हुए पहिरावों को धारण करते हैं; और उनके राजा जब सर्वसाधारण के बीच निकलते हैं उनके पीछे ढोल और झाँझ बजते हैं। किन्तु वे दार्शनिक जो मैदानों में रहते हैं हेराक्लीज़ (Herakles) की पूजा करते हैं। [यह गप्प है और बहुतेरे ग्रन्थकारों ने इसका खण्डन किया है विशेषकर उसका जो अंगूर और मद्य के विषय में कहा गया है। क्योंकि आरमेनिया का अधिक भाग, और पारस और कारमेनिया के आगे समस्त मेसोपोटोमिया (Mesopotamia) और मिडिया (Media) इफ़रात के आगे पड़ता है और इन प्रत्येक देशों के अधिकतर भागों में उत्तम अंगूर उत्पन्न होते हैं और उनसे उत्तम मद्य निकाला जाता है।]

(59) मेगास्थिनीज़ दार्शनिकों को एक भिन्न विभाग यह कह कर करता है कि वे दो प्रकार के होते हैं—जिनमें से एक को वह ब्राचमनीज़ (Brachmanes) कहता है और दूसरे को सरमनीज़[1] (Sarmanes) ब्राचमनीज़ की प्रतिष्ठा सबसे अधिक होती है क्योंकि अपनी सम्मतियों में वे अधिक युक्तिपूर्ण होते हैं। गर्भस्थान में आने के समय से ही वे विद्वान मनुष्यों की निगरानी में रहते हैं, जो माता के पास उसके और उसके बच्चे के कल्याण के हेतु मन्त्र प्रयोग करने के मिस जाते हैं, परन्तु वास्तव में उसे सुन्दर शिक्षा और उपदेश देते हैं। स्त्रियाँ जो अत्यन्त चाह से सुनती हैं अपने लड़कों के विषय में बड़ी भाग्यवती समझी जाती हैं। जन्म के अनन्तर लड़के एक के उपरान्त दूसरे मनुष्य के आधीन रहते हैं और जैसे जैसे वे अवस्था में बढ़ते जाते हैं प्रत्येक उत्तराधिकारी स्वामी अपने पूर्वाधिकारी से अधिक दक्ष होता है। दार्शनिकों का निवास स्थान नगर के सामने कुंज में एक स्वल्पाकार घेरे के भीतर होता है। वे सादी चाल से रहते हैं, और तृण और चर्म्म (मृग) के बिछौनों पर सोते हैं; वे मांसाहार और विषय सुख से बचे रहते हैं और अपना समय गम्भीर वार्ताओं के श्रवण में तथा उन्हें अपनी विद्या दान करने में बिताते हैं जो सुनना चाहते हैं। श्रोता को बोलने की, खाँसने तक की, थूकने की कौन कहे, आज्ञा नहीं है और यदि कोई इस प्रकार का अपराध करता है वह उसी दिन मंडली से ऐसा मनुष्य समझ कर निकाल दिया जाता है जिसमें स्वेच्छावरोध का अभाव है। इस प्रकार सैंतीस वर्ष रहकर प्रत्येक प्राणी अपनी सम्पत्ति पर लौट आता है जहाँ पर

---

1. यह प्रधान प्रश्न है कि ये सरमनीज़ कौन थे, कुछ लोग तो उन्हें बौद्ध समझते हैं और कुछ लोग इसका प्रतिवाद करते हैं। दोनों ओर से गम्भीर गम्भीर विवाद उपस्थित किए गए हैं; लेकिन उनकी सम्मति सत्य की ओर अधिक प्रवृत्त जान पड़ती है जो कहते हैं कि वे बौद्ध थे।—Schwanbeck.

वह अपने शेष दिनों तक सुख और रक्षापूर्व्वक रहता है[1]। तब वे उत्तम मलमल धारण करते हैं और अपनी अँगुलियों और अपने कानों में कुछ सोने के गहने भी पहिनते हैं। वे मांस खाते हैं पर परिश्रम में लगनेवाले पशुओं का नहीं। वे गरम तथा अत्यंत बघारे हुए भोजन से बचते हैं। वे जितनी स्त्रियाँ चाहते हैं उतनी बहुत सी सन्तति होने के अभिप्राय से ब्याहते हैं; क्योंकि कई स्त्रियाँ रखने में बड़े लाभ होते हैं, और चूँकि उनके पास दास (गुलाम) नहीं होते इससे उन्हें अपने आसपास आवश्यकता को पूरा करने के लिए लड़कों के रखने की अधिक आवश्यकता होती है।

ब्राचमनीज़ लोग दर्शन के ज्ञान को स्त्रियों से नहीं जताते कि कहीं यदि वे दुश्चरित्रा हो जायँ तो निषेध किए गए रहस्यों में से किसी को खोल न दें अथवा यदि वे कहीं उत्तम दार्शनिक हो जायँ तो उन्हें छोड़ न दें। क्योंकि कोई व्यक्ति जो सुख और दुःख तथा जीवन और मरण का तिरस्कार करता है दूसरे के आधीन नहीं रहना चाहता है, किन्तु यह सत्पुरुष और सुशीला स्त्री दोनों का लक्षण है।

मृत्यु प्रायः उनकी वार्ता का विषय रहता है। वे इस जीवन को, मानों, वह काल समझते हैं जब बच्चा गर्भ के भीतर परिपूर्ण होता है, और मृत्यु को दर्शन के अनुगामियों के लिए एक यथार्थ और आनन्दमय जीवन के बीच जन्म समझते हैं इस निमित्त वे मृत्यु की तैयारी की भाँति बड़ी शिक्षा प्राप्त करते हैं। जो कुछ मनुष्य पर पड़ता है उसको वे भला वा बुरा नहीं समझते; अन्यथा विचार करना स्वप्नवत् भ्रम है, नहीं तो क्यों उन्हीं वस्तुओं से किसी किसी को शोक होता है और किसी को आनन्द, और कैसे वही वस्तु उन्हीं प्राणियों को भिन्न भिन्न अवसरों पर इन परस्पर विरोधी भावनाओं से पूर्ण करती है।

वही ग्रन्थकार कहता है कि भौतिक रहस्य के विषय में उनके विचार बड़े कच्चे हैं, क्योंकि वे विवेचनाओं की अपेक्षा अपने कर्म्मों में अधिक भले होते हैं; क्योंकि उनका विश्वास अधिकतर कहानियों पर अवलम्बित रहता है; तिस पर भी कई बातों में उनकी सम्मतियाँ यूनानियों से मेल खाती हैं, क्योंकि उन्हीं की नांई वे भी कहते हैं कि जगत का आदि था और वह नश्वर है और आकार में गोल है, और ईश्वर जिसने उसको बनाया और जो उस पर शासन करता है उसके समस्त अंशों में व्याप्त है। वे मानते हैं कि कई आदि तत्त्व हैं जो ब्रह्मांड में परिचलित होते हैं और जल ही वह तत्त्व है जो जगत के बनाने में व्यवहृत हुआ था। चार तत्त्वों के अतिरिक्त एक पाँचवीं सामग्री (आकाश) भी है जिससे नभ मंडल और तारे उत्पन्न हुए। पृथ्वी ब्रह्मांड के

---

1. यह भ्रम (यूनानी ग्रन्थकर्ताओं का) ब्राह्मण के जीवन के चारों विभागों की अज्ञानता से उत्पन्न हुआ है। जैसे वे ऐसे मनुष्यों की बात कहते हैं जिन्होंने बहुत वर्षों तक दार्शनिक रह कर विवाह किया है और साधारण जीवन में आए हैं—एलफिस्टन का इतिहास पृष्ठ 236 जहाँ पर यह भी कहा है कि ग्रन्थकारों ने भ्रम वश उस काल को बढ़ा कर लिखा है जिसमें छात्रगण अपने शिक्षकों की वार्ता चुपचाप भक्ति के साथ सुनते हैं। वे हर अवस्था में सैंतीस वर्ष कहते हैं जो कि सबसे अधिक काल है जिसे मनु ने लिखा है।

बीच में रक्खी गई है। उत्पत्ति परम्परा और आत्मा के तत्त्व के विषय में तथा और दूसरी बातों में वे यूनानियों ही के समान विचार प्रगट करते हैं। वे अपने अमरत्व और आगामी न्याय विषयक सिद्धान्तों तथा और ऐसी ही बातों को प्लेटो (Plato) के ढंग पर रूपकों में लपेटते हैं। ऐसे ही उसके कथन ब्राचमनीज़ के विषय में हैं।

(60) सरमनीज़, जिनकी सबसे अधिक प्रतिष्ठा होती है वे (Hylobioi) हाइलोब्योई कहलाते हैं। वे जंगलों में रहते हैं जहाँ पर वे पेड़ की पत्तियों और जंगली फलों पर निर्वाह करते हैं, और वृक्षों की छाल के बने हुए पहिरावे धारण करते हैं। वे स्त्रीप्रसंग और मद्य से बचते हैं। वे राजाओं से बातचीत रखते हैं जो वस्तुओं के कारण के विषय में दूतों द्वारा उनसे परामर्श लेते हैं, और जो उन्हीं के द्वारा देवता की विनती और पूजा करते हैं। हाइलोब्योई से प्रतिष्ठा में नीचे वैद्य लोग हैं, क्योंकि वे मनुष्य के स्वभाव के अध्ययन में लगे रहते हैं। चाल ढाल में वे बड़े सीधे होते हैं, किन्तु खेतों में नहीं रहते। उनका भोजन चावल और जौ है जिसको वे सदैव कहने मात्र ही से पा सकते हैं, अथवा उनसे पाते हैं जो उन्हें अपने घरों में अतिथि की भाँति निमन्त्रित करते हैं। अपने औषधिशास्त्र के ज्ञान के कारण वे विवाहों को फलप्रद बना सकते हैं और होनेवाली सन्तति का वर्ग (Sex) निर्धारित कर सकते हैं। वे औषधि की अपेक्षा नियमित आहार ही से आरोग्य करते हैं। औषधियों में सबसे अधिक श्रद्धा मरहम और पट्टी पर है। और सबको वे गुण में हानिकारक समझते हैं। इस वर्ग के लोग और दूसरे वर्ग के लोग धैर्य्य का अभ्यास शारीरिक परिश्रम करके और कष्ट सहन करके करते हैं। इससे वे समस्त दिन अचल भाव से एक ही नियत आसन पर जमे रहते हैं[1]।

इनके अतिरिक्त भविष्यवक्ता और जादूगर लोग तथा मृतक सम्बन्धी क्रियाओं और रीतियों के अधिष्ठाता लोग होते हैं जो गाँवों और नगरों में भीख माँगते फिरते हैं।

इनमें से ऐसे भी जो उत्कृष्ट संस्कार और मार्ज्जना के होते हैं, हेडीज़ (Hades) के विषय में ऐसी ऐसी निर्मूल बातों का प्रचार करते हैं जिनको वे जीवन की पवित्रता और शुद्धता के लिए उपयुक्त समझते हैं। उनमें से किसी के साथ साथ स्त्रियाँ भी दर्शन का अनुगमन करती हैं, किन्तु वे प्रसंग से बची रहती हैं।

---

1. निस्सन्देह यह विचारने योग्य बात है कि बुद्ध का मत यूनानी ग्रन्थकारों द्वारा स्पष्ट रूप से लक्षित नहीं किया गया यद्यपि यह सिकन्दर से दो शताब्दी पहिले से था। इसका एक यही कारण है कि उसके अनुगामियों का रूप और उसकी चाल ढाल इतनी विलक्षण न थी कि जिससे कोई विदेशी उन्हें देखकर जनसमूह से उन्हें पृथक् निश्चित करे।

## खंड 42

### Clem. Alex. Strom 1.p.3050

यहूदी जाति इन सबसे कहीं अधिक प्राचीन है और उनका दर्शन, जो लिपिबद्ध हुआ है, यूनानियों के दर्शन से पहिले का है, पैथागोरियन फ़िलो (Philo, the Pythagorean) ने कई प्रमाणों से दिखलाया है, ऐसे ही आरिस्टोब्युलस पेरिपेटिटिक (Aristoboulos, the Peripatetic) तथा और दूसरों ने भी जिनका नाम गिना कर मुझे समय नष्ट करने की आवश्यकता नहीं। इंडिका पर एक ग्रन्थ का कर्ता मेगास्थिनीज़, जो सिल्यूकस निकेटर के साथ रहता था, इस विषय पर अत्यन्त ही स्पष्ट रूप से लिखता है, और उसके वाक्य ये हैं–"जो कुछ प्राचीनों द्वारा प्रकृति के सम्बन्ध में कहा गया है वह यूनान के बाहर के दार्शनिकों द्वारा भी निरूपित किया गया है, एक ओर तो हिन्दुस्तान में ब्राचमनीज़ द्वारा, दूसरी ओर सीरिया में उन लोगों द्वारा जो यहूदी (Jews) कहलाते हैं।

## खंड 42 (ख)

### Euseb. Proep. Ev. IX. 6,-pp. 410 C. D.
### Ex. Clem. Aelex.

फिर इसके अतिरिक्त, आगे चलकर वह इस प्रकार लिखता है–"मेगास्थिनीज़, ग्रन्थकार जो सिल्यूकस निकेटर के साथ रहता था, इस विषय पर अत्यन्त स्पष्ट रूप से और इस अभिप्राय से लिखाता है 'जो कुछ प्राचीनों द्वारा....इत्यादि'।"

## खंड 42 (ग)

### Cyrill, Contra julian IV. (O pp. Ed. Paris 1 638 T. VI. P. 134 Al.) Ex. Clem. Alex.[1]

आरिस्टोब्युलस पेरिपेटेटिक (Aristoboulos the Peripatetic) कहीं पर इस प्रकार लिखता है–"जो कुछ प्राचीनों इत्यादि"।

---

1. इस खंड में यद्यपि सीरिल (Cyril) क्लिमेंस (Clemens) का अनुकरण करता है, वह भ्रम से मेगास्थिनीज़ के विवरण को आरिस्टोब्युलस का बतलाता है जिसकी क्लिमेंस केवल प्रशंसा करता है–Schwanbeck p. 50.

## खंड 43

## Clem. Alex. Strom 1. p. 305. A. B.

# भारतवर्ष के दार्शनिकों के विषय में

[तब दर्शन अपने समस्त कल्याणकारी मनुष्य के लोगों के साथ, दीर्घ काल से बर्व्वरों में प्रचलित था जहाँ से इसने अपना प्रकाश जेंटाइल्स (Gentils) में फैलाया, और अन्त में वह यूनान में घुसा। इसके आचार्य्य, मिश्रियों के पैगम्बर (भविष्यद्वक्ता), असीरियनों के चैल्डीन्स (Chaldoens), गाल (Gaul) लोगों के ड्रूइड (Druids), सरमेनियंस (Sarmanoeans) जो बैक्ट्रियन तथा केल्ट (Kelt) लोगों के दार्शनिक थे, पारसियों में मगी (Magi) जिन्होंने जैसा तुम जानते हो, पहिले ही से त्राणकर्ता (ईसू मसीह) के जन्म को बतला दिया था, और जो एक तारा देखते देखते यहूदा (Judoea) की भूमि तक आ पहुँचे थे, और भारतवासियों में जिम्नोसोफ़िस्ट (Gymnosophist), तथा बर्व्वर जातियों के और दूसरे दार्शनिकगण]

इन भारतीय दार्शनिकों के दो सम्प्रदाय हैं—एक सरमानई (Sarmanai) कहलाता है और दूसरा ब्राचमानई (Brachmanai)। सरमानई ही के अन्तर्गत वे दार्शनिक हैं जो Hylobioi[1] हाइलोब्योई कहलाते हैं जो न तो नगरों में रहते हैं और न घरों में। वे वृक्षों की छाल से अपने को ढाँकते हैं, और देवदार के फलों पर निर्वाह करते हैं, और जल अपने हाथों ही से मुँह तक ले जाकर पीते हैं। न वे विवाह करते हैं और न सन्तान उत्पन्न करते है। [हमारे समय के उन साधुओं की तरह जो इन्क्राटेटाइ (Enkratetai) कहलाते हैं। भारतवासियों में वे दार्शनिक भी हैं जो[2] बौत्त (Boutta) के सिद्धान्तों का अनुकरण करते हैं जिसकी वे, अलौकिक पवित्रता के कारण देवता की भाँति प्रतिष्ठा करते हैं]

---

1. V.I.Bovra—कोलब्रूक ने अपने "जैन सम्प्रदाय पर आलोचना" (Observations of the Sect of Jains) में क्लिमेंस के इस खंड को इस सम्मति का खंडन करने के निमित्त उद्धृत किया है कि हिन्दुओं का मत और शास्त्र बुद्ध और उनके सिद्धान्तों से अधिक नवीन है। वे कहते हैं कि "यहाँ मेरे अनुमान में बुद्ध के अनुगामी ब्राचमनीज़ और सारमनीज़ से स्पष्ट तथा पृथक् किए गए हैं। सारमनीज़, जिसको स्ट्रेबो ने जरमनीज़ और पारफ़िरियस (Porphyrius) ने समेनियन्स (Samanoeans) कहा है भिन्न ही मत के संन्यासी हैं और वे जिन अथवा किसी दूसरे सम्प्रदाय के होंगे। ब्राचमनीज़ वही हैं जिनको कि लोस्ट्रेटस और हाइरोक्लीज (Hierokles) ने सूर्य्य का उपासक बतलाया है; और स्ट्रेबो तथा एरियन ने उन्हें जाति तथा व्यक्ति के कल्याण के निमित्त यज्ञ और बलिदान करनेवाले कहा है। वे एक प्राचीन ग्रन्थकार द्वारा स्पष्ट रीति से बुद्ध के सम्प्रदाय से पृथक् कहे गए हैं तथा सरमनीज़ वा सामेनियन्स से वहुतेरों ने उन्हें जुदा कहा है। ये कई एक प्रामाणिक ग्रन्थकारों द्वारा सूर्य्य की उपासना करनेवाले, यज्ञ और वलिप्रदान करनेवाले तथा संसार की नित्यता को अस्वीकार करनेवाले तथा और दूसरे सिद्धान्तों को माननेवाले कहे गए हैं जो इस अनुमान के →

## खंड 44

## Strabo. XV. 1. 68,—p. 718.

# कालनोस और मंडेनिस के विषय में

पर मेगास्थिनीज़ कहता है कि आत्महत्या दार्शनिकों का सिद्धान्त नहीं है, वरन् वे जो इस कर्म्म को करते हैं विक्षिप्त समझे जाते हैं; जो स्वभावतः कड़े दिल के होते हैं वे अस्त्र धँसा के मरते हैं अथवा करारे से अपने को गिराते हैं, जो पीड़ा से भागते हैं वे अपने को डुबोते हैं, जो पीड़ा सहन करने में समर्थ होते हैं वे गला घोंट के मरते हैं और जो तीक्ष्ण स्वभाव के होते हैं वे आग में कूद पड़ते हैं। कालनोस (Kalanos)[1] इसी ढाँचे का आदमी था। वह अपने मनोविकारों के आधीन हो गया और सिकन्दर के चौके का दास हो गया। इसी कारण वह अपने देशवासियों द्वारा तिरस्कृत हुआ, पर मंडेनिस सराहा जाता है क्योंकि जब सिकन्दर के दूतों ने उसे ज़िउस (Zeus) के पुत्र के पास चलने के लिए निमन्त्रित किया और उसके स्वीकार करने पर पुरस्कार का वचन दिया और अस्वीकार करने पर दंड की धमकी दिखाई, तब वह नहीं गया। उसने कहा सिकन्दर ज़िउस का पुत्र नहीं है क्योंकि वह पृथ्वी के बड़े अर्द्ध भाग तक का भी स्वामी नहीं है। और अपने लिए वह ऐसे पुरुष का कोई दान नहीं चाहता जिसकी इच्छाओं को कोई वस्तु सन्तुष्ट नहीं कर सकती; और उसकी धमकियों से वह नहीं डरता; क्योंकि यदि वह जीवित रहा तो भारतवर्ष उसे पूरा भोजन पहुँचावेगा, और यदि वह मर गया तो वह अब के जराग्रस्त मांस पिण्ड से मुक्त हो जायगा, और अधिक उत्तम तथा पवित्र जीवन में प्रवेश करेगा।

सिकन्दर ने उस मनुष्य की प्रशंसा की और उसे अपनी इच्छानुसार कार्य करने दिया।

---

→ प्रतिकूल ठहरते हैं कि उनसे जैन वा बुद्ध के सम्प्रदाय से अभिप्राय है। उनकी रीतिव्यवहार और सिद्धान्त, जैसा कि इन ग्रन्थकारों द्वारा वर्णित है हिन्दुओं के विचार और कर्म्मप्रणाली के अनुसार ही है। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि वेदों के अनुगामी, जब यूनानी लोग सिकन्दर के साथ भारतवर्ष में आए थे, और मेगास्थिनीज़ के समय से लेकर, जिसने उन्हें ई. पू. चौथी शताब्दी में होना लिखा है, पारफ़िरियस के समय तक रहे।

2. लिपियों में आलोब्याई (Allobioi) पाठ है।

1. कालानोस टेक्सिला से मेकडोनियन सेना के साथ हो लिया और जब अन्त में अस्वस्थ हुआ तब एक चिता पर बिना क्लेश का कोई चिह्न प्रगट किए समस्त मेकडोनियन सेना के समक्ष भस्म हो गया। प्लूटार्क के अनुसार उसका यथार्थ नाम स्फ़िनिज़ (Sphines) था और यूनानियों के बीच उसे कालानोस का नाम इस कारण मिला कि वह आशीर्वाद देने में यूनानी वाक्य (Xaipe) के स्थान पर (Kaye) का व्यवहार करता था। जिसे प्लूटार्क यहाँ (Kade) कहता है वह शायद संस्कृत का 'कल्याण' है। Smith's Classical Dictionary.

## खंड 45

### Arr. VII. ii-3-9.

## (एरियन की इंडिका का अनुवाद देखो)

## पुस्तक 4
## खंड 46

### Strabo. XV.1.6-8—pp.686-688

कि भारतवासियों पर दूसरों ने आक्रमण नहीं किए और न स्वयं उन्होंने दूसरों पर आक्रमण किया।

(मिलाओ संग्रह 23)

6–किन्तु ऐसी ऐसी चढ़ाइयों से जैसी **काइरस** (Kyras)[1] और **सेमिरमिस** (Semiramis)[2] ने की कि हम भारतवर्ष के वृत्तान्तों पर क्या यथार्थ विश्वास रख सकते हैं? मेगास्थिनीज़ इस विचार से सहमत है और अपने पाठकों को चेताता है कि भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास पर वे कुछ भी विश्वास न रक्खें। वहाँ के लोगों ने, वह कहता है, न तो विदेश में चढ़ाई की और न उनके देश पर प्राचीनकाल में हेराक्लीज़ और डायोनिसस तथा हमारे काल में मेकिडोनियनों को छोड़, और किसी ने आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। पर मिश्री सिसोस्ट्रिस[3] (Sesostris)

---

1. **काइरस** वा सायरस–फ़ारस का बादशाह कैखुसरो था। कहा जाता है कि 600 वर्ष ईस्वी पूर्व इसने सिन्ध नदी के पास तक चढ़ाई की थी। ऐतिहासिक कथाओं के अनुसार उसने 'कपिश' नामक विख्यात नगर को ध्वंस किया जो कि कोफ़िस Kophes नदी के उत्तर के देश की राजधानी थी; (Pliny VI-23); 'अस्सकेनियन' और 'अस्टकनियन' नाम की गान्धार की जातियाँ भी उसे कर देती थीं (Arrian Indika 1-3)। यह भी लिखा है कि 'काइरस' की समस्त सेना जिड्रोशिया (आ. बिलूचिस्तान) के रेगिस्तान में नष्ट हो गई (Arrian. Indika VI.24.2)
2. **सेमिरमिस**–इस रानी को 'बाबिलन' वाले देवी मानने लगे थे। इसने बहुत सी सेना एकत्रित की थी। हेरोडोटस के अनुसार इस विख्यात रानी के समय की सूचना लगभग 800 वर्ष ई. पू. मिलती है। भारतवर्ष पर इसकी चढ़ाई का वृत्तान्त, जिसे Diodorus Siculus (II-16-19) ने Ktesias की Assyriaka के आधार पर लिखा है, बिलकुल क़िस्से कहानियों से भरा है।
3. सिसोस्ट्रिस (जिसमें डायडोरस ने 'सिसूसिस' कहा है) साधारणतः मेनिथो की उन्नीसवीं पीढ़ी का **'रैमसस** तृतीय' माना गया है जो **सेटी** का पुत्र और इक्सोडस के फ़राऊन 'मेनिफथा' (Menephtha) का पिता था। परन्तु, लेप्सियस 'द्वितीय रेमिसस' के वंशवृक्ष के अध्ययन द्वारा, जो अविडाज (मिश्र में) में पाया गया था और जो अब ब्रिटिश म्यूजियम में है, उसको 'सिसारटोसिन' वा 'आसिरटेसिन' मानने पर बाध्य हुआ है जो कि बारहवीं पीढ़ी का था–Report of the Proceedings of the Second International Congress of Orientalists–p.44.

और इथिओपियाई टार्कन यूरप तक बढ़ गए थे। और निबोकोद्रोसर, जो चाल्डियनस के मध्य उससे अधिक विख्यात है जितना हिराक्लीज़ यूनानियों के बीच है, अपना अस्त्र स्तम्भों [1] तक ले गया, जहाँ तक टार्कन भी पहुँचा, और सिसोस्ट्रिस, आइबेरिया से लेकर थ्रेस (Thrace) और पान्टस (Pontos) तक घुस गया। इनके अतिरिक्त इदंथ्रिसस (Idanthrysos) स्कीदिआई था जिसने एशिया में मिस्र तक लूटपाट की[2] किन्तु इन बड़े विजेताओं में से एक भी भारतवर्ष तक न पहुँचा, और सेमिरमिस, जिसने उसका विजय करना विचारा था, आवश्यक तैयारियों के होने के पूर्व ही मर गई। पारसियों ने अलबत्ते भारतवर्ष से 'हैद्रकई'[3] को वैतनिक सिपाहियों की भाँति कार्य करने के हेतु बुलाया था, किन्तु वे देश के भीतर कोई सेना नहीं ले गए थे, और जब कायरस ने मस्सजेटई (Massagetai) के विरुद्ध चढ़ाई की थी तब वे केवल उसकी सीमा ही तक पहुँचे थे।

## डायोनिसस और हिराक्लीज़ के विषय में

(7) हिराक्लीज़ तथा डायोनिसस सम्बन्धी वृत्तान्तों को मेगास्थिनीज़ और उसके साथ कुछ और ग्रन्थकार विश्वास के योग्य समझते हैं, [किन्तु अधिकांश लोग, जिनमें इरटास्थिनीज़ भी हैं, उनका यूनानियों के मध्य प्रचलित कथाओं की नांई मिथ्या और कल्पित मानते हैं।]

(8) ऐसे ही आधारों पर वे एक विशेष जाति के लोगों को 'नइसैयंस' कहते थे और उनके नगर को 'नैसा' जिसकी नींव डायोनिसस ने दी थी, तथा उस पर्वत को जो उस नगर के पास खड़ा था, मेरन (Meron)। इन नामों को प्रदान करने का कारण वे यह बतलाते थे कि वहाँ इश्कपेचा उपजता है, तथा अंगूर भी, यद्यपि उसके फल पूर्णता को नहीं पहुँचते, क्योंकि गुच्छे वर्षा की अधिकता के कारण पेड़ों से पकने के पूर्व ही गिर पड़ते हैं। आगे फिर, वे आक्सिद्रकई को डायोनिसस के वंशज बतलाते थे, क्योंकि उनके देश में अंगूर उपजता था और उनकी सवारी बड़ी धूमधाम से निकलती थी और उनके राजा लड़ाई पर जाते हुए तथा और दूसरे अवसरों पर बैकचिक् (Bacchic) चाल से निकलते थे, साथ साथ ढोल बजते चलते थे, और वे चमकीले रंग के पहिरावों से सुसज्जित होते थे, जो और दूसरे भारतवासियों के

1. टालमी ने इन्हें 'सिकन्दर के स्तम्भ' कहा है जो अलवेनिया और आइबेरिया के ऊपर एशियाई सरमेटिया के आरम्भ में है।
2. हेराडोटस, मद्यास (Madyas) के आधिपत्य में एक स्कीदियनों (शकतातारी) की चढ़ाई को उल्लेख करता है। कदाचित् इदंथ्रिसस स्कीदियन राजाओं की उपाधि हो और स्ट्रेबो का तात्पर्य्य उसी आक्रमण से हो।
3. हैद्रकई (Hydrakai) आक्सिद्रकई (Oxydrakai) भी कहलाते हैं। लैसन के अनुसार यह संस्कृत 'क्षुद्रक' है। यह सिद्रकई, सिरकुसई, सवग्रे, तथ सिगम्ब्री आदि कई प्रकार से लिखा गया है।

बीच भी रीति है। फिर, जब सिकन्दर ने पहिले ही धावे में[1] और्नोस (Aornos) नामक चट्टान को अधिकृत किया था, जिसका आधार सिन्ध नदी द्वारा उसके उद्गम के निकट आर्द्र किया जाता है, तब उसके अनुचरों ने इस वृत्तान्त को बढ़ा करके यह कहा था कि हेराक्लीज़ ने उसी चट्टान पर तीन बेर धावा किया था और तीनों बेर वह हटाया गया था। वे यह भी कहते थे कि 'सिबी' उनकी सन्तान थे जो हेराक्लीज़ के साथ चढ़ाई पर आए थे, और अपने वंश का चिह्न बनाए हुए थे, क्योंकि वे हेराक्लीज़ की नांई चर्म्म धारण करते थे, और सोंटा लेकर चलते थे, और अपने बैलों तथा खच्चरों के ऊपर दंड का चिह्न (दाग) देते थे।[2] इस कथा के पक्ष में वे प्रामीथियस (Prometheus) तथा काकसोस (Kaukasos) की कहानियों को, पांटास (Pontas) से यहाँ परिवर्तित करके, काम में लाते थे जिसके लिए उनका यही तुच्छ बहाना था कि उन्होंने पैरोपमीसडी (Paropamisadae) के बीच एक पवित्र गुफा देखा था। इसको वे कहते थे कि प्रामीथियस का बन्दीगृह था, जहाँ हेराक्लीज़ उसको मुक्त करने के हेतु आया था, और वह काकसोस (Kaukasos) यही था जिससे यूनानी लोग प्रामीथियस का बध होना बतलाते हैं।[3]

---

1. जेनरल कनिंगहाम ने 'रानी घाट' के उजड़े हुए दुर्ग को ही यह चट्टान बतलाया है जो 'नौग्राम' से थोड़ी ही दूरी पर है जो कि 16 मील उत्तर-पश्चिम 'ओहिन्द' से है जिसको कि उन्होंने प्राचीनों की Embolima अनुमान किया है।
2. कर्टियस (Cartius) के अनुसार 'सिबी' जिसको वह सोबिआई (Sobii) कहता है, हाइडास्पेस और अकिसिनीज़ के मध्यवर्ती देश में निवास करते थे। उनका नाम 'शिव' से निकला होगा।
3. सिकन्दर के पहिले का कोई ग्रन्थकार भारतीय देवताओं का उल्लेख नहीं करता। मेसिडोनियन लोग जब भारतवर्ष में आए तब यूनानी प्रथा के अनुसार उन्होंने इस देश के देवताओं को अपने ही यहाँ के देवता समझा। शिव को, उसकी पूजा की निरंकुशता और बैकिक (Bacchic) रीति को देखकर, वे लोग इसे (Bacchus) बैक्स ही मानने पर बाध्य हो गए, क्योंकि उन्होंने दोनों देवताओं के गुण में तथा दोनों के रहस्यमय ध्यान में कुछ समानता देखी। यही उनके हेतु सुगम भी था क्योंकि जब युरीपाइडीज़ (Euripides) यह कल्पना बाँध चुका था कि डायोनिसस ने पूर्व में भ्रमण किया था, तब यह अनुमान करना कठिन न था कि प्रचुर उर्वरता का देवता भारतवर्ष में, जो अपनी उर्वरता के हेतु इतना प्रसिद्ध है, गया होगा। इस सम्मति को दृढ़ करने के लिए उन्होंने नामों के अल्प और अकारण मेल का व्यवहार किया। जैसे 'मेह' पर्वत से उन्होंने उस देवता का लक्ष्य विचारा जो ज़िउस (Zeus) के जंघे से उत्पन्न हुआ था। जैसे केद्रकी (Kydrakoe) को उन्होंने डायोनिसस की सन्तान विचारा, क्योंकि उनके देश में अंगूर होता था, और उन्होंने देखा कि उनके राजा की सवारी वड़ी धूमधाम से निकलती थी। इसी प्रकार अल्प प्रमाणों ही पर उन्होंने 'कृष्ण' को हेराक्लीज़ से मिलाया और जहाँ कहीं उन्होंने, जैसे सिबी (Siboe) के बीच, बनैले पशुओं के चर्म्म और दण्ड इत्यादि को देखा चट उन्होंने विचारा कि कभी न कभी 'हेराक्लीज़' अवश्य वहाँ रहा था—Schwanbeck p.43.

   वे कहते हैं कि 'रानी घाट' दुर्ग के उत्तरी किनारे पर एक विशाल सीधी चट्टान है जिस पर लोग कहते है कि राजा 'बर' की रानी नित्य बैठा करती थी। दुर्ग भी राजा 'बर' ही का कहा जाता है, और पहाड़ी के नीचे के कुछ खँडहर राजा 'बर' के अस्तबल कहे जाते हैं; इसलिए मैं समझता हूँ कि 'औनेसि' के पहाड़ी दुर्ग का नाम राजा 'बर' ही से निकला है, और 'रानी घाट' का भग्न दुर्ग, जेनरल अबाट के महावन की पहाड़ी अथवा जेनरल कोर्ट और मि. लोपंथल के बनाए हुए राजा 'होदी' के महल की अपेक्षा सिकन्दर के 'औनेसि' कहे जाने के अधिक योग्य हैं।—Grote's History of India, Vol. VIII. pp. 437-8.

## खंड 47

Arr. Ind. V.4-12

## (एरियन की इंडिका का अनुवाद देखो)

## खंड 48

Josephus Contra Apion 1-20 (T.II.P.451)

## निबोक्द्रेसर (Nabuchodrasor) के विषय में

मेगास्थिनीज़ भी अपनी इंडिका की चौथी पुस्तक में यही सम्मति प्रगट करता है, जहाँ पर वह यह कह कर कि उसने आइबेरिया तक जय किया यह दिखलाने का यत्न करता है कि बाबिलोनियन लोगों का पूर्वकथित राजा (निबोकेद्रसर) हेराक्लीज़ से साहस में तथा अपने कर्म्मों के महत्त्व में बढ़ गया था।

## खंड 48 (ख)

Joseph. Aut. Jud. X. II.7 (T. 1.p. 538.)

[इस स्थान पर (नेबुकदनसर) ने उन्नतस्थल भी घूमने के लिए उठवाए, जो आँखों को पहाड़ ही देख पड़ते थे, और ऐसे रचे गए थे कि हर प्रकार के पेड़ उनमें लगे थे, क्योंकि उसकी स्त्री, जो मिडिया की भूमि में पाली गई थी, अपने पुराने घर ही पर के से दृश्य चाहती थी।] मेगास्थिनीज़ भी अपनी इंडिका की चौथी पुस्तक में, इन वस्तुओं का उल्लेख करता है और इस प्रकार यह दिखलाने का यत्न करता है कि यह राजा, हेराक्लीज़ से साहस तथा अपने कर्म्मों के महत्त्व में बढ़ गया था क्योंकि वह कहता है कि उसने लिबिया (Libya) और आइबेरिया (Iberia) का एक बड़ा भाग जय किया था।

## खंड 48 (ग)

Zonar, Ed. Basil 1557. T. 1. p. 87.

बहुत से प्राचीन इतिहासकारों में से जो नेबुकदनसर का उल्लेख करते हैं जोज़ेफ़स बीरोसस, मेगास्थिनीज़ और डायोक्लीज़ को गिनाता है।

## खंड 48 (घ)

G. Syncell. T.1.p. 419. Ed. Beun.
(P. 221 Ed. Paris p. 177. Ed. Venett.)

मेगास्थिनीज़ अपनी इंडिका की चौथी पुस्तक में नेबुकदनसर को हेराक्लीज़ से शक्तिमान प्रगट करता है, क्योंकि बड़े साहस और दृढ़ता से उसने लिबिया और आइबेरिया का अधिकांश जय किया था।

## खंड 49

Abydea, Ap. Easeb. Proep. Ev. 1. 41.
(Ed. Colon 1688 p. 4560.)

### नेबुकदनसर के विषय में

मेगास्थिनीज़ कहता है कि नेबुकदनसर ने, जो हेराक्लीज़ से शक्तिमान था, लिबिया और आइबेरिया के विरुद्ध चढ़ाई की थी, और उनको जय कर के उसने इन लोगों की एक बस्ती पांटास (Pontas) के दाहिनी ओर के भागों में बसाई थी।

## खंड 50

Arr. Ind. 7.9.

### (एरियन की इंडिका का अनुवाद देखो)

## खंड 50 (ख)

Pliny. Hist. Nat. IX. 55.

### मोतियों के विषय में

कोई कोई ग्रन्थकार कहते हैं कि सीपों के झुंड में जैसे कि मधुमक्खियों में, जो आकार और सौन्दर्य में प्रख्यात होती हैं वे ही आधिपत्य करती हैं। ये अपने को पकड़े जाने से बचाने में विलक्षण चतुर होती हैं, और पनडुब्बे इनकी अत्यन्त खोज रखते हैं।

यदि ये पकड़ ली जाती हैं तो दूसरी सहज ही में जाल में आ जाती हैं क्योंकि वे इधर उधर फिरती रहती हैं। तब वे मिट्टी के बरतनों में रक्खी जाती हैं, जहाँ पर वे नमक में बहुत नीचे गाड़ दी जाती हैं। इस क्रिया से मांस सब घुल जाता है और कड़ी कड़ी वस्तु जो मोती रहती हैं तले बैठ जाती हैं।

## खंड 51

Plegon. Mirab. 33.

## पंडेइयन भूमि के विषय में

**(मिलाओ खंड 30-6)**

मेगास्थिनीज़ कहता है कि पंडेइयन (Pandaian) राजा की स्त्रियाँ जब छः वर्ष की रहती हैं तभी बच्चे प्रसव करती हैं।

## खंड 50 (ग)

Pliny. Hist. Nat. VI. XXI. 4-5.

## भारतवासियों के प्राचीन इतिहास के विषय में

क्योंकि अकेले भारतवासीं ही सब जातियों में ऐसे हैं जो अपने देश से कभी बाहर नहीं गए। पिता बैक्चस (Bacchus) के समय से सिकन्दर के समय तक उनके 154 राजा गिनती में हुए जिनका राजत्वकाल 6451 वर्ष और 3 महीने तक होता है।

Solin. 52-5.

पिता बैकूचस ही पहिला मनुष्य था जिसने भारतवर्ष पर चढ़ाई की, तथा उन सबमें वही पहिला था जो पराभूत भारतवासियों पर विजयी हुआ। उससे लेकर सिकन्दर तक 6451 वर्ष और 3 महीने ऊपर गिने जाते हैं, यह लेखा उन राजाओं की संख्या में 153 गिन कर किया गया है जिन्होंने मध्यवर्ती समय में राज्य किया।

## खंड 45

### Arr. vii. ii 3-9.[1]

# कालनोस और मंडेनिस के विषय में

यह प्रगट करता है कि सिकन्दर उस भयानक आधिपत्य के रहने पर भी जो कीर्ति की तृष्णा ने उस पर प्राप्त कर लिया था, उन वस्तुओं के परिज्ञान से हीन भी नहीं था जो उत्तम होती हैं; क्योंकि जब वह टेक्सिला (Taxila) में पहुँचा और भारतीय दार्शनिकों को उसने देखा, तब उनमें से, एक को अपने समक्ष लाए जाने की इच्छा उसे हुई, क्योंकि उसने उनके धैर्य्य की प्रशंसा की। डंडमिस (Dandamis) नामधारी इन दार्शनिकों में सबसे श्रेष्ठ एक ने, जिसके पास और सब शिष्य की भाँति रहते थे, न कि केवल स्वयं जाने से नाहीं की, वरन् दूसरों को भी जाने से रोका। कहा जाता है कि उत्तर की भाँति उसने यह कहा कि जैसे सिकन्दर ज़िउस Zeus का पुत्र है वैसे ही वह भी है और वह कोई वस्तु जो सिकन्दर की है नहीं चाहता (क्योंकि वह अपनी वर्तमान दशा ही में सुखी था) प्रत्युत उसने उन लोगों को देखा था जो उसके साथ इतनी भूमि और सागरों पर भ्रमण करते थे जिससे कुछ लाभ नहीं और इस बहुतेरी दौड़धूप से कुछ फल नहीं निकला। अतएव न तो वह किसी वस्तु की लालच रखता जिसके देने में सिकन्दर समर्थ था और न वह किसी वस्तु से डरता था जिसको सिकन्दर उसके दबाने के लिए कर सकता था। क्योंकि यदि वह जीवित रहा, तो भारतवर्ष उसके लिए बहुत है, वह उसे नियत ऋतु में फल देगा ही और यदि वह मर गया तो अपने कुसंस्कृत साथी शरीर से छुटकारा पा जावेगा। उस मनुष्य को स्वतन्त्र प्रकृति का जान कर सिकन्दर ने इस पर अपना हाथ अत्याचार के लिए नहीं उठाया किन्तु कहा जाता है कि उस स्थान के एक दार्शनिक कालनोस को उसने वश में किया, जिसको मेगास्थनीज़ स्वेच्छावरोध में अत्यन्त हीन मनुष्य बतलाता है, और दार्शनिकों ने कालनोस की बड़ी निन्दा की, क्योंकि उस सुख को छोड़ जो वह उनके बीच भोगता था, वह ईश्वर के अतिरिक्त दूसरे स्वामी की सेवा करने गया।

---

1. यह खंड एरियन के 'सिकन्दर की चढ़ाई से' उद्धृत किया गया है उसकी 'इंडिका' से नहीं।

# संशयपूर्ण खंड

## खंड 55

### Aelian, Hist, anim. XII. 8.

## हाथियों के विषय में

(मिलाओ खंड 36-37)

हाथी जब खूब खाता है, प्रायः जल पीता है, किन्तु जब युद्ध का परिश्रम उठाता है तब उसे मद्य दिया जाता है—किन्तु उस प्रकार का नहीं जो अंगूर से निकलता है वरन् दूसरा जो चावल से तैयार किया जाता है। फ़ीलवान अपने हाथियों के आगे आगे चलते हैं और उनके हेतु फूल बटोरते हैं; क्योंकि वे मीठी सुगन्ध के बड़े प्रेमी होते हैं, इससे वे चरागाहों में लाए जाते हैं कि वहाँ पर वे अत्यन्त मीठी सुगन्ध के प्रभाव से सिखाए जायँ। पशु उनके सुगन्ध के अनुसार फूलों को चुन लेता है और उन्हें फेंक देता है क्योंकि वे एक टोकरे में इकट्ठे किए जाते हैं जिसको शिक्षक लिए रहता है। इसके भर जाने पर, अथवा यों कहिए कि चुनाई का कार्य्य समाप्त हो जाने पर, वह नहाता है और एक पूर्ण विषयी की रसिकता के साथ स्नान का आनन्द लेता है। स्नान से लौटने पर वह अपने फूलों के लिए अधीर हो जाता है, और यदि उनके लाने में देर होती है तो वह चिंघाड़ना आरम्भ करता है और भोजन का एक कौर तक नहीं ग्रहण करता जब तक कि समस्त फूल जो उसने बटोरे थे उसके सामने नहीं रक्खे जाते। इसके हो चुकने पर, वह अपनी सूँड़ से फूलों को टोकरे में से उठाता है और उन्हें अपनी चरनी के किनारे पर बिखरा देता है, और इस युक्ति से उनकी सुगन्ध को अपने भोजन का मानो उपचार बनाता है। उनमें से बहुत से वह बिछावन की भाँति अपने तबेले में छितरा देता है, क्योंकि वह अपनी नींद को मीठी और आनन्दमयी बनाना पसन्द करता है।

हिन्दुस्तानी हाथी ऊँचाई में नौ हाथ और चौड़ाई में पाँच हाथ होते थे। सारे देश में सबसे बड़े हाथी वे होते थे जो प्रेसियन (Praisian) कहलाते थे और उनसे घट कर टैक्सिल (Taxilan)।[1]

---

1. यह खंड मेगास्थिनीज़ का कहा जाता है, अपने विषय के कारण भी और इसलिए कि अवश्य ही एरियन ने इसके पहिले का (खंड 38) तथा इसके आगे का (खंड 35) वृत्तान्त मेगास्थिनीज़ ही से लिया है।—Schwanbeck.

## खंड 53

## Aelian, Hist. Anim. III 46.

# एक श्वेत हाथी के विषय में

एक हिन्दुस्तानी गजशिक्षक को एक सफेद हाथी का बच्चा मिला, जिसको कि जब वह निरा बच्चा ही था वह अपने घर लाया, और धीरे धीरे उसने उसे सर्वथा पालतू बना लिया और वह उस पर चढ़ने लगा। उसको इस पशु से जो प्रतिकार में उससे प्रेम करता था और अपने अनुराग से अपने पालन का बदला देता था, बहुत स्नेह हो गया था। अब, भारतवासियों के राजा ने इस हाथी के विषय में सुनकर, उसे लेना चाहा; किन्तु उस हाथी के स्वामी ने उस प्रेम की डाह कर के जो वह (हाथी) उसके लिए रखता था, और यह विचार कर कि दूसरा उसका स्वामी होगा, उसको देने से नाहीं किया, और वह अपने प्यारे हाथी पर चढ़कर रेगिस्तान को भागा। राजा इस पर कुपित हुआ, और उसने हाथी को छीनने, तथा उस भारतवासी को दण्ड के निमित्त पकड़ लाने के लिए पीछे आदमी दौड़ाए। भगेडू को पकड़ कर उन्होंने अपना कार्य्य साधन करने का यत्न किया, किन्तु उसने हाथी की पीठ पर से अपने धावा करनेवालों पर आक्रमण किया जो समर में अपने घायल स्वामी की ओर से लड़ता था। पहिले तो यही अवस्था रही, किन्तु इसके पीछे जब भारतवासी घायल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा, तब अपने नमक के सच्चे उस हाथी ने उसको इस प्रकार छोप लिया जैसे युद्ध में सिपाही लोग अपने गिरे हुए साथी को, जिसको वे अपनी ढालों से ढाँकते हैं, और बहुत से धावा करनेवालों को मार डाला और बाकी को भगा दिया। तब अपने पालनेवाले के चारों ओर अपनी सूँड़ को लपेट कर उसने उसे अपनी पीठ पर उठा लिया, और घर पर तबेले में ले आया और उसके साथ इस प्रकार रहा जैसे एक सच्चा मित्र अपने मित्र के साथ और उस पर हर प्रकार की कृपा दृष्टि दिखाई।[1] [हे मनुष्यो! तुम कैसे नीच हो! जब तुम कढ़ाई की झनकार सुनते हो तब सदैव प्रसन्नता से नाचनेवाले और निमन्त्रण में सदैव उछलनेवाले हो किन्तु आपत्ति की घड़ी में विश्वासघात करनेवाले और व्यर्थ तथा बिना किसी प्रयोजन के मित्रता के पवित्र नाम पर धब्बा लगानेवाले हो]।

---

1. प्लूटार्क के 'सिकन्दर के जीवनचरित्र' में दिए हुए पोरस के हाथी के वृत्तान्त से मिलाओ—"इस हाथी ने सारी लड़ाई में अपनी समझ और राजा के शरीर की रखवारी के कई अद्भुत प्रमाण दिए। जब तक वह राजा लड़ने के योग्य रहा, उसने उसको बड़े साहस से बचाया और समस्त आक्रमणकारियों को हटा दिया; और जब उसने उसे भालों के बीच और घाओं को लिए हुए जिससे वह ढक गया था गिरने के निकट देखा, उसे गिरने से रोकने के लिए वह बहुत धीरे से घुटने के बल बैठ गया, और उसने अपनी सूँड़ से उसके शरीर से प्रत्येक भाला निकाल लिया।"

## खंड 54

Pseudo-Origon, Philosoph. 24 Ed. Delarw.
Paris 1733, vol. I. p. 904.

# ब्राह्मण तथा उनके दर्शनशास्त्र के विषय में

(मिलाओ खंड 41, 44, 45)

# भारतवर्ष में ब्राह्मणों के विषय में

भारतवर्ष में ब्राह्मनों के बीच ऐसे दार्शनिकों का एक सम्प्रदाय है जो स्वतन्त्र जीवन रखते हैं और मांसाहार तथा अग्नि द्वारा पकाए हुए सब भोजनों से बचते हैं; फलों ही पर निर्वाह कर के वे सन्तोष करते हैं जिनको वे पेड़ों से तोड़ते तक नहीं वरन् जब वे भूमि पर गिर पड़ते हैं तब उन्हें उठाते हैं, और उनका पान तगवेन[1] नदी का जल है। जीवन भर वे नंगे फिरा करते हैं यह कहकर कि शरीर को आत्मा के परिधान की भाँति ईश्वर ने दिया है।[2] वे मानते हैं कि ईश्वर प्रकाश है[3] किन्तु ऐसा प्रकाश नहीं जैसा हम नेत्रों से देखते हैं और न ऐसा जैसा सूर्य्य और अग्नि, वरन् ईश्वर उनके निकट शब्द है,—जिस वाक्य से उनका अभिप्राय अर्थ संयुक्त वाणी से नहीं है, वरन् बुद्धि के आदर्श से है, जिससे ज्ञान के गुप्त रहस्य बुद्धिमानों द्वारा निरीक्षण किए जाते हैं। किन्तु, यह प्रकाश जिसको वे 'शब्द' कहते हैं, और ईश्वर समझते हैं वे कहते हैं कि ब्राह्मणों ही को ज्ञात है, क्योंकि अकेले उन्हीं लोगों ने अहंकार[4] को परित्याग किया है, जोकि आत्मा का सबसे ऊपरी छिलका है। इस सम्प्रदाय के लोग मृत्यु को तिरस्कार और

---

1. कदाचित् संस्कृत का तुंगवेणु है और आजकल की कृष्णा नदी की सहायक तुङ्गभद्रा।
2. Vide. Ind. Ant. vol. V p. 128 note.। यह वेदान्त दर्शन का सिद्धान्त है जिसके अनुसार आत्मा मानो नीचे ऊपर कई एक कोशों के भीतर बन्द है। पहिला वा आन्तरिक कोश शुद्ध और साधारण असंयुक्त तत्त्वों से निर्मित, ज्ञानात्मक है जिसमें पाँचों इन्द्रियों से मिली हुई बुद्धि है। दूसरा मानसिक कोश है जिसमें मन पिछले से अथवा जैसा कुछ लोग कहते हैं, कर्म्मेन्द्रियों से जुड़ा हुआ है। तीसरा इन्हीं इन्द्रियों तथा परिचालक शक्तियों का है और इन्द्रिय कोश कहलाता है। इन्हीं तीनों कोशों से सूक्ष्म साँचा बना हुआ है जो आवागमन में आत्मा के साथ रहता है। बाह्य कोश नियत मात्रा के अनुसार संघटित स्थूल द्रव्यों से बना है और स्थूल शरीर कहलाता है Colebrooke's Essay on the Philosophy of the Hindus.
3. अर्थात् यह भावना कि जो कुछ करता हूँ मैं करता हूँ अहं।
4. मिलाओ प्लेटो (Plato. Phoedo. cap. 32) जहाँ साक्रेटीज' आत्मा को एक प्रकार के बन्दीगृह में इस समय बन्द बतलाता है। यह पैथागोरियन लोगों का सिद्धान्त था, जिनका दर्शन, अपने अत्यन्त अद्‌भुत सिद्धान्तों में भी, भारतीय दर्शन से इतना अधिक मेल खाता है कि वह इस विचार को दृढ़ करता है कि वह भारतवर्ष ही से लिया गया था। ऐसी जनश्रुति भी थी कि पैथागोरस भारतवर्ष में आया था।

बेपरवाही से देखते हैं, और जैसा कि हम लोगों ने पहिले देखा है, वे सदैव ईश्वर के नाम का एक विलक्षण भक्ति के स्वर से उच्चारण करते हैं, और भजनों से उसकी आराधना करते हैं। न तो वे स्त्री रखते हैं और न सन्तान उत्पन्न करते हैं। लोग, जो उनके समान जीवन बिताना चाहते हैं नदी के दूसरे पार्श्व से होकर उतरते हैं और उनके साथ लाभपूर्वक रहते हैं, अपने देश में कभी लौट के नहीं जाते। वे भी ब्राह्मण ही कहलाते हैं यद्यपि वे उसी जीवन प्रणाली पर नहीं चलते, क्योंकि उस देश में स्त्रियाँ हैं जिनसे देशवासी उत्पन्न हुए हैं, और इन्हीं स्त्रियों से वे सन्तति उत्पन्न करते हैं। 'शब्द' के विषय में, जिसको वे ईश्वर कहते हैं वे मानते हैं कि वह साकार है, और वह बाहरी परिधान की भाँति शरीर को धारण करता है वैसे ही जैसे कि कोई ऊनी कुरती पहिने और जब वह उस शरीर को निकाल देता है जिससे वह लपेटा रहता है तब वह नेत्र को प्रत्यक्ष हो जाता है। ब्राह्मण लोग बतलाते हैं कि उस शरीर में जिससे वे ढके रहते हैं, युद्ध होता है, और वे शरीर को युद्ध का उपजाऊ उत्पत्ति स्थान बतलाते हैं, और जैसा कि हम पहिले दिखला चुके हैं, उससे वैसे ही लड़ते हैं, जैसे युद्ध में सिपाही लोग शत्रु से लड़ते हैं। आगे वे यह मानते हैं कि सब मनुष्य युद्ध के बन्दियों की भाँति विषयतृष्णा, अमिताहर, क्रोध, हर्ष, शोक, मोह, लोभ इत्यादि आन्तरिक शत्रुओं द्वारा बँधे हैं, और जो ईश्वर के यहाँ जाता है वह केवल वही मनुष्य है जिसने इन सब पर विजय पाई है। सो, डंडमिस (Dandamis) को, जिसका सिकन्दर मेसिडोनियन ने दर्शन किया था, ब्राह्मण लोग देवता कहते हैं, क्योंकि उसने शरीर के विरुद्ध संग्राम में विजय प्राप्त की, और दूसरी ओर वे कालनोस को ऐसा मनुष्य कह कर धिक्कारते हैं जो मलिनता से उनके दर्शनशास्त्र से पराङ्मुख हो गया अतएव, ब्राह्मण लोग, जब शरीर छोड़ देते हैं (तब) शुद्ध सूर्य्यप्रकाश को देखते हैं जैसे मछलियाँ उसको देखती हैं जब वे पानी के बाहर वायु में उछल आती हैं।

## खंड 55

Pallad. de Bragmanibus, pp. 8, 20 Etc. Ed. London
(Camerar, Libell, Gnomolog. pp. 116, 124 &c.)

## कालनोस और मंडेनिस के विषय में

**(मिलाओ खंड 41, 44, 45)**

वे (ब्रागमनी लोग) ऐसे फलों पर जिन्हें वे पा सकते हैं, तथा जंगली बूटियों पर जिन्हें भूमि आप से आप उत्पन्न करती है, निर्वाह करते हैं और केवल जल पीते हैं। वे जंगलों में फिरा करते हैं और रात्रि में पेड़ों की पत्तियों के बिछावन पर सोते हैं।

"तुम्हारे झूठे मित्र, कालनोस ने तब यह सम्मति ग्रहण की, किन्तु वह हम लोगों के द्वारा तिरस्कृत किया जाता है और कुचला जाता है। पर तुम लोगों के द्वारा, यद्यपि तुम सब को बहुत सी हानि पहुँचाने में वह सहयोगी हुआ है, वह प्रतिष्ठित और पूजित है, पर हमारे समाज से वह घृणापूर्वक निरुपयोगी की भाँति निकाल दिया गया है। और क्यों नहीं? जबकि प्रत्येक वस्तु जिसे हम लोग पैर तले कुचलते हैं वही तुम्हारे निकम्मे मित्र अर्थ लोलुप कालनोस की प्रशंसा की सामग्री है, किन्तु वह हमारा मित्र नहीं,—अभागा जीव, और अत्यन्त दुखी प्राणी से भी अधिक दया के योग्य है, क्योंकि अपना चित्त अर्थ पर लगा के उसने अपनी आत्मा का सर्वनाश किया! इसलिए न तो वह हम लोगों के योग्य जान पड़ा, और न ईश्वर की मित्रता के योग्य, और इससे न तो उसे चिन्ता की पहुँच के बाहर जंगलों में विचरने पर सन्तोष हुआ, और न वह कल्याणमय भविष्य की आशा से प्रसन्न हुआ; क्योंकि द्रव्य के प्रेम से उसने अपनी अभागिनी आत्मा के जीवन ही को विनष्ट कर दिया।

"पर, हमारे मध्य में डंडमिस नामी एक ऋषि हैं, जिनका घर जंगल है, जहाँ पर वे पर्णशय्या पर सोते हैं, और जहाँ पर उनके निकट ही शान्ति का सोता है, जिसका वे जल पीते हैं, मानो माता के पवित्र स्तन का पान करते है।"

सिकन्दर बादशाह ने जब यह सब बातें सुनीं तब उसे उस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को जानने की इच्छा हुई, सो उसने उनके गुरु और अधिपति डंडमिस को बुला भेजा...

अतएव, आनेसिक्रेटीज़ (Onesikrates) डसे लाने के लिए प्रेषित किया गया और जब उसने महर्षि को देखा उसने कहा, "हे ब्रागमनीज़ के आचार्य्य, तुझे बधाई है! शक्तिमान् देवता ज़िउस का पुत्र, बादशाह सिकन्दर, जो समस्त मनुष्यों का अधीश्वर है, तुम्हें अपने पास बुलाता है और यदि तुम स्वीकार करोगे तो वह तुम्हें बड़े और सुंदर पारितोषिकों से पुरस्कृत करेगा, पर यदि तुम नाहीं करोगे तो तुम्हारा सिर काट लेगा।"

डंडमिस ने मन्द हास्यपूर्वक उसे अन्त तक सुना, पर इतना तक न किया कि अपनी पर्णशय्या से अपना सिर उठावे, और लेटे ही लेटे यह तिरस्कारपूर्ण उत्तर दिया;—"सर्वोपरि राजा, ईश्वर कभी बलात् हानि का कर्ता नहीं है, वरन् प्रकाश, शान्ति, जीवन, जल, मनुष्य के शरीर तथा आत्मा का सृष्टा है, और इन्हें वह तो लेता है जब मृत्यु इनको मुक्त करती है और ये तब किसी प्रकार बुरी वासनाओं के वशीभूत नहीं रहते। वही अकेला मेरी आराधना का देवता है जो हिंसा से घृणा करता है और युद्ध नहीं उभाड़ता। किन्तु, सिकन्दर देवता नहीं है क्योंकि उसे अवश्य मृत्यु को चखना होगा; और कैसे ऐसा मनुष्य जैसा वह संसार का स्वामी हो सकता है, जो अभी टाइबरबोआस (Tiberboas) के अगले किनारे तक भी नहीं पहुँचा है, और अभी तक चक्रवर्ती राज्य के सिंहासन पर भी नहीं बैठा है। इसके अतिरिक्त, न तो सिकन्दर ने अभी जीते जी हेडिस (Hades) में प्रवेश किया है और न वह पृथ्वी के मध्यवर्ती देशों के बीच सूर्य्य की गति को जानता है, और उसकी सीमा पर की जातियों ने तो यहाँ तक कि उसका

नाम भी नहीं सुना है। यदि उसका वर्तमान राज्य उसकी इच्छा भर विस्तृत नहीं है तो वह गंगा नदी को पार करे, और वह मनुष्यों को सँभालने के योग्य देश पावेगा यदि हमारी ओर का देश उसे धारण करने के लिए संकीर्ण है। पर, यह जान लो कि जो कुछ सिकन्दर मुझे देना चाहता है और जो पारितोषिक देने का मुझे वचन देता है, वे सब वस्तुएँ मेरे लिए निन्तात निरर्थक हैं; पर वे वस्तुएँ जिन्हें मैं मूल्यवान समझता हूँ और यथार्थ उपयोग और लाभ की पाता हूँ यही पत्तियाँ हैं जिनका मेरा घर है, यही खिले हुए पौधे हैं जो मुझे स्वादिष्ट भोजन पहुँचाते हैं, और यही जल है जो मेरा पान है, तथा और सब दूसरी सम्पत्ति और सामग्री, जो व्यग्र चिन्ता से इकट्ठी की जाती है, उनके लिए विनाशकारिणी ठहरती है जो उन्हें बटोरते हैं, और केवल शोक और क्लेश ही उपजाती हैं, जिनसे कि प्रत्येक दीन प्राणी पूर्णरूप से भरा है। और मेरे लिए क्या? मैं बनस्पतियों पर लेटता हूँ, और, ऐसी कोई वस्तु पास न रख कर जिसकी संरक्षा की आवश्यकता हो, अपनी आँखों को शान्तिमयी निन्द्रा में बन्द करता हूँ। पर यदि रखवाली करने के लिए मेरे पास सुवर्ण होता तो वह निन्द्रा को हर लेता। पृथ्वी मुझे प्रत्येक वस्तु पहुँचाती है जैसे माता अपने बच्चे को दूध पहुँचावे। जहाँ कहीं मैं चाहता हूँ जाता हूँ, कोई चिन्ता नहीं है जिससे मैं अपनी इच्छा के विरुद्ध व्यग्र होने के लिए बाध्य होऊँ। यदि सिकन्दर मेरा सिर काट डालेगा तो वह मेरी आत्मा को तो नहीं नष्ट कर सकता। केवल मेरा सिर ही, जो अब चुप है, रह जायगा, किन्तु आत्मा शरीर को एक फटे वस्त्र की भाँति छोड़कर, अपने स्वामी के पास चली जायगी, जहाँ से वह ली गई थी। तब मैं सूक्ष्म शरीर धर कर अपने ईश्वर के समीप आरोहण करूँगा, जिसने हमें मांस में बन्द कर दिया और हमें पृथ्वी पर छोड़ दिया, यह देखने को कि यहाँ नीचे हम उसकी आज्ञाओं को मानते हैं वा नहीं; और जो हम से, जब हम यहाँ से उसके सम्मुख जायँगे हमारे जीवन का लेखा भी माँगेगा, क्योंकि वह समस्त मदान्ध अत्याचारों का विचारकर्ता है; इसलिए कि सताए गए लोगों की हाय सतानेवालों के लिए दण्ड होगी।

"तब, सिकन्दर इन धमकियों से उन्हें डरावे जो सुवर्ण और धन की इच्छा रखते हैं, और जो मृत्यु से डरते हैं, क्योंकि हम लोगों के विरुद्ध तो ये दोनों अस्त्र शक्तिहीन हैं, क्योंकि बागमनीज़ न तो सुवर्ण चाहते हैं और न मृत्यु से डरते हैं। तब, जाओ! और सिकन्दर से वह कहो 'डंडमिस को किसी वस्तु की, जो तुम्हारी है आवश्यकता नहीं है इसलिए यह तुम्हारे पास नहीं जायगा; किन्तु, यदि तुम डंडमिस से कोई वस्तु चाहते हो तो तुम उसके पास आओ।'[1]

1. "दूसरे लोग कहते हैं कि डंडमिस ने दूतों से कुछ बातचीत नहीं की, केवल इतना ही पूछा कि 'क्यों सिकन्दर ने इतनी लम्बी यात्रा की"—Plutarch's Alexander.

आनेसिक्रेटीज़ से भेंट का वृत्तान्त पाने पर सिकन्दर को डंडमिस को देखने की पहिले से भी अधिक प्रबल इच्छा हुई; जो यद्यपि वृद्ध और नग्न था, पर एक मात्र प्रतिद्वन्द्वी था जिसको उस, बहुत सी जातियों के विजेता ने अपनी बराबरी से अधिक पाया।

## खंड 55 (ख)

Ambrosius, De Moribus Brachmanorum.
pp. 62, 68 &c. Ed. Pallad. London 1688.

## कालनोस और मंडेनिस के विषय में

वे (ब्राचमन लोग) जो कुछ भूमि पर पाते हैं वही खाते हैं, जैसे, चौपायों की भाँति पेड़ों की पत्तियाँ और जंगली बूटियाँ।....

"कलेनस तुम्हारा मित्र है, किन्तु वह हम लोगों द्वारा धिक्कारा और कुचला जाता है। तब, वह, जो तुम्हारे बीच बहुत सी हानियों का कर्ता हुआ, तुम्हारे द्वारा पूजित और प्रतिष्ठित होता है, पर चूँकि वह किसी अर्थ का नहीं है, इससे वह हम लोगों द्वारा परित्यक्त है, और जो वस्तुएँ वास्तव में हम लोग नहीं खोजते, वे कलेनस को, उसके अर्थ लोभ के कारण, प्रसन्न करती हैं। परन्तु वह हमारा नहीं हुआ, ऐसा मनुष्य जिसने दुर्भाग्यवश अपनी आत्मा को क्षति पहुँचाई और विनष्ट किया, जिसके कारण वह परमेश्वर के अथवा हमारे मित्र होने के स्पष्टतया अयोग्य है; न तो वह इस संसार में जंगलों के बीच रक्षा का अधिकारी रहा, और न वह उस कीर्ति की आशा कर सकता है जो भविष्य में मिलती है।"

जब सम्राट सिकन्दर जंगलों में आया तो वह जाते समय डंडमिस को नहीं देख सका.....

अतएव, जब उपर्युक्त दूत डंडमिस के पास आया, उसने उसे इस प्रकार सम्बोधन किया—"बड़े बृहस्पति (Jupiter) के पुत्र, सम्राट् सिकन्दर ने, जो मानव जाति का अधीश्वर है, आज्ञा दी है कि तुम उसके पास शीघ्र चलो, क्योंकि यदि तुम चलोगे तो वह तुम्हें बहुतेरे पुरस्कार देगा किन्तु यदि तुम नाहीं करोगे तो वह तुम्हारे तिरस्कार के दंड की भाँति, तुम्हारा शिरच्छेद करेगा। जब ये शब्द डंडमिस के कान में पड़े, वह पत्तियों पर से जिस पर वह पड़ा था नहीं उठा, वरन् लेटे लेटे मुसकुराते हुए उसने इस प्रकार उत्तर दिया—"परमेश्वर किसी की हानि नहीं कर सकता प्रत्युत उन्हें फिर जीवन का प्रकाश देता है जो प्रस्थान कर चुके हैं। अतएव अकेला वही मेरा ईश्वर है जो हत्या रोकता है और युद्ध नहीं उभाड़ता। किन्तु सिकन्दर ईश्वर नहीं है क्योंकि उसको स्वयं मरना होगा। फिर वह कैसे सब

का अधीश्वर हो सकता है जिसने अब तक टाइबरबोआस नदी को पार नहीं किया है न समस्त संसार को अपना घर बनाया है न यमलोक (hades) के वृत्त को पार किया है, न जगत् के मध्य में सूर्य्य की गति को देखा है? अतएव बहुत सी जातियाँ उसका नाम तक अभी नहीं जानतीं। पर यदि वह देश जो उसके अधिकार में है उसे धारण नहीं कर सकता, वह हमारी नदी को पार करे और वह ऐसी भूमि पावेगा जो मनुष्यों का पालन करने योग्य है। वे समस्त वस्तुएँ जिनको सिकन्दर देने को कहता है, यदि मुझे देगा तो वे मेरे लिए निरर्थक होंगी। घर के स्थान पर मेरे पास पत्तियाँ हैं, पास की बूटियों पर मैं निर्वाह करता हूँ और पानी पीता हूँ, परिश्रम से एकत्र की हुई दूसरी वस्तुएँ जो नाश हो जाती हैं और उन्हें सिवाय शोक के और कुछ नहीं देतीं जो उन्हें ढूँढ़ते फिरते हैं" इन्हें मैं तुच्छ समझता हूँ। अतएव मैं अब निर्द्वन्द्व पड़ा रहता हूँ। और आँख मूँदे हुए किसी वस्तु की चिन्ता नहीं करता। यदि मैं सुवर्ण रखना चाहता हूँ तो मैं अपनी निद्रा नष्ट करता हूँ; पृथ्वी प्रत्येक वस्तु हमें पहुँचाती है जैसा माता अपने शिशु के साथ करती है। जहाँ कहीं मैं जाना चाहता हूँ चल देता हूँ, और जहाँ कहीं मैं नहीं जाना चाहता किसी चिन्ता की आवश्यकता मुझे जाने को बाध्य नहीं कर सकती। और यदि वह मेरा सिर काट लेना चाहता है वह मेरी आत्मा नहीं ले सकता; वह केवल गिरा हुआ सिर लेगा, किन्तु जाती हुई आत्मा सिर को एक वस्त्र के टुकड़े की भाँति छोड़ देगी, और जहाँ से उस को पाया था उसी को अर्थात् पृथ्वी को लौटा देगी। किन्तु जब मैं सूक्ष्म शरीर में होऊँगा मैं परमेश्वर के समीप आरोहण करूँगा, जिसने उसे इस मांस में बन्द किया था। जब उसने यह किया उसने हमारी परीक्षा करनी चाही कि उसे छोड़ने के उपरान्त हम इस संसार में किस प्रकार रहेंगे। और इसके अनन्तर जब हम उसके पास लौट जायँगे वह हमसे इस जीवन का लेखा माँगेगा। उसके पास खड़ा होकर मैं अपनी क्षति को देखूँगा, और उन पर उसके न्याय का विचार करूँगा जिन्होंने मुझे क्षति पहुँचाई थी, क्योंकि दुखियों की हाय और पुकार सतानेवालों के लिए दण्ड हो जाती है।

"सिकन्दर इससे उन्हें धमकी दे जो धन की इच्छा रखते हैं वा मृत्यु से डरते हैं, जिन दोनों को मैं तुच्छ समझता हूँ। क्योंकि ब्राचमन लोग न तो सुवर्ण चाहते हैं और न मृत्यु से डरते हैं। सो, जाओ और सिकन्दर से यह कहो—'डंडमिस तुम्हारी कोई वस्तु नहीं चाहता, किन्तु यदि तुम उसकी कोई वस्तु चाहते हो, तो उसके पास जाने से तिरस्कार न करो'।"

जब सिकन्दर ने इन बातों को द्विभाषी द्वारा सुना उसे ऐसे मनुष्य के दर्शन की और भी इच्छा हुई, क्योंकि जिसने बहुत सी जातियों को दमन किया था, वह एक वृद्ध नग्न मनुष्य द्वारा परास्त हुआ।

## खंड 56

## Pliny. Hist. Nat. Vi. 21. 8-23.11.

# भारतीय जातियों की सूची[1]

यहाँ से (हाइफ़ेसिस Hyphasis से) दूसरी यात्राएँ सिल्यूकस निकेटर के लिए इस प्रकार है–168 मील हेसिड्रस (Hesidrus) तक और उतना ही जोमेनीज़ नदी तक (कुछ प्रतियों में 5 मील बढ़ाया है); वहाँ से गंगा तक 112 मील। 119 मील रोडोफ़ा (Rhodopha) तक (दूसरे इस दूरी को 325 मील बतलाते हैं) कलिनिपाक्स (Kalinipax) नगर तक 167-500। दूसरे 265 मील बताते हैं। वहाँ से जोमेनीज़ (Jomanes) और गंगा के संगम तक 625 मील, (बहुत से लोग 13 मील बढ़ाते हैं) और पालिम्बोथ्रा नगर तक 425 मील। गंगा के मुहाने तक 738 मील।[2]

---

1. इस सूची का अधिकांश प्लिनी ने मेगास्थिनीज़ से लिया है Schwanbeck p. 16.
2. लिपियों के अनुसार 638 वा 637 मील। इस प्रसिद्ध यात्रा विवरण में गिनाए हुए सब स्थान राजमार्ग पर पड़ते थे, जो इण्डस (सिन्ध) से पालीबोथ्रा तक गया था। वे इस प्रकार मिलाए गए हैं। हेसिड्रस Hesidrus आजकल की सतलज है और प्रस्थान स्थल उसके और हाइफेसिस (Hyphasis) [आजकल की व्यास) के संगम के ठीक नीचे पड़ता था। सीधा मार्ग वहाँ से (लोधियाना सिरहिन्द और अम्बाला होते हुए) पथिक को जोमेनीज़ के घाट पर जो आजकल की जमुना है, आधुनिक बरिया (Bureah) के पास ले जाता था, जहाँ से गंगा के किनारे उस स्थान पर जाता था जो दी हुई दूरी (112 मील) के विचार से कहीं जगद्विख्यात् हस्तिनापुर के पास रहा होगा। दूसरी चलकर रोडाफा (Rhodopha) थी, जिसका ठिकाना, उसका नाम चट्टी यहाँ से और गंगा से उसकी दूरी (119 मील) विचारने से दभई (Dabhai) पर स्थिर होता है, जो अनूपशहर से 12 मील दक्षिण एक छोटा सा कसबा है। दूसरी चट्टी कलिनिपक्स (Kalinipax) को, मैनर्ट (Mannert) और लेसन (Lassen) कन्नौज (संस्कृत कान्यकुब्ज) बतलाते हैं; किन्तु M. De. St. Martin इसका यह कह कर विरोध करते हैं कि प्लिनी, ऐसे प्रसिद्ध और बड़े नगर का ऐसे ऊटपटांग नाम से उल्लेख नहीं कर सकता, और उसका ठिकाना इक्षुमती नदी के तट के पास कहीं बतलाते हैं, जो भारतीय महाकाव्यों में वशितपंचाल की एक नदी है। वे कहते हैं कि यह नदी काली नदी के नाम से पुकारी जाती रही होगी जैसा कि उसका सम्प्रति प्रचलित 'कलिनी' और 'कलिन्द्री' नाम सूचित करते हैं। चूँकि 'पक्स' संस्कृत 'पक्ष' का अवतरण है, अतएव 'कलिनीपक्स' नाम की ओर देखने से जान पड़ता है कि वह अवश्य काली नदी के निकट कोई नगर रहा होगा।

    इन संख्याओं ने जो दूरी को सूचित करती हैं बहुत से विवाद उत्पन्न किए हैं। बहुत सी तो उनमें से या तो एक दूसरे ही से विरुद्ध हैं अथवा यथार्थ दूरी से। इसलिए यह विवरण साधारणतः जहाँ तक संख्या से सम्बन्ध रखता है ऊटपटांग ही समझा गया है। किन्तु M. De. St. Martin इन संख्याओं को प्रायः स्वीकार करके, उन्हें ठीक बतलाते हैं। पहिली कठिनाई तो इन शब्दों में मिलती है "दूसरे इस दूरी को 325 मील बतलाते हैं"। 'इस दूरी' से गंगा और रोडोफा के बीच की दूरी से अभिप्राय कदापि नहीं है, वरन् हेसिंड्रस और रोडोफा के बीच की दूरी से है जो कि संख्याओं को जोड़ने से 399 मील होती है। दूसरों को घटा कर अटकल 325 मील पटियाला, थानेश्वर, पानीपत और दिल्ली होते हुए एक अधिक सीधे मार्ग की माप है। दूसरी कठिनाई प्रायः मूल के गड़बड़ से उपस्थित हुई है। यह इन शब्दों में मिलती है "Ad Calinipax oppidum CL XVII. D. Alii. CCLXV. mill"। संख्या D से प्रायः 500 पग वा आधी रोमन मील ग्रहण की →

→ गई है, जिससे अनुवाद इस प्रकार किया गया है—"कलिनिपक्स तक 167 $\frac{1}{2}$ मील। दूसरे 265 मील देते हैं"। किन्तु M. De. St. Martin अनुमान करते हैं कि मूल के किसी गड़बड़ से D दूसरी संख्या से पृथक् हो गया है जिससे संयुक्त वह, संख्या में, DLXV होता था—अर्थात् 565 किन्तु वह प्रथम ही से इस प्रकार संयुक्त था यह बात यह देखने से सिद्ध होती है कि 665 मील ठीक ठीक हेसिड्रस से कलिनिपक्स तक की दूरी का जोड़ होता है जो इस प्रकार है—

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| हेसिड्रस से जोमेनीज़ तक | .... | .... | .... | 168 मील |
| जोमेनीज़ से गंगा तक | .... | .... | .... | 112 मील |
| गंगा से रोडोफ़ा तक | .... | .... | .... | 119 मील |
| रोडोफ़ा से कलिनिपक्स तक | .... | .... | .... | 167 मील |
| | | | | कुल 566 मील |

दूसरी कठिनता, प्लिनी की सम्पूर्ण और एक खण्ड की दूरी को एक में गोलमाल कर देने की भूल के कारण उपस्थित होती है जब वह कहता है कि कलिनिपक्स से गंगा और जोमेनीज़ के संगम की दूरी 625 मील है, जोकि वास्तव में केवल 227 के लगभग है। संख्याएँ ऊटपटांग हो सकती हैं, किन्तु यह अधिक सम्भव है कि वे संख्याएँ नदियों के संगम से कलिनिपक्स की अपेक्षा और दूर की किसी मार्ग पर की चट्टी को सूचित करती हैं। यही जोमनीज़ का मार्ग रहा होगा, क्योंकि दूरी—

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| जोमेनीज़ से गंगा तक | .... | ... | .... | 112 मील है |
| वहाँ से रोडोफ़ा तक | .... | .... | .... | 119 मील है |
| वहाँ से कलिनिपक्स तक | .... | .... | .... | 167 मील है |
| वहाँ से नदियों के संगम तक | .... | .... | .... | 227 मील है |
| | | | कुल | 625 मील |

यह ठीक 5000 स्टेडिया के बराबर है जो कि दोआब, अथवा संस्कृत भूगोल के 'पंचाल' और कोशकारों के 'अन्तर्वेद' की लम्बाई है।

अपने लेखे का सारांश M. De. St. Martin इस प्रकार देते हैं—

| | | रोमन मील | | स्टेडिया |
|---|---|---|---|---|
| हेसिड्रस से जोमेनीज़ तक | .... | 168 | .... | 1344 |
| जोमेनीज़ से गंगा तक | .... | 112 | .... | 896 |
| वहाँ से रोडोफ़ा तक | .... | 119 | .... | 952 |
| अतएव हेसिड्रस से रोडोफ़ा तक अधिक सीधे मार्ग से | ... | 325 | .... | 2600 |
| रोडोफ़ा से कलिनिपक्स तक | .... | 167 | .... | 1336 |
| कुल दूरी हेसिड्रस से कलिनिपक्स तक | .... | 565 | .... | 4520 |
| कलिनिपक्स से गंगा यमुना के संगम तक | | (227) | .... | (1816) |
| कुल दूरी जोमेनीज़ के मार्ग से गंगा के संगम तक | .... | 625 | .... | 5000 |

प्लिनी नदियों के संगम से पालिबोथ्रा तक ही दूरी 425 मील बताता है, पर चूँकि यह वास्तव में 248 मील है, संख्याएँ प्रायः बदली गई हैं। अन्त में वह पालिबोथ्रा से गंगा के मुहाने तक की दूरी 638 मील देता है जो कि मेगास्थिनीज़ के अटकल से ठीक ठीक मेल खा जाती है, जो कि उसे 5000 स्टेडिया कहता है—यदि उसकी अटकल वास्तव में यही थी न कि 6000 स्टेडिया जैसा स्ट्रेबो एक स्थल पर कहता है। पटना तमलूक (गंगा के मुहाने पर का प्राचीन बन्दरगाह ताम्रलिप्त) तक की दूरी भूमि की राह से 445 अँगरेजी अथवा 480 रोमन मील है। नदी की राह ज़ो घुमाव के साथ गई है वह अधिक दूर पड़ता है।—E' lude Sur le Geographic Grecque et-Latinede L' uide par P. V. De. St Martin pp. 271-278.

जातियाँ जिन्हें हम बिना ऊबे हुए इमोडाज (Eamodas) की शृंखला से, जिसकी एक शाखा[1] इमौस (Imaus) कहलाती है, गिना सकते हैं वे ये हैं इसरी (Isari), कासिरी (Cosyri), इज़गी (Izgi), और पहाड़ियों पर चिसिओतोसगी,[2] तथा ब्राचमने, (Brachmanae) जिस नाम के अन्तर्गत कई जातियाँ हैं जिनमें से 'मक्को कलिंगे' (Macoo calingae) है[3]।

---

1. इमोडस से साधारणतः हिमालय श्रेणी का वह भाग समझा जाता था जो नेपाल और भूटान होता हुआ आगे समुद्र तक चला गया था। इस नाम के दूसरे रूप ये हैं–इमोडा (Emoda) इमोडन (Emodan) हेमोडीज़ (Hamodes)। प्रो. लैसन इसे संस्कृत 'हैमवत' और प्राकृत 'हैमोत' से निकला हुआ बताते हैं। यदि ऐसा ही है तो हमोडीज़ ही अधिक शुद्ध है। दूसरी उत्पत्ति 'हेमाद्रि' से बताई जाती है। इमौस (Imaus) संस्कृत 'हिमवत' को सूचित करता है। पहिले पहिले यह नाम यूनानियों द्वारा हिन्दूकुश और हिमालय के लिए व्यवहृत हुआ था पर कालान्तर में 'बोलर श्रेणी' को सूचित करने के लिए प्रयोग किया गया। प्राचीन लोग समझते थे कि यह श्रेणी, जो उत्तर दक्खिन गई है, उत्तरी एशिया को 'स्किदिया इमौम के अन्तर्गत' और 'स्किदिया इमौम के बाहर' इन दो भागों में विभक्त करती है; और यह बहुत काल तक चीन और तुर्किस्तान की बीच की सीमा रही है।
2. ये चार जातियाँ काशमीर अथवा उसके आसपास कहीं बसती थीं। 'दूसरी' तो अज्ञात हैं, परन्तु कदाचित् वे ही हैं जिन्हें प्लिनी ने पहिले ब्रिसरी (Brysari) कहा है। 'कासिरी तो सहज में 'खसरि' से मिलाए जा सकते हैं जो महाभारत में 'कामीरियों' और 'दरदस' के पड़ोसी कहे गए हैं। यह अनुमान किया गया है कि उनके नाम का अवशेष 'खाचर' में मिलता है, जो गुजरात के काठी लोगों के तीन बड़े भागों में से एक हैं, जो पंजाब से गए हुए जान पड़ते हैं। इज़गी, गालमी में सिज़जीज (Sizyges) के नाम से वर्णित है, जो कि सीरिकी (Serike) के रहनेवाले थे। किन्तु यह भूल है क्योंकि वे काश्मीर के ऊपर, उत्तर और उत्तर पश्चिम कोण के हिमाच्छादित देश के रहनेवाले थे। चिसिओतोसगी वा चिरोतोसगीं (Chirotosagi) कदाचित् चिकोने (Chiconoe) हैं (जिसकी प्लिनी दूसरे स्थल पर भी चरचा करता है)। और यह 'सगी' जो बढ़ा हुआ है वह कदाचित् उन्हें 'शक' लोगों की एक शाखा सूचित करने के लिए। दून 'शक' अर्थात् स्किदियन लोगों ने आर्य्यों के विजय के पूर्व्व ही भारतवर्ष में उत्पात किया था। मनुस्मृति में (10-44) इनका उल्लेख पौंड्रक, ओद्र, द्राविड़, कम्बोज, यवन, परद, पहलवी, चीन, किरात, दरदस और खशस के साथ हुआ है। चिरोतोसगी ही उनके नाम का ठीक पाठ है तो उनके 'किरात' होने में बहुत कम सन्देह है–See P. V. De. St. Martin pp. 195-197. But for the Khachars see Ind. Anti Vol. IV. lc. 323.
3. V. I. Brachmance. प्लिनी तुरन्त अपने पाठकों को काशमीर के पर्वतों से गंगा घाटी के नीचे के भागों में ले आता है। यहाँ पर वह ब्राचमनी का निवास स्थान बतलाता है जिन्हें वह बस्ती की एक प्रधान जाति नहीं समझता है (जो कि वे वास्तव में थे) वरन् बहुत सी उपजातियों से बनी हुई एक शक्तिमती जाति है, जिनमें से मक्कोकलिङ्गे भी एक हैं। यह जाति तथा गंगरिंड कलिङ्गे (Gangaridoe Kalingae) और तदुपरान्त वर्णित मोडोगलिङ्गे आदि (Modogalingae) की बहुत दूर से फैली हुई कलिङ्गे जाति की एक उपशाखा है जो कि पहिले गंगा के डेल्टा से लेकर देश के समस्त पूर्वीय किनारे पर फैली हुई थी, यद्यपि पीछे से वह ओड़ीसा से और दक्षिण तक नहीं रहीं। महाभारत में लिखा है कि वे बंग तथा और दूसरी तीन प्रधान जातियों के साथ उस →

प्रिनस[1] (Prinas) और कैनस (Cainas) नदी (जो गंगा में गिरती है) दोनों जल यात्रा योग्य हैं[2]। कलिङ्गे कहलाने वाली जाति समुद्र के अत्यन्त निकट रहती है, और उससे ऊपर मंडे (Mandei), तथा मल्ली (Malli) जिनके देश में 'मल्लस' पर्वत है; इस समस्त जिले की सीमा गंगा है।

---

→ देश में बसते थे जो मगध और समुद्र के बीच में स्थित हैं। अतएव, मक्कोकलिंङ्गे ही कलिङ्ग के 'मघ' हैं। M. De. St. Martin कहते हैं "मघ नीचे गंगावर्ती देशों में सबसे अग्रगण्य और विस्तृत अनार्य्य जातियों में से है जहाँ वह आराकान और पश्चिमीय आसाम से लेकर (जहाँ यह 'मोघ' के नाम से पाई जाती है) नैपाल की घाटियों तक (जहाँ वह माघर कहलाती है) फैल कर कई प्रधान प्रधान समुदायों में विभक्त है। दक्षिणी बिहार (प्राचीन मगध) में वे मघय, मगही वा मध्य कहलाते हैं, बंगाल में प्राचीन मघ्र तथा ओड़ीसा में 'मगोर'। अपनी स्थिति के कारण ये 'मगोर' ही हमारे मक्कोकलिङ्गे हो सकते हैं। वही ग्रन्थकार फिर कहता है, "मोदोगलिङ्गे को उसी प्रकार प्राचीन 'मद' प्रगट करता है जो कि मनुस्मृति में आर्य्यावर्त की म्लेक्ष जातियों की एक बस्ती का नाम कहा गया है, जिसका उल्लेख मनु गंगा के दक्षिण बसनेवाली अन्ध्र नाम की एक दूसरी जाति के साथ करता है। मुंगेर के शिलालेख में भी जो आठवीं शताब्दी के आरम्भ का है, 'मेद' नाम की इस देश की एक जाति का नाम आया है (Asiatic Researches Vol. I p. 126 Calcutta, 1788) और जो बात ध्यान देने योग्य है वह यह है कि वह 'अन्ध्र' के नाम के साथ ही संयुक्त है, जैसा कि मनु में। प्लिनी उनके रहने का स्थान गंगा का एक बड़ा द्वीप बतलाता है; और गलिङ्ग शब्द से जिसके साथ उनका नाम संयुक्त है, अवश्य ही इस द्वीप की स्थिति समुद्र तट की ओर—कदाचित् डेल्टा में—ठहरती है।"

गंगरिडे (Gangaridae) अथवा गंगरिडीज की स्थिति स्थूलरूप से लोअर बंगाल में ठहरती है। वह कई आदिम जातियों से संयुक्त थी जिनमें कालान्तर से कुछ न कुछ आर्य्यत्व आ गया। चूँकि संस्कृत कोई शब्द नहीं मिलता जिससे उनका नाम मिलता हो इससे वह यूनानी गढ़त का माना गया है, (Lassen. Ind. Alt. Vol. II. p. 201) किन्तु यह भूल है क्योंकि मेसिडोनियन आक्रमण के समय यह अवश्य प्रचार में रहा होगा, क्योंकि दक्षिण देश विषयक प्रश्नों के उत्तर में सिकन्दर से बतलाया गया कि गंगा का प्रदेश दो मुख्य जातियों से बसा है—एक प्रेसिआई दूसरी गंगरिडे। M. De. St. Martin विचारते हैं कि उनके नाम का अवशिष्ट दक्षिण बिहार के गंघीरों (Gonghir) में पाया जाता है, जिनकी जनश्रुतियाँ उनकी उत्पत्ति तिरहुत में बतलाती हैं; और उनकी राजधानी पर्थलिस (Portalis) को वर्द्धन (वर्द्धमान का विकृत रूप) आधुनिक बर्दमान से मिलाया है। परन्तु दूसरे लोग, जैसा पहिले कहा गया है, इन्हें महानदी के किनारे बतलाते हैं। टालमी में उनकी राजधानी गंगी (वा गंजी) लिखा है जो अवश्य उसी स्थान पर कहीं रही होगी जहाँ आजकल कलकत्ता है। गंगरिडीज़ का वर्णन वर्जिल (Virgil) ने किया है।

1. v. i. Purnas. प्रिनस कदाचित् तमसा वा टेवस है जो पुराणों में पर्णशा कही गई है। कैनस श्वानबक के विरोध करने पर भी, केन से मिलाई जा सकती है जो कि जमुना की एक सहायक है।
2. गंगा की इन सहायक नदियों तथा और दूसरों के मिलान के लिए 'एरियन का नोट' देखो—Indin Antiquary vol. VI p. 331.

(22) यह नदी कुछ लोगों के अनुसार नील की भाँति बिना जाने हुए उद्गमों से निकलती है, और उसी प्रकार अपने मार्ग पर के देशों को तराबोर करती है; दूसरे लोग कहते हैं कि यह स्किदियन पर्व्वतों से निकलती है और उसकी उन्नीस सहायक नदियाँ हैं जिनमें से पूर्वकथित को छोड़, कांडोचेटीज़ (Condochates,) इरन्नोबोआस और सोनस (Sonus) जलयात्रा योग्य हैं। फिर दूसरे लोग कहते हैं कि यह अपने झरने से भीषण गर्जन के साथ तुरन्त निकल पड़ती है, और एक ढालुआं और पथरीली खाड़ी से उतर कर, समथल मैदान में पहुँचने पर तुरन्त एक झील में जा गिरती है, जहाँ से वह धीमी धारा से बहती है! चौड़ाई में अत्यन्त संकीर्ण स्थान पर 8 मील और औसत में 100 स्टेडिया तथा अपने मार्ग के अन्तिम भाग पर, जो गंगरिडीज़ के देश से होकर गया है यह गहराई में 20 क़दम (100 फ़ीट) से कभी कम नहीं है। कलिङ्ग[1] की राजधानी परथलिस (Parthalis) कहलाती है। 60000 पैदल, 1000 सवार, 700 हाथी युद्धमण्डल में अपने राजा की रखवाली और रक्षा करते हैं।

क्योंकि अधिक सुसभ्य भारतीय समाजों में जीवन भिन्न भिन्न प्रकार के बहुत से व्यवसायों में बिताया जाता है। कोई भूमि जोतता है; कोई सिपाही है, कोई व्यापारी है; अत्यन्त उच्च और धनाढ्य लोग राजकाज के प्रबन्ध में सम्मिलित होते हैं, न्याय विचारते हैं, और राजाओं के साथ सभा में बैठते हैं। एक पाँचवाँ वर्ग देश के प्रचलित दर्शनशास्त्र में लगा रहता है, जो कि प्रायः धर्म्म का रूप धारण किए है, और इस वर्ग के लोग अपने जीवन का अन्त सदैव जलती हुई चिता पर मृत्यु बुला के करते हैं।[2] इन वर्गों के अतिरिक्त एक अर्द्धववर जाति है जो सदैव शब्दों की वर्णनशक्ति से बाहर कठिन परिश्रम के कार्य में लगी रहती है—अर्थात् अहेर करने और हाथी पालने में। वे इन पशुओं को जोतने और सवारी देने के काम में लगाते हैं, और उनको अपने चौपायों के झुण्ड का मुख्य अंश समझते हैं। वे उन्हें युद्ध में तथा अपने देश के निमित्त लड़ने में लगाते हैं। युद्ध के हेतु उन्हें चुनने में, उनकी अवस्था, बल और डीलडौल पर ध्यान रक्खा जाता है।

---

1. मूल के साधारण पाठ से गंगारिडीज, कलिङ्ग की एक शाखा जान पड़ती है। और यही शुद्ध भी है। क्योंकि जनरल कनिंगहाम कहते हैं कि किसी किसी शिलालेख में त्रिकलिङ्ग पाया जाता है। कदाचित् त्रिकलिङ्ग नाम प्राचीन है क्योंकि प्लिनी 'मक्कोकलिङ्गे' और 'गंगरिडीज़ कलिङ्गे' को 'कलिङ्गे' से पृथक् जाति लिखता है और महाभारत में कलिङ्ग नाम तीन बार पृथक् पृथक् कर के लिखा है, और प्रत्येक वेर भिन्न भिन्न जातियों के साथ (तथा विष्णु पुराण में भी)। चूँकि यह 'त्रिकलिङ्ग' तेलिङ्गाना से मेल खा जाता है, यह सम्भव जान पड़ता है कि 'तेलिङ्गाना' वास्तव में 'त्रिकलिङ्ग' ही का विकृत रूप है।
2. लूसियन (Lucian) ने पेरिग्रिनस (Peregrinos) की मृत्यु पर जो व्यंगपूर्ण वाक्य कहे हैं उनमें भी इस रीति का उल्लेख है "किन्तु इस मनुष्य के आग में कूद पड़ने का क्या अभिप्राय हो सकता है। परमेश्वर जाने, यह केवल यही दिखाने के लिए कि ब्राचमन लोगों की तरह वह किस प्रकार क्लेश सहन कर सकता है। Theogenis ने प्रसन्न होकर उसकी तुलना उन्हीं से की है, मानो भारत वर्ष में मूर्खों और मिथ्याभिमानियों की सृष्टि ही नहीं है। किन्तु यदि वह उनको पूरी पूरी नकल करै तब न; क्योंकि सिकन्दर की नौकाओं का माझी आनेसिक्रिटोस, जिसने कालनोस को भस्म होते हुए देखा था—कहता है कि वे अपने को अग्नि में कूद कर नहीं दग्ध करते, प्रत्युत जब चिता बन चुकती है तब वे चुपचाप उसके निकट खड़े हो जाते हैं, और अपने को धीरे धीरे उसिनते हैं; फिर चिता पर चढ़ कर वे भस्म हो जाते हैं और अपने आसन से तनिक भी नहीं डिगते।

गंगा में एक बड़ा द्वीप है जिसमें मोडो गलिङ्ग कहलानेवाली एक मात्र जाति का निवासस्थान है। इसके आगे मोडुबे (Moduboe) मोलिंडे (Molindoe) उबिरे (Uberoe) जिनके यहाँ इसी नाम का एक सुन्दर नगर है; गलमोद्रोयसी (Galmodroesi) प्रेटी (Preti) कलिस्से (Calissoe) सेसुरी (Sasuri) पस्सले (Passaloe) कोलुबे (Coluboe) आर्क्सुले (Orxuloe) अबली (Abali) और तलुक्ते (Taluctoe) पड़ते हैं।[1]

इनका राजा 50000 पैदल, 4000 सवार, और 400 हाथी, सुसज्जित रखता है। इसके उपरान्त अण्डरे[2] (Andaroe) इनसे भी बढ़कर शक्तिशाली जाति है जिसके पास असंख्य ग्राम, और दीवारों और मीनारों से रक्षित तीस नगर हैं, और जो अपने राजा के 100000 पैदल, 2000 सवार, और 1000 हाथी देती है।

सोना दरदे Dardtoe के बीच और चाँदी Setae सेटे[3] के बीच बहुत अधिक होती है।

---

1. ये जातियाँ मुख्य कर गंगा के वाम तट और हिमालय के बीच के देशों में निवास करती थीं। गलमोद्रोयसी प्रेटी, कलिस्से, सेसुरी और आर्क्सुले के विषय में तो कुछ ज्ञात नहीं है और न उनके नाम संस्कृत भाषा के किसी शब्द से मिलाए जा सकते हैं। मोडुबे तो निस्सन्देह मौतिब है जिनका वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण में और दूसरी अनार्य्य जातियों के प्रसंग में आया है, जो कि, जब ब्राह्मण लोग पहिले पहिल इस देश में बसे थे, गंगा के उत्तर में बसते थे। 'मोलिंडे' पुराणों की सूची में 'मलद' के नाम से गिनाए गए हैं, किन्तु उनका और विशेष विवरण नहीं मिलता। 'उबरे' से 'भर' समझना चाहिए जो पूर्वकथित देश के मध्य भाग में आसाम तक फैली हुई एक जाति थी। इस नाम का उच्चारण भिन्न भिन्न जिलों में भिन्न रीति से होता है जैसे, बोर, भोरी, बरैंया (Barriias) और भाढ़िया, बरेया, बओरी, भरई इत्यादि। यह जाति जो पहिले बहुत शक्ति सम्पन्न थी, आजकल बस्ती की अत्यन्त क्षुद्र जातियों में है। 'पस्सले' लोग पाञ्चाल के निवासी अनुमान किए गए हैं, जो दोआब का प्राचीन नाम था। 'कोलुबे', 'कौलूत' वा 'कोलूत' से मिलता है—जिनका नाम रामायण के चौथे काण्ड में पश्चिम की जातियों की गणना में आया है, और बराह संहिता में भी पश्चिमोत्तर की जातियों की सूची में इनका नाम पाया जाता है, तथा 'मुद्राराक्षस' नाटक में भी जिसका नायक प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त है वे उत्तर में जमुना के तट के सन्निकट कहीं बसते थे। सातवीं शताब्दी के मध्य में प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसांग ने उन्हें देखा था, जो उनका नाम क्यु-लु-टो (Kiu-lu-to) लिखता है। यूल (Yule) साहब पस्सले को तिरहुत के दक्षिण पश्चिम बतलाते हैं, और कोलुबे को (Kandochatis) कांडोकेटीज (गंडकी) के तट पर गोरखपुर से उत्तर पूर्व और 'सारन' से उत्तर पश्चिम। 'अबली' कदाचित् दक्षिण बिहार की ग्वाल वा हलवाई न हों। 'तलुक्ते' महाभारत में वर्णित ताम्रलिप्त राज्य के निवासी हैं। सीलोन के बौद्धों के ग्रन्थों में उनका नाम 'तमलित्ति' लिखा है जो कि आजकल के तमलूक से मेल खा जाता है। प्लिनी का दिया हुआ नाम इन दोनों के बीच में है। 'तमलूक' कलकत्ता से दक्षिण पश्चिम है और सीधे मार्ग से 3[illegible] मील पड़ता है। प्राचीन काल में यह गंगा तटस्थ भारत और सीलोन के बीच व्यापार का मुख्य केन्द्र था।
2. अण्डरे (Andaroe) तुरन्त संस्कृत अन्ध्र से मिलाए जा सकते हैं जो बड़े शक्तिमान थे और आरम्भ में गोदावरी और कृष्णानदी के बीच दक्खिन में बसे थे; पर मेगास्थिनीज़ के समय के पहिले ही वे उत्तर में नर्मदा तक फैल गए थे। Ind. Ant Vol. IV General Canningham's Ancient. Geog. of India pp. 527-530.
3. 'सेटे' संस्कृत भूगोल के 'साट' वा 'साटक' है, जिसके अनुसार वे 'दरदस' के पड़ोसी हैं [यूल के अनुसार वे संस्कृत के 'सेक' हैं; और वे उन्हें झाजपुर के निकट 'बनास' के तट पर अजमेर से दक्षिण पूर्व बताते हैं।]

किन्तु 'प्रेसिआई' शक्ति और प्रताप में और समस्त दूसरे लोगों से बढ़े चढ़े हैं; न कि केवल इसी ओर वरन् यह कहना चाहिए कि समस्त भारतवर्ष में; उनकी राजधानी एक बहुत बड़ा और धनाढ्य नगर 'पालिबोथ्रा' है, जिसके अनुसार कुछ लोग निवासियों ही को 'पालीबोथ्री' कहते हैं—यहाँ तक कि गंगातटस्थ समस्त देश ही को। उनका राजा अपने अधिकार में 600000 पैदल, 30000 सवार और 90000 हाथी रखता है; जिससे कुछ उसकी सम्पत्ति के विस्तार का अनुमान बँध सकता है।

इनके उपरान्त, किन्तु अधिक अन्तर्भाग में, 'मोनिडीज़' (Monedes) और 'सुअरी' (Suari)[1] लोग हैं जिनके देश में 'मल्यास' (Maleus) पर्व्वत है, जिस पर छः छः महीने के अन्तर पर छाया जाड़े में उत्तराभिमुख और गरमी में दक्षिण की ओर पड़ती है। बेटन[2] (Bateon) कहता है कि इन भागों में उत्तरी ध्रुव वर्ष में केवल एक बार दिखाई देता है, सो भी केवल 15 दिन के लिए और मेगास्थिनीज़ कहता है कि यही बात भारतवर्ष के कई भागों में घटित होती है दक्षिणी ध्रुव भारतवासियों द्वारा द्रमस (Dramasa) कहलाता है।

जोमेनीज़ नदी पालिबोथ्री[3] से होकर मेथोरा (Methora) और केरिसोबोरा (Carisobora) नगरों के बीच गंगा में गिरती है। उन भागों में जो गंगा के दक्षिण पड़ते हैं निवासी लोग जो पहिले ही से साँवले होते हैं, सूर्य्य से गाढ़ा रंग प्राप्त करते हैं यद्यपि एथिपियनों (Ethiopians) की भाँति झुलस कर काले नहीं हो जाते। जितना ही वे इण्डस के निकट पड़ते उतना ही उनकी रंगत सूर्य्य के प्रभाव को प्रगट करती है।

---

1. 'मोनेडीज़' वा 'मंडी' को यूल साहब छोटा नागपुर के द. पू. ब्राह्मणी के किनारे गंगपुर के पास बतलाते हैं। लैसन उन्हें महानदी के दक्षिण सोनपुर के पास बतलाते हैं जहाँ पर यूल के अनुसार 'सुअरी' व 'सवेरे' की जो संस्कृत ग्रन्थकारों का 'सावर' हैं, स्थिति है। लैसन इन्हें सोनपुर और सिंहभूम के बीच बतलाते हैं।
2. यह वास्तव में केवल भूमध्य रेखा पर हो सकता है, जहाँ से कि भारतवर्ष का दक्षिणी छोर 500 मील के लगभग है।
3. 'पालिबोथ्री' से यहाँ उस राज्य के निवासियों को समझना चाहिए जिसकी राजधानी 'पालीबोथ्रा' थी, न कि केवल उस नगर के निवासियों को, जैसा रेनिल और दूसरों ने अनुमान किया था और उनकी स्थिति को गंगा और यमुना के संगम पर निर्धारित किया था। मेथोरा तो सहज ही में 'मथुरा' से मिल जाता है। 'केरिसोबोरा' का पाठान्तर (Chrysoban) क्राइसोबन, सिरिसोबोरका (Cyrisoborca), क्लेसोबोरास (Cleisoboras) भी है। जेनरल कनिंहाम कहते हैं, "इस नगर का पता अब तक नहीं लगा है; किन्तु मुझे यह निश्चय होता है कि यह अवश्य 'वृन्दावन' है जो मथुरा से 6 मील उत्तर है।....। इस स्थान का प्राचीन नाम 'कालिकावर्त' है। लैटिन नाम (Clisobora) क्लिसोबोरा भिन्न भिन्न प्रतियों में 'कैरिसोबोरा' और सिरिसोबोरका भी लिखा है, जिससे मैं समझता हूँ कि आरम्भ में उच्चारण केलिसोबोरका (Kalisoborka) रहा होगा जो कुछ फेरफार के साथ, कैलिकोबारटा वा कालिकावर्त हो सकता है"—Ancient Geography of India p. 375। यह एरियन का 'क्लैसोबोरा' है जिसको यूल साहब 'बटेसर' में बतलाते हैं और प्रो. लैसन आगरा में, जिसे वे संस्कृत का 'कृष्णपुर' बना डालते हैं। Wilkins (Asiatic Res. Vol. V. p. 270) कहते हैं कि क्लिसोबोरा आजकल मुसलमानों द्वारा 'मूगनज़र' और हिन्दुओं द्वारा 'कालिसपुर' कहा जाता है"। Indian Ant. Vol. VI. 249 note.

इण्डस 'प्रेसियाई' की सीमा को घेरे है, जिसकी पर्व्वतस्थलि पर बौनों का निवास है। [1]आर्टेमिडोरस (Artemidorus) दोनों नदियों के बीच के अन्तर को 121 मील स्थिर करता है।

(23) इण्डस जो निवासियों द्वारा सिंडस कही जाती है काकेसस पर्वत की उस शाखा में जो पैरोपैमिसस (Paro-pamisus) कहलाती हैं, सूर्य्योदय के अभिमुख उद्गमों से निकल कर, 19 नदियाँ [अस्तित्व] प्राप्त करती हैं जिनमें सबसे प्रख्यात (1) हाइडास्पीस, जिसकी चार सहायक हैं; कैन्टब्रा[2] Cantabra, जिसकी तीन हैं; असेसिनीज़ (Acesines) और (Hypasis) (2) हाइपेसिस, जो दोनों जलयात्रा योग्य हैं, किन्तु इस पर भी पानी की आमद बहुत न होने से, यह किसी स्थान पर पचास स्टेडिया से अधिक चौड़ी वा पन्द्रह कदम से अधिक गहरी नहीं है। यह एक अत्यन्त बड़ा टापू बनाती है, जो प्रेसिएन (Prasian) कहलाता है; तथा एक और उससे छोटा जो पटेल (Patale) कहलाता है [3] इसकी धारा, जो अत्यन्त घट कर आँकने से 1240 मील तक जल यात्रा योग्य है, पश्चिम की ओर घूमती है मानो थोड़ा बहुत सूर्य्य के मार्ग का अनुकरण करती है, और तब समुद्र में जा गिरती है। गंगा के मुहाने से इस नदी तक तटरेखा की माप मैं वैसी ही रक्खूँगा जैसी साधारणतः दी जाती है, यद्यपि कोई भी लेखा एक दूसरे से मेल नहीं खाता। गंगा के मुहाने से 'कलिङ्गन रास' (Cape Calingon) और 'डंडगुल' नगर तक 625 मील[4] 'त्रोपिन' (Tropina)[5] तक 1225 मील; पेरिमुल की रास [6](Cape of Perimula) तक, जहाँ भारत में व्यापार की सबसे बड़ी मण्डी है, 750 मील; ऊपर कहे हुए 'पटल' (Patal) के द्वीप के नगर तक 620 मील।

---

1. Ephesus इफ़ियस एक यूनानी भूगोलवेत्ता है, जिसका समय लगभग 100 ई. पू. है। भूगोल पर उसका एक अमूल्य ग्रन्थ 'पेरिप्लस' प्राचीन ग्रन्थकारों द्वारा बहुत उद्धृत किया गया है, किन्तु कुछ खण्डों को छोड़ यह ग्रन्थ पूरा नहीं मिलता।
   (1) हाइडास्पिस=वितस्ता वा झेलम। (2) हाइपेसिस छोटा रूपान्तर 'हाइपेनिस', बिबेसिस=संस्कृत 'विपाशा' आधुनिक व्यास।
2. 'चन्द्रभागा' वा 'अकेसिनीज़' जो आजकल चनाब कहलाती है।
3. 'यूल' 'प्रेसिएन' को रोहटी से हैदराबाद तक के भूमिखण्ड से तथा सिन्ध के डेल्टा से मिलाते हैं—Ind. Ant.
4. दूरी और नाम दोनों से 'कोरिङ्गा' का बड़ा बन्दरगाह 'कोरिङ्गन' की रास प्रतीत होती है, जो कि गोदावरी नदी के मुहाने पर एक निकले हुए भूखण्ड पर स्थित है। 'डंडगुद' 'डंडगुल' नगर को मैं बौद्ध ग्रन्थों का 'दान्तपुर' समझता हूँ, जिसे कलिङ्ग देश की हम राजधानी मान कर 'राजमहेन्द्री' में ठहरा सकते हैं, जो कोरिङ्गा से केवल 30 मील उ. पू. है। यूनानी I और II अधिक समान होने से मैं सम्भव समझता हूँ कि यूनानी नाम 'डंडपुल' रहा हो, जो 'दान्तपुर' से मिल जाता है। किन्तु इससे जान पड़ता है कि बुद्ध का दान्त (दाँत) कलिङ्ग में प्लिनी के काल ही में गाड़ा गया था, यह बौद्ध ग्रन्थों के इन वाक्यों से भी दृढ़ होता है कि बुद्ध का बायाँ दाँत कलिङ्ग में उनके मरने के थोड़े काल उपरान्त ही लाया गया जहाँ पर वह उस समय के राजा ब्रह्मदत्त द्वारा समाधिस्थ किया गया। —Cunningham Geog. p. 518.
5. ['त्रोपिन' कोचिन के सामने 'त्रिपोन्तरी' वा 'तिरुपन्तर' को लक्षित करता है—Int. And.] दी हुई दूरी गंगा के मुहाने से नापी गई है, कलिङ्गन रास से नहीं।
6. यह रास 'परिमुला' वा 'परिमुदा' द्वीप की निकली हुई नोक है जो अब बम्बई के सालसेटी (Salsette) का द्वीप कहलाता है।

इण्डस और इओमेनीज़ (Iomanes) के बीच की पहाड़ी जातियाँ ये हैं—सेसी (Cesi), सेत्रिबोनी (Cetriboni), जो जंगलों में रहते हैं; फिर मेगाले (Megallae) जिनका राजा 500 हाथी तथा अज्ञात बल के पैदल 'सिपाही' और घोड़ों का स्वामी है; क्रिसेई (Chrysei) परसङ्गे (Parasangae) तथा असङ्गे (Asangae)[1] जहाँ विख्यात बाघ बहुत है। सुसज्जित सेना के अन्तर्गत 30000 पैदल, 300 हाथी और 800 घोड़े हैं। ये इण्डस से बँधे हैं तथा पर्व्वतों और रेगिस्तानों के मण्डल से 625 मील की दूरी में घिरे हैं।[2] रेगिस्तान के नीचे 'दरी' (Dari) और सुरे (Surae) हैं, फिर 187 मील तक रेगिस्तान है यह रेगिस्तान उपजाऊ भूमि को ठीक वैसे ही घेरे हैं जैसे समुद्र द्वीप को घेरे रहता है।[3] इस रेगिस्तान के नीचे हम माल्टिकोरे (Malticorae,) सिंघे (Singhae,) मरोहे (Maroghae) रुरुंगे (Rarungae), मोरुनी, को पाते हैं। ये उन पहाड़ियों पर बसते हैं जो अखण्डित शृंखला में महासागर के तट के समानान्तर चली गई हैं। वे स्वतन्त्र हैं और कोई राजा नहीं रखते, पर्वत की ऊँचाई पर बसते हैं जिन

---

1. प्लिनी, इण्डस और गंगा के बेसिन का साधारण विवरण देकर, यहाँ पर उन जातियों को गिनाता है जो भारत के उत्तर में निवास करती थीं। नाम ऊटपटाँग हैं, किन्तु लैसन ने इनमें से दो एक को और से. मार्टिन ने बहुतेरों को मिलाया है। सूची में वर्णित पहिली जाति यमुना से लेकर नर्मदा के मुहाने के पास पश्चिमी किनारे तक फैली थी। 'सेसी' (Cesi) से 'खोसा' वा 'खसिया' की बड़ी जाति लक्षित होती है, जिसने अत्यन्त प्राचीन काल से गुजरात, लोअर सिन्ध तथा यमुना के मध्य भ्रमणशील जीवन बिताया है। 'सेत्रिबोनी' का नाम केत्रिवनी (क्षत्रिवनेय) का विकृतरूप जान पड़ता है। अतएव वे मनु की गिनाई हुई म्लेच्छ जातियों में (1-10-12) से 'खात्री' की एक शाखा कदाचित् हो। 'मेगाल' तो संस्कृत पुस्तकों में वर्णित 'मावेल' हैं जिनका निवास यमुना के पश्चिम लिखा है। 'क्रिसेई' कदाचित् पौराणिक सूची के 'क्रौञ्च' हों (विष्णुपुराण)। इनकी तथा पिछली दो जातियों की निवासभूमि 'रन' के उत्तर लोअर इण्डस (सिन्ध) और अरावली श्रेणी के मध्य में रही होगी।
2. वा अस्मगी। प्रो. लैसन सन्देह के साथ जोधपुर के आस पास बताते हैं—Ed. Int. Ant.
3. 'धार' लोग अब तक 'धर' के किनारे तथा सिन्ध की घाटी के समकक्ष भागों में बसते हैं। हुएन्सांग कच्छ की खाड़ी के निचले छोर पर एक 'दर' की भूमि का उल्लेख करता है जो ठीक प्लिनी के दिए हुए ठिकाने से मिल जाती है। सुरे, 'संस्क' और 'शूर' नाम का अवशेष 'सौर' में पाया जाता है जो लोअर सिन्ध के किनारे बसी हुई एक जाति है—यह हरिवंश के 'सौरमीर की आधुनिक सन्तति है। लैसन इन्हें सन्देह के साथ 'लोनो' के किनारे सिन्द्री के समीप बताते हैं।, किन्तु यूल साहब वहाँ बोलिंगे—संस्कृत 'भौलिंग'—का स्थान बताते हैं।—Ind. Ant.

पर उन्होंने बहुत से नगर बसाए हैं।[1] इसके आगे नेरिए (Nareae) हैं जो भारतीय पर्व्वतों में सबसे ऊँचे केपिटेलिया[2] (Capitalia) द्वारा घिरे हैं। इस पर्व्वत के दूसरे

1. ये जातियाँ अवश्य 'कच्छ' में बसती थीं। माल्टिकोरे के नाम ने विशेष ध्यान आकर्पित किया क्योंकि वह 'मर्तिखोर' से मिल जाता है जिसको टीशियास ने भारतवर्ष का एक मनुष्यभक्षी जीव कहा है। अतएव 'माल्टिकोरे' मनुष्यभक्षियों की एक जाति रही होगी। किन्तु M. de St. Martin इस बात को नहीं मानते। 'सिंघे' आजकल के अमरकोट के 'सिंघी' हैं (जिन्हें मकमर्डो ने 'सांग' कहा है) जो एक प्राचीन राजपूत शाखा 'सिंघार' के वंशज हैं। 'मरोहे' कदाचित् 'वराहसंहिता' की सूची के 'मरुह' हैं। 'वराहसंहिता' प्लिनी के काल से साढ़े चार सौ वर्ष पीछे की है। बीच में वे स्थानच्युत हो गए, पर स्थान च्युत होना उन दिनों कोई असाधारण बात न थी। ऐसे ही 'ररूंगे' कदाचित् 'रांघी' के पूर्वज रहे हों जो अब सतलज के किनारे दिल्ली के आसपास मिलते हैं।
2. केपिटेलिया निस्सन्देह पवित्र अर्वुद गिरि वा आबू पहाड़ है जो 6500 फीट ऊँचा और अरावली श्रेणी के सब शिखरों से उन्नत है। 'नेरिए' नाम से 'नैयर, की ओर ध्यान जाता है जिसको राजपूत इतिहास रेगिस्तान का एक उत्तरी खण्ड बताते हैं। (Tod'j Rajasthan II. 211)। यही से. मार्टिन भी कहते हैं। किन्तु जेनरल कनिंगहाम के अनुसार ये लोग 'सरुई' के हैं, क्योंकि 'नर' और 'सर' दोनों नरकट के पर्य्याय हैं और 'सरुई' का देश अब तक सरकण्डे के तीरों के लिए प्रसिद्ध हैं। वही ग्रन्थकार इस कथन को कि सोने और चाँदी की बहुत सी खानें इस पर्व्वत के दूसरे पार्श्व में निकलती हैं अपने इस सिद्धान्त के पक्ष में व्यवहृत करता है कि भारतवर्ष ही बाइबिल का ओफिर (Ophir) है, जहाँ से सुलेमान के समय में टैरियन (Tyrian) नौकाएँ बहुत सा सोना लालचन्दन और बहुमूल्य पत्थर ले गई थीं (1.Kings xii)। इनकी युक्ति यह है—"प्लिनी की सूची में अन्तिम नाम वेरिटेटे (Varetatae) है जिसको मैं दो अक्षरों का फेरफार करके (Vataretae) वेटरटे कर देता हूँ। यह उच्चारण 'स्वरटरेटे (Svarataratae) के भिन्न भिन्न पाठान्तरों से भी दृढ़ होता है। यह अत्यन्त सम्भव है कि 'स्वरटरेटे' 'सौराष्ट्र' को प्रगट करने के लिए व्यवहृत हुआ हो। प्रसिद्ध वराहमिहिर 'सौराष्ट्र' और 'बादर' का, भारतवर्ष की द. प. की जातियों के प्रसङ्ग में, एक साथ उल्लेख करता है (बृहतसंहिता)। अतएव ये 'बादर' अवश्य ही 'बदरी' के निवासी रहे होंगे। मैं समझता हूँ कि 'बदरी का नाम उस भूभाग को सूचित करता है जहाँ बदरी (बेर) के पेड़ बहुत हों। ये पेड़ दक्षिण राजपूताने में अधिक मिलते हैं। इसी कारण मैं इसी स्थान के आसपास प्राचीन 'सौवीर' को भी समझता हूँ क्योंकि 'सौवीर बदरी का दूसरा नाम है। 'साफिर' आजकल भी भारतवर्ष का (Coptic) काप्टिक नाम है; किन्तु यह नाम आरम्भ में हिन्दुस्थान के उसी किनारे का रहा होगा जहाँ पश्चिम के व्यापारी बहुत आते थे। इसमें बहुत कम सन्देह है कि यह खम्भात की खाड़ी ही थी जो अत्यन्त प्राचीन काल से भारतवर्ष और पश्चिम के बीच व्यापार की मुख्य जगह थी। यूनानी इतिहास के समस्त काल में यह व्यापार बरिगज़ा (Barygaza) वा भड़ौच के प्रसिद्ध नगर के सर्वथा आधीन था जो नर्मदा नदी के मुहाने पर है। चौथी शताब्दी के लगभग उसका कुछ अंश 'वल्लभी' की नई राजधानी में मिल गया। माध्यमिक काल में इस व्यापार में खाड़ी के सिरे पर खम्भात नगर भी सम्मिलित हुआ; और आजकल ताप्ती के मुहाने पर सूरत नगर ही इसका मुख्य केन्द्र है। यदि 'सौवीर' नाम वेर के पेड़ों ही के कारण पड़ा है तो 'मुझे सम्भव जान पड़ता है कि यह 'बदरी' वा 'ईदर' के प्रान्त का दूसरा नाम रहा होगा, जो 'खम्भात की खाड़ी' के ऊपर है। वास्तव में, रूद्रदाम के अनुसार सौवीर को इसी ठिकाने पर होना भी चाहिए, जो 'सिन्धु, सौवीर, को सौराष्ट्र और भारुकच्छ के थोड़े ही आगे, तथा 'कुक्कुर, अपरन्त और 'निषाद' के थोड़े ही इधर, बतलाता है। (gour. Bo. Br. R. As. Soc. vii 120)। इस प्रबन्ध के अनुसार →

पार्श्व के निवासी सोने और चाँदी की विस्तृत खानें खोदते हैं। इसके उपरान्त ओरेटुरे[1] (Oraturoe) हैं, जिनके राजा के पास केवल दश हाथी हैं, यद्यपि उसके पास पैदल सिपाहियों की बड़ी प्रबल सेना है। फिर इसके अनन्तर वरटेटे (Varetatae) हैं, जो ऐसे राजा की प्रजा हैं जो हाथी नहीं रखता, वरन् पूर्ण रीति से अपने घोड़े और पैदल पर भरोसा रखता है। फिर ओडम्बेरी (Odomboere) हैं;[2] सलबस्त्री (Salabastree) हैं; होरेटी[3] (Horatoe) हैं जिनके यहाँ एक सुंदर नगर ऐसे दलदलों से रक्षित हैं जो खाई का काम देते हैं, जिसमें घड़ियाल रक्खे जाते हैं, जो नर मांस के अधिक लोलुप होने के कारण, पुल को छोड़ सर्वत्र से नगर के भीतर का प्रवेश रोकते हैं। उनके एक दूसरे नगर, आटोमेल (Automela) की बड़ी प्रशंसा है, जो पाँच नदियों के संगम पर स्थित है और व्यापार की एक उत्तम मण्डी है। राजा 1600 हाथी 150000 पैदल, और 5000 अश्वारोहियों का स्वामी है। [4]"चार्मी' (Charmae) के छोटे राजा के पास केवल 60 हाथी हैं और उसकी दूसरी सेना भी क्षुद्र है। इसके अनन्तर पण्डी (Pandae) पड़ते हैं; यह भारतवर्ष में एक ही जाति है जो स्त्रियों से शासित होती है। वे कहते

---

→ 'सौवीर' अवश्य 'सौराष्ट्र' और भड़ोच के उत्तर तथा 'निषाद' के दक्षिण रहा होगा, अर्थात्, जैसा मैंने कहा है, आबू पहाड़ के आसपास ही होगा ; 'सौवीर' का यही ठिकाना विष्णुपुराण में भी लिखा है–Anc. Geog. of India pp. 496-497। See also 560-562 of the same work।

1. ओरेटुरे से अभिप्राय राठौर से है, जिन्होंने मुसलमानी विजय के पहिले भारतीय इतिहास में बड़े बड़े काम किए हैं। वे यद्यपि, गंगा के समीप आ बसे हैं, पर अपने पूर्वजों की भूमि अजमेर समझते हैं जो अरावली के पूर्वी छोर पर है।
2. ओडम्बेरी का नाम संस्कृत साहित्य में मिलता है क्योंकि पाणिनी उदम्बरी उस देश को बतलाते हैं जहाँ प्राचीन आख्यानों में प्रसिद्ध 'सल्व' जाति के लोग बसते थे जो प्लिनी के सलबस्त्री से मिल जाते हैं। उसने उनका नाम जो थोड़ा बढ़ा कर लिखा है वह केवल संस्कृत 'वस्त्य' को उसके साथ संयुक्त कर देने के कारण से, 'उदम्बरी' प्रान्त कच्छ में था। [प्रो. लेसन सलबस्त्री को जोधपुर ओर सरस्वती के मुहाने के मध्य स्थिर करते हैं, और 'होरेटी' को खम्भात की खाड़ी के सिरे पर। 'आटोमेल' का स्थान वे खम्भात ही बताते हैं। यूल सेन्ड्रबटीज (Sandrabatis) को उत्तरी गुजरात में चन्द्रावती के पास बताते हैं, किन्तु लैसन इन्हें टोंक के पास बनास के किनारे बताते हैं–
3. 'होरेटी' 'सोराठ' का अशुद्ध अवतरण है जो संस्कृत सौराष्ट्र का भ्रष्ट रूप है। अतएव 'होरेटी' उस देश के निवासी थे जिसका पेरिप्लस (Periplus) और प्लिनी ने सुरस्त्रेना (Surastrana) नाम लिखा है–अर्थात् गुजरात ओरोथ (Orrhoth) को कासमास ने भारतवर्ष के पश्चिम एक नगर का नाम कहा है जो 'सूरत' अनुमान किया गया है किन्तु यूल इसे पोरबन्दर के किनारे पर कहीं बतलाते हैं। आटोमेल (Automela) का पता ठीक नहीं लगता किन्तु सेंट मार्टिन इसे प्रसिद्ध वल्लभी बतलाते हैं।
4. 'चार्मी लोग महाभारत में वर्णित 'चर्म्मण्डल' और विष्णुपुराण में वर्णित पश्चिम में 'चर्म्मखण्ड' के निवासी अनुमान किए गए हैं। बुन्देलखण्ड और उत्तरी भारत के चर्मार वा चमार उनकी सन्तान हैं। 'पाण्डी', जो उनके पड़ोसी थे, अवश्य ही चम्बल नदी, (जिसका संस्कृत भूगोल में 'चर्मणावती' नाम है) बेसिन का अधिकांश छेके हुए थे। वे विख्यात पाण्डु जाति की एक शाखा थे, जिसने भारतवर्ष के कई भागों में राज्य स्थापित किए थे।

हैं कि हरक्यूलस (Hercules) ने अपनी एक मात्र कन्या को, जो इस हेतु और भी अधिक प्यारी थी एक उत्तम राज्य प्रदान किया। उसकी सन्तति 300 नगरों पर शासन करती है तथा 150,000 पैदल और 500 हाथियों पर आधिपत्य रखती है। फिर, 300 नगरवाले, सिरियनी (Syrieni,) डेरंगी (Derangae) पोसिंगी (Posingae) बुजी (Buzae) गोजियरी (Gogiarei) उम्ब्री (Umbrae) नेरिए (Nereae,) ब्रंकोसी (Brancosi,) नोबुन्दी (Nobundae,) को कोण्डी (Co-condae,) नेसई (Nesi,) पेडाटिरी (Pedatrirae,) सोलोब्रायसी (Solobriasae) ओलोस्ट्री (Olostrae,)[1] हैं, जो पटेले (Patele) द्वीप के सन्निकट हैं जिसके अन्तिम तट से कास्पियन (Caspian) द्वार तक की दूरी 1925 मील कही जाती है।[2]

फिर उस क्रम के अनुसार जिस पर चलना सहज है, इनके उपरान्त इण्डस सिन्ध का और 'अमेटी' (Amatae,) बोलिङ्गी (Bolingae,) 'गल्लितलुती' (Gallitalutae,) 'दिमुरी, (Dimuri,) 'मेगरी' (Megari,) ओर्डबी, (Ordabae,) 'मेसी' (Mesae,) पड़ते

---

1. इस सूची में दिए हुए नाम अरावली पव्वर्त और सिन्ध नदी के बीच की जातियों को सूचित करते हैं। इनमें से बहुतों का उल्लेख तो राजपूतों के इतिहास में है जिन्हें M. De. St. Martin इस प्रकार बताते हैं—'सिरियनी' लोग 'सुरियानी' हैं जो सिन्ध नदी के सन्निकट बक्कर के आसपास सदा से बसते आए हैं। 'डेरंगी' राजपूतों की एक शाखा 'झाड़ेजा' का लैटिन नामकरण है। ये झाड़ेजा आजकल कच्छ में बसे हैं (Tod's Rajasthan Vol. I. P. 86)। 'बुज़ी' बुद्द को सूचित करते हैं जो इसी 'झड़ेजा' की एक पुरानी शाखा है। गोजियरे (पाठान्तर Gogarasi गोगरसी, गोगरे (Gogarae) 'कोकरी' हैं, जो आज दिन धर वा लोअर सतलज के किनारे बसे हैं। 'उम्ब्री' से 'उम्रनी' का लक्ष्य होता है, और 'नेरिए' से कदाचित् 'न्हरोनी' का जो यद्यपि आजकल विलूचिस्तान में बसते हैं तथापि प्राचीन काल में उनका निवास सिन्ध नदी के पूर्व ही था। 'नुबटे' जिनकी सिन्ध की प्रचलित गाथाओं में बड़ी चर्चा है, कदाचित् 'नोवुन्दी' हों, और 'कोकोण्टी' तो निस्सन्देह ही महाभारत में उत्तर पश्चिम की जातियों के प्रसंग में वर्णित 'कोकनद' हैं—पर बकनन साहब गोरखपुर की एक ककंद जाति की ओर इङ्गित करते हैं।
2. दो नाके थे जो कास्पियन द्वार के नाम से विख्यात थे। एक अलबेनिया में था, और काकेसस की एक शाखा से बना था जो कास्पियन सागर में दूर तक चली गई थी। दूसरा जिसका यहाँ प्लिनी उल्लेख करता है उत्तर पश्चिमी एशिया से लेकर फारस के उत्तर पूर्व प्रान्तों तक एक संकीर्ण दर्रा (Pass) था। एरियन के अनुसार Anab ii 20) 'कास्पियन द्वार' मिडिया के 'रहगई' नगर से थोड़ी ही दूर है। रहगई का ठिकाना आजकल तेहरान (फ़ारस में) से एक वा दो मील दक्षिण रहा के खण्डहरों में मिलता है। यह दर्रा (Pass) प्राचीन भूगोल में बड़ाही प्रसिद्ध था और वहीं से बहुत सी याम्योत्तर (meridians) रेखाएँ नापी जाती थीं। स्ट्रेबो कहता है कि भारतवर्ष की अन्तिम छोर (कन्याकुमारी) से वह 14000 स्टेडिया है।

हैं; इनके अनन्तर 'उरी' (Uri) और 'सिलेनी' [1] हैं। चट इसके आगे ही 250 मील तक फैले हुए रेगिस्तान पड़ते हैं। इन्हें पार करने पर हमें आर्गङ्गा (Organgae,) अबमोर्टी (Abaortae,) सुऐर्टी, मिलते हैं, और इनके उपरान्त उतने ही विस्तृत रेगिस्तान जितने कि पहिले के। फिर सेरोफ़ेसिस (Sarophages,) सार्गी (Sorgae,) बरोमेटी (Bormat) तथा उम्ब्रिट्टी (Umbrittae) पड़ते हैं, जो बारह जातियों से संयुक्त हैं जिनके प्रत्येक के पास दो नगर हैं; और असेनी (Aseni,) जिनके पास तीन नगर हैं[2]। उनकी राजधानी ब्युसिफेला (Bucephala) है, जो उस स्थान पर बनी हैं जहाँ सिकन्दर का उसी नाम का प्रसिद्ध घोड़ा गाड़ा गया था[3]। इसके अनन्तर काकेसस् के नीचे बसे हुए 'सालिएडी,

---

1. पाणिनि के सूत्रों में 'भौलिङ्गी' का एक देश कहा है जिसमें 'सल्व' जाति की एक शाखा निवास करती थी, इसी लक्ष पर M. De. St. Martin ने 'बोलिङ्गी' को अरावली पर्व्वत के पश्चिमी उतार पर स्थिर किया है। टालमी भी बोलिङ्गी को यहाँ बताता है। पंजाह के मद्रभुजिंग (विष्णुपुराण) कदाचित् इसी जाति की एक शाखा थे। इसी ग्रन्थकार ने 'गल्लितलुती' को 'गहलत' वा 'गहलोत' से मिलाया है। डिमुरी को 'डुमरा' लोगों से जो सिन्ध के किनारे से उत्तर भारत की ओर जा बसे हैं; 'मेगरी' का राजपूत इतिहासों के 'मोकर' से जिनके नाम का अवशेष कदाचित् सिन्ध के 'मेहर', और पूर्वीय बिलूचिस्तान के 'मेघारी' में पाया जाता है; 'मेसी' को शिकारपुर और मिट्ठनकोट के बीच बसनेवाले 'मर्ज़ारा' लोगों से; 'उर' को वहाँ के 'हौरा' लोगों से—जो 'हुरें' के नाम से राजपूतों के छत्तीस राजकुलों में से एक हैं। उसी जाति के 'सुलाल' लोग कदाचित् 'सिलेनी' हों, जिनका प्लिनी उरी के साथ उल्लेख करता है।
2. इन जातियों का निवासस्थान उस स्थान से उत्तर रहा होगा जहाँ सिन्ध के साथ पंजाब की नदियों का संयुक्त धारा का सङ्गम है। ये ऊटपटाँग हैं और उनके नाम का पता ठीक ठीक नहीं चलता। 'सिबेरी' तो अवश्य ही महाभारत के सौबीर हैं, और जैसा कि उनके नाम के साथ सिन्ध का सम्बन्ध सूचित होता है, वे उसी नदी के तट पर बसते थे। 'अवओर्टी' से कदाचित् अफ़ग़ानों की 'अफ़रीदी' जाति से अभिप्राय हो, और 'सरोफ़ेजिस' से उसी समुदाय के राभान वा 'सरवानी' से। 'उम्ब्रिट्टी' और 'असेनी' हमें नदी के पूर्व ले जाते हैं। 'उम्ब्रिट्टी' तो जान पड़ता है कि सिकन्दर के इतिहासकारों के 'अम्बस्टी', और संस्कृत ग्रन्थों के 'अम्बस्थ' हैं', जो अकेसिनीज़ (चेनाब) के आसपास रहते थे।
3. सिकन्दर ने हाइडास्पिस (झेलम) के किनारे के महासंग्राम के अनन्तर, जिसमें उसने पोरस को हराया था, दो नगरों की नींव दी—एक ब्यूसिफ़ेला (Bucephala) वा ब्यूकिफ़ेलिया जो उसके प्रसिद्ध घोड़े (ब्यूसिफ़ेलस) के नाम पर बसाया गया, दूसरा 'निकेइया' (Nikaia) जो उसकी विजय के उपलक्ष में निर्मित हुआ। यह तो भलीभाँति विदित है कि 'निकेइया' युद्धस्थल ही पर निर्मित हुआ था अतएव उसका ठिकाना हाइडास्पिस के बाएँ किनारे पर रहा होगा। कदाचित् उस स्थान पर जहाँ आजकल 'माँग' है। ब्यूसिफ़ेला का पता बताना इतना सहज नहीं है। प्लूटार्क और प्लिनी के अनुसार यह हाईडास्पिस के समीप उस स्थान पर था जहाँ ब्यूकिफ़ेलस गाड़ा गया था। यदि यह मान लिया जाय तो उसे नदी के उसी पार्श्व में होना चाहिए जिसमें 'निकेइया' स्थित था। किन्तु स्ट्रेबो तथा और दूसरे ग्रन्थकार उसे नदी के दूसरे तट पर बताते हैं। स्ट्रेबो उसे उस स्थान पर स्थिर करता है जहाँ से सिकन्दर नदी पार हुआ था; और एरियन कहता है कि वह उस भूभाग पर निर्मित हुआ था जहाँ उसके डेरे पड़े थे। जनरल कनिंगहाम उसे जलालपुर में स्थिर करते हैं जो झेलम से तीस मील ऊपर है और वर्नेस, जनरल कोर्ट तथा जनरल अबट इसका अनुमोदन करते हैं। जलालपुर 'दिलावर' से लगभग 10 मील के है जहाँ से, ज. कनिंगहाम के मतानुसार, सिकन्दर ने नदी को पार किया था।

(Soleadae) और सोन्ड्री' (Sondrae) आदि पहाड़ी लोग हैं; और यदि हम इण्डस के दूसरे किनारे पर उतर जाते हैं, और उसका मार्ग पकड़े नीचे की ओर जाते हैं तो हम 'समरब्रिई' (Samarabriae) सम्ब्रुसेनी (Sambruseni,) बिसम्ब्रिती (Bisambritoe) ओसियाई (Ocii,) अंटिक्सेनी (Antixeni) तथा एक प्रसिद्ध नगर युक्त टैक्सिली (Taxillae) मिलते हैं[1]। इसके उपरान्त अमन्द [2] नाम से परिचित देश का एक चौरस खंड पड़ता है, जिसके ऊपर जातियाँ संख्या में चार हैं—पिउकोलैटी (Peucolaitae), अर्सगलिटी (Arsagalitae), जिरेटी (Geretae) और असोई (Asoi)। पर, बहुतेरे ग्रन्थकार इण्डस नदी को भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा नहीं बताते, वरन् 'कोफ़ेस' (Ceophes) नदी को उसकी अन्तिम सीमा बनाकर उसके अन्तर्गत चार साम्राज्यों

---

1. 'सोलिएडी' और 'सोन्ड्री' का पता नहीं चलता, और उन जातियों में से जो सिन्ध नदी के पूर्व स्थित की गई हैं केवल 'टैक्सिली' ही ज्ञात है। उनकी राजधानी विख्यात टैक्सिला थी, जिसको सिकन्दर ने निरीक्षण किया था। ज. कनिंगहाम कहते हैं "इस नगर का ठिकाना अब तक अज्ञात है, एक तो प्लिनी की दी हुई अशुद्ध दूरी के कारण और दूसरे उन विस्तृत खंडहरों के विषय में जानकारी न होने के कारण जो 'शाहढेरी' के पास अब तक बने हैं। प्लिनी की समस्त प्रतियाँ यह कहने में सहमत हैं कि टैक्सिला, पिउकोलैटिस (Peucolaitis) वह हष्टनगर से केवल 60 रोमन अथवा 55 अँगरेज़ी मील पर है, जिससे उसका ठिकाना हसन-अब्दाल के पश्चिम हारो नदी के तट पर कहीं स्थिर होता है जो सिन्ध नदी से दो दिन की राह है। किन्तु चीनी पीरब्राजक के यात्रा-विवरण उसे सिन्ध नदी के पूर्व तीन दिन की राह, अथवा काल-का-सराय के पड़ोस में, बताने में सहमत हैं। अतएव वह उसका ठिकाना शाहढेरी के निकट (जो उपर्युक्त सराँय से एक मील उ. पू. है) स्तूप, मठ और मन्दिरों से मण्डित एक सुदृढ़ नगर के खंडहरों में निर्धारित करता है। इस स्थान से हष्टनगर 74 अँगरेजी मील है अथवा प्लिनी के अटकल से 19 मील अधिक। टैक्सिला संस्कृत का 'तक्षशिला' है, जिसका पाली रूप तखसिला है जिससे यूनानी रूप लिया गया है। (Anc. Gog. of Ind. p. 104.)
2. चूँकि 'अमन्द' नाम नितान्त अज्ञात है, M. De. St. Martin बिना आगा पीछा किए उसका शुद्ध नाम गन्धार इस आधार पर बताते हैं कि अमन्द की निर्वाचित भूमि गन्धार से मिल जाती है। पिउकोलिटी जिस देश में बसते थे वह इसी गन्धार का एक भाग था जैसा कि और ग्रन्थकारों से हमें विदित होता है। जिरेटी तो बिना किसी सन्देह का एरियन का गौरेई (Gouraei) है; और 'असोई' कदाचित् अस्पसिआई से मिलते हैं, जिन्हें स्ट्रेबो ने 'हिप्पसिआई' वा 'पसिआई' लिखा है। 'अर्सगलिटी' का नाम तो केवल प्लिनी ही लेता है। यह नाम, जान पड़ता है कि एक ही भूभाग में बसी हुई दो जातियों को सूचित करता है—एक टालमी द्वारा वर्णित 'अर्स', जिससे संस्कृत 'उरश' की ओर संकेत है, और दूसरी 'घिलिट' वा 'घिलघिट' जो पूर्वोक्त संस्कृत की 'गहलत' है।

को संयुक्त करते हैं—जिड्रोसी (Gedrosi,) अरचोटी (Arachotae,) एरिआई (Arii,) पैरोपेमिसेडी[1] (Paropamisadae,), यद्यपि दूसरे लोग इन सबको एरिआई के अन्तर्गत मानना पसन्द करते हैं।

बहुत से ग्रंथकार आगे और भारतवर्ष में 'निसा' (Nysa) नगर, तथा पिता बैक्चस (Bacchus) के पवित्र मेरुस (Merus) पर्वत को भी जहाँ से इस कथा की उत्पत्ति है कि वह ज्यूपिटर के जंघे से उत्पन्न हुआ था, सम्मिलित करते हैं।

वे आगे 'अस्टकनी' (Astacani) को भी मिलाते हैं, जिनके देश में अंगूर और (Laurel) लारल और (Box-wood) शमशाद तथा हर प्रकार के फल के पेड़ जो यूनान में मिलते हैं बहुतायत से उपजते हैं। विलक्षण और प्रायः कल्पित विवरण जो उसकी भूमि की उर्वरता के विषय में तथा उसके फलों और पेड़ों, उसके पशु पक्षी तथा दूसरे जन्तुओं के स्वभाव के विषय में प्रचलित हैं वे इस ग्रंथ के दूसरे भागों में यथास्थान रक्खे जायँगे। थोड़ा आगे चलकर मैं सत्रपों (साम्राज्यों) के विषय में कहूँगा, किन्तु 'टैप्रोवेन' द्वीप पर मेरे सहसा ध्यान की आवश्यकता है।

किन्तु प्रथम इसके कि हम इस द्वीप पर आवें कई दूसरे हैं, जिनमें एक पटेल (Patale) है, जो जैसा हमने सूचित किया है, इंडस के मुहाने पर स्थित है, त्रिभुजाकार है और चौड़ाई में 220 मील है। इंडस के मुहाने के आगे 'क्रिसी' (Chryse) और

---

1. 'जिड्रोसिया' से कदाचित् उसी जिले का ग्रहण होता है जो आजकल 'मेकरान' के नाम से विदित है। भारतीय चढ़ाई से लौटते समय सिकन्दर इसी स्थान से होकर गया था। 'अरकोशिया' आजकल के सुलेमान पहाड़ से लेकर जिड्रोसिया तक दक्षिण की ओर फैला हुआ था। उसकी राजधानी अरकोटस कहीं कन्दहार की ओर स्थित थी। कर्नल रालिंसन (Colonel Rawlinson) के अनुसार अरकोसिया नाम हरखवती (संस्कृत 'सरस्वती') से निकला है और उसका अवशेष अरबी शब्द 'रखज' में है। यह 'बिसुतुन' के शिलालेख का 'हरौवत' है। 'एरिया', मशद और हेरात के बीच के देश को सूचित करता था; एरियाना जिसका, कि वह एक भाग था और जिसके पर्य्याय की भाँति वह कभी कभी व्यवहृत होता है, अधिक बड़ा प्रान्त था जिसके अन्तर्गत समस्त प्राचीन पारस था। बिसुतुन के शिलालेख के पारसी विभाग में 'एरिया' 'हवीरी' के नाम से प्रगट हुआ है और बाबिलोनियन विभाग में 'अरेवन' के नाम से प्रगट है। पैरोपेमिस और कोफ़स के विषय में देखो Ind. Ant. Vol.V p. 329.

'अर्जिरी' (Argyre) हैं[1] जो जैसा मैं विश्वास करता हूँ धातुओं के धनी हैं। क्योंकि मैं झटपट यह नहीं विश्वास कर सकता, जो कुछ ग्रन्थकारों द्वारा कहा गया है कि उनकी भूमि सोने और चाँदी से आच्छादित है। इनसे 20 मील की दूरी पर 'क्रोकेला'[2] स्थित है, जहाँ से बारह मील की दूरी पर 'बिबगा' है जो सीपों तथा और दूसरे घोंघो से भरा है। इसके उपरांत उल्लेख के अयोग्य बहुतों के अतिरिक्त उपर्युक्त द्वीप से नौ मील दूर 'टोरल्लिबा' (Toralliba) पड़ता है।

---

1. इस नाम के पाठान्तर 'अस्पग़नी' तथा 'अस्पगोनी' भी हैं। M. De. St. Martin. कहते हैं "हम पहिले देख चुके हैं कि प्राचीन हेकाटिआस (Hekataios) के एक प्रकरण में 'कैस्पापैरस' (Kaspapyros) नगर को गण्डारिक (गान्धारीय) नगर कहा है, और हेरोडोटस ने उसी स्थान को (Paktyi) 'पैकटी' में बताया है। मैंने यह भी कहा है कि यह विरोध केवल देखने ही में जान पड़ता है क्योंकि गान्धार और (Paktyi) एक ही देश है। हेरोडोटस के इस 'पैकटी' नाम से अफ़गान लोगों के प्राचीन 'पखतू' (बहुवचन पखतुन) नाम का पता लगा लेना कोई कठिन नहीं है। अफ़गान लोग अब तक अपनी जाति को सूचित करने के लिए इसी नाम का व्यवहार करते हैं, और अपनी जातीय बोली का यही नाम बताते हैं। हम अफ़गानों की उपस्थिति, जैसा लैसन ने कहा है, ईस्वी शताब्दी से कम से कम 500 वर्ष पहिले उनकी मातृभूमि में देखते हैं। अब चूँकि अफ़गान वा 'पख्त' जाति का मुख्य स्थान इण्डस (सिन्ध) नदी के पश्चिम (जोकि उसकी सीमा है) (Cophes) कोफ़िस नदी के मैदान में है, इससे जो हम पहिले कह आए हैं वह बात और भी दृढ़ होती है कि कैस्पपैकस (Kaspapycas) वा कश्यपपुर (हिकेटैअस Hekataios का गण्डारी) का ठिकाना सिन्ध नदी के पश्चिम ढूँढ़ना चाहिए। एक ही देश को सूचित करने के लिए फिर ये दो नाम क्यों हैं? इसका कारण यह है कि एक तो उस देश का भारतीय नाम है और दूसरा उसका वहीं के निवासियों का दिया हुआ नाम है। गान्धार को सूचित करने के लिए एक दूसरा संस्कृत नाम 'अश्वक' था। इस शब्द का अर्थ अश्वारोही वा सवार होता है। यह नाम जातीय नहीं था वरन् पंजाब के निवासी लोग कोफिस (Kophes) देश के लोगों को इसी नाम से पुकारते थे क्योंकि वह देश अत्यन्त प्राचीन काल से घोड़ों के लिए प्रसिद्ध था। बोलचाल में संस्कृत अश्वक 'अस्सक' हो गया जो थोड़े से परिवर्तन के साथ सिकन्दर की चढ़ाई के इतिहासों में 'अस्सकनी' वा 'अस्सकेनी' (Assakeni) के रूप में प्रगट हुआ है। यहाँ अफ़गान नाम का पता लगा लेना कोई कठिन नहीं है क्योंकि वह 'अस्सकान' का विकृत रूप प्रत्यक्ष है। इन लोगों को (एरियन तथा और दूसरे सिकन्दर के इतिहास लिखनेवालों को) न तो हिकेटैपस का 'गण्डारी' और न हेरोडोटस का 'पैक्टी' ही नाम ज्ञात था, पर चूँकि यह और 'अस्संकनी' एक ही देश के नाम हैं और व्यवहार में 'अफ़गान' और 'पखतुन' शब्द पर्यायवाची हैं इससे इन सबके एक होने में कोई सन्देह नहीं है।" 'गान्धार का नाम अत्यन्त प्राचीन है यह ऋग्वेद में भी आया है।
2. कराची की खाड़ी में जो टालमी का 'कोलका' (Kolaka) है। वह ज़िला जिसमें कराची स्थित है अब तक 'करकल्ला' कहलाता है।

## खंड 56 (ख)

## Solin 52. 6-17

# भारतीय जातियों की सूची

हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी नदियाँ गंगा और इण्डस हैं, और इनमें से कोई कोई कहते हैं कि गंगा बेजाने हुए उद्गमों से निकलती है, और नाइल के ढंग पर देश को तराबोर करती है, पर दूसरे यह विचारने में झुके हैं कि वह स्कीदियन पर्वतों से निकलती है। [उत्कृष्ट नदी हाइपेनिस भी वहीं है जो कि सिकन्दर की चढ़ाई की सीमा थी, जैसा कि उसके तट पर उठाई हुई वेदियाँ प्रमाणित करती हैं[1]] गंगा की सबसे कम चौड़ाई आठ मील है और सबसे अधिक बीस। उसकी गहराई जहाँ वह अत्यन्त छिछली है पूरी सौ फ़ीट है। लोग जो अत्यन्त दूर स्थित भाग में रहते हैं गंगरिडीज (Gangarides) हैं, जिनके राजा के पास 1000 घोड़े, 700 हाथी, और 60000 पैदल युद्ध यन्त्र के साथ हैं।

भारतवासियों में कोई भूमि जोतते हैं, बहुतेरे तो युद्ध के अनुगत हैं और बहुतेरे व्यापार के। सबसे उच्च और धनाढ्य राजकाज का प्रबन्ध करते हैं, न्याय विचारते हैं, और राजा के साथ सभा में बैठते हैं। एक पाँचवाँ वर्ग भी बुद्धि के हेतु सबसे अग्रगण्य उन लोगों का है जो, जब जीवन से उकता जाते हैं तब एक जलती हुई चिता पर बैठ कर मृत्यु बुलाते हैं। पर वे जो कठोर सम्प्रदाय के विरागी हो गए हैं, और अपना जीवन जंगलों में बिताते हैं, हाथी बझाते हैं, जिसको, जब वह बिलकुल पालतू और सीधा हो जाता है, वे जोतने और चढ़ने के काम में लाते हैं।

गंगा में एक अत्यन्त आबाद द्वीप है जो एक बड़ी शक्तिमती जाति से बसा है, जिसका राजा 50000 पैदल, और 4000 घोड़े शस्त्रों से सुसज्जित रखता है। यथार्थ में कोई राज्यशक्ति से समन्वित व्यक्ति कभी अपनी सेना को बिना बहुसंख्यक हाथियों, पैदल तथा अश्वारोहियों के नहीं रखता।

प्रेसियन जाति, जो अत्यन्त शक्तिमान है, पैलिबोट्रा नामक नगर में बसती है, जिससे कोई कोई उस जाति ही को पालिबोट्री कहते हैं। उनका राजा प्रत्येक समय अपने वेतन से 60000 पैदल, 30000 घोड़े, और 8000 हाथी रखता है।

---

1. देखो Arrian's Anal. V. 29 जहाँ पर लिखा है कि सिकन्दर ने अपनी सेना को जुदे जुदे भागों में बाँटकर उन्हें हाइफेसिस के किनारे पर बारह वेदियाँ ऊँचाई में सबसे उँचे धरहरों के बराबर, और चौड़ाई में उनसे भी अधिक बनाने की आज्ञा दी। कर्टियस (Curtius) से हमें ज्ञात होता है कि वे चौखूँटे शिलाखंडों की बनाई गई थीं। उनके ठिकाने के विषय में बड़ा विवाद है, किन्तु वह अवश्य (Sopithes) सापिथीज़ की राजधानी के निकट रहा होगा, जिनके नाम को प्रो. लैसन् ने संस्कृत 'अश्वपति' से मिलाया है। रामायण के 12 अध्याय के अनुसार इन अश्वपति राजाओं की भूमि 'विपाश' (हाइफेसिस् वा ब्यास) नदी के दाहिने वा उत्तरीय किनारे पर, उस नदी (ब्यास) तथा इरावती के मध्यवर्ती दोआब के पहाड़ी भाग में थी। वाल्मीकि के काव्य में उनकी राजधानी को 'राजगृह' कहा है, जो अब तक 'राजगिरि' के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ से थोड़ी दूर पर 'सिकन्दरगिरि' नाम की पहाड़ियों की एक श्रृंखला है।

पालिबोट्रा के आगे [1]मल्यौस (Maleus) पर्वत है जिस पर छः महीने के अन्तर पर छाया जाड़े में उत्तर की ओर और गरमी में दक्षिण की ओर पड़ती है। उस देश में सप्तर्षि केवल वर्ष में एक बेर दिखाई देते हैं, और वह भी पन्द्रह दिन से अधिक के लिए नहीं, जैसा कि 'बेटन' (Beton) हमें सूचित करता है, जो मानता है कि यह भारतवर्ष के कई भागों में होता है। वे जो इंडस के निकट उन देशों में रहते हैं जो दक्षिण ओर घूमे हैं दूसरे की अपेक्षा गरमी से अधिक झुलसे हैं, और कम से कम उनकी रंगत पर प्रत्यक्षतः सूर्य्य की महती शक्ति का प्रभाव पड़ा है। पर्व्वतों पर बौनों का निवास है।

किन्तु जो लोग समुद्र के निकट रहते हैं वे कोई राजा नहीं रखते।

पांडियन् जाति स्त्रियों द्वारा शासित होती है, और उनकी पहिली रानी हरक्यूलीज़ (Hercules) की पुत्री कही जाती है। 'नैसा' (Nysa) का नगर इसी देश में बताया जाता है, जैसा कि मेरस (Meros) नाम का ज्यूपिटर का पवित्र पर्वत एक कन्दरा में है जिसमें पुराने भारतवासी कहते हैं कि पिता बेकस (Bacchus) पाला गया था; और इसी नाम ने उस प्रसिद्ध भ्रान्तिपूर्ण कथाओं की उत्पत्ति है कि बेकस (Bacchus) अपने पिता के जंघे से उत्पन्न हुआ था। इण्डस के मुहाने के आगे 'क्रिसी' और 'अर्जिरी' दो द्वीप हैं, जो धातुओं की इतनी प्रचुर आय प्रदान करते हैं कि बहुतेरे ग्रन्थकारों ने उनकी भूमि ही को सोने और चाँदी की कहा है।

## खंड 57

Polyoen-Strateg. 1-1, 1-3.

# डायोनिसस् के विषय में

### (मिलाओ संग्रह 25 इत्यादि)

डायोनिसस् ने भारतवासियों के विरुद्ध चढ़ाई में इस हेतु जिसमें नगर उसका खुशी से स्वागत करे उन अस्त्रों को जिनसे उसने अपनी सेनाओं को सुसज्जित किया था छिपा दिया था, और उन्हें कोमल वस्त्र और मृगचर्म्म पहिना दिया था। भाले इश्कपेचों (लता) से लपेटे हुए थे और (Thrysus) की नोंक तेज़ थी। वह युद्ध की घोषणा तुरही के स्थान पर झाँझ और ढोल से करता था, और शत्रु को मद्य. से अनुरञ्जित करके उसने उनके ध्यान को युद्ध से नृत्य की ओर फेर दिया था। ये तथा और दूसरे वैकिक उपचार उस युद्धशैली में व्यवहत हुए थे जिससे उसने भारतवासियों तथा शेष समस्त एशिया को परास्त किया था।

---

1. कदाचित् जैसा यूल साहब ने कहा है, दमोदा के निकट पारसनाथ जो क्रान्तिवृत्त (Tropic) से दूर नहीं हैं। Vide Ind. Ant VI P., 127 note. 'मल्ली' को जिनके देश में यह पर्वत था। एरियन द्वारा वार्गत पंजाब के 'मरती' के साथ गड़बड़ न करना चाहिए।

डायोनिसस् ने, अपनी भारतीय चढ़ाई के बीच, यह देखकर कि उसकी सेना वायु की दाहक तपन को नहीं सहन कर सकती भारतवर्ष के तीन शिखरवाले एक पर्वत को बलात् अधिकार किया। इन शिखरों में से एक कोरसिबिए (Korasibie) कहलाता है, दूसरा 'कोंडस्क' (Kondaske), पर तीसरे को स्वयं उसने अपने जन्म के स्मारक में 'मेरोस' (Meros) का नाम दिया। उन पर पीने में मीठे बहुत से पानी के झरने थे, अहेर बहुतायत से था, पेड़ों के फल अत्यन्त अधिकता के साथ थे, और हिम था जो शरीर को नई उत्तेजना देता था। वहाँ पर ठहरी हुई सेनाएँ मैदान के बर्वरों पर एकबारगी टूट पड़ीं और उन्हें सहज में काट डाला, क्योंकि वे पहाड़ियों पर एक ऊँचे स्थान से उन पर क्षेपणीय शस्त्रों से आक्रमण करती थीं।

[डायोनिसस् ने भारतवासियों को जीतने के उपरान्त अपने साथ सहायकों की भाँति भारतवासियों और अमेज़न (Amazons) लोगों को लेकर, बैक्ट्रिया पर चढ़ाई की। उस देश की सीमा सरंजीसस्[1] (Saranges) नदी थी, बैक्ट्रियन लोगों ने उस नदी के ऊपर के पर्व्वतों को इस अभिप्राय से अधिकृत कर लिया जिससे वे डायोनिसस् पर, उसे पार करते समय, एक अच्छे स्थान से आक्रमण करें। पर चूँकि वह नदी के किनारे डेरा डाले हुए था, उसने 'अमेज़न' और 'बक्खई' (Bakkhae) लोगों को उसे पार करने की आज्ञा दी, जिसमें बैक्ट्रियन लोग, स्त्रियों के प्रति घृणा के कारण पहाड़ियों पर से नीचे उतरने के लिए उतारू हों। स्त्रियाँ तब नदी को पार करने के लिए बढ़ीं और शत्रु पहाड़ी से नीचे उतरे और नदी की ओर बढ़ कर उन्हें मार कर पीछे हटा देने का प्रयत्न करने लगे। स्त्रियाँ तब पीछे हटीं, और बैक्ट्रियन लोगों ने उनका किनारे तक पीछा किया; तब डायोनिसस् ने, अपने आदमियों के साथ रक्षा के निमित्त आकर, बैक्ट्रियनों का बध किया जोकि प्रवाह के कारण लड़ाई करने से रुक जाते थे; और उसने नदी को कुशलपूर्वक पार किया।

## खंड 58

Plyaen Strateg. 1. 3-4.

# हरक्यूलीज़ और पांडिए के विषय में

हरक्यूलीज़ को भारतवर्ष में एक कन्या हुई जिसका उसने 'पंडेइया' नाम रक्खा। उसने उसे भारतवर्ष का वह भाग प्रदान किया जो दक्षिण ओर है और समुद्र तक फैला हुआ है, और अपने शासन के आधीन लोगों को 365 गाँवों में यह आज्ञा देकर बाँटा कि एक गाँव प्रत्येक दिन खज़ाने में राज कर दिया करें; जिसमें रानी को उन लोगों को दबाने के लिए जो देने में त्रुटि करें सदा उन लोगों की सहायता मिलती रहे जिनकी कर देने की पारी हुआ करे।

1. See Ind, Ant, Notes to Arrian in vol-V.p. 332.

## खंड 59

# भारतवर्ष के पशुओं के विषय में

Aelian, Hist. Anim. XVI. 2-22.[1]

(2) भारतवर्ष में मैं सुनता हूँ कि पक्षी पाए जाते हैं जो तोते कहलाते है; और यद्यपि निस्सन्देह मैंने पहिले ही उनका वर्णन किया है, तथापि जो कुछ पहिले उनके विषय में कहना मैंने छोड़ दिया है वह यहाँ बड़ी उपयुक्तता के साथ रक्खा जो हो सकता है। मुझे ज्ञात हुआ है कि उनकी तीन जातियाँ हैं, और ये सब यदि बोलना सिखाए जायँ, जैसे लड़के सिखाए जाते हैं, तो लड़कों ही की भाँति बकवादी हो जाते हैं और मनुष्य की बोली में बोलते हैं; किन्तु जंगलों में वे पक्षियों की भाँति चिल्लाते हैं, और न कोई स्पष्ट और सुरीला स्वर निकालते हैं, न जंगली और अशिक्षित रहने के कारण, बातचीत कर सकते हैं। भारतवर्ष में मोर भी होते हैं जो उन सबसे बड़े होते हैं जो और कहीं मिलते हैं तथा हलके हरे रंग के पेड़ुखे भी होते हैं। वह जो पक्षी विद्या में भली प्रकार निपुण नहीं है इन्हें पहिले पहिल देखकर तोते समझेगा कबूतर नहीं। चोंच और टाँगों के रंग में वे यूनानी तीतरों से मिलते हैं। मुर्ग़े भी होते हैं जो असाधारग डील के होते हैं, और उनकी शिखा लाल नहीं होती जैसी और स्थानों किम्वा हमारे देश में, किन्तु उनके फूल की तरह मुकुट होते हैं जिनकी शिखा कई रंगों की बनी होती है। उनके पुट्ठे पर न तो पेचीले और न मरोड़े हुए होते हैं, पर वे बड़ी चौड़ाई के होते हैं, और वे उन्हें उसी ढंग से फैलाते हैं जैसे मोर अपनी पूँछ को फैलाते हैं। इन हिन्दुस्तानी मुर्गों के पर रंग में सुनहले तथा मरकत की भाँति गाढ़े-नीले भी होते हैं।

(3) भारतवर्ष में एक और विलक्षण चिड़िया पाई जाती है। यह तिलहर (Starling) के डील की होती है और चितकबरे रंग की होती है, और उसे मनुष्य की बोली के स्वर उच्चारण करना सिखाया जाता है। यह तोते से भी अधिक वाचाल, तथा स्वाभाविक चतुराई में बढ़कर होती है। यह मनुष्यों के अधीन रहकर प्रसन्नता के साथ उनके द्वारा चुंगाए जाने से इतना दूर भागती है और स्वतन्त्रता से इतना

---

1. "इस खंड में बहुत से प्रकरण ऐसे मिलते हैं जो मेगास्थिनीज़ से लिए हुए जान पड़ते हैं। यह विचार, यद्यपि किसी प्रकार से दृढ़ प्रमाणों द्वारा सन्देह से रहित नहीं कहा जा सकता, पर कई कारणों से यह कुछ सम्भव जान पड़ता है। क्योंकि पहिले तो, ग्रन्थकार भारतवर्ष के आन्तरिक भागों का ज्ञान असाधारण सूक्ष्मता के साथ रखता है। और फिर वह कई बेर प्रेसिआई और ब्राह्मणों का उल्लेख करता है। और अन्त में इस बात में कदाचित् ही कोई सन्देह करे कि इस खंड के मध्य में के कुछ प्रकरण मेगास्थिनीज़ से लिए गए हैं। इसलिए इस सन्देह के रहते, मैंने इस बात का ध्यान रक्खा है कि यह समस्त खंड मेगास्थिनीज़ के संग्रह के अन्त में छापा जाय—(Schwanbeck)

अनुराग रखती है तथा मनमाने अपने साथियों के संग में कुहकने की ऐसी इच्छा रखती है कि उत्तम उत्तम भोजन से संयुक्त दासत्व की अपेक्षा भूखों मरना पसन्द करती है। यह उन मेसिडोनियों द्वारा 'कर्किओन' कहलाता है जो 'बौकेफेंला के नगर में तथा उसके आस पास और 'कुरुपोलिस' (Kurupolis) तथा उन दूसरे नगरों में जिन्हें फ़िलिप के पुत्र सिकन्दर ने निर्मित किया था, बस गए थे। मैं विश्वास करता हूँ कि इस नाम का मूल इस बात में है कि यह चिड़िया अपनी पूँछ उसी ढंग से हिलाती है जैसे एक प्रकार की जलचिड़िया।

(4) मैं आगे और सुनता हूँ कि भारतवर्ष में एक 'केलस' (Kelas) कहलानेवाली चिड़िया होती है, जो पेरू से डील में तिगुनी होती है और असाधारण परिमाण की चोंच और लम्बी टाँगें रखती है। यह चमड़ें की थैली से मिलते जुलते एक बड़े झोंझ से भी संयुक्त रहती है। बोली जो यह बोलती है अत्यन्त कर्कश होती है। पंख इसके ख़ाकी रंग के होते हैं, केवल नोंक पर रोएँ पीले रंग के होते हैं।

(5) मैं और भी सुनता हूँ कि हिन्दुस्तानी हूपो (Hoopoeenona) हमारे से डील में दूना और स्वरूप में अधिक सुन्दर होता है, और होमर कहता है कि जैसे घोड़े की लगाम और साज 'हेलनिक' (Helenic) राजाओं के दिल बहलाव हैं वैसे ही यह हूपो (Hoopoe) भारतवासियों के राजा का प्यारा खिलौना है, जो उसे अपने हाथ पर लिए रहता है, और उसके साथ खेलता है, और उसके चमत्कार तथा उस सौन्दर्य्य की ओर जिससे प्रकृति ने उसे भूषित किया है, आल्हाद के साथ निहारने से कभी नहीं थकता। अतएव, ब्राचमनीज़ लोग यहाँ तक कि इस पक्षी विशेष को एक अलौकिक कहानी का विषय बनाते हैं, और उसकी जो कहानी कही जाती है इस प्रकार है—भारतवासियों के राजा को एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उस लड़के के बड़े भाई थे, जो जब युवावस्था को पहुँचे, बड़े अन्यायी और अत्यन्त दुष्ट निकले। वे अपने भाई का अपमान करते थे क्योंकि वह सबसे छोटा था; और अपने माता पिता का भी वे ठट्ठा करते थे। इनका वे इस कारण अपमान करते थे कि वे बहुत बूढ़े और श्वेतकेश थे। अतः वह लड़का और उसके बूढ़े माता पिता इन बुरे आदमियों के साथ अधिक दिन तक न रह सके, और वे सब तीनों एक साथ घर से भाग निकले। इस लम्बी यात्रा के बीच जो उन्हें करनी पड़ी, वृद्ध लोग थकावट से गिर गए और मर गए, और उस लड़के ने उन्हें कुछ कम श्रद्धा नहीं दिखाई वरन् अपना सिर तलवार से काट कर उन्हें अपने में गाड़ दिया। फिर जैसा कि ब्राचमनीज़ लोग कहते हैं सर्वदर्शी सूर्य्य ने इस उत्कृष्ट पुण्य के कार्य्य की प्रशंसा में उस लड़के को पक्षी के रूप में परिवर्तित कर दिया, जो देखने में अत्यन्त सुन्दर होता है, और जो बहुत दीर्घ अवस्था तक जीवित रहता है। सो उसके सिर पर एक शिखा निकली जो मानो उसकी स्मारक थी जो उसने अपने भागने के समय किया था। अथीनियन लोगों ने भी चोटीवाली लवा की कहानी में कुछ कुछ इसी प्रकार की अद्भुत बातें वर्णन की हैं; और मुझे

जान पड़ता है कि विनोदशील कवि आरिस्टोफ़ेनीज़ (Aristophanes) ने वहाँ इसी कहानी का अनुकरण किया है जहाँ वह 'पक्षी' के विषय में कहता है, "क्योंकि. तू अज्ञानी था और नईसाप से सदैव रगड़ किया था और न सदा उसे घोंटा था जिसने चोटीवाली लवा की बात कही है, और उसे सब चिड़ियों में प्रथम बताया है क्योंकि वह पृथ्वी होने से पहिले ही उत्पन्न हुई थी; और कहा है कि किस प्रकार पीछे से उसका पिता बीमार हुआ और मर गया, और किस प्रकार वह पाँचवें दिन तक बेगाड़े पड़ा रहा क्योंकि पृथ्वी तब नहीं थी, जब कि उसकी कन्या ने, और कहीं समाधिस्थल पाने में असमर्थ होकर अपने सिर ही में उसके लिए एक कब्र खोदी"।

अतः यह सम्भव जान पड़ता है कि यह कहानी, यद्यपि इसका पात्र एक भिन्न पक्षी है भारतवासियों से निकली और आगे यूनानियों तक फैल गई। क्योंकि ब्राचमनीज़ लोग कहते हैं कि बहुत काल बीता जब हिन्दुस्तान हूपो (Hoopoe) ने, जो तब मनुष्य के स्वरूप में और वय में अल्प था, अपने माता पिता के प्रति यह पुण्य का कार्य किया था।

(6) भारतवर्ष में स्थल पर के घड़ियाल से स्वरूप में बहुत मिलता जुलता और कुछ कुछ माल्टीस (Maltise) कुत्ते से लगभग डील का एक पशु होता है। यह सर्वत्र पपरीले चमड़े से ढका होता है, जो इतना खुरखुरा और ठोस होता है कि जब उधेड़ा जाता है तब यह भारतवासियों द्वारा रेती की भाँति काम में लाया जाता है। यह पीतल छेदता है और लोहा काट डालता है। वे इसे फ़टेजिस (पपरीला पिपीलिकाभक्षक) कहते हैं।

(8) भारतीय सागर सामुद्रिक सर्प उत्पन्न करता है जिनके चौड़ी पूँछ होती हैं, और झीलें प्रकांड डीलडौल के जलजन्तु (Hydras) उत्पन्न करती हैं; किन्तु ये सामुद्रिक सर्प विषैले की अपेक्षा अधिक तीव्र क्षत पहुँचाते हुए जान पड़ते हैं।

(9) भारतवर्ष में जंगली घोड़ों तथा जंगली गधों के झुण्ड होते हैं। वे कहते हैं कि घोड़ियाँ गधों द्वारा ढँका जाना अङ्गीकार करती हैं और ऐसे प्रसंग से प्रसन्न होती हैं, और खच्चर बियाती हैं जो लाल रंग के और बड़े फुरतीले होते हैं, किन्तु जूए से घबड़ाते हैं तथा और बातों में भी चंचल होते हैं। वे कहते हैं कि इन ख़च्चरों को फन्दे से पकड़ते हैं, और तब उन्हें प्रेसियन लोगों के राजा के पास ले जाते हैं; यदि ये जब दो ही बरस के होते हैं तभी पकड़े जाते हैं तब तो निकाले जाने में कोई बाधा नहीं करते, पर यदि वे जब उस अवस्था के ऊपर हो जाते हैं और पकड़े जाते हैं तब वे तीक्ष्ण दन्त और मांसभक्षी जन्तुओं से किसी बात में भी भिन्न नहीं होते।

(खंड 18 आगे पड़ता है)

(11) भारतवर्ष में एक वनस्पत्याहारी जंतु पाया जाता है जो घोड़ों के डील से दूना होता है, और जिसके झाड़ीदार तथा रंग में ख़ालिस काली पूँछ होती है। इस पूँछ के बाल मनुष्य के बाल से बारीक होते हैं; और उसकी प्राप्ति एक ऐसा विषय है जिसका भारतीय स्त्रियाँ बड़ा मोल करती हैं, क्योंकि उसे वे अपने स्वाभाविक केशगुच्छ से बाँध और गूँथ कर उससे एक मनोहर जूड़ा बनाती हैं। एक बाल की लम्बाई दो क्युबिट् होती है; और अकेले एक जड़ से झालर के रूप में लगभग तीस बाल के निकलते हैं। यह पशु स्वयं जाने हुए जानवरों में सबसे डरपोक होता है, क्योंकि यदि यह देख पावे कि कोई उसकी ओर ताक रहा है तो वह अपने पूरे वेग के साथ भागता है, और सीधे आगे की ओर दौड़ता है—किन्तु उसके भागने की इच्छा उसकी चाल की तेजी की अपेक्षा अधिक होती है। इसका अहेर अच्छे दौड़ने वाले घोड़ों और कुत्तों से होता है। जब यह देखता है कि यह पकड़ा जाने पर है, तब वह अपनी पूँछ को किसी निकट की झाड़ी में छिपा देता है, और स्वयं अपने पीछा करनेवालों की ओर मुँह करके चौकस होके खड़ा हो जाता है, ध्यानपूर्व्वक देखता रहता है। यह एक प्रकार हिम्मत पकड़ता है, और समझता है कि चूँकि उसकी पूँछ दृष्टि से छिपी हुई है शिकारी लोग उसके पकड़ने की फिक्र न करेंगे, क्योंकि वह जानता है कि उसकी पूँछ ही खिंचाव की वस्तु है। पर यथार्थ में, यह इसका व्यर्थ भ्रम ठहरता है क्योंकि कोई उसे विषैले भाले से मार देता है, और इसकी सारी खाल खींच लेता है (क्योंकि यह मूल्यवान होती है) और शव फेंक देता है क्योंकि भारतवासी लोग उसके मांस को किसी काम में नहीं लाते।

(12) किन्तु आगे (बढ़ते हैं)। भारतीय समुद्र में ह्वेल मिलती है, और वह बड़े से बड़े हाथी से पाँच गुना बड़ी होती है। इस विशाल मछली की पसुली माप में बीस क्यूबिट् होती है, और उसका ओठ पन्द्रह क्यूबिट्। गलफड़े के निकट के पर चौड़ाई में सात क्यूबिट् तक होते हैं। 'केरुकिस' (Kerukes) कहलानेवाली खोपड़ीदार मछली (Shell-fish)[1] भी मिलती है, और अरुणमत्स्य भी ऐसे आकार के मिलते हैं कि वे सहज ही में गैलन माप के भीतर आ सकते हैं, और खलरी सी-अर्चिन (Sea-Urchin) भी इतनी बड़ी होती है कि उसी परिमाण की माप को पूरा छेंक सकती है। पर भारतवर्ष में मत्स्य बड़े दीर्घ विस्तार तक पहुँच जाते हैं। विशेष कर के सामुद्रिक-वृक (Sea-Wolves) थन्नी (Thunnies) और स्वर्ण भ्रू (Golden-Eye-Brows)। मैं यह भी सुनता हूँ कि उस ऋतु में जब नदियाँ बढ़ आती हैं और अपनी पूरी उमगी हुई बाढ़ से सारी धरती को तराबोर कर देती हैं, तब मछलियाँ खेत में बह आती हैं, जहाँ

---

1. एक प्रकार की मछली जिसका पेट चाँदी की भाँति सफ़ेद और पीठ हरापन लिए होती है।

वे छिछले पानी में भी तैरती इधर उधर घूमती हैं और जब वर्षा, जो नदियों को बढ़ा देती है, बन्द हो जाती है और जल भूमि से पलट कर स्वाभाविक स्रोतों में चला जाता है, तब नीचे स्थलों में तथा चौरस और गीली भूमि में, जहाँ निश्चय है कि 'नव' नामधारियों के कुछ जल निकेत होंगे, आठ क्यूबिट् तक लम्बी मछलियाँ मिलती हैं, जिन्हें किसान लोग स्वयं पकड़ते हैं जब कि वे लटपटाती हुई पानी की सतह पर तैरती फिरती हैं, जो कि इतनी गहराई का नहीं रह जाता कि वे स्वच्छन्दता से उसमें चल सकें, वरन् वास्तव में इतना छिछला रहता है कि अत्यन्त कठिनता से वे उसमें रह सकती हैं।

(13) नीचे लिखी मछलियाँ भी भारतवर्ष की चिरवासिनी हैं—काँटेदार रोच (Roach) जो कभी अर्गोलिस (Argolis) के सर्प से किसी अंश में छोटी नहीं होती; और झिंगा जो भारतवर्ष में केकड़े से भी बड़ी होती हैं। मुझे कह देना चाहिए कि ये समुद्र से गंगा में ऊपर चढ़ आती हैं और इनके पंजे होते हैं जो बहुत बड़े और छूने में खुरखुरे होते हैं। मैंने पता लगाया है कि उन झिंगा के जो फ़ारस की खाड़ी से इण्डस नदी में आती हैं काँटे चिकने और आड़े होते हैं जिनसे वे सुशोभित होती हैं, वे बढ़े हुए और पेचीले भी होते हैं; किन्तु इस जाति की मछलियों के पंजे नहीं होते।

भारतवर्ष में कछुवा मिलता है; वहाँ यह नदियों में रहता है। यह बड़े आकार का होता है और इसकी खोपड़ी एक पूरी डोंगी से छोटी नहीं होती और उसमें दस मेडिमनी (120 गैलन) दाल अमा सकती है। भूकच्छप भी मिलते हैं जो इतने बड़े होते हैं जितने किसी ऐसी उत्तम भूमि के बड़े से बड़े ढेले जहाँ कि मिट्टी बड़ी उपजाऊ रहती है तथा हल गहिराई तक धँसता है, और सहज में कियारियाँ खोद कर ढेलों को ऊपर बिछा देता है। कहा जाता है कि ये अपनी खोपड़ी गिरा देते हैं। किसान तथा और सब खेती के काम में लगे हुए लोग इनको, अपनी कुदाल से उलट देते हैं और इन्हें ठीक उसी रीति से बाहर निकाल ले जाते हैं जैसे कोई घुन को उन पौधों में से निकाले जिनको वे खाए रहते हैं। वे मोटे होते हैं और उनका मांस मीठा होता है और समुद्र-कच्छप के ऐसा कड़ुवा स्वाद उसमें नहीं होता।

(15) बुद्धिमान पशु हम लोगों के बीच भी पाए जाते हैं, पर वे थोड़े हैं, और इतने अधिक नहीं हैं जितने भारतवर्ष में। क्योंकि वहाँ हम हाथी को पाते हैं जो इस गुण को पूरा करता है, और तोते, 'स्फिक्स' (Sphinx) जाति के लंगूर तथा 'सटायर' (Satyr) कहलानेवाले जीव मिलते हैं। हमें हिन्दुस्तानी चींटी को भी यहाँ न भूलना चाहिए, जो अपनी बुद्धिमानी के लिए इतनी प्रसिद्ध हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे देश की चींटियाँ अपने लिए पृथ्वी के भीतर छेद और बिल खोदती हैं और छेद करके अपने छिपने के लिए स्थान बनाती हैं और अपना सारा बल खोदने के काम में लगा देती हैं जो अकथनीय परिश्रमसाध्य है और छिपा कर किया जाता है; किन्तु हिन्दुस्तानी चींटियाँ अपने लिए नन्हें नन्हें वासगृहों के झुण्ड बनाती हैं;

जो ढालुई वा चौरस भूमि पर नहीं रक्खे जाते वरन् खड़े और ऊँचे टीलों पर रक्खे जाते हैं। और इनमें अकथनीय कौशल के साथ पेचीले मार्ग निकाल कर, जो मिश्री (Egyptian) समाधि कोठरियों तथा क्रट की (Cretan) भूलभुलैया का स्मरण दिलाते हैं, वे अपने घर की बनावट को ऐसा गढ़ती हैं कि कोई भी लकीर सीधी नहीं जाती; और घुमाव और छेद इतने पेचीले होते हैं कि किसी वस्तु का उसके भीतर प्रवेश करना वा बहकर जाना कठिन है। बाहर की ओर वे, अपने आने जाने तथा अन्न को जिन्हें वे इकट्ठा करती अपने भण्डार घर में ले जाती हैं, ले जाने भर को केवल एक ही छेद रखती हैं। अपने भवनों के लिए ऊँची स्थिति चुनने से उनका अभिप्राय नदियों की ऊँची बाढ़ और बूड़े से बचने का रहता है; और यह लाभ वे अपनी दूरदर्शिता द्वारा उठाती हैं और वे तब मानो इतने रक्षादुर्गों वा द्वीपों में रहती हैं जब कि ऊँचाई के आस पास के भाग समस्त एक झील हो जाते हैं। और फिर, ढूह जिनमें वे रहती हैं, यद्यपि सटे रहते हैं तथापि बाढ़ से ढहते वा ढीले कभी नहीं होते, वरन् दृढ़ होते हैं विशेष कर के प्रभातीय ओस से। क्योंकि वे इसी ओस के बने हुए एक प्रकार के हिम के वस्त्र पहिन लेती हैं—जो निस्सन्देह पतले तो होते हैं पर तिस पर भी कुछ पौढ़े होते हैं; इसके अतिरिक्त वे चिपके हुए खर पतवार तथा पेड़ों की छाल से, जिन्हें नदियों की मिट्टी ले आती है, जड़ के पास और भी ठोस हो जाते हैं। सब हिन्दुस्तानी चींटियों के विषय में मैं उतना ही कह के रहने देता हूँ जितना बहुत दिन हुए 'आयोबस' (Iobas) ने कहा था।

(16) भारतीय एरैयनोई (Areianoi) के देश में भूगर्भ के नीचे एक दरार है, जिसके भीतर गुप्त कोठरियाँ, छिपी हुई गलियाँ, और मनुष्यों के अदृश्य मार्ग हैं। ये गहरे हैं, और बड़ी दूर तक फैले हैं। ये किस प्रकार बने और किस प्रकार खोदे गए भारतवासी नहीं बताते, और न मुझे पूछने से प्रयोजन है। यहाँ भारतवासी लोग तीस हज़ार मूँड़ से ऊपर भिन्न-भिन्न प्रकार के चौपाये, भेड़, बकरी तथा बैल और घोड़े ले आते हैं; और प्रत्येक मनुष्य जो अमाङ्गलिक स्वप्न से वा किसी चितावनी वा भविष्यद्वाणी से भयभीत होता है, अथवा जो बुरे सगुन का पक्षी देख लेता है वह अपने जीवन के प्रतिकार में ऐसा बलि उस दरार में छोड़ता है जैसा उसका चित्त प्रदान कर सकता है; यह पशु उसके प्राण को जीवित रखने के लिए भेंट की भाँति दिया जाता है। बलिपशु जो यहाँ लाए जाते हैं सीकड़ों में नहीं लाए जाते और न घोंसे जाते हैं, वरन् वे आप से आप इस मार्ग पर से चलते हैं मानो किसी गुप्त मन्त्र के द्वारा प्रेरित हुए हों; और ज्योंही वे दरार की बारी के पास पहुँचते हैं वे आप से आप उसमें कूद पड़ते हैं; और जैसे ही वे पृथ्वी की इस रहस्यमय और अलक्षित गुफा में गिरते हैं वैसे ही मनुष्य की दृष्टि से सदैव के लिए लोप हो जाते हैं। किन्तु ऊपर बैलों का हकरना, भेड़ों का मिमियाना, घोड़ों का हिनहिनाना, बकरियों का बिबियाना सुन पड़ता है, और यदि कोई किनारे के बहुत पास जाता है और अपना

कान लगाता है तो वह बहुत दूर से उपर्युक्त शब्दों को सुनता है। यह मिलीजुली ध्वनि ऐसी है जो कभी बन्द नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक दिन जो बीतता है लोग उनके स्थान पर नए बलि ले आते हैं। मैं यह नहीं मानता कि सबके पीछे लाए हुए पशुओं ही का शब्द सुन पड़ता अथवा उनका भी जो पहिले लाए गए थे–जो कुछ मैं जानता हूँ वह इतना ही कि शब्द सुन पड़ते हैं।

(17) उस समुद्र में जो वर्णित हो चुका है एक बहुत बड़ा द्वीप है, जिसका नाम, जैसा कि मैं सुनता हूँ, 'टैप्रोबेनी' (Taprobane) है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, यह एक बहुत लम्बा और पहाड़ी द्वीप जान पड़ता है; उसकी लम्बाई 7000 स्टेडिया और चौड़ाई 5000 स्टेडिया है।[1] परन्तु इसमें कोई नगर नहीं है, वरन् केवल ग्राम हैं जिनकी संख्या लगभग 750 है। घर जिसमें निवासी लोग रहते हैं लकड़ी के बने होते हैं, और कभी कभी सरकण्डे के भी।

(18) उस समुद्र में जो टापुओं को घेरे हैं इतने विशाल आकार के कछुए पैदा होते हैं कि उनकी खोपड़ियाँ मकान की छत बनाने के काम में लाई जाती हैं; क्योंकि खोपड़ी, लम्बाई में पन्द्रह क्यूबिट् होने से, अपने नीचे बहुत से आदमी रख सकती है और उन्हें सुहावनी छाया देने के अतिरिक्त धूप की झुलसानेवाली गरमी से बचाती है। किन्तु, इससे बढ़कर, यह मेह और तूफ़ान से रक्षा के निमित्त खपड़ों से कहीं अधिक काम की होती है, क्योंकि यह तुरन्त मेह को जो उस पर टकराता है ढरका देती है, और उसकी छाया के नीचे के लोग मेह को मानो किसी मकान की छत पर पड़पड़ाते हुए सुनते हैं। चाहे जो हो उन्हें उन लोगों की भाँति अपने घर को बदलने की ज़रूरत नहीं होती जिनका खपड़ैल फूट जाता है, क्योंकि खोपड़ी कड़ी और खोखली चट्टान तथा स्वाभाविक गुफा की पटी हुई छत के समान होती है।

अतः महासागर के उस टापू में जिसे लोग 'टैप्रोबेनी' कहते हैं, खजूर की बारी हैं जहाँ पेड़ सब एक श्रेणी में अद्भुत क्रम के साथ लगाए जाते हैं, उसी रीति से जैसे हम प्रमोदवाटिकाओं के रखवालों को छायादार पेड़ों को चुने हुए स्थानों पर लगाते देखते हैं। उसमें हाथियों के झुण्ड भी हैं जो वहाँ बहुसंख्यक और अत्यन्त दीर्घ आकार के होते हैं। ये टापू के हाथी महाद्वीप के हाथियों की अपेक्षा अधिक बलिष्ठ और देखने में बड़े होते हैं, और हर प्रकार से अधिक बुद्धिमान ठहराए जा सकते हैं। द्वीपवासी उन्हें सामने के महाद्वीप में उन नावों पर भेजते हैं जिन्हें वे वस्तुतः इसी व्यापार के लिए द्वीप की झाड़ियों से प्राप्त लकड़ी से बनाते हैं; और वे अपने माल को कलिङ्गई के राजा के यहाँ खपाते हैं। द्वीप के बड़े आकार के कारण अन्तर्भाग

1. प्राचीन ग्रन्थकारों ने उस द्वीप के विस्तार को बहुत बढ़ा कर लिखा है। इसकी यथार्थ लम्बाई उत्तर-दक्षिण $271\frac{1}{2}$ मील है और चौड़ाई पूर्व-पश्चिम $137\frac{1}{2}$ मील, और इसका घेरा लगभग 650 मील का है।

के निवासी समुद्र को कभी नहीं देखते हैं और अपना जीवन महाद्वीप के वासियों की भाँति बिताते हैं, यद्यपि निस्सन्देह वे दूसरों से सुनते हैं कि वे चारों ओर समुद्र से घिरे हैं फिर, किनारे पर के निवासी हाथी पकड़ने से विशेष जानकारी नहीं रखते और उसके विषय में केवल किंवदन्ती ही द्वारा जानते हैं। उनका सारा पुरुषार्थ मछलियों तथा समुद्र के दुष्ट जीवों को पकड़ने में लगाया जाता है; क्योंकि कहा जाता है कि समुद्र जो इस द्वीप को घेरे है छोटी तथा भीषण जाति की मछलियों की अपार संख्या को उत्पन्न करता है; भीषण मछलियों में से कुछ ऐसी हैं जिनका सिर सिंह, चीते तथा और दूसरे बनैले पशुओं का सा, और प्रायः मेढ़ों का सा भी होता है। और इससे भी बढ़कर जो आश्चर्य्य की बात है वह यह है कि वहाँ ऐसे विकराल जीव होते हैं जो अपने स्वरूप के समस्त अंश में सेटायर[1] (Satyr) से मिलते हैं। दूसरे, स्वरूप में स्त्रियों के से होते हैं, किन्तु केशगुच्छ के स्थान पर वे काँटों से सुशोभित होते हैं। यह भी गम्भीरता के साथ कहा जाता है कि इस समुद्र में कुछ विलक्षण आकृति के जीव होते हैं जिनको चित्र में प्रदर्शित करने में देश के चित्रकारों की समस्त कुशलता चक्कर में आ जायगी, यद्यपि भीषण भावना उत्पन्न करने के अभिप्राय से वे ऐसे ऐसे राक्षसों को चित्रित किया करते हैं जिनमें भिन्न भिन्न पशुओं के भिन्न भिन्न अवयव एक साथ जुटे रहते हैं। उनकी पूँछ तथा वे भाग जो मुड़े रहते हैं, बड़ी लम्बाई के होते हैं, और पैर के स्थान पर उनके पंजे अथवा पर होते हैं। मैंने यह भी सुना है कि वे जल और थल दोनों पर रहनेवाले हैं, और रात को चरागाहों में चरते हैं, क्योंकि वे चौपायों तथा उन चिड़ियों की तरह जो दाना बिनती हैं, घास खाते हैं। वे छोहारे को भी बड़ी चाह से खाते हैं अतएव जब वे पक कर पेड़ से गिरने को होते हैं वे अपने फेटों को, जो लचीले तथा इस काम भर को बड़े होते हैं, इन पेड़ों के चारों ओर लपेट देते हैं, और उन्हें ऐसे ज़ोर से हिलाते हैं कि छोहारे लड़खड़ाते हुए नीचे आ जाते हैं, और उन्हें एक उत्तम भोज प्रदान करते हैं। इसके पीछे जब रात धीरे धीरे हटने लगती है, किन्तु प्रथम इसके कि दिन का स्वच्छ प्रकाश हो जाता है वे समुद्र में, जैसे ही उसकी सतह को प्रभात की प्रथम आभा किञ्चित दीप्त करने लगती है, कूदकर अदृश्य हो जाते हैं। वे कहते हैं कि ह्वेल भी प्रायः इस समुद्र में आती है, यद्यपि यह सच नहीं है कि वे किनारे के निकट आकर थन्नी (Thunnies) की ताक में पड़ी रहती है। डालफ़िन (Dolphins) दो प्रकार की सुनी जाती है—एक तो दुष्ट और तीखे नोकवाले दाँतों से संयुक्त होती है जो मछुवाहे को असीम कष्ट देती है और दया रहित क्रूर प्रकृति की होती है, परन्तु दूसरी जाति की स्वभावतः सीधी और पालतू होती है, क्रीड़ा के साथ इधर उधर तैरा करती है, और बिलकुल खेलाड़ी कुत्ते की तरह होती है। जब कोई इसे मारने का यत्न करता

1. एक कल्पित दैत्य है जिसका आधा शरीर मनुष्य का और आधा बकरी का होता है।

है तब यह नहीं भागती, और जो भोजन इसे दिया जाता है उसे प्रसन्नता के साथ खाती है।

(19) समुद्री खरहा, जिससे अब मेरा अभिप्राय उस जाति से है जो महासागर में मिलता है (क्योंकि उस जाति की मैं पहिले ही चरचा कर चुका हूँ जो दूसरे समुद्र में मिलती है), हर एक बात में स्थल के खरहे से मिलता है केवल रोएँ को छोड़कर, जो स्थल पर के जंतु का कोमल और चिकनाहट के साथ नीचे गिरा रहता है, और छूने में गड़ता नहीं, पर इसके समुद्र के बन्धु का बाल कड़ा और कँटीला होता है और जो कोई उसे छूता है वह उसके घाव कर देता है। कहा जाता है कि यह सामुद्रिक हिलोर के ऊपर ऊपर बिना नीचे डूबे हुए तैरा करता है और अपनी चाल में बड़ा तेज़ होता है। उसको जीता पकड़ना सहज बात नहीं है, क्योंकि यह कभी जाल में नहीं पड़ता और न बंसी की डोरी और चारे के पास जाता है परन्तु 'जब यह रोग से पीड़ित रहता है और इस कारण तैरने में असमर्थ होकर किनारे पर पड़ा रहता है, तब यदि कोई इसे अपने हाथ से छू लेता है तो यदि चिकित्सा न हो तो उसकी मृत्यु हो जाती है—यही नहीं वरन् यदि कोई इस मरे खरहे को डण्डे से भी छू लेता है तो उसकी वही दशा होती है जो उनकी जो बिसखोपड़े[1] (Basi-lisk) को छूए रहते हैं। पर कहा जाता है कि इस टापू के किनारे किनारे हर एक की जानकारी में, एक ऐसी जड़ी ऊगती है जो उस मूर्च्छा की औषधि है जो उत्पन्न होती है। यह उस व्यक्ति की नाक के पास लाई जाती है जो मूर्च्छित रहता है, वह इससे संज्ञा लाभ करता है। किन्तु यदि यह औषधि न प्रयोग की जाय तो यह आघात प्राण का घातक ठहरता है, ऐसी विषैली वह शक्ति होती है जो यह खरहा अपने अधिकार में रखता है।

### खंड 15 (ख) इसके आगे है[2]

---

1. अथवा एक प्रकार का कल्पित सर्प जिसके नेत्र में विनाशकारिणी शक्ति होती है।
2. यही खंड है जिसमें एलियन (Aelian) एक सींगवाले उस जन्तु का वर्णन करता है। जिसे वह कर्तज़ोन (Kartazon) कहता है। रोजेनमुलर (Rosenmuller), 'जिन्होंने यूनिकार्न (घोड़े के सदृश एक कल्पित पशु जिसके एक सींग होती है) के विषय में विस्तारपूर्वक लिखा है, उस पशु (यूनिकार्न) को हिन्दुस्तानी गैंड़े से मिलाते हैं और अनुमान करते हैं कि एरियन ने उसके वृत्तान्त को टीशियास (Ktesias) से लिया होगा और टीशियास ने, जब वह फारस में रहा उसकी लम्बी चौड़ी कथा सुनी रही होगी अथवा उसको वहाँ शिल्प में उसके यथार्थ रूप से कुछ भिन्न देखा होगा। टिचसिन (Tychsen) इस नाम की उत्पत्ति 'कर्द' (Kerd) और 'तज़न' (Tazan) से बतलाते हैं। 'कर्द' को ये महाशय स्वयं गैंड़े का प्राचीन नाम बतलाते हैं। प्राचीनों ने एक सींगवाले तीन जन्तुओं का वर्णन किया है—अफ्रीका का मृग, हिन्दुस्तानी गदहा तथा यूनिकार्न।

(22) एक और भी जाति स्किराटई[1] (Skiratai) नाम की है, जिसका देश भारतवर्ष के आगे है। वे गठीली नाक के होते हैं, या तो इस कारण कि बचपन की सुकुमार अवस्था ही में उनके नथुने दब जाते हैं, और उनके पश्चात् जीवन भर उसी प्रकार रहते हैं, अथवा उनकी इन्द्रिय का स्वाभाविक आकार ही ऐसा होता है। उनके देश में बड़े विशाल आकार के सर्प होते हैं, जिनमें से किसी किसी जाति के तो चौपायों को जब वे चरागाह में रहते हैं, पकड़ लेते हैं और उन्हें भक्षण कर जाते हैं, और वे चरागाह में रहते हैं, पकड़ लेते हैं और उन्हें भक्षण कर जाते हैं, और दूसरी जाति के केवल रक्त चूसते हैं, जैसा कि 'ऐजिथेलई' (Aigithelai) यूनान में करते हैं, जिनका चर्चा मैं पहिले ही उपयुक्त स्थान पर कर चुका हूँ।

---

1. स्किराटई किरात से मिलाए गए हैं। प्रो. लैसन ने रामायण का एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें लिखा है, "किरात, जिनमें से कुछ तो मन्दराचल पर बसते हैं, दूसरे अपने कानों को ओढ़ते हैं; वे डरावने, काले, तथा एक ही पैरवाले होते हैं, किन्तु बड़े फुरतीले होते हैं, और विनष्ट नहीं किए जा सकते; वे वीर पुरुष तथा नरभक्षक हैं" (Schwanbeck p. 66) प्रो. लैसन इनकी एक शाखा को नेपाल में कोशी नदी के किनारे पर, और दूसरी को टिपरा में स्थित करते हैं। □

# राज्यप्रबन्ध शिक्षा

# भूमिका

प्रत्यक्ष ज्ञान की आवृत्ति का नाम अनुभव है। सांसारिक व्यवहार में जितना दूसरों के अनुभव से हमारा काम चलता है उतना उनकी कल्पना आदि से नहीं। अपने वा दूसरों के अनुभव के सहारे हम थोड़ी दूर आँख मूँदकर भी चल सकते हैं। इतना भरोसा हमें किसी और दूसरी वस्तु पर नहीं हो सकता। किसी एक मनुष्य से यह सुनकर कि "मैंने कई बार ऐसा होते देखा है।" जितनी जल्दी हम किसी कार्य्य में प्रवृत्त होते हैं उतनी जल्दी सैकड़ों सत्यवादियों से यह सुनकर नहीं कि "हम निश्चय समझते हैं कि यह बात ऐसी ही है।" अतः समाज के हित और सुबीते के लिए यह आवश्यक है कि उसमें अनुभव की हुई बातों का अच्छा संचय रहे जिससे लोगों को अपना कर्त्तव्य स्थिर करने के लिए इधर उधर बहुत भटकना न पड़े।

आज इस अनुवाद द्वारा हिन्दी पाठकों के सामने देशी राज्यों के प्रबन्ध आदि के विषय में ऐसे पुरुष का अनुभव रक्खा जाता है जिसने अपने नीति बल और व्यवस्था कौशल से भारतवर्ष के दो बड़े बड़े राज्यों को चौपट होने से बचाया था। जिन लोगों ने राजा सर टी. माधवराव का नाम सुना होगा वे यह भी जानते होंगे कि उनकी सारी आयु देशी राज्यों की शासन पद्धति सुधारने में बीती थी। वे बड़े भारी नीतिज्ञ और राज्य संचालक थे।

माधवराव का जन्म कुम्भकोणम के एक महाराष्ट्र ब्राह्मणकुल में हुआ था। उनके पूर्वज महाराष्ट्र आधिपत्य के समय दक्षिण गए थे। उनके चाचा वेंकटराव ट्रावंकोर राज्य में दीवान थे और पिता भी उसी रियासत में एक ऊँचे पद पर थे। माधवराव ने मदरास के गवर्नमेंट स्कूल में शिक्षा पाई और गणित और विज्ञान में बड़ी दक्षता प्राप्त की। कुछ दिनों तक ये वहीं गणित और विज्ञान के अध्यापक रहे। फिर सन् 1849 में एकाउंटेंट जनरल के दफ्तर में नौकर हुए। कुछ दिनों वहाँ रहकर वे ट्रावंकोर के राजकुमारों के शिक्षक होकर गए। इस कार्य्य में उन्होंने इतनी दक्षता दिखाई कि उन्हें शीघ्र माल के मोहकमे में एक अच्छी जगह मिली और धीरे धीरे वे दीवान-पेशकार हो गए। जिस समय माधवराव ट्रावंकोर राज्य में घुसे उस समय उस राज्य की बड़ी बुरी दशा थी। चारों ओर घोर कुप्रबन्ध और अन्धाधुन्ध थी। लार्ड डलहौजी बार

बार धमका रहे थे कि यदि झटपट सुधार न हुआ तो ट्रावंकोर राज्य अँगरेजी राज्य में मिला लिया जायगा। माधवराव ने देखा कि राज्य के वे बड़े कर्म्मचारी जिनको बाहर के स्थानों में अपने अपने काम पर रहना चाहिए, वे भी राजधानी में रहकर दीवान के विरुद्ध षड्यन्त्र रचा करते हैं। उन्होंने महाराज से प्रस्ताव किया कि सारा राज्य बहुत से जिलों में बाँट दिया जाय और वे जिले ऐसे कर्म्मचारियों के अधीन कर दिए जायँ जो वहीं रहें। इस प्रकार माधवराव के अधिकार में जो-जो जिले पड़े उनका प्रबन्ध उन्होंने ठीक कर दिया। धीरे धीरे महाराज उनकी बड़ी प्रतिष्ठा करने लगे। सन् 1857 में दीवान कृष्णराव के मरने पर माधवराव उनकी जगह दीवान बनाए गए। उस समय उनकी अवस्था केवल तीस वर्ष की थी।

दूसरा कोई होता तो ट्रावंकोर की उस समय की अवस्था देख घबड़ा जाता। जिधर देखो उधर बेईमानी, अत्याचार और अव्यवस्था। माधवराव ने निश्चय किया कि जब तक देशी राज्यों में भी अँगरेजी शासन के सिद्धान्तों का प्रचार न किया जायगा तब तक उनकी अवस्था न सुधरेगी। राज्य की आर्थिक दशा दिन दिन गिरती जाती थी। माधवराव ने बहुत-से सुधार किए जिनसे राज्य की आमदनी बहुत बढ़ गई। बहुत सी वस्तुओं की बिक्री आदि का अधिकार थोड़े से लोग अपने हाथ में लिए बैठे थे जिससे व्यापार बढ़ने नहीं पाता था। माधवराव ने यह प्रथा बन्द कर दी। बाहर जानेवाली मिर्च पर उन्होंने महसूल लगाया। पीछे अँगरेज सरकार से जो सन्धि हुई उसके अनुसार आमदनी और रफ्तनी पर जो बड़े बड़े महसूल थे वे उठा दिए गए। बहुत से ऐसे कर भी उठा दिए गए जो प्रजा को बहुत खलते थे और जिनके वसूल करने में खर्च इतना पड़ता था कि राज्य को कुछ विशेष लाभ नहीं होता था। माधवराव ने राज्य के कर्म्मचारियों की भी तनख्वाहें बढ़ाईं जिससे वे घूस न लें। इंजीनियरी और शिक्षा विभाग की उन्नति की। अदालत में अच्छे कानून जाननेवाले जज नियुक्त किए और ज़ाब्तः दीवानी, ज़ाब्तः फौजदारी, हद समायत और रजिस्टरी के क़ानून का प्रचार किया। ट्रावंकोर राज्य की काया ही पलट गई। ट्रावंकोर के महाराज इन पर इतने प्रसन्न हुए कि नौकरी छोड़ने पर भी इन्हें बहुत दिनों तक 1000 रुपये महीना पेंशन देते रहे। सरकार से भी इन्हें 'सर' का खिताब मिला।

ट्रावंकोर से जब ये अलग हुए तब सरकार इन्हें बड़े लाट की काउंसिल की मेम्बरी देने लगी, पर इन्होंने अस्वीकार किया।

सन् 1873 में इन्दौर के महाराज तुकोजी राव होलकर ने इन्हें अपना दीवान बनाया। यद्यपि महाराज बहुत सा अधिकार अपने हीं हाथ में रखते थे फिर भी इन्दौर में इन्होंने बहुत सा सुधार किया। जिन दिनों ये इन्दौर में थे उन दिनों विलायत में भारत की आर्थिक स्थिति के विचार के लिए एक कमेटी बैठी थी। सरकार ने इन्हें विलायत जाकर उसके सामने साक्ष्य देने को कहा, पर इन्होंने अस्वीकार किया।

ठीक इसी समय महाराज मल्हारराव बड़ौदे की गद्दी से उतारे जा चुके थे।

उनके समय के दुराचार, अत्याचार, कुप्रबन्ध और अन्धाधुन्ध से बड़ौदा राज्य जर्जर हो रहा था। उत्तराधिकारी महाराज सयाजीराव नाबालिग थे। उनकी नाबालिगी में राज्य सँभाले कौन ? अन्त में माधवराव बुलाए गए।

सर माधवराव ने वहाँ ट्रावंकोर राज्य से भी गहरी बुराइयाँ पाईं जिनकी जड़ बहुत दिनों की जमी हुई थी। कुछ लोग गद्दी के लिए जोर मार रहे थे। वे कुछ दे दिलाकर शान्त किए गए। महाराज मल्हारराव के समय के बहुत से कर्मचारी राज्य का बहुत सा रुपया कर्ज लिए बैठे थे जो धीरे धीरे उनसे निकाला गया। जौहरी, सौदागर, नौकर, सिपाही तथा और बहुत से लोग जो अपना बहुत सा रुपया बाकी बताते थे सन्तुष्ट किए गए। इस प्रकार माधवराव ने पहले चारों ओर से षड्यन्त्र की सम्भावना बन्द की, फिर वे शासन के सुधार में लगे।

इन्होंने एकबारगी शासन का सारा क्रम नहीं बदला। धीरे धीरे प्रजा की प्रवृत्ति बदलते हुए इस बात का सुधार किया। इन्होंने प्रजा के ऊपर से कर का बोझ भी बहुत कुछ हटाया और राज्य की आमदनी भी बढ़ाई। पुलिस का सुधार किया। न्यायालयों की व्यवस्था ठीक की। राज्य की आमदनी में से बहुत सा रुपया इन्होंने सर्वसाधारण की शिक्षा और स्वास्थ्य रक्षा के लिए निकाला। जमीन की मालगुजारी वसूल करने के बड़े सहज ढंग निकाले । किसानों के ठेकों की मियाद इन्होंने बहुत अधिक बढ़ा दी जिससे वे जमीन को अपनी समझ उस पर पूरी मिहनत करने लगे। सारांश यह कि इनके अखण्ड परिश्रम और नीतिबल से बड़ौदा राज्य सर्वाङ्ग सुव्यवस्थित होकर पूर्ण सुख समृद्धि को पहुँचा।

सन् 1882 में राजा सर टी. माधवराव बड़ौदा राज्य की नौकरी से अलग हुए और अन्त समय तक मदरास में रहे। ये जब तक जिये तब तक बराबर सार्वजनिक कार्यों में उद्योग करते रहे। नेशनल काँगरेस की तीसरी बैठक (मदरास, 1887) की स्वागतकारिणी समिति के ये सभापति हुए थे।

जिस समय राजा माधवराव बड़ौदा में थे उस समय वर्तमान महाराजा साहब सयाजीराव नाबालिग़ थे और राजकाज की शिक्षा पा रहे थे। इन्हीं महाराज साहब की शिक्षा के लिए सर माधवराव ने यह पुस्तक लिखी थी।

परम विद्योत्साही राजा साहब भिनगा की इच्छा और उदारता से यह पुस्तक सभा द्वारा प्रकाशित की गई है। उन्हीं के इच्छानुसार मूल पुस्तक के बीच बीच के कुछ अंश अनुवाद में छोड़ दिए गए हैं। अवशिष्ट में 'तअल्लुकेदारों के लिए कुछ अलग बातें' राजा साहब की ओर से बढ़ाई गई हैं जिनसे उनकी प्रबन्धकुशलता का अच्छा परिचय मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अनुवाद की भाषा बहुत ही सरल रक्खी गई है।

काशी
22 अप्रैल, 1913 **अनुवादक**

# राज्यप्रबन्ध शिक्षा

चन्दा–राजाओं के पास सभा, समाजों या और अन्य कार्यों के लिए सहायता या चन्दे के लिए सैकड़ों प्रार्थनाएँ पहुँचती हैं। कोई अपनी किताब के प्रकाशित हो जाने पर उसकी कुछ प्रतियाँ खरीदे जाने की प्रार्थना करता है, कोई मन्दिर, घाट या धर्मशाला बनाने के लिए सहायता माँगता है; कोई घुड़दौड़ के लिए कुछ चन्दा चाहता है; इसी प्रकार स्कूल, अस्पताल, नाटक, घोड़ों की नुमाइश, सूक्ष्मकला, नए व्यवसाय आदि अनेक कार्यों में महाराज से उदारता दिखाने की प्रार्थना की जायगी।

यह तो साफ प्रकट है कि कोई राजा या महाराजा इन सारी प्रार्थनाओं को पूरा नहीं कर सकता है। इसलिए राजा महाराजों को बहुत समझ बूझकर काम करना होता है। यों तो इस प्रकार की बातें सामने आने पर प्रत्येक के गुण दोष का अलग-अलग विचार करना होता है पर साधारणतः नीचे लिखी बातों का विचार रखना चाहिए–

पहले तो यह याद रखना चाहिए कि धन जो कि चन्दे या सहायता में दिया जायगा वह राज्य की प्रजा से उगाहा हुआ है, इससे बिना सोचे विचारे मनमानी रीति से नहीं दिया जा सकता। यह धन ऐसे ही कार्यों के लिए दिया जाना चाहिए जिन कार्यों से किसी न किसी रूप में उस प्रजा को लाभ पहुँच सकता हो।

उन चन्दों की अपेक्षा को राज्य के बाहर खर्च किए जायँगे उन चन्दों का देना अच्छा है जिनका राज्य के भीतर ही व्यय होगा। गरीबों को लाभ पहुँचानेवाले कामों में चन्दा देना अमीरों को लाभ पहुँचानेवाले कामों में चन्दा देने से अच्छा है। दुःख दूर करनेवाली बातों में चन्दा देना सुख बढ़ानेवाली बातों में चन्दा देने से अच्छा है।

चन्दे में बहुत ज्यादह रुपया न देना चाहिए, एक हिसाब से देना चाहिए, जिसमें और लोगों को भी चन्दा देने की आवश्यकता रहे। यदि एक ही राजा ने बहुत ज्यादह रुपया दे दिया तो और लोगों को यह कहने का अवसर मिल जायगा कि "अमुक राजा ने ही इतना रुपया दे दिया जो इस कार्य के लिए बहुत है फिर हमको चन्दा देने की क्या आवश्यकता है।"

जिस कार्य के लिए जो कुछ चन्दा दिया जाय वह उसके लाभों पर विचार

करके दिया जाय, दूसरों की देखा देखी, आन में आकर वा माँगनेवाले के दबाव में पड़कर नहीं।

जो कुछ देना हो उसे या तो एकमुश्त दे दे या किस्त बाँधकर दे दे, राज्य के सिर मासिक या वार्षिक चन्दा मढ़ देना अच्छा नहीं क्योंकि ऐसा करने से जब राज्य की अवस्था बदलने या अन्य किसी कारण से चन्दे का बन्द कर देना जरूरी समझा जायगा तब उसके बन्द करने में मुश्किल पड़ेगी। ऊपर लिखे सिद्धान्तों को समझाने के लिए कुछ दृष्टान्तों का दे देना उचित है।

मान लीजिए बड़ौदा के महाराज से बंगलोर, बम्बई या बड़ौदा राज्य के बाहर किसी और स्थान में होनेवाली घुड़दौड़ के लिए चन्दा माँगा जा रहा है। ऐसी दशा में महाराज गायकवाड़ को चन्दा नहीं देना चाहिए। ख़ास बड़ौदा में भी ऐसी बातों में कम ही ख़र्च करना चाहिए क्योंकि बड़ौदा के लोगों को घुड़दौड़ आदि का इतना शौक़ नहीं।

यूरोप या अमेरिका के कला-कौशल की उन्नति के लिए बड़ौदा को चन्दा देने की ज़रूरत नहीं।

बड़ौदा राज्य के भीतर किसी नदी पर बननेवाले घाट के लिए बड़ौदा का चन्दा देना जितना उचित है उतना गोदावरी, कृष्णा, कावेरी आदि के घाट के लिए नहीं।

**निज का पत्रव्यवहार**—हर प्रकार लोग राजा महाराजों के पास तरह तरह की चिट्ठियाँ भेजा करते हैं। राजा महाराजों को इनका उत्तर बहुत समझ बूझकर देना चाहिए। निज का पत्रव्यवहार व्यर्थ बहुत बढ़ने न पावे। नियम तो यह होना चाहिए कि राजा महाराजा निज के पत्र बहुत कम भेजा करें। यह अच्छी बात नहीं है कि मामूली आदमी इधर उधर उनके पत्र दिखाकर कहते फिरें कि हम महाराजा साहेब से पत्रव्यवहार करते हैं। कोई बात जब बहुत साधारण हो जाती है तब उसकी कदर जाती रहती है।

इस बात का प्रबन्ध होना चाहिए कि राजा महाराजा जो चिट्ठियाँ भेजा करें उनकी नकल रक्खी जायँ। ऐसा करना अनेक प्रकार से लाभदायक है। एक ऐसा भी नौकर होना चाहिए जो महाराज साहब के पास आए हुए पत्रों को अच्छी तरह सँभाल सहेजकर रक्खे। कभी कभी बहुत छोटी बातें भी बड़े काम की निकल आती हैं। इससे इन पत्रों के विषय में ऐसा प्रबन्ध रहना चाहिए कि वे काम पड़ने पर चट मिल जायँ। बहुत से पत्र तो कर्मचारी लोग राजा महाराजों की ओर से लिखा करते हैं। इस बात की बड़ी चौकसी रहनी चाहिए कि वे कर्मचारी अपनी ओर से कुछ घटा बढ़ाकर न लिखने पावें और न ऐसी भाषा रखने पावें जैसी भाषा रखने का अभिप्राय वा इच्छा महाराज की न हो। जितने पत्र महाराज की ओर से लिखे जायँगे उन सबके जिम्मेदार महाराज होंगे, इसी से इतनी चौकसी चाहिए। नियम तो यह होना चाहिए कि ऐसी चिट्ठियों के मसविदे महाराज खुद देख लिया करें और

उन पर अपने दस्तखत का चिह्न बना दिया करें जिससे किसी तरह की भूल न रह जाय।

**अच्छी सामग्री**—महाराज की ओर से जाने वाले पत्र बहुत ही बढ़िया कागज पर हों। स्याही और लिफाफे आदि भी अच्छे से अच्छे मेल के हों। हर एक वस्तु साफ सुथरी और महाराज के उच्च पद के योग्य होनी चाहिए।

**भेंट मुलाकात**—राजा महाराजों का किसी के यहाँ खुद मिलने जाना बड़ी ही प्रतिष्ठा की बात है। इस भेंट मुलाकात को इतना न बढ़ावे कि वह कोई बड़ी बात ही न समझी जाय। राजा महाराजों को यह न चाहिए कि जब जिसके यहाँ हुआ चले गए। मेरा मतलब राजघराने को छोड़ और दूसरे घरानों में ब्याह शादी आदि अवसरों पर जाने से है। परस्पर जाने आने की जो रीति चली आई है उसका पालन करना तो ठीक ही है। पर इस प्रकार का नया व्यवहार बहुत समझ बूझकर खोलना चाहिए।

**बिना जाने सुने आदमी**—यदि कोई नया आदमी महाराज साहब से भेंट करना चाहे तो एक आदमी ऐसा चाहिए जो उसे महाराज के सामने पेश करे। यह एक नियम होना चाहिए कि नए आदमी महाराज के सामने परिचय के साथ पेश किए जायँ। ऐसा न होने से हर तरह के भले बुरे आदमियों की पहुँच महाराज तक हो जायगी और यह बात मर्य्यादा के विरुद्ध ही नहीं बल्कि हानि पहुँचानेवाली होगी। यह नहीं कि जो चाहे सो लोगों को महाराज के सामने पेश किया करे। इस काम पर कोई प्रतिष्ठित और गम्भीर आदमी रहना चाहिए जो अपनी जिम्मेदारी को समझे। उसके ऊपर इस बात का जिम्मा रहे कि वह अयोग्य मनुष्यों को महाराज के पास न लावे। ऐसे आदमियों की महाराज तक पहुँच न होनी चाहिए जिनका चालचलन बुरा हो, वा जिनकी गिनती भलेमानुसों में न हो, वा जो अपनी चालबाजियों से बढ़ना चाहते हैं।

पेश करनेवाले को चाहिए कि किसी नए आदमी को महाराज के सामने लाने के पहले उसकी भलमनसाहत आदि के विषय में अपना जी भर ले। जब कोई नया आदमी महाराज से मिलने आवे तब यह आवश्यक है कि महाराज को उससे मिलने के पहिले उसके सम्बन्ध में कुछ जानकारी हो जाय जिसमें श्रीमान् को यह मालूम रहे कि उससे कैसे मिलना होगा और क्या क्या बातें करनी होंगी।

**वादे**—बहुत से लोग राजा महाराजों से अनेक प्रकार की प्रार्थनाएँ किया करते हैं। राजा महाराजों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे चटपट कोई बात न तय कर डालें और न बिना सोचे विचारे कोई वादा कर बैठें। अच्छा तो यह है कि किसी विषय में कोई मत प्रकाशित करने वा पक्का वादा करने के पहिले महाराज विचार और सलाह करने के लिए पूरा समय ले लिया करें। ऊँचे पद और अधिकारवाले मनुष्यों को बहुत समझ बूझकर चलना पड़ता है।

**नौकर चाकर**–राजा और महाराजों को चाहिए कि नीच नौकरों को बहुत मुँह न लगाएँ। उनसे दूर ही का व्यवहार अच्छा है जिसमें वे केवल अपने काम से काम रखें।

नीच नौकरों को एक ऐसे अफसर की मातहती और निगरानी में रखना चाहिए जो इस बात की देखभाल रक्खे कि वे अपना काम अच्छी तरह करते हैं। ऐसे अफसर को नौकरों के ऊपर कुछ इख्तियार देना चाहिए जिसमें वे उससे कुछ आसरा भी रक्खें और उसका डर भी मानें।

नीच नौकरों को महाराज की बातचीत सुनने और उसे इधर उधर फैलाने से रोकना चाहिए। यदि इस बात की कड़ी चौकसी न रक्खी जायगी तो ये लोग इस प्रकार की खबरें बेचा करेंगे।

ऐसे नौकर राज्य के सरदारों, अफसरों, कर्मचारियों, सेठ साहूकारों या ऐसे ही और लोगों के पास भेंट करने वा किसी न किसी बहाने इनाम इकराम माँगने न जाने पावें। राजा के नौकरों का इस प्रकार रुपया कमाना राजा की प्रतिष्ठा के विरुद्ध है और इससे लोगों को तंग भी होना पड़ता है।

राजा से भेंट मुलाकात करने का प्रबन्ध ऐसा होना चाहिए कि भेंट होना या न होना छोटे नौकरों की कृपा व अकृपा पर न रहे।

नीच नौकर कभी राजा महाराजों से वा राजा महाराजों के सामने ऐसी बातें न करने पावें जिनसे उन्हें कुछ प्रयोजन नहीं और जो उनकी हैसियत के बाहर हैं। जैसे नौकरों का राजाओं के सामने राजकाज के मामलों में बातचीत करना वा मन्त्रियों के गुण दोष बतलाना ठीक नहीं है। इसी प्रकार की अनधिकार चर्चा का फल बुरा होता है।

ख़िदमतगारों का यह काम न होना चाहिए कि वे नए और बिना जाने बूझे आदमियों को महाराज से मिलावें या किसी का कोई प्रार्थनापत्र महाराज के हाथ में दें।

ऐसे नौकरों पर इस बात की ताकीद रहे कि वे महाराज से मिलनेवालों तथा अन्य लोगों से नम्रता का व्यवहार करें।

जब महल में किसी नौकर चाकर की या और किसी की अकस्मात् वा बुरी गति से मृत्यु हो अथवा महाराज को उसकी मृत्यु के विषय में कुछ सन्देह हो तुरन्त उसकी लाश की चीड़ फाड़ वा डॉक्टरी परीक्षण करानी चाहिए जिसमें उसकी मृत्यु का ठीक कारण मालूम हो जाय और लिख लिया जाय। व्यर्थ के अपवादों और सन्देहों को दूर करने के लिए यह आवश्यक उपाय है।

**तनख्वाहें**–जहाँ तक हो सके महल के नौकर चाकरों की तनख्वाह नक़द मुकर्रर होनी चाहिए। इसमें सबको सुबीता है। सीधा और रसद इत्यादि बाँधने से बहुत-सी बुराइयाँ होती हैं।

महल के नौकर चाकर एक प्रकार से अपने निज के हैं। पर उन्हें भी यह विश्वास रहना चाहिए कि जब तक वे अच्छी तरह काम करते जायँगे तब तक बराबर लगे रहेंगे। मतलब यह कि वे बिना किसी बात के यों ही जब मौज हुई तब छुड़ा न दिए जायँ। यदि वे अच्छा काम करें तो मौक़े से उनकी तरक़्क़ी भी हो।

ख़ास सेवा में रहनेवाले ऐसे नौकरों को जिनसे महाराज को दिन रात काम पड़ता है अच्छी तनख़्वाहें मिलनी चाहिए। उनके साथ बर्ताव भी ऐसा होना चाहिए जिससे वे महाराज के ऊपर बड़ी श्रद्धा भक्ति रक्खें। कभी उनसे कोई बहुत अच्छा काम बन पड़े तब उनको इनाम भी मिलना चाहिए जिससे उनका उत्साह बढ़े। राजकुमारों और रानियों के सेवकों वा दासियों के साथ भी यही होना चाहिए।

**अपराध**–ऐसे नौकरों के छोटे छोटे अपराधों को बहुत ज्यादह ध्यान में न लाना चाहिए और न उनके लिए उन्हें कड़ी कड़ी सजाएँ देनी चाहिए। सब नौकरों से कुछ न कुछ अपराध हो ही जाया करते हैं। ध्यान इस बात का रखना चाहिए कि वे ऐसे छोटे अपराधों से आगे न बढ़ने पावें।

**उनका दण्ड**–यदि कोई महल का सेवक ऐसा आचरण करे जिससे उसको दण्ड देना आवश्यक हो तो भी उचित यही है कि उसके दण्ड के लिए स्वयं महाराज कोई कार्रवाई न करें। दण्ड या तो महल का कोई बड़ा अफसर दे या अदालत दे, जैसा मामला हो। यह इसलिए है जिसमें महाराज से व्यर्थ किसी को द्वेष न होने पावे।

**मूल भृत्य**–महल में जहाँ तक हो पुश्तैनी नौकरों को रखना ही अच्छा है क्योंकि उन्हें राजपरिवार के साथ अधिक स्नेह रहता है। यदि कोई बुड्ढा नौकर मर जाय, अथवा रोग वा बुढ़ापे आदि के कारण अशक्त हो जाय तो उसके लड़के, भाई वा और किसी सम्बन्धी को कोई काम दे देना अच्छा है। पर राज्य के कर्मचारी नियुक्त करने में इस पैतृक सिद्धान्त पर चलना सर्वथा अनुचित है क्योंकि राज्य के कामों में विशेष गुणों की आवश्यकता रहती है।

हाँ कोई कोई राज्य सम्बन्धी कार्य ऐसे भी होते हैं जिनके करने वालों के वंशधरों में इनके योग्य गुण आ जाते हैं, जैसे कि पटवारी और कानूनगो। यहाँ पैतृक सिद्धान्त का काम में लाना अनुचित नहीं है।

**कुचक्री**–सभी राज दरबारों में थोड़े बहुत कुचक्री (चालबाज) रहते हैं। राजा महाराजों को सावधान रहना चाहिए कि ऐसे लोगों के जाल में न फँसें। जहाँ कोई राजा गद्दी पर बैठा, बल्कि उसके कुछ पहिले से ही, उनके दाँव पेंच चलने लगते हैं। इससे यहाँ उनके सम्बन्ध में दो चार बातें आवश्यक हैं।

कुचक्री लोग अपने मतलब के बड़े पक्के होते हैं और उनके जी में अच्छी अच्छी बातें नहीं जमी रहतीं। वे चुपचाप इधर उधर की बातें बहुत करना चाहते हैं। वे झूठी और बिना सोची समझी बातें मुँह से निकालते हैं। छोटी सी बात को भी खूब बढ़ाते हैं, राई का पहाड़ करते हैं। मामलों पर झूठी रंगत चढ़ाते हैं। वे सदा

खुशामद और चापलूसी द्वारा अपने को प्रिय बनाने के यत्न में रहा करते हैं।

यदि राजा महाराजा इन लक्षणों को ध्यान में रक्खें और उनकी एक एक बात पर दृष्टि दें तो कुचक्री को पहचान सकते हैं। राजाओं को चाहिए कि जब कभी वे इस ढंग से कुचक्री को पहचान लें तब फिर उसकी ओर कान न करें और उसे दूर रक्खें, जितना ही कम सरोकार राजा महाराजा ऐसे लोगों से रक्खेंगे उतना ही उनके लिए अच्छा होगा।

यदि किसी के विषय में यह मालूम हो कि वह कभी कुचक्री रहा है तो यह समझना चाहिए कि वह अब भी कुचक्री है। हाँ, यदि इस बात का कोई पक्का प्रमाण मिल जाय कि वह बिलकुल सुधर गया है तो दूसरी बात है। साधारण नियम यह होना चाहिए कि राजा महाराजा उन लोगों को सदा दूर रक्खें जो कभी कुचक्री रह चुके हों।

जब कभी महाराज को ऐसे लोग जिनको महाराज अपना सच्चा हितैषी और विश्वासी सलाहकार समझते हों यह निश्चय दिलावे कि अमुक मनुष्य कुचक्री है तो महाराज की भलाई इसी में है कि उसकी बात मान लें और उस कुचक्री को दूर रक्खें। कम से कम उस पर कड़ी दृष्टि तो जरूर रक्खें।

ऊपर लिखी बातों पर चलने से राजा महाराजा सब कुचक्रियों से नहीं तो भी बहुतों से बचे रह सकते हैं।

अब तक जो कुछ कहा गया है वह इस विषय के लिए काफी नहीं मालूम पड़ता। इससे इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए नीचे कुचक्रियों के लक्षण और सच्चे हितैषियों के लक्षण आमने सामने दिए जाते हैं।

| कुचक्री | सच्चा शुभचिन्तक |
|---|---|
| (1) कुचक्री वास्तव में हितैषी नहीं होता है बल्कि अपने को हितैषी प्रकट किया करता है। | (1) सच्चा हितैषी सच्चा हितैषी है। |
| (2) अथवा यों कहिए कि कुचक्री एक खोटी धातु है जिस पर सोने की कलई की रहती है। | (2) सच्चा हितैषी खरा और ठोस सोना है। |
| (3) कुचक्री की पिछली कार्रवाइयाँ प्रकट करती हैं कि वह कुचक्री है। | (3) सच्चे हितैषी के पिछले काम यह प्रकट करते हैं कि वह निर्दोष है। |
| (4) कुचक्री को सब भले आदमी जानते हैं कि वह कुचक्री है। | (4) इसी प्रकार सच्चे हितैषी को सब भले आदमी समझते हैं कि वह सच्चा हितैषी है। |

(5) कुचक्री प्रायः असन्तोषी होता है और समझता है कि मेरे साथ अन्याय हुआ है और मैं बढ़ने नहीं पाता हूँ।

(6) कुचक्री प्रायः अपनी समझ और योग्यता को सबसे ऊपर समझता है।

(7) कुचक्री जो कुछ करता है वह अधिकतर अपने स्वार्थ के लिए।

(8) कुचक्री जो कुछ करता है वह अपने को कोई बड़ा लाभ पहुँचाने ही के अभिप्राय से करता है—जैसे रियासत में कोई ऊँचा पद पाने के लिए या ऐसी ही और बातों के लिए।

(9) कुचक्री घुमा फिराकर ऐसी ही बातें करेगा जिनसे किसी प्रकार उसको लाभ पहुँचने की राह खुलती हो।

(10) कुचक्री किसी प्रबन्ध वा कार्रवाई के दोष दिखलाने के लिए उतनी बातें नहीं करेगा जितनी लोगों के दोष दिखलाने के लिए।

(11) कुचक्री बुराई करने के लिए उन लोगों की बात सबसे अधिक लावेगा जो उसके लाभ में बाधक होते होंगे।

(12) कुचक्री कभी किसी बात में ऐसे लोगों की प्रशंसा नहीं करेगा बल्कि हर तरह से उनकी निन्दा ही किया करेगा।

(13) ऐसे लोगों के विरुद्ध कुचक्री जो कुछ कहेगा वह ठीक ठिकाने के साथ नहीं। "वे बड़े खोटे आदमी हैं, वे विश्वासघाती हैं, वे बुराई कर रहे हैं, वे स्वार्थी हैं, वे अँगरेजी सरकार के खैरख्वाह बनने के लिए राज्य का अहित कर रहे हैं" इत्यादि इत्यादि।

(14) कुचक्री जो बात होगी उसमें

(5) सच्चे हितैषी को कोई विशेष असन्तोष नहीं होता है, जैसे और सब लोग वैसे ही वह भी जिस दशा में रहता है प्रसन्न रहता है।

(6) सच्चा हितैषी जितना करता है अपने को उतना ही मानता है।

(7) सच्चा हितैषी सब कुछ अपने स्वार्थ ही के लिए नहीं करता।

(8) सच्चा हितैषी जो कुछ करता है वह राजा और प्रजा के हित के लिए।

(9) सच्चा हितैषी ऐसी ही चर्चा नहीं छेड़ेगा जिसमें उसका कुछ न कुछ मतलब हो, बल्कि सब तरह की बातचीत करेगा।

(10) सच्चा हितैषी प्रबन्ध और कार्रवाइयों के दोष अधिक दिखलाया करेगा, लोगों के कम।

(11) सच्चा हितैषी प्रायः सब लोगों के बारे में बातचीत करेगा।

(12) सच्चा हितैषी जो प्रशंसा के योग्य होगा उसकी प्रशंसा किए बिना न रहेगा। वह अधिक विवेक से काम करेगा।

(13) सच्चा हितैषी विशेष विशेष कार्य्य बतलावेगा जिनको वह बुरा समझता है। वह यदि दोष निकालेगा तो ठीक ठीक बतला देगा कि किस कारण।

(14) सच्चा हितैषी जो मत प्रकट

अपना कुछ न कुछ बुरा अनुमान लड़ावेगा। जैसे, यदि किसी साल मालगुजारी ज्यादा आई है तो वह कहेगा कि प्रजा मालगुजारी बढ़ने से त्राहि त्राहि कर रही है। यदि मालगुजारी कम आई है तो वह कहेगा कि कुप्रबन्ध के कारण राज्य की इतनी हानि हुई है। यदि खर्च बढ़ गया है तो वह कहेगा कि यह सब बेपरवाही और फ़िज़ूलखर्ची का फल है। यदि खर्च घट गया है तो वह कहेगा कि बात बात में कमी और कंजूसी की गई है।

करेगा वह अधिक निष्पक्ष होगा। वह इसका विचार रक्खेगा कि कमीबेशी वा उल फेर कहाँ उचित कारण से है और कहाँ अनुचित।

(15) कुचक्री को कुछ करते आगा पीछा नहीं। वह अपने मतलब के लिए किसी बात वा मामले को और का और बतलाकर इस प्रकार घुमावेगा कि सारा दोष उनके सिर पड़े जो उसके लाभ में बाधक होते हैं।

(15) सच्चा हितैषी धर्म के साथ जैसा होगा वैसा कहेगा।

(16) कुचक्री अपना मतलब साधने के लिए सरासर झूठ तक बोलेगा पर ऐसा झूठ जो जल्दी पकड़ा न जा सके। जैसे वह अपने विरोधियों पर तरह-तरह के झूठे अपवाद लगावेगा, उनकी नीयत बुरी बतलावेगा।

(16) सच्चा हितैषी कभी झूठ न बोलेगा, सदा सच बोलेगा। यदि वह किसी कार्रवाई में दोष भी निकालेगा तो भी यदि करने वाले की नियत अच्छी होगी तो उसकी प्रशंसा करेगा।

(17) कुचक्री सदा अपने विरोधियों की ऐसी भूल चूक पकड़ा करेगा जो अच्छे से अच्छे आदमियों से भी हो जाया करती है और उसे जान बूझकर की हुई खोटाई बतलावेगा।

(17) सच्चा हितैषी अधिक उदारता से काम लेगा। वह इस बात को समझेगा कि बड़े से बड़े आदमियों से भी भूल जो जाया करती है। वह समझेगा कि कौन बात जान बूझकर की गई है और कौन भूल से।

(18) कुचक्री को अँधेरे में निशाना मारना बहुत अच्छा लगता है। वह राजा महाराजों के पास अधिकतर रात को मिलने जाया करता है। वह सदा यही चाहता है कि हम महाराज से अकेले में मिलें। वह

(18) सच्चा हितैषी ये सब चालें नहीं चलेगा।

इस प्रकार कानाफूसी करता है मानो कोई बड़े भेद की बात कह रहा है, तरह तरह की बातें सुझाता है, आगम बतलाता है कि देखिएगा जो मैं कहता हूँ वही होगा। वह यह जानता है कि अपने विपक्षियों की जितनी बुराई अभी उसने बतलाई है वह कुछ नहीं है—जितनी वह जानता है उसका एक टुकड़ा भी नहीं है। वह महाराज से बार बार विनती करेगा कि जो कुछ उसने कहा है वह और किसी का मालूम न हो और इस ढंग से महाराज को सच्ची बात का पता लगाने से रोकेगा।

(19) जब कुचक्री को राजकाज के मामलों में अपने विरोधियों के विरुद्ध कुछ कहने सुनने को नहीं मिलता तब वह परस्पर के व्यवहार की छोटी छोटी बातों को लेकर महाराज का मन उनकी ओर से खट्टा करना चाहता है। जैसे, कभी वह कहता है कि "अमुक अधिकारी तो महाराज को कुछ समझता ही नहीं। उस अफसर ने उस दिन महाराज की शान में यह कहा है"—इत्यादि। यदि पूछा गया कि 'उस अफसर ने ऐसा कहाँ कहा?' तो जवाब मिलेगा कि "घर पर अपने एक मित्र से कहा था।" प्रश्न—"क्या वह मित्र पूछने पर मुझसे सब बतलावेगा?" उत्तर—"भला वह अपने मित्र से विश्वासघात करेगा?" प्रश्न—"तब तुम्हें यह सब कैसे मालूम हुआ?" उत्तर—"उस अफसर के एक नौकर ने उन बातों को सुन लिया।" प्रश्न—"क्या बुलाने पर मेरे सामने वह नौकर सब हाल कहेगा?" उत्तर—"वह नौकर अपने मालिक को कैसे फँसावेगा?" प्रश्न—"तब फिर तुम्हें कैसे

(19) सच्चा हितैषी ऐसे पतित कर्म नहीं करेगा। वह तो जहाँ तक होगा महाराज को यही सलाह देगा कि "ऐसी बातों की ओर क्षणभर भी कान न दीजिए। अकेले में इधर उधर के लोग जो बातें कह जायँ उन्हें, चाहे वे सच्ची भी हों। न सुनिये क्योंकि किसी अफसर की भलाई बुराई की जाँच तो उसके सरकारी (राजकाज) कामों से होती है।

मालूम हुआ?'' उत्तर—''जब महाराज इतना पूछते हैं तब सब खोलकर कहना ही पड़ता है। उस अफसर के नौकर और मेरे नौकर के बीच बड़ा हेलमेल है। इस प्रकार मेरे नौकर को मालूम हुआ और उसने मुझसे कहा।'' प्रश्न—''क्या तुम्हारा नौकर मुझसे सब ज्यों का त्यों कहेगा?'' उत्तर—''यह तो मैं ठीक कह नहीं सकता पर हाँ, यदि उसे अपने बचाव का विश्वास हो जायगा तो क्यों नहीं कहेगा?'' इस पर शायद, महाराज उस कुचक्री के नौकर को बुला भेजें और उससे कहें, ''तुम्हारा कुछ न होगा तुम सब बातें कह दो तो तुम्हें इनाम मिलेगा।'' उसको क्या? जो कुछ उसके मालिक ने सिखा पढ़ाकर भेजा था उसने कह दिया। अब तो महाराज के निकट बात प्रमाणित हो गई क्योंकि वे साक्ष्य (गवाही) के नियम आदि तो जानते नहीं। इस पर कुचक्री महाशय थोड़ा और रंग जमाते हैं और कहते हैं—''संयोग की बात थी, इस बार मामला महाराज के सामने साबित हो गया। बहुत करके तो ऐसी बातें साबित नहीं की जा सकतीं। यदि महाराज ऐसी कड़ी जिरह किया करेंगे तब तो बड़ी मुश्किल होगी। इससे अच्छा तो यह है कि महाराज से कोई बात कही ही न जाय।'' महाराज को अन्त में कहना पड़ता है, ''कोई हर्ज नहीं, मुझे अब निश्चय हो गया। तुम निःसंकोच जो बातें हों मुझसे कहा करो।'' इस प्रकार सहारा पाकर कुचक्री महाशय बूँद पर बूँद विष उगलते जाते हैं यहाँ तक कि वह अफसर महाराज की दृष्टि से गिर जाता है और उसके बुरे दिन आ जाते हैं।

(20) एक और लक्षण कुचक्री मनुष्य का यह है कि वह राजा महाराजाओं को प्रसन्न करने के लिए सब कुछ करने को तैयार रहता है। जो मत महाराज का होगा उसके विरुद्ध कभी वह अपना मत प्रकट न करेगा। कोई तुच्छ से तुच्छ बात भी महाराज के मुँह से निकलेगी तो वह उसकी तारीफ में खूब वाह वाह करेगा—पर हाँ वह बात किसी प्रकार उनके पक्ष की न हो जिनके विरुद्ध वह सब चालें चल रहा है। वह महाराज के प्रधान मित्रों और सम्बन्धियों से मित्रता बढ़ाने के लिए अनेक ढंग रचेगा, उन्हें रुपया उधार देगा, उनके पास नजरें भेजेगा, अधिकार पाने पर उनकी हर प्रकार से सेवा करने का वचन देगा।

(20) सच्चा हितैषी खुशामद और चापलूसी से सदा दूर रहेगा। वह बेधड़क अपनी राय कहेगा चाहे वह महाराज की राय से मिले चाहे न मिले। वह जो कुछ करेगा अपनी मर्य्यादा का ध्यान रखकर। वह महाराज के प्रधान मित्रों और सम्बन्धियों से नम्रता का व्यवहार करेगा पर उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए उस प्रकार के उद्योग न करेगा जिस प्रकार के कुचक्री करता है।

ऊपर लिखे लक्षणों को राजा महाराजा यदि पूरी तरह समझ लें तो बहुत अच्छा हो। मैंने अपने बहुत दिनों के अनुभव और विचार की बातें कही हैं। इनके द्वारा वे जान सकेंगे कि कौन कुचक्री है और कौन सच्चा हितैषी, कौन पीतल है और कौन सोना। पर उन्हें थोड़े धैर्य्य और ध्यान के साथ परखना होगा। किसी मनुष्य के रंग, ढंग, आशय, लक्ष्य और कथनों को अच्छी तरह ताड़ना होगा, उन्हें ऊपर लिखी कसौटियों पर कसना होगा। राजा महाराजों को इसका काम बहुत पड़ता है, उन्हें दस तरह के आदमियों को परखना रहता है। पहले तो यह काम थोड़ा कठिन जान पड़ेगा। पर अभ्यास करने पर सुगम हो जायगा और राजा महाराजा चटपट अपनी स्वाभाविक बुद्धि से लोगों को परखने लगेंगे।

कुचक्री जो कुछ कहेगा उसकी एक पहचान यह भी है। वह या तो कहेगा कि ऐसा ऐसा मामला है या कोई राय देगा।

ऐसे इधर उधर के लोगों की राय को तो कुछ समझना ही न चाहिए। यदि राजा महाराजों को राय ही लेना है तो विश्वासपात्र और जाने बूझ आदमियों से लें।

अब रहीं वे बातें जिनका घटित होना बतलाया जाता है।

ये बातें या तो सामान्य और बे ठीक ठिकाने की होंगी अथवा विशेष और पते की।

सामान्य और बिना ठीक ठिकाने की बातें तो किसी कार्य्य की नहीं, उनकी ओर तो ध्यान ही न देना चाहिए।

रह गईं विशेष और पते ठिकाने की बातें। यदि ये काम की हों और सम्भव जँचें अथवा प्रमाण के साथ हों तो राजा महाराजों को उनकी ओर कुछ ध्यान देना चाहिए।

ऊपर कही हुई बातों को अधिक स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टान्त दिया जाता है। मान लीजिए कि कोई कुचक्री किसी महाराज से कहता है—"सोहनलाल बहुत बुरा जज है। वह घूस लेता है। उस मुकदमे में अभी उस दिन उसने बनवारी से 1000 रुपये लिए।" इन तीनों वाक्यों में से पहिले में तो एक प्रकार की राय दी गई है जिसे कुछ समझना ही न चाहिए। दूसरे वाक्य में एक सामान्य और बिना ठीक ठिकाने की बात कही गई है जो किसी अर्थ की नहीं। तीसरे वाक्य में अलबत्तः एक विशेष और पते ठिकाने की बात कही गई है। यदि कहनेवाला खुद गवाही देने वा गवाह बतलाने को तैयार है तो महाराज अपने मन्त्री को सब बातों की ठीक ठीक तहकीकात करके इत्तला करने की आज्ञा दें।

ऊपर जो दृष्टान्त दिया गया है वह बहुत ही सीधा है, और केवल समझाने के लिए है। पर इस प्रकार की बातें जो (कुचक्रियों द्वारा) कही जाती हैं वे प्रायः लम्बी चौड़ी और पेचीली होती हैं। उनकी छानबीन ऊपर लिखे उपायों से अच्छी तरह हो तब पता लगेगा कि कौन कौन सी प्रयोजनीय बातें विशेष और पते ठिकाने की हैं जिन पर ध्यान देना होगा, मैंने कई एक कुचक्रियों को देखा है जो इस छान बीन वा परीक्षा में नहीं ठहर सके हैं।

राजा महाराजों को छानबीन का यह ढंग अच्छी तरह जान लेना चाहिए और उसे बराबर काम में लाना चाहिए, यदि वे ऐसा न करेंगे तो लम्बी चौड़ी बातों के चक्कर में आ जायँगे और चालबाजों के हाथ से धोखा खायँगे।

**क्रोध**—अच्छे से अच्छे मनुज्यों को कभी कभी क्रोध आ जाता है। और राजा महाराजों का पद ऐसा है कि नित्य उनके धैर्य्य और स्वभाव की परीक्षा हुआ करती है। राजा महाराजा राज्य में सबसे बड़े आदमी होते हैं इससे बहुत थोड़े लोग ऐसे होंगे जो उनको किसी बात से रोक सकें। अन्त में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि साधारण मनुष्यों के क्रोध की अपेक्षा महाराजों के क्रोध से बहुत अधिक हानि पहुँच सकती है।

इन बातों से प्रकट है कि राजाओं को क्रोध से कितना सावधान रहना चाहिए। जहाँ तक हो सके क्रोध को पास ही न आने दें। बार बार यत्न करने से सब बातों में शान्ति और धैर्य्य रखने की टेव पड़ जायगी।

यदि महाराज देखें कि बहुतेरा यत्न करने पर भी क्रोध उनमें बना हुआ है तो अच्छा होगा कि अपने मन में इन विचारों को लावें।

क्रोध चित्त का एक ऐसा उद्वेग है जिससे थोड़ी देर के लिए मनुष्य पागल सा हो जाता है। उस उद्वेग की अवस्था में चित्त वेग के साथ एक ही ओर को टूटता है और उसे वे बातें नहीं सूझतीं। जिनसे ठीक ठीक विचार किया जाता है। सारांश यह कि क्रोध में अत्यन्त अनमोल और प्रयोजनीय विचार शक्ति मारी जाती है।

चित्त की ऐसी दशा में यह करना चाहिए कि जिस बात पर क्रोध उत्पन्न हुआ है उसके विषय में न कुछ करें और न कुछ कहें। उस समय महाराज उसकी चर्चा ही छोड़ दें और चित्त को किसी दूसरी ओर ले जायँ। यदि सो जायँ तो बड़ी ही अच्छी बात है क्योंकि उससे बहुत शान्ति आती है। यह भी न करें तो घोड़े या गाड़ी पर दूर हवा खाने निकल जायँ, या कोई ऐसी पुस्तक पढ़ने लगे जिसमें मन लगे।

जिस बात से उद्वेग उत्पन्न हुआ है उससे चित्त को हटा लेना ही अच्छा है। यदि हो सके तो दस पाँच दिनों तक उसको फिर मन में न लावें।

इस सीधी सलाह पर चलने से राजा महाराजा बहुत से अनुचित कार्य्यों और कटु वचनों से बचे रहेंगे जिनके कारण राजकाज में कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं, वे अपने मित्रों और हितैषियों से हाथ धो सकते हैं और उनके विश्वासी नौकरों और कर्म्मचारियों का जी टूट सकता है।

**दूसरों से राय कैसे लेनी चाहिए**—यदि राजा महाराजों को किसी की राय लेनी हो तो उन्हें पहिले अपनी राय कभी न कहनी चाहिए, उसका आभास तक न देना चाहिए। यदि जिसकी राय माँगी जाती है वह महाराज की राय पूछे भी तो जहाँ तक हो सके न कहना चाहिए।

इसके दो प्रधान कारण हैं—(1) यदि महाराज की राय पहिले ही बतला दी जायगी तो सम्भव है जिसकी राय पूछी जा रही है वह विरुद्ध वा भिन्न राय देने में आगा पीछा करे और यदि दे भी तो दबी जबान से दे। पर किसी की राय लेने का मतलब तो होता है कि वह जहाँ तक हो सके जी खोलकर राय दे। (2) यह भी हो सकता है कि महाराज ने चट बिना दूसरों की राय जाने कोई राय बैठा ली और वह ठीक न हुई, महाराज के योग्य यह न होगा कि वे कोई ऐसी कच्ची और बेठीक राय मुँह से निकालें जो कि उचित विचार और परामर्श के बाद छोड़ देनी पड़े।

दृढ़ता एक ऐसा गुण है जिसका सब आदमियों में होना अच्छा है पर विशेष कर उन लोगों में जिन्हें परमेश्वर ने राजा बनाया है। यदि किसी राजा में दृढ़ता का अभाव है तो उसके लिए राजकाज सँभालना बहुत ही कठिन होगा। उसकी राय कभी कुछ होगी, कभी कुछ। उसका उद्देश्य आज और होगा कल और। वह अभी कुछ और आशा देगा थोड़ी देर में कुछ और।

सच्ची दृढ़ता तो बातों को अच्छी तरह परखने, अच्छी तरह विचारने, और उनसे ठीक ठीक परिणाम निकालने से आती है। इस बात का ज्ञान कि हमने बातों को

अच्छी तरह परखा है, सावधानी से विचारा है और उनसे ठीक ठीक परिणाम निकाला है चित्त को दृढ़ करता है। जब हम समझेंगे कि ये सब क्रियाएँ हम उचित रीति से कर चुके तब दृढ़ होंगे।

जिस राजा महाराजा ने स्वयं इन क्रियाओं को किया है उसका दृढ़ता रखना और दिखाना ठीक है।

पर राजा महाराजों के सामने हजारों मामले आते हैं उन सबमें उन क्रियाओं को आप करना उनके लिए असम्भव है, तब क्या वे इन सब मामलों में अस्थिर चित्त रहा करें। नहीं, यदि वे इन सब मामलों में अस्थिर चित्त रहेंगे तो राज्य के काम बिगड़ जायँगे।

इन सब मामलों में राजा महाराजों को अपने विश्वासपात्र और कर्त्तव्यपरायण मन्त्रियों पर विश्वास करना चाहिए जिन्होंने स्वयं इन क्रियाओं को किया है। उन्हें ऐसे मामलों में ऐसे मन्त्रियों की राय और सलाह मान लेनी चाहिए और तब उस राय और सलाह के अनुसार काम करने के लिए दृढ़ हो जाना चाहिए।

जो ऊपर कहा गया है वह एक बड़े काम का सिद्धान्त है। राजा महाराजों को इसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, यदि वे इसे अच्छी तरह नहीं समझे रहेंगे और उसके अनुसार काम नहीं करेंगे तो नित्य बड़े बड़े बेढब झंझटों में फँसेंगे और उनका नाकों दम रहेगा। बहुत कम मामले ऐसे होंगे जिनमें वे आप सब बातों का पता लगाकर उन्हें इकट्ठी कर सकें, उन पर विचार कर सकें और उनके विषय में ठीक ठीक निश्चय कर सकें। तब उन बहुत से मामलों में जिनमें वे आप इन क्रियाओं को नहीं कर सकते वे क्या करें? क्या वे अस्थिर चित्त रहें? तब तो राज्य का सब काम ही चौपट होगा। तब क्या वे मनमाना परिणाम निकाल लें और उस पर जम जायँ। तब तो राज्य का काम और भी चौपट होगा। बड़े दुबधे की बात है।

इतिहास में बहुत से ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें राजाओं के इस सिद्धान्त को न समझने और उस पर न चलने के कारण राज्य के काम चौपट हो गए हैं। जो राजा अपनी दृढ़ता के लिए प्रसिद्ध हो गए हैं वे इस सिद्धान्त को अच्छी तरह जानते थे। वे जानते थे कि किस प्रकार विश्वासी और योग्य मन्त्री चुनना, उनकी जँची हुई राय वा सलाह को मानना, और उस पर दृढ़ता दिखाना चाहिए।

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे यह प्रकट है कि दृढ़ता तभी एक गुण है जब वह ठीक ठीक परिणाम निकाल चुकने के बाद दिखाई जाय। ऐसी दृढ़ता यदि राजाओं में हो तो एक अमूल्य गुण है। पर जब दृढ़ता अयथार्थ परिणाम निकालने के बाद दिखाई जायगी तब वह गुण न रहेगी, अवगुण हो जायगी। तब वह हठ के सिवाय और कुछ न कहलावेगी।

दृढ़ता और हठ में प्रधान अन्तर क्या है? दृढ़ता जिस बात में होती है वह बात ठीक परिणाम निकालने के बाद स्थिर की हुई होती है और हठ जिस बात का

होता है वह बात अयथार्थ परिणाम निकालने के बाद स्थिर की हुई होती है। प्रत्येक राजा को यह निश्चय कर लेना चाहिए कि वह दृढ़ता है, हठ नहीं है—उसके निकाले हुए परिणाम यथार्थ हैं, अयथार्थ नहीं। दृढ़ राजा बहुत भलाई कर सकता है। हठी राजा बहुत बुराई कर सकता है।

**यह अन्तर ध्यान देने योग्य है**—दृढ़ता और हठ में जो अन्तर है उसे सदा ध्यान में रखना चाहिए जिससे ऐसा न हो कि राजा महाराजा हठ ही को दृढ़ता मान बैठें। दृढ़ता गुण है, हठ अवगुण—गुण और अवगुण के बीच बहुत सी बातों में समानता होती है, इससे दुर्बल चित्त के राजा कभी कभी अवगुण को गुण मान बैठते हैं। पर दृढ़ चित्त के राजा अपनी शिक्षा के बल से और मन्त्रियों की चेतावनी के सहारे गुण और अवगुण में जो मुख्य भेद है उसे समझते हैं और इस बात का ध्यान रखते हैं कि हम गुण का अनुसरण करें, अवगुण का नहीं।

ऊपर लिखी बातें यह भी सूचित करती हैं कि समझदार राजा यथार्थ बातें मानने के लिए तैयार रहते है। अर्थात् यदि प्रमाण के साथ यह दिखलाया जाय कि उनकी राय ठीक नहीं है तो वे उसे बदलने के लिए तैयार रहते हैं। पर नासमझ राजा हठी होते हैं, यथार्थ बात मानने के लिए तैयार नहीं रहते, युक्ति और प्रमाण एक नहीं सुनते और अपने बेठीक निश्चय पर जमे रहते हैं।

बुद्धिमान् राजा भारी मामलों में इस बात से अपना जी भरने के लिए कि उनके निश्चय ठीक हैं अपने विश्वासपात्र मन्त्रियों की सलाह लेते हैं और उनके निश्चयों से अपने निश्चय का मिलान करते हैं। पर नासमझ राजा मन्त्रियों से सलाह लेना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं, अयथार्थ निश्चय करते हैं और उसका बुरा भला फल भोगते हैं।

कोई एक मनुष्य, चाहे वह कैसा ही अनुभवी और योग्य हो, यह नहीं कह सकता कि किसी राजकाज के मामले में उसने अकेले, बिना किसी की सलाह लिए, जो कुछ निश्चय किया है वह ठीक ही है। सम्भव है कि उसे बातों का ठीक पता न हो, उसने विचार में भूल की हो वा जिस अवस्था में कोई बात हुई हो उस पर ध्यान न दिया हो। किसी मामले में बात ठीक होगी एक, और झूठे निश्चय होंगे दस तरह के। इससे हरेक राजा के लिए, जो अपनी प्रजा को झूठे निश्चयों की बुराइयों से बचाना चाहता है, यह आवश्यक है कि वह ऊपर कहे हुए ढंग से अपने निश्चय की जाँच कर ले।

राज्य के पुराने अनुभवी मन्त्री और दीवान आदि भी यदि दूसरों से सहायता न लें तो बातों को जानने और विचारने में बड़ी भारी भारी भूलें करें। राज्य प्रबन्ध में उन्हें जो सफलता हुई है वह ऊपर लिखे सिद्धान्तों पर चलने से।

किसी झूठे वा भ्रान्त निश्चय पर जम जाना सचमुच बहुत बुरा है। कभी कभी कोई व्यक्ति ऐसा इसलिए करता है जिसमें लोग उसे दृढ़ समझें। पर यह सच्ची दृढ़ता

नहीं है। यह झूठी दृढ़ता है। यह कोरा हठ है। लोगों को इसका पता बहुत जल्दी चल जाता है और वे उसे हठी और दम्भी समझते हैं।

राजा महाराजों के लिए सबसे बुद्धिमानी की बात यह है कि वे झूठे निश्चयों पर कोई काम करने से बचे रहें। उन्हें चाहिए कि अपने निकाले हुए परिणामों को मन्त्रियों की सभा में प्रकट करें जिसमें उनकी जाँच हो, उन पर वाद विवाद हो और उनके विषय में पक्का निश्चय हो। यह सब चुपचाप होना चाहिए। बाहर के लोगों को इसकी खबर न हो। लोग तो किसी कार्य्य के फल को देखते हैं। यदि फल से यह प्रकट होता है कि झूठे निश्चयों पर महाराज कोई काम नहीं करते हैं तो लोग उनको बहुत अच्छा राजा कहेंगे, वे यह न देखने जायँगे कि किन उपायों से महाराज ऐसा करते हैं।

सारांश यह है कि हर तरह से इस बात का निश्चय कर लीजिए कि आपने जो परिणाम निकाला है वह ठीक है और तब उसके अनुसार दृढ़ता से कार्य कीजिए। इस प्रकार की दृढ़ता से काम लेना राजाओं में बड़ा गुण है।

इस विषय को समाप्त करने के पहिले दो चार बातें और इसके सम्बन्ध में कहना चाहता हूँ।

कोरी दृढ़ता एक कठोर गुण है। व्यवहार में उसकी कठोरता को कुछ कोमल करना पड़ेगा। राजा को दृढ़ होने पर भी कृपालु और शीलवान् होना चाहिए। जो बात जैसी आ पड़ती है उसके विषय में इस अभिप्रायसिद्धि के लिए वैसा करना होता है। यह अभ्यास की बात है और अभ्यास बराबर ध्यान रखने से पड़ जाता है। दृढ़ता की जो कठोरता है वह इस प्रकार कम हो सकती है कि जिसे आपकी दृढ़ता से कुछ दुःख पहुँचा हो उसे आप शान्ति और धैर्य के साथ समझा बुझा दें। उसे यह मालूम हो जाय कि आपने जो उसकी इच्छा पूरी नहीं की है वह शील न होने के कारण नहीं बल्कि न्याय की दृष्टि से, राज्य-प्रबन्ध के सिद्धान्तों के अनुसार तथा जैसा बराबर होता आया है उसके विचार से, या ऐसे ही और किसी कारण से विवश होकर। उसे यह जता दिया जाय कि आपने जो किया वह आपका कर्त्तव्य था, उसके विरुद्ध आप कर ही नहीं सकते थे। यदि आपको इतना समझाने बुझाने का अवकाश न हो तो आप किसी ऊँचे कर्मचारी को ऐसा करने की आज्ञा दे सकते हैं। दूसरा उपाय दृढ़ता की कठोरता को धीमी करने का यह है कि जिसके विरुद्ध दृढ़ता दिखाई गई हो उसके साथ आप किसी और उचित ढंग से कोई उपकार कर दें। इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टान्त बहुत है। मान लीजिए कि कोई कर्म्मचारी बुड्ढा और बेकाम हो गया है और इस कारण छुड़ा दिया गया है। वह आपके पास आकर बहुत कुछ कहता सुनता और गिड़गिड़ाता है। आप उसे एकबारगी दुतकार न दें। उसे समझावें कि आजकल यह कितना आवश्यक है कि राज्य का प्रबन्ध उत्तम हो और जब तक अशक्त कर्म्मचारी अलग नहीं होंगे तब तक राज्य

प्रबन्ध उत्तम होगा कैसे? उससे आप यह भी कहें कि हम सबके सब किसी न किसी दिन बुड्ढे और बेकाम हो जायँगे और हमारे स्थान पर नए लोग आवेंगे। यदि वह कर्म्मचारी इस योग्य है कि उस पर कुछ कृपा की जाय तो आप उसके लड़के को उसकी योग्यता के अनुसार किसी काम पर लगा दें। दृढ़ होकर भी दयालु और उपकारी होना बड़ी बात है।

मैं पहिले ही बतला चुका हूँ कि सच्ची दृढ़ता क्या है और झूठी दृढ़ता क्या है, तथा सच्ची दृढ़ता का गुण राजा महाराजों के कितने काम का है। पर संसार का व्यवहार ऐसा है कि सब जगह पूरी पूरी दृढ़ता से काम लेना अर्थात् तिलभर भी न डिगनेवाली दृढ़ता दिखाना न सम्भव ही है न अच्छा ही है। राजा महाराजों को तो और भी एक गुण को दूसरे गुणों के अधीन रखना पड़ता है। दृढ़ता को ही लीजिए, उसमें भी आगे पीछे का सोच विचार रखना पड़ता है।

मान लीजिए कि 'क' और 'ख' को एक-दूसरे से बराबर काम पड़ता है। यदि किसी मामले में 'क' ने इतनी दृढ़ता ठान ली है कि हम 'ख' की एक न मानेंगे और 'ख' ने भी इतनी दृढ़ता ठान ली है कि हम 'क' की एक न मानेंगे तो उन दोनों की कैसे निभ सकती है? मन मोटाव होगा, अड़चनें पड़ेंगी, झगड़े की नौबत आवेगी अथवा 'क' और 'ख' को एक दूसरे से अलग होना पड़ेगा या और कोई भारी उपद्रव खड़ा होगा।

इससे सिद्ध हुआ कि जब जैसा आ पड़ता है उसके अनुसार कभी कभी समझ बूझकर आदमी को कुछ ढीला भी पड़ना पड़ता है। जब एक ओर एक आदमी की दृढ़ता है और दूसरी ओर दूसरे आदमी की दृढ़ता है तब सुलह के साथ मिल जुलकर काम करने के लिए हर एक को दूसरे की कुछ बातें माननी पड़ती हैं और निपटेरे की कोई ठीक राह निकालनी पड़ती है। बुद्धिमान् राजा की बुद्धिमानी मानने मनाने की प्रवृत्ति में देखी जाती है। बहुत से राजा इस मानने मनाने की प्रवृत्ति से बहुत कुछ लाभ उठाते देखे गए हैं। इसी प्रकार बहुतेरे राजा इस प्रवृत्ति के न होने से हानि उठाते देखे गए हैं।

मानने मनाने में किसी प्रकार की हेठी वा अप्रतिष्ठा नहीं है। परस्पर के व्यवहार में समझदार लोग बराबर मानते हैं। सार्वजनिक कार्य्यों में भी बड़े बड़े लोग मान मनाकर सुलह वा निपटेरे की राह निकालते हैं। राजनीति तो सदा मानने मनाने में ही है। कोई राजनीतिज्ञ यह आशा नहीं कर सकता कि सदा सब बातों में उसी की चलेगी। राजा महाराजों को इन सब बातों को अच्छी तरह समझ रखना चाहिए जिसमें ऐसा न हो कि झूठी आन में आकर वे सुलह वा निपटेरे की बात एक न मानें और अपने ऊपर बाधा वा आपत्ति लावें। राजाओं को लेना और छोड़ना दोनों पड़ता है।

किसी मामले में सुलह वा निपटेरे के लिए कहाँ बात रखनी चाहिए यह जब जैसा हो वैसा विचार लेना चाहिए। प्रायः यह देख लेना चाहिए कि अपना मन कहाँ

तक बैठता है कैसे कैसे सिद्धान्तों का हेर फेर है और जिन कारणों से दूसरे की बात मान रहे हैं वे कैसे हैं। किसी मामले में जहाँ तक दूसरे की बात मान लेने की आवश्यकता है उससे अधिक मानना दुर्बलता है। इसी प्रकार जहाँ तक मानना आवश्यक है वहाँ तक भी न मानना और अपने को अड़चन और संकट में डालना ना-समझी है। अपना लक्ष्य ठीक रखना चाहिए। दूसरे की बात मान लेने में हानि कितनी है और लाभ कितना है यह अच्छी तरह तौल लेना चाहिए। अगर लाभ का पल्ला भारी है तो बात मान लेनी चाहिए।

यहाँ पर थोड़े में यह बतला देना भी आवश्यक है कि जहाँ दो राज्यों के बीच मानने मनाने का मामला होता है वहाँ जो राज्य निर्बल होता है उसे दूसरे की बातें अधिक माननी पड़ती हैं। पर जहाँ सबल पक्ष अपने बल ही को सब कुछ न समझकर युक्ति, न्याय और उदारता से भी काम लेता है वहाँ यह असमानता बहुत कुछ कम हो जाती है।

बिना आपस में माने मनाये लोग अपने परिवारों को दुःखी करते हैं, राजनीतिज्ञ जनसमूह को दुःखी करते हैं, राजा और शासक संसार को दुःखी करते हैं।

ऊपर लिखी बातों को अच्छी तरह ध्यान में रखकर जितनी दृढ़ता आवश्यक हो उतनी दृढ़ता को काम में लाना चाहिए।

**राज्य के बाहर रहना**–स्वास्थ्य सुधारने के लिए वा यों ही जी बहलाने के लिए कभी कभी यात्रा कर लेने के सिवा किसी राजा महाराजा का व्यर्थ अपना राज्य छोड़कर बाहर समय बिताना ठीक नहीं है। कुछ लोग महाराज से कहेंगे इस गरमी में महाराज शिमले वा नैनीताल चलकर रहें तो अच्छा है। इसी प्रकार कुछ लोग आकर कहेंगे, "महाराज अबकी का जाड़ा कलकत्ता में कटे।" जाड़े के दिनों की चहल पहल देखने के लिए महाराज भी शायद निकल पड़ें। पर देशी रियासतों की प्रजा को अपने महाराज का इस प्रकार बाहर रहना अच्छा नहीं लगता। वहाँ के लोग चाहते हैं कि महाराज उन्हीं के बीच में रहें और मालगुजारी के अपने अंश को जहाँ तक हो राज्य के भीतर ही खर्च करें। वे चाहते हैं कि महाराज बराबर उन्हीं में रहकर उनकी भलाई में लगे रहें। उनके लिए यह बुरा लगना स्वाभाविक है कि उनके राजा अपने आनन्द के लिए देश और प्रजा को छोड़कर बाहर जायँ।

एक और बात यह है कि यूरोपियन लोगों के आने जाने की जगहों में किसी देशी रजवाड़े का अपने भारी दल बल के साथ जाना प्रायः उतना पसन्द भी नहीं किया जाता। स्थान के स्वास्थ्य और लोगों के आराम में बाधा पहुँचने की आशंका होती है। इससे कई प्रकार के बन्धन रक्खे जाते हैं जो देशी रजवाड़ों को नहीं भा सकते। हथियार और गोली बारूद ले जाने में नियमों की पाबन्दी करनी पड़ती है। महाराज और उनके आदमियों आदि के टैक्स देने के सम्बन्ध में तरह तरह की बातें उठती हैं। महाराज और उनके आदमियों के साथ अँगरेजी पुलिस और अदालत के

व्यवहार के विषय में टेढ़े टेढ़े प्रश्न उठ खड़े होते हैं। वाजिब दाम और मजदूरी आदि चुकाने पर भी प्रायः मुकदमे दायर कर दिये जाते हैं।

इन सब बातों को विचारकर और देखकर कि राजा महाराजों के बाहर रहने में व्यर्थ बहुत सा खर्च बढ़ता है। जिससे उनकी प्रजा को कोई लाभ नहीं, यही कहना पड़ता है कि उन्हें अपना राज्य छोड़कर व्यर्थ बहुत बाहर नहीं रहना चाहिए।

**नाम पाने का उद्योग**—राजा महाराजों को प्रसिद्ध होने के लिए बहुत उतावली नहीं करनी चाहिए। अच्छे और उदार राजा का प्रसिद्ध होने की अभिलाषा करना राजा महाराजों के लिए उचित और योग्य ही है। इस संसार में उत्तम प्रकृति के लोगों के लिए लोकोपकारी माने जाने से बढ़कर और कोई सन्तोष की बात ही नहीं है। पर ऐसी ख्याति लाभ करने के लिए कुछ समय चाहिए। वह बरसों के शुद्ध आचरण, गहरे स्वार्थ त्याग, शान्ति और धैर्यपूर्वक विषयों के अध्ययन तथा लोकहित के लिए लगातार कठिन प्रयत्न करने से मिलती है। ऐसी कीर्ति प्राप्त करने का कोई और सीधा मार्ग नहीं।

जो राजा महाराजा इन बातों को पूरी तरह समझते हैं वे बहुत सी स्थिर बातों में केवल नाम के लिए व्यर्थ छेड़छाड़ करने की धुन में नहीं पड़ते। वे धैर्य्य और शान्ति के सुगम मार्ग पर चलते हैं।

जो राजा बात बात में वाहवाही के भूखे रहते हैं वे दुःख उठाते हैं। संसार को अपने कामों से इतनी छुट्टी कहाँ कि हर घड़ी राजाओं की 'वाह वाह' किया करे और यह ठीक भी नहीं है कि दुनिया की वाहवाही इतनी सस्ती हो जाय कि सड़ी सड़ी बातों के लिए भी लुटा करे।

जो राजा अवसर नहीं जोहते और नाम पाने के लिए अधीर रहते हैं वे कभी कभी समाचारपत्रों में तारीफ़ छपवाते हैं। भाड़े के खुशामदी टट्टू ऐसे राजाओं के छोटे मोटे कामों के भी खूब लम्बे चौड़े वृत्तान्त लिखते हैं और बात बात में उनकी बे सिर पैर की बुद्धिमानी और उदारता की प्रशंसा लोगों से कराना चाहते हैं। पर ज़बरदस्ती नाम पैदा करने के ऐसे ऐसे यत्नों का अन्त में कुछ भी फल नहीं होता। परखनेवालों को भाड़े के टट्टुओं की झूठी और बढ़ाई हुई बातों को ताड़ने में देर नहीं लगती।

इसलिए नए राजाओं के लिए सबसे अच्छी सलाह यह है—बराबर दृढ़ता के साथ, बिना आडम्बर वा दिखावट के भलाई करते रहिए। इस प्रकार यश के अधिकारी हो जाइए और देखिए वह कब मिलता है; अन्त में वह मिले ही गा।

**डेपुटेशन**—राजा महाराजों को स्वयं डेपुटेशनों से मिलने में बहुत सावधान रहना चाहिए। यदि यह मालूम हो जायगा कि अमुक राजा व महाराजा डेपुटेशनों से बहुत मिलते हैं तो उनसे इतने अधिक डेपुटेशन मिलना चाहेंगे जिनका अन्त नहीं—उनकी प्रजा के भिन्न भिन्न वर्गों के डेपुटेशन, आसपास के नगरों के डेपुटेशन, दूर दूर तक

की मण्डलियों के डेपुटेशन, चारों ओर से डेपुटेशन ही डेपुटेशन आवेंगे। वे बड़े बड़े ऐड्रेस (अभिनन्दनपत्र) देंगे और लम्बी चौड़ी स्पीचें झाड़ेंगे। कभी वे टेढ़े टेढ़े विवाद उठावेंगे और किसी विषय पर महाराज से ठीक-ठीक उत्तर चाहेंगे। वे धर्म, राजनीति, कलाकौशल तथा और विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली न जाने कितनी बातों से महाराज को हैरान करेंगे। जो कुछ महाराज उनसे कहेंगे वा नहीं भी कहेंगे उसकी चारों ओर कड़ी कड़ी आलोचनाएँ होंगी।

चलता हुआ नियम तो यह होना चाहिए कि साधारण डेपुटेशन जो हों वे महाराज के मन्त्रियों के पास भेज दिए जायँ। जैसे मान लीजिए कि कोई डेपुटेशन माल (लगान, मालगुजारी) के सम्बन्ध में कुछ बातें कहना चाहता है, उसे सीधे मालविभाग के अधिकारी वा मन्त्री के पास जाना चाहिए। यदि किसी डेपुटेशन को शिक्षा विभाग से सम्बन्ध रखनेवाली बात कहनी है तो उसे शिक्षा विभाग के अधिकारी के पास जाना चाहिए। इसी तरह और भी समझना चाहिए। विभाग का अधिकारी डेपुटेशन से अच्छी तरह मिले, उसकी सब बातें सुने और जो कुछ करना हो उसे करे। कोई बड़ा मामला हो तो टेपुटेशन दीवान या प्रधानमन्त्री के पास जाय। जहाँ डेपुटेशन की बातें काम काज की हों वहाँ के लिए यही सबसे अच्छी और सुगम रीति है।

महाराज स्वयं डेपुटेशन से मिलना केवल तब स्वीकार करें जब डेपुटेशन, उसका विषय वा अवसर बड़े महत्त्व का हो। ऐसा संयोग कम पड़ता है। दीवान से पूछने पर मालूम हो सकता है कि कौन बात कैसी है।

जब कभी ऐसा संयोग पड़े तो भी दीवान को पहले से डेपुटेशन के विषय और उद्देश्य की सूचना होनी चाहिए। डेपुटेशन की ओर से जो ऐड्रेस वा अभिनन्दनपत्र दिया जानेवाला हो उसे दीवान को देख लेना चाहिए जिसमें वह महाराज को उसके लिए तैयार कर सके।

महाराज की ओर से डेपुटेशनों के जो उत्तर हों वे बड़ी सावधानी के साथ खूब सोच समझकर लिखे जायँ। यदि उत्तर स्पष्ट और ठीक ठीक दिया जा सकता हो तो अच्छी ही बात है। पर प्रायः ऐसा होता है कि महाराज की ओर से तुरन्त ठीक ठीक उत्तर नहीं दिया जा सकता। बात को पीछे से अच्छी तरह से विचारना रहता है। जहाँ यह हो वहाँ महाराज झटपट बिना सोचे समझे ऐसा उत्तर न दें जिससे उनकी कोई राय व कार्रवाई प्रकट हो। उत्तर ऐसा हो जिससे कोई आशा न बँधे और जिसमें कोई ऐसे वादे न हों जिनको पूरा करना आगे चलकर कठिन हो। सारांश यह कि ऐसे उत्तर के लिए बड़ी बुद्धि और चतुराई चाहिए। यह नहीं कि हर एक आदमी जो शुद्ध शुद्ध भाषा लिख सकता है ऐसे उत्तर तैयार कर ले। अच्छा तो यह होगा कि महाराज ऐसे उत्तर अपने मन्त्रियों से तैयार करावें। योरप के सम्राट् भी इसी रीति पर चलते हैं।

**राजा महाराजों को किससे सलाह लेनी चाहिए**—राजकाज के मामलों में राजा महाराजों को सलाह लेने की कितनी आवश्यकता है यह मैं पहले दिखला चुका हूँ। सलाह लेने का मतलब यह है कि ठीक निश्चय पर पहुँचें जिससे राज्य का प्रबन्ध उत्तम हो।

अब प्रश्न यह उठता है कि राजा महाराजा सलाह लें तो किससे लें। यह तो ठीक नहीं कि जिस किसी से हुआ उसी से सलाह ले ली। बीसों आदमी राजा महाराजों को बात बात में सलाह देने को तैयार रहते हैं। जो सबसे मूर्ख होते हैं वे तो इस बात में सबसे आगे रहते हैं क्योंकि न उन्हें सन्देह सताते हैं, न अड़चनें सुझाई पड़ती हैं।

राजा महाराजों को मन्त्रदाता वा सलाहकार बहुत समझ बूझकर चुनना चाहिए। राजा महाराजों का यह एक बहुत बड़ा और आवश्यक कर्त्तव्य है। यह उन मुख्य बातों में से है जिनके कारण उन्हें राजकाज में सफलता होती है।

राजा महाराजों को समझ बूझकर ऐसे मन्त्रदाता वा सलाहकार चुनने चाहिए जिनमें ये गुण मुख्य हों—

(क) जिस कार्य में सलाह लेनी हो उसके तत्त्व और सिद्धान्तों की जानकारी।

(ख) व्यवहार का अनुभव जिससे यह जाना जाता है कि उस जानकारी को कहाँ कहाँ किस प्रकार काम में लाना चाहिए।

(ग) सत्यप्रियता, न्यायप्रियता और स्वार्थत्याग की प्रवृत्ति जिनसे आशय उच्च होता है, नीयत अच्छी होती है।

राजा महाराजों को इन गुणों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और जिनमें ये गुण हों उन्हें सलाहकार चुनना चाहिए। जो राजा महाराजा ऐसा करेंगे वे संसार को यह दिखला देंगे कि उनमें योग्यता और विवेक है। इसमें सन्देह नहीं कि राजा महाराजा की कीर्ति और सफलता बहुत कुछ अच्छे सलाहकारों के चुनाव पर निर्भर है।

तात्पर्य यह निकला कि राजा महाराजा को ऐसे लोगों की सलाह न लेनी चाहिए। जिनमें ऊपर लिखे हुए गुण न हों। ऐसे लोगों की सलाह किसी काम की नहीं। उनसे तो उलटे हानि पहुँच सकती है। सो ऐसे लोग यदि राजा महाराजा को सलाह देने आवें, जैसा कि वे प्रायः करते हैं, तो श्रीमानों के लिए अच्छा यही होगा कि उनकी ओर विशेष ध्यान न दें। ऐसी सलाहों को सुनना तक समय नष्ट करना और सिर दुखाना है। यदि कोई राजा महाराजा ऐसे लोगों की सलाह सुनेंगे तो वे शिक्षित समाज की दृष्टि से गिर जायँगे। इसके सिवाय उनके शुभचिन्तकों को भी अपने महाराज की बुद्धि का कुछ विश्वास न रहेगा। ऐसे शुभचिन्तक कहेंगे वा मन में समझेंगे कि—"महाराज को योग्य और अयोग्य सलाह की पहचान तो है नहीं, उनकी बुद्धि का तो कुछ ठिकाना नहीं। संयोग की बात है जिस किसी की सलाह चल जाय।"

मैंने इस विषय को थोड़ा विस्तार के साथ कहा है क्योंकि ऐसा प्रायः हुआ है—और देशी रियासतों में तो बहुत हुआ है कि अच्छी से अच्छी और पक्की से पक्की सलाह किसी कुचक्री कारकुन, मुँहलगे नौकर, संकीर्ण चित्त पुजारी या चतुर गवैए की सलाह के आगे नहीं चल सकी है। इस प्रकार बहुत सी रियासतों का प्रबन्ध गड़बड़ाया है और बहुत सी रियासतें चौपट हो गई हैं।

ऊपर लिखी बातों को अच्छी तरह समझ लेने और ध्यान में रख लेने से राजा महाराजा उन बहुत से अयोग्य सलाहकारों से अपना पिण्ड छुड़ा सकेंगे जो राज दरबारों में सदा अपनी राय भिड़ाने का अवसर ताका करते हैं। किसी राजा के लिए अयोग्य सलाहकारों से छुटकारा पाना बड़ा शुभ लक्षण है।

अतः इसके पहिले कि राजा महाराजा किसी व्यक्ति की सलाह लें वा मानें उन्हें अपने मन में यह प्रश्न कर लेना चाहिए—क्या उस मनुष्य को उस विषय (जिसमें राय लेनी है) के सिद्धान्त और व्यवहार का ज्ञान है और क्या वह सत्यप्रिय, न्यायप्रिय और निःस्वार्थ है? यदि मन में बैठे कि 'हाँ' तब तो वह मनुष्य योग्य सलाहकार है। यदि मन में ऐसा न बैठे तो वह मनुष्य योग्य सलाहकार नहीं है।

अब मान लीजिए किसी राजा महाराजा ने यह अच्छी तरह समझ लिया कि कैसे योग्य सलाहकार चुनना चाहिए। यदि ये योग्य सलाहकार सबके सब एकमत हों और एक ही सलाह महाराज को दें तो बहुत ही अच्छा है। पर प्रश्न यह उठता है कि यदि ये योग्य सलाहकार सहमत न हों और एक दूसरे के विरुद्ध राय दें तो महाराज क्या करें। ऐसा प्रायः हो सकता है, इससे यह जान लेना अच्छा है कि ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए।

यदि योग्य सलाहकार एक दूसरे से भिन्न और विरुद्ध राय दें तो इसका निर्णय करना महाराज ही के ऊपर है कि किसकी सलाह पर चलना सबसे अच्छा है। यह महाराज का बहुत बड़ा काम है। इसे उन्हें बड़े विचार और सावधानी से करना चाहिए।

मैं आगे कुछ बातें बतलाता हूँ जो राजा महाराजा के बड़े काम की होंगी।

सलाह चुनने में कई बातों का विचार रखना चाहिए जिनमें से मुख्य ये हैं।

किसी जिम्मेदार अफसर की सलाह के सामने किसी इधर उधर के आदमी की सलाह को न मानना चाहिए। इधर उधर का आदमी चाहे कैसा ही योग्य और विचारवान् हो, ठीक ठीक निर्णय करने के लिए उतना उपयुक्त नहीं हो सकता। जवाबदेही का ध्यान—अर्थात् यह ध्यान कि महाराज को कच्ची राय देने से विश्वास उठ जायगा एक ऐसा बन्धक व मुचलका है जो जिम्मेदार अफसर से भरसक अच्छी ही राय दिलावेगा। पर जिसके सिर कोई जवाबदेही नहीं उसके विषय में इस प्रकार की कोई पुष्टि नहीं रहती और रहती भी है तो बहुत कम।

इस बन्धक से पूरा पूरा लाभ उठाने के लिए राजा महाराजा को चाहिए कि

भारी मामलों में जो सलाह उन्हें दी जाय उसे वे सलाह देनेवाले से दस्तख़त और मितिवार के सहित स्मरण पत्र के रूप में लिखा लें। यह अनुभव की बात है कि बहुतेरे लोगों से जो ज़बानी बातचीत में यों ही बिना सोचे विचारे कुछ न कुछ कह देते हैं। जब लिखकर सम्मति देने के लिए कहा जाता है तब वे अपनी जवाबदेही का अधिक ध्यान रखते हैं। जो कुछ वे लिखते हैं वह उससे अधिक सोचा समझा, अधिक स्पष्ट और अधिक ठीक होता है जिसे वे केवल मुँह से कहते हैं।

जिस बात में सलाह लेनी है यदि वह सिद्धान्त की बात है तो उसकी सलाह को सबके ऊपर माने जो वैसे सिद्धान्तों में निपुण हो। इसी प्रकार जिस बात में सलाह लेनी है यदि वह व्यवहार ज्ञान की बात है तो उस आदमी की सलाह सबके ऊपर मानें जो वैसे व्यवहारों में पक्का हो।

और सब बातों का विचार करके जिस सलाह को बहुत से योग्य पुरुष दें उसे उस सलाह से अधिक मानना चाहिए जिसे कम लोग दें।

सब बातों का विचार करके उस सलाह पर चलना चाहिए जिससे चलते हुए कामों में सबसे कम बाधाएँ पड़ें।

और सब बातों का विचार करके उस सलाह को मानना चाहिए जो प्रजा की इच्छा और भावना के सबसे कम विरुद्ध हो।

इसी प्रकार उस सलाह को मानना चाहिए जो पड़ोस के राज्य में विशेषकर अँगरेजी राज्य में प्रचलित रीति के सबसे अधिक मेल में हो।

इसी प्रकार उस सलाह पर चलना चाहिए जिसे आप समझें कि राज्य की भलाई के लिए अँगरेजी सरकार भी अधिक पसन्द करेगी।

कहाँ किस प्रकार और किस सलाह पर चलना चाहिए इसका निर्णय करने के लिए ऊपर लिखी बातें बड़े काम की हैं।

सबसे उलझन वहाँ पड़ेगी जहाँ ऊपर लिखी सब बातों का विचार करने से कोई एक राह न सूझेगी अर्थात् कुछ बातों का विचार करने से मन में बैठेगा कि ऐसा करना चाहिए और कुछ बातों का विचार करने से यह ठहरेगा कि ऐसा नहीं; ऐसा करना चाहिए। ऐसी दशा में पक्ष और विपक्ष की बातों को अच्छी तरह तौलना चाहिए और पल्ला देखकर निश्चय करना चाहिए।

पक्ष और विपक्ष की बातों को किस तरह तौलना चाहिए और पल्ला किस तरह आँकना चाहिए ठीक ठीक बतलाना कठिन है। यह अभ्यास और परख की बात है।

राजा महाराजों को ठीक-ठीक निर्णय करने में बहुत कुछ सुबीता हो सकता है, यदि वे भिन्न भिन्न मत देनेवाले अपने सलाहकारों को अपने सामने आपस में वाद विवाद करने दें और स्वयं भी उस विवाद में सम्मिलित हों तथा ऊपर जिन बातों का विचार रखने के लिए कहा गया है उसके सम्बन्ध में पूछपाछ करें। इस

विवाद का फल यह होगा कि जिन बातों में परस्पर भेद पड़ता होगा। वे तै हो जायँगी और सब लोग एक परिणाम पर पहुँच जायँगे।

यदि सब लोग एक परिणाम पर न पहुँचें और महाराज देखें कि ऊपर कही सब बातों को तौलकर ठीक ठीक पल्ला नहीं आँक सकते तो सबसे अच्छा होगा कि यदि सम्भव हो तो महाराज उस विषय को फिर किसी समय सोचने और विचारने के लिए टाल रक्खें। आगे चलकर कोई ठीक राह निकल ही आवेगी।

यदि उस विषय का टालना सम्भव न हो और उसी समय निर्णय की आवश्यकता हो तो राजा महाराजों के लिए सबसे अच्छा यह होगा कि वे अपने प्रधानमन्त्री की सलाह को ऊपर मानें और उसी पर चलें।

**काम का बोझ**–राजा महाराजों को अपने ऊपर बहुत अधिक कामों का बोझ नहीं लेना चाहिए। उन्हें इतना काम न उठाना चाहिए कि उनके स्वास्थ्य को हानि पहुँचे। उन्हें आराम के लिए पूरा समय न मिले और काम भी उतनी समझ बूझ और सोच विचार के साथ न हो।

राजा महाराजों को यह याद रखना चाहिए कि उन्हें जीवन भर काम ही करना है, कुछ दिन खूब परिश्रम करके फिर चुपचाप बैठ नहीं रहना है। इससे काम भी एक हिसाब से करना चाहिए।

मोटे तौर पर राजा महाराजों को प्रतिदिन चार पाँच घण्टों से अधिक काम नहीं करना चाहिए। इससे उन्हें स्वास्थ्य सुधारने, आराम करने, पढ़ने लिखने, परिवार की देखभाल करने, इष्ट मित्रों से मिलने तथा सुख और आनन्द के लिए समय रहेगा। जब कोई और ऊपर का काम आ जाय तब महाराज कुछ अधिक समय अवश्य लगावें।

बहुत से छोटे ब्योरों को तो राजा महाराजों को अपने प्रधानमन्त्री के ऊपर छोड़ देना चाहिए। उनके सम्बन्ध में एक एक मामले में अलग अलग ब्योरेवार आज्ञा देने से अच्छा यह होगा कि महाराज एक सामान्य आज्ञा दे दें जो एक ही प्रकार के बहुत से मामलों पर घटे। इस युक्ति से बहुत सा समय और श्रम बचेगा सिद्धान्त यह है कि महाराज बहुत से ऐसे कामों का बोझ अपने ऊपर न उठा लें जिन्हें और लोग भी अच्छी तरह कर सकते हैं। महाराज एक इंजीनियर के समान हैं। इंजीनियर को आप इंजिन के कल पुरजों को नहीं चलाना पड़ता। इंजीनियर जितना ही अधिक दक्ष होगा उतना ही वह इंजिन से अधिक काम लेने का प्रबन्ध करेगा और अपने लिए बहुत सा समय देखभाल और सुधार करने के लिए निकालेगा।

**कामकाज**–राजा महाराजों को अपना स्वास्थ्य और बुद्धि ठिकाने रखने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि वे व्यर्थ के झंझटों से अपने को बचाये रहें। यदि वे इस बात का ध्यान नहीं रक्खेंगे तो बहुत माथापच्ची करनी पड़ेगी।

न जाने कितने लोग तरह तरह की प्रार्थनाएँ लेकर महाराज के पास पहुँचेंगे और कुछ न कुछ चाहेंगे। उनमें से मुख्य ये होंगी–

(क) नौकरी, तरक्की, वेतनवृद्धि और एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदली के लिए प्रार्थनाएँ।

(ख) मुआफी ज़मीन के लिए प्रार्थनाएँ।

(ग) ब्याह शादी के लिए पोशाक, गहने और रुपये पैसे की याचना।

(घ) सीधे के लिए प्रार्थना।

(च) गाड़ी, घोड़ा, सवार आदि मँगनी पाने की प्रार्थना।

(छ) उधार और पेशगी आदि के लिए प्रार्थना।

(ज) जो बातें तै हो चुकी हैं उन्हें रद्द करने, बदलने वा फिर से विचारने की प्रार्थना।

(झ) धर्म्मार्थ दान और चन्दे के लिए प्रार्थना, इत्यादि इत्यादि।

इस प्रकार के बहुत से झंझटों से राजा महाराजा दो चार सिद्धान्तों का ध्यान रखने से बच सकते हैं। वे यहाँ संक्षेप में कहे जाते हैं।

उन मामलों में, जिनके विषय में सब कार्रवाई करने का अधिकार महाराज ने भिन्न भिन्न विभागों के अधिकारियों को दे रक्खा है, महाराज को हाथ न डालना चाहिए। यही उचित और योग्य है।

बहुत से मामलों में महाराज प्रार्थी से कह सकते हैं कि जिस विभाग से सम्बन्ध है उसके अधिकारी द्वारा प्रार्थना करो।

बहुत से मामलों में महाराज कहें कि हम व्यय की वर्तमान सीमा को बढ़ा नहीं सकते, क्योंकि यह बहुत आवश्यक है कि आय से व्यय कम रहे।

बहुत से मामलों में पुराने दाखलों के हवाले पर चलना चाहिए।

कुछ मामलों में इस सिद्धान्त को बर्ते कि जिस बात पर एक बार विचार और निश्चय हो चुका उस पर फिर, जब तक कोई नया और बहुत ही आवश्यक कारण न दिखाया जाय, विचार नहीं हो सकता।

**निर्णय वा विवेक**–जो लोग ऊँचे पद पर हैं और बड़े बड़े अधिकार रखते हैं, विशेष कर जो राजा हैं, उन्हें सदा निर्णय का अभ्यास रखना चाहिए। यह एक पक्ष के कारणों को एक ओर और दूसरे पक्ष के कारणों को दूसरी ओर रखकर तौलने और पल्ला आँकने का अभ्यास है। यह अभ्यास बहुत ही आवश्यक और उपयोगी है और यत्न करने से प्राप्त होता है।

जब बहुत सी बातों में से किसी एक बात को चुनना हो तो चुनाव मनमाना नहीं होना चाहिए। चुनाव किसी अच्छे कारण से होना चाहिए। बड़े और छोटे सब मामलों में यही सिद्धान्त रखना चाहिए। सारांश यह कि चाहे कोई बात हो, बुद्धि को ऊपर रखना चाहिए।

जो राजा बुद्धि के अनुसार चलता है उसका मार्ग सदा निष्कंटक रहता है।

यदि कोई किसी राजा से कहे कि ऐसा कीजिए तो उससे उसका कारण पूछना चाहिए।

सब बातें बुद्धि के अनुसार करने से राजा की पुष्टि रहेगी, क्योंकि सब बुद्धिमान् उनका पक्ष लेंगे। प्रजा और सर्वसाधारण की भी सहानुभूति और सहायता रहेगी।

सच तो यह है कि यह निर्णय वा विवेक ही की शक्ति है जिसके कारण एक आदमी कुछ और होता है दूसरा कुछ और। यदि दो आदमी सामान्य दशा में रक्खे जायँ तो वह आदमी अधिक सफलता प्राप्त करेगा जिसमें विवेक अधिक होगा।

पर निर्णय शक्ति वा विवेक किसी को जन्म से नहीं होता। इसको धैर्य के साथ अभ्यास द्वारा प्राप्त करना पड़ता है। उसको ठीक ठीक काम में लाने के लिए पक्के सिद्धान्तों की भरपूर जानकारी चाहिए। यह भी देखना चाहिए कि बड़े बड़े प्रसिद्ध पुरुष कठिन और उलझन के मामलों में किस प्रकार निर्णय करते हैं। इस बात की जानकारी के लिए नित्य कुछ पुस्तकें पढ़ी जायँ तो अच्छा है।

**पूरा पूरा विचार**–यदि राजा महाराजों के पास आज्ञा के लिए कोई बात आवे तो उन्हें यह देख लेना चाहिए कि उसका प्रभाव–

(क) उन पर,

(ख) उनकी प्रजा पर,

(ग) और राज्यों की प्रजा पर,

(घ) अँगरेज़ी सरकार पर,

(च) सर्वसाधारण पर तथा

(छ) आगे आनेवाली उसी प्रकार की और बातों पर कैसा पड़ेगा।

भारी भारी मामलों में इन्हीं सब बातों को अच्छी तरह देखना चाहिए।

किसी कार्रवाई की भलाई बुराई समझने के लिए यह भी देख लेना चाहिए कि यदि और लोग भी वैसी ही कार्रवाई करें तो वह हमें कैसी लगेगी। इसमें यह सिद्धान्त रक्खा गया है कि तुम दूसरे लोगों के साथ वैसा ही करो जैसा कि तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करें।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि किसी कार्रवाई का प्रभाव किन किन बातों पर कैसा पड़ेगा यह अच्छी तरह देख लेना चाहिए। इसके देखने में वर्तमान का भी ध्यान रखना चाहिए और भविष्य का भी।

**प्रस्तावों के परिवर्तन की प्रवृत्ति**–बहुत से राजा महाराजों को जो प्रस्ताव उनके सामने लाया जाता है उसमें कुछ न कुछ फेरफार करने का बड़ा चाव रहता है–चाहे फेरफार की कोई आवश्यकता हो, चाहे न हो। इस प्रवृत्ति से अपने को बचाना चाहिए। इसी प्रवृत्ति से काम में रुकावट पड़ सकती है।

इस प्रवृत्ति का मूल है अहंकार। इस प्रवृत्तिवाला मनुष्य समझता है कि यदि हम अपने सामने आए हुए प्रस्ताव में कुछ अदल बदल करेंगे तो हमारा बड़प्पन रहेगा। पर यह भूल है। अदल बदल करने ही में बुद्धिमानी नहीं है। अदल बदल का जब कोई ठीक कारण होगा तभी बड़प्पन और बुद्धिमानी समझी जायगी। जहाँ बिना किसी ठीक कारण के केवल छोटाई बड़ाई के खयाल से अदल बदल किया जाता है वहाँ केवल चित्त की दुर्बलता सूचित होती है। लोग इस दुर्बलता को चट भाँप जाते हैं। वे असल और नकल की पहचान कर लेते हैं।

राजा महाराजा उपस्थित प्रस्ताव की जहाँ तक जाँच करते बने, करें। उन पर विवाद भी करें। जो बात अयुक्त हो उसे कहें और पूछपाछ करें। यदि यह मन में बैठ जाय कि इन कारणों से अदल बदल करना आवश्यक है तो अदल-बदल करें। पर यों ही केवल अधिकार और बड़प्पन जताने के उद्देश्य से अदल बदल करना बड़ी बुरी बात है।

मैंने देखा है कि चापलूस लोग, जिनसे शायद ही कोई राज दरबार बचा हो, इस प्रवृत्ति को बढ़ावा देकर उभाड़ते हैं। पर इन लोगों के फेर में पड़ना मानो अपने को भूलकर अपनी हानि आप करना है।

बात के ठीक जँचने पर और कर्म्मचारियों पर इतना विश्वास होने पर कि उनके हाथ में सब ब्योरा ठीक रहेगा जो राजा महाराजा दृढ़चित्त होकर कहते हैं कि "मैं सहमत हूँ" वे काम को बड़ा सुगम कर देते हैं। यही एक उपाय है जिससे काम में अड़चन नहीं पड़ सकती और राजा महाराजों को भी ध्यान देने योग्य भारी भारी मामलों को निपटाने का पूरा अवकाश मिल सकता है।

**साध्य और साधन**–किसी काम को अच्छी तरह और सफलतापूर्वक करने के लिए पहले यह साफ साफ समझ लेना जरूरी है कि वह उद्देश्य क्या है जिसे पूरा करना है और विशेष लक्ष्य क्या है और क्या नहीं है।

यह हो जाने पर दूसरा विचार साधन वा उपाय का करना चाहिए। एक उद्देश्य की सिद्धि के अनेक साधन वा उपाय हो सकते हैं। इनमें से कौन सबसे अच्छा है, इसका निश्चय जितनी सावधानी से हो सके कर लीजिए।

सबसे अच्छा उपाय ठहरा लेने पर उन सब कठिनाइयों और आपत्तियों को सोचिए जो उद्देश्य में बाधा डाल सकती हैं वा उसे निष्फल कर सकती हैं और उन कठिनाइयों और आपत्तियों को दूर करने का उपाय कीजिए वा सोचे रहिए।

तब देश, काल और अवस्था का विचार करके काम को कर चलिए।

यदि इस ढंग से कोई चलेगा तो सफलता का विस्तार बढ़ जायगा अर्थात् बहुत सी बातों में सफलता होगी।

यद्यपि ऊपर बताया हुआ ढंग बहुत सीधा है पर बहुत से लोग उस पर नहीं चलते और चलते भी हैं तो पूरी तरह नहीं। ऊपर लिखे ढंग पर कोई कम चलता

है कोई अधिक, इसी से जीवन में किसी को कम सफलता होती है किसी को अधिक।

जो मनुष्य इस ढंग वा युक्ति का पूरा पूरा ध्यान रखता है वह कभी चक्कर में नहीं पड़ता। वह तो पहले से सोच समझकर ठहराई हुई शैली पर बराबर चला चलता है। पर जो मनुष्य कोई काम उठाने में इसका ध्यान नहीं रखता वह बिना ठीक ठिकाने के चलता है और पग पग पर घबड़ाता और अधीर होता है।

जो बातें मैंने कही हैं वे सब पर घटती हैं पर राजा महाराजों पर विशेष रूप से, जिन्हें बराबर कुछ न कुछ करना रहता है और जिन्हें प्रायः बड़े बड़े मामलों में कार्रवाई करनी रहती है।

**कर्म्मचारियों के साथ व्यवहार**–जबकि एक बार कर्म्मचारी पूरी सावधानी के साथ योग्यता देखकर चुने गए तब फिर महाराज को उन पर विश्वास रखना चाहिए। महाराज का यह सन्देह करना न्याय और नीति के विरुद्ध होगा कि वे ठीक ठीक बातें नहीं बतलाया करते वा अंडबंड कार्रवाई कराया करते हैं। जिन राजा महाराजों ने यह नहीं सीखा है कि दूसरों पर किस तरह विश्वास रखना चाहिए वे अपने जीवन में कुछ नहीं कर सकते क्योंकि कोई खुशी से उनका साथ देनेवाला नहीं मिलता।

राजा महाराजों को चाहिए कि अपने उच्च कर्म्मचारियों के साथ शिष्टता और मान का व्यवहार करके उनकी मर्यादा की रक्षा और पुष्टि करें।

संसार में ऐसे मनुष्य नहीं मिल सकते जो सब गुणों में पूरे हों। योग्य से योग्य मनुष्य में भी कोई न कोई कसर रहती ही है। राजाओं को इस प्रत्यक्ष बात का ध्यान उदारतापूर्वक रखना चाहिए। मनुष्य की सब बातों को देखे और "करे दोष को कुछ अनदेख, गुण पर रीझे सदा विसेख।"

बड़े बड़े अफसरों को मामलों पर बेधड़क वाद विवाद करने और अपना मतभेद प्रकट करने का पूरा अधिकार रहना चाहिए।

राजा महाराजों से जहाँ तक हो सके किसी बड़े अफसर की पीठ पीछे बुराई न करें। किसी अफसर के विरुद्ध जहाँ कोई बात महाराज के मुँह से निकली कि वह चट दूर तक फैला दी जायगी, फिर लोग उस अफ़सर को कुछ न समझेंगे और वह अपना काम अच्छी तरह से नहीं कर सकेगा।

इन्हीं सब बातों का ध्यान रखकर इधर उधर के साधारण मनुष्यों को, जो राजदरबारों में पहुँचा करते हैं, बड़े बड़े अफसरों के विषय में मनमाना अंडबंड न बकने देना चाहिए।

ऐसे प्रार्थनापत्र भी न लेने चाहिए जिनमें बड़े अफसरों के प्रति व्यर्थ अपमान सूचक शब्द लाए गए हों।

यदि महाराज को किसी बड़े अफसर को कुछ बुरा भला कहना हो तो अच्छा यह होगा कि एकान्त में कहें, दस आदमियों के सामने नहीं।

सारांश यह कि देश भर यह देखे कि महाराज और उनके कर्म्मचारी मिल जुलकर

एक गहरा गुट्ट बनाए हैं और उनमें वह शक्ति पूरी पूरी है जो उद्देश्यों, भावों और कर्मों की एकता से होती है।

मैं यह कह चुका हूँ कि राजा महाराजा बहुत अधिक काम न करें। राजा महाराजों को यह भी देखना चाहिए कि उनके उच्च कर्म्मचारी काम से बहुत अधिक नहीं दबे हैं और उन्हें थोड़ा बहुत विश्राम करने, पढ़ने लिखने और स्वास्थ्य सुधारने का समय मिलता है। यदि उनका इतना खयाल रखा जायगा तो वे काम और भी अच्छा करेंगे।

**विश्वास**–विश्वास का बना रहना सार्वजनिक कार्य्यों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। सार्वजनिक कार्य्यों के लिए तो वह जितना आवश्यक है उतना निज के कामों में भी नहीं। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि किसी उत्तम गुण का होना राज्य के लिए उससे अधिक आवश्यक है जितना कि वह व्यक्ति के लिए है, क्योंकि राज्य की ओर से जो कार्य्य होते हैं उनका प्रभाव बहुत दूर तक पड़ता है।

विश्वास बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि जो प्रतिज्ञा वा वादा किया जाय वह पूरा करने की इच्छा से, और वह पूरा किया जाय।

खेद है कि बहुत सी देशी रियासतों में इस सिद्धान्त का ध्यान नहीं रक्खा जाता फल क्या होता है? देशी रियासतों की ओर से जो वादे किए जाते हैं उन पर कोई पूरा विश्वास नहीं करता, चाहे वे वादे कैसे ही पक्के क्यों न हों।

इस बात में अँगरेज़ सरकार और देशी रियासतों में क्या अन्तर है वह एक दृष्टान्त देकर दिखाया जा सकता है। मान लीजिए कि किसी देशी रियासत ने उधार लेने की घोषणा की अर्थात् उसने सर्वसाधारण से कुछ रुपया उधार लेना चाहा। अब मान लीजिए कि अँगरेज़ सरकार ने भी रुपए उधार लेने की घोषणा कर दी। यह निश्चय है कि जिस धड़ाके के साथ लोग अँगरेज़ सरकार को रुपया देने दौड़ेंगे उस धड़ाके के साथ देशी रियासत को नहीं। देशी रियासत चाहे सूद भी अधिक देती हो पर लोग कम सूद पर अँगरेज़ सरकार को रुपया देना पसन्द करेंगे। यह भेदभाव क्यों है ? इसलिए कि लोग समझते हैं कि अँगरेज़ सरकार अपने वादे अच्छी तरह पूरा करेगी पर किसी देशी रियासत के विषय में उन्हें इतना अधिक निश्चय नहीं रहता।

सर्व साधारण के आराम, रक्षा और विश्वास तथा उन्नति और सुख के लिए यह आवश्यक है कि राजा महाराजा किसी मनुष्य वा किसी समाज से जो वादे करे उन्हें वे पूरा करें।

पर इसके लिए यह आवश्यक है कि जो वादे किए जायँ बिना समझे बूझे नहीं। कोई वादा करने के पहले पूरी जाँच पड़ताल और पूरा सोच विचार कर लिया जाय।

**इनाम**–राजा महाराजों को न तो एकबारगी बिना समझे बूझे और बेहिसाब इनाम देना चाहिए और न इनाम देने में बहुत सोच विचार और कंजूसी करनी चाहिए।

उन्हें न्यायी और उदार होना चाहिए। ऐसा करना लोक धर्म है और इससे लोकहित की वृद्धि होती है।

इनाम या तो धन के रूप में होता है, वा मान और प्रतिष्ठा के रूप में होता है अथवा दोनों रूपों में होता है। इनाम का उद्देश्य है सुख पहुँचाना और अच्छे कामों के लिए उत्साह उत्पन्न करना। इससे इनाम देनेवाले को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह उद्देश्य पूरा हो अर्थात् इनाम जो दिया जाय वह सुख पहुँचाने भर को हो और वह इस तरह सोच समझ कर दिया जाय कि उससे अच्छे काम के लिए उत्साह मिले।

किसी नौकर या कर्म्मचारी को जो मामूली तनख्वाह मिलती है वह मामूली काम के लिए है ही, इससे उसके लिए उसे कोई ख़ास इनाम देने की ज़रूरत नहीं। मामूली काम के लिए ऊपर से कुछ इनाम देने से उलटी बुराई हो सकती है। इनाम इकराम की बात तो तब उठनी चाहिए जब नित्य के मामूली काम से बढ़कर कोई काम किया जाय।

अस्तु, जहाँ किसी प्रकार की सेवा न की गई हो या यों ही कोई छोटी मोटी सेवा की गई हो वहाँ पुरस्कार न देना चाहिए। यह मैं इसलिए कहता हूँ कि राज दरबारों में ऐसे बहुत से लोग मिलते हैं जो लम्बा चौड़ा इनाम केवल इसलिए चाहते हैं कि उनके सिर बहुत सा कर्ज है अथवा वे पुराने खानदान के हैं, इत्यादि इत्यादि।

बड़ाई और प्रशंसा करना भी एक प्रकार का पुरस्कार ही देना है। ऐसे पुरस्कारों के विषय में भी ऊपर लिखी बातों का ध्यान रखना चाहिए। ऐसा पुरस्कार भी भरपूर क्या कुछ अधिक ही होना चाहिए।

किसी इनाम के भरपूर वा बढ़-चढ़कर होने की एक अच्छी पहचान यह है कि ऐसा इनाम पानेवाला अपने इनाम को औरों को दिखाने में लज्जित नहीं होता बल्कि प्रसन्नता और अभिमान के साथ उसे दिखाता फिरता है। इस तरह जब इनाम दिया जाता है तभी उससे उत्साह मिलता है और उसका उद्देश्य पूरा होता है।

जो राजा समझ बूझकर इनाम देते हैं उनसे बहुत कुछ भलाई की राह निकल सकती है।

**दूसरों के जी को भी जी समझना**–प्रत्येक राजा क्या प्रत्येक पुरुष को, जिसे बहुत से आदमियों से काम पड़ता हो, दूसरों के जी का भी ध्यान रखना चाहिए। किसी मामले में चाहे वह छोटा हो या बड़ा, न तो व्यर्थ कोई कड़ी वा जी दुखाने वाली बात कहनी चाहिए और न कार्रवाई करनी चाहिए। यह बड़ी अच्छी बान है। और इसे डालने में जो कष्ट हो उठाना चाहिए। परख और अभ्यास से यह बान पड़ती है।

यह जानने का कि कौन सी बात कड़ी, वा जी दुखानेवाली है, एक सीधा ढंग यह है कि मनुष्य सोचकर देखे कि यदि वही बात हमें कही जायगी वा हमारे

साथ की जायगी तो हमें कैसा लगेगा। बहुत से लोग इस सिद्धान्त पर अच्छी तरह नहीं चलते।

दूसरा उपाय इस बान के डालने का यह है कि जो लोग इस गुण के लिए प्रसिद्ध हों उनके विचारों, वचनों और कर्मों की ओर ध्यान दे।

**संवादपत्रों की सम्मति**–कोई राय समाचारपत्रों में छपी है उससे यह न समझ लेना चाहिए कि वह ठीक ही है। प्रकाशित मत का मोल तो समाचारपत्र और लेखक की प्रतिष्ठा पर है। पर कभी कभी ये दोनों बहुत उच्च श्रेणी के नहीं होते। कभी कभी बहुत ही कम जानकारी और समझ के आदमी अखबारों में लिखने बैठ जाते हैं। कभी कभी तो बहुत सी ओछी प्रवृत्ति के लोग ऐसा करते हैं। कभी कभी तटस्थ निरीक्षक वा समालोचक के रूप में ऐसे लोग सामयिक पत्रों में लिखते हैं जो समझते हैं कि हमारे साथ अन्याय वा कुव्यवहार हुआ है अर्थात् ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जिनकी राय पैसे की है, अर्थात् जो पैसा पावेगा वह वैसा गावेगा।

ऐसी दशा में इस बात के समझने में बहुत सावधान रहना चाहिए कि समाचारपत्रों की सम्मतियाँ वा समालोचनाएँ कहाँ तक ध्यान देने योग्य हैं।

जो संवादपत्र ईमानदारी से चलाए जाते हैं और जो सर्वसाधारण सम्मति का पता देते हैं अथवा जिनमें बड़े बड़े बुद्धिमानों के विचार निकलते हैं उनका तिरस्कार न करना चाहिए। उन्हें तो जहाँ तक हो सके ध्यान देकर पढ़ना चाहिए जिसमें राज्यप्रबन्ध में सहायता मिले।

**स्वाध्याय**–अधिकार मिलने पर राजा महाराजों का पढ़ना न छूटना चाहिए। यह बहुत आवश्यक है कि उनका पढ़ना किसी नियत ढर्रे पर चला चले। राजा महाराजों को बहुत सा समय और ध्यान तो राज काज की बातों में ही लगाना पड़ेगा। पर स्वाध्याय के लिए भी कुछ समय निकालना ही चाहिए, और नहीं तो दिन में तीन ही घण्टे सही।

इससे यह होगा कि उनका (क) अँगरेजी भाषा की और (ख) उपयोगी बातों की जानकारी बढ़ेगी।

अँगरेजी हम लोगों के लिए एक विदेशी भाषा है और यों भी कठिन है, इससे हम लोगों को उसका बराबर अभ्यास रखना पड़ता है। यदि अभ्यास न रक्खें तो उन्नति करना तो दूर रहा, सीखा सिखाया भी भूल जायँ। हम लोगों को बहुत सी अच्छी अँगरेजी नित्य पढ़नी चाहिए। हमें नित्य थोड़ी बहुत अँगरेजी लिखनी और बोलनी चाहिए।

अँगरेजी भाषा जानने का मुख्य उद्देश्य उपयोगी बातों की जानकारी प्राप्त करना है। इससे जो कुछ हम पढ़ें वह ऐसा हो जिसके द्वारा हम अपने ज्ञान का भण्डार बढ़ा सकें।

जो समाचारपत्र योग्यतापूर्वक चलाए जाते हों उन्हें पढ़ना चाहिए। राजा महाराजों

को संसार के, विशेषकर भारत और इंग्लैण्ड के, वर्तमान चलते हुए इतिहास को देखते चलना चाहिए। तात्पर्य यह कि बड़ी बड़ी बातें जानने को रह न जायँ।

मि. ग्लैडस्टोन ऐसे बड़े बड़े राजनीतिज्ञों के व्याख्यानों को पढ़ने से भी बहुत कुछ लाभ हो सकता है।

पार्लायामेण्ट के वाद विवाद पढ़ने का भी अच्छा फल होगा।

देशी रियासतों के सम्बन्ध में जहाँ जितनी बातें मिलें सबको पढ़ना और नोट करना चाहिए। बड़े लाट की स्पीचें जो इस सम्बन्ध में हों दे तो किसी तरह न छूटने पावें।

हिन्दुस्तान से सम्बन्ध रखनेवाले पार्लामेण्ट के कागजों (Blue Books) को बराबर मँगाना चाहिए और उनके जो अंश काम के हों उन्हें पढ़ना चाहिए।

प्रान्तिक गवर्नमेण्ट के वार्षिक शासन विवरणों से राजा महाराजों को परिचित रहना चाहिए।

इस प्रकार की पढ़ाई राजा महाराजों को राजकाज में बहुत काम देगी। इससे उन्हें राज्य सँभालने की शक्ति आवेगी।

राजों को ऐसी चीजें पढ़नी चाहिए जिनसे उनके हृदय में महत् विचारों और ऊँचे भावों का समागम हो और महल के तुच्छ और साधारण आदमियों की संगत का ओछा प्रभाव दूर हो। देशी रजवाड़े कभी कभी ऐसी ही संगत में पड़ जाते हैं जिससे उनके विचार छोटे वा संकुचित हो जाते हैं। वे अपने को उसी पुरानी दुनिया के भीतर बन्द रखते हैं जिसमें वर्तमान उन्नति के युग का प्रकाश नहीं पहुँचता। इसकी सबसे अच्छी दवा यह है कि वे मनुष्य जाति में सबसे अधिक सभ्य और शिक्षित लोगों के विचारों से जानकार हो जायँ।

राजा महाराजा कभी कभी जीवनचरित और उपन्यास आदि भी पढ़ें जिनसे श्रेष्ठ गुणों को उत्तेजना मिलती है।

ऊँचा पद पाकर और बड़ा अधिकार हाथ में रखकर जीवन का लक्ष्य वा आदर्श ऊँचा रखने के लिए सतोगुण की शक्ति चाहिए और उस सतोगुण की शक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह बराबर किसी न किसी ढंग से नई और ताजी होती रहे।

मनुष्यों पर शासन करने के लिए केवल सिद्धान्तों के ही ज्ञान से काम नहीं चलता ऐसे ज्ञान के साथ बराबर अभ्यास और अनुभव भी चाहिए। यह नहीं कि राजा महाराजा व्यवहार ज्ञान और अनुभव को कोई चीज ही न गिनें और बड़े बड़े मामलों में अनुभवी लोगों की राय लेना आवश्यक ही न समझें। मैं एक दृष्टान्त देता हूँ जिससे सिद्धान्त और व्यवहार में जो अन्तर है वह मन में बैठ जायगा। आप दाहिने हाथ से लिखना अच्छी तरह जानते हैं। यदि सिद्धान्त ही तक बात है तो उसमें दाहिने और बाएँ। का कुछ विचार नहीं है। पर जरा बाएँ हाथ से लिखकर

देखिए तो कैसा ऊटपटाँग लिखा जाता है। क्यों? बात यह है कि सिद्धान्त तो दोनों हाथों के विषय में ठीक है पर दाहिने हाथ को अभ्यास है और बाएँ हाथ को नहीं। अभ्यास के अभाव से जो अन्तर पड़ जाता है वह देखिए और अकेले सिद्धान्त ज्ञान ही के आसरे पर न रहिए।

जो सिद्धान्त मैंने ठहराए हैं और जो व्यवस्थाएँ मैंने बतलाई हैं वे ध्यान में रखने योग्य हैं। सभ्य और सुशिक्षित राजा महाराजा उन्हीं के अनुसार चलते हैं। उन्हीं के द्वारा वे सुख, मान और यश के शिखर पर पहुँचते हैं। उन्हीं के द्वारा देशी रजवाड़े अपनी वर्तमान स्वतन्त्रता बराबर स्थिर रख सकते हैं। मैं अपनी बातों के पक्ष में यहाँ पर उन वाक्यों को उद्धृत करता हूँ जो 1879 में अँगरेज़ी सरकार की ओर से कहे गए थे।

"जिस नीति का व्यवहार अँगरेज़ी राज्य में होता है उसको समझ बूझकर धीरे धीरे देशी रियासतों में फैलाने से ही देशी रजवाड़े अपने प्रबन्ध की स्वतन्त्रता को सबसे अधिक दृढ़ समझ सकते हैं और साम्राज्य की ओर से किसी प्रकार के हस्तक्षेप को सबसे अच्छी तरह बचा सकते हैं।"

**राजनीति और शासन के सिद्धान्त**–अँगरेज़ी सरकार की बड़ी अभिलाषा रहती है कि देशी रजवाड़े इस उत्तमता के साथ अपने राज्यों का प्रबन्ध करें कि वे आदर्श हों और देशी लोगों को उनका अभिमान हो। यही अभिलाषा राजा महाराजों की भी रहती है। पर कोरी अभिलाषा से तो कुछ होता नहीं। उस अभिलाषा को पूरा करने के लिए काम करना चाहिए, जो बुद्धिमान् और उत्साहियों के लिए कुछ कठिन नहीं है।

मैं यहाँ कुछ सिद्धान्त बतलाता हूँ जिन पर चलने से राजा महाराजा अपने को आदर्श बना सकते हैं। इन सिद्धान्तों को संसार के सब सभ्य राज्य मानते हैं। इन सिद्धान्तों को जान लेना ही बस नहीं है। इनको समझें और मन में जमावें। इनको सदा ध्यान में रक्खें और राज्य का हर एक काम इन्हीं के अनुसार करें। इन सिद्धान्तों को केवल जान लेना और नित्य के व्यवहार में उनको काम में न लाना वैसा ही अपराध है जैसे अच्छा कम्पास रखकर भी उसकी ओर जहाज चलाते समय न देखना।

पुराने ढर्रे के कुछ लोग कहेंगे कि वर्तमान महाराज इन सिद्धान्तों को क्यों जानें और उन पर क्यों चलें? पुराने महाराज लोग तो ऐसा नहीं करते थे और वे अपने राज्य का प्रबन्ध करते ही थे। आजकल के महाराज भी वही करें।

यहाँ यह स्पष्ट कहना पड़ता है कि पुराने महाराज लोग बहुत अच्छे शासकों में से न थे। वे पुराने पूर्वीय मनमाने ढंग पर राज्य करते थे। वे प्रजा के सुख का इतना ध्यान नहीं रखते थे और यदि थोड़ा बहुत रखते भी थे तो उस सुख को बढ़ाने के सबसे अच्छे उपायों को नहीं जानते थे। कभी कभी वे बड़ी भारी भूलें करते थे;

बड़ी बड़ी अड़चनों में फँस जाते थे। यदि वे इन ठीक सिद्धान्तों को जानते होते तो ऐसा न होता। पुराने राजा महाराजों को इन सिद्धान्तों को जानने के उतने साधन भी नहीं थे जितने आजकल के महाराजों के लिए हैं। एक बात और भी है। तब की और अब की दशा में बहुत कुछ अन्तर है। तब यदि कहीं किसी राज्य का प्रबन्ध बुरा होता था तो उस पर बहुत लोगों का ध्यान नहीं जाता था। अब चारों तरफ रेल दौड़ती है, डाक और तार का प्रबन्ध है। एक राज्य में जो बुराई होगी उसकी खबर चट दूर दूर तक फैल जायगी।

रेल हो जाने के कारण बाहर के लोग भी देशी राज्यों में बहुत आया जाया करते हैं। इससे देशी राज्यों का कुप्रबन्ध ऐसे लोगों को पहले के लोगों से अधिक खलेगा और उस पर बड़ा हल्ला मचेगा।

देशी राज्यों के लोगों का भी कलकत्ता बम्बई तथा अँगरेज़ी राज्य के और बड़े बड़े नगरों में आना जाना रहता है। उनको अब अपने यहाँ की राज्यप्रणाली को और जगहों की राज्यप्रणाली से मिलान करने का अधिक अवसर मिलता है।

ज्ञान और शिक्षा की वृद्धि के कारण अब लोगों के चित्त में 'उत्तम राज्य' का आदर्श बहुत ऊँचा हो गया है। जो बुरा राज्य वे पहले सहन कर सकते थे अब नहीं करेंगे। जिस प्रकार के उत्तम राज्य से उन्हें पहले सन्तोष हो जाता था उस प्रकार के राज्य से अब नहीं होगा।

एक बात और है। पहले सब देशी रियासतों में थोड़ा बहुत बुरा राज्य था। यहाँ तक कि अँगरेज़ी राज्य में भी व्यवस्था ठीक नहीं थी। पर अब चारों ओर उन्नति है, कहीं कम, कहीं ज्यादा। अतः यदि कोई देशी रियासत आगे नहीं बढ़ेगी तो लोगों को यह बात खटक जायगी और असन्तोष फैलेगा।

सबसे बढ़कर बात तो यह है कि अँगरेज़ी सरकार को जिसका भारतवर्ष में साम्राज्य है पहले की अपेक्षा अब बुरा शासन अधिक खटकता है। अँगरेज़ी सरकार अपने ऊपर इस बात का जिम्मा समझती है कि देशी रियासतों में बुरा राज्य न रहने पावे। अँगरेज़ सरकार मानो प्रत्येक देशी रजवाड़े से कहती है—"पहिले यदि तुम बुरा राज्य करते थे तो घर ही में दवा हो जाती थी अर्थात् तुम्हारी प्रजा बिगड़ जाती थी और अत्याचार की समाप्ति कर देती थी। इस बात का डर ऐसा था जिससे कुराज्य के लिए कुछ रोक रहती थी। पर अब हम तुम्हारी प्रजा को इस विद्रोह रूपी उपाय का अवलम्बन नहीं करने देंगे। जहाँ कहीं इस तरह का विद्रोह होगा उसे अपनी सेना द्वारा दबाने का भार हमने अपने ऊपर लिया है। इस प्रकार अत्याचार को दूर करने का जो उपाय प्रजा के हाथ में था उसे हमने ले लिया। पर अत्याचार अवश्य दूर होना चाहिए। उसे दूर कौन करेगा? हमारा साम्राज्य भारत में है अतः हमने प्रजा की ओर से इस कर्त्तव्य को अपने ऊपर लिया है। जब किसी देशी रियासत की प्रजा बदअमली की शिकायत करेगी तब हम पूरी जाँच करेंगे और उसे ठीक करेंगे।

यदि आवश्यक समझेंगे तो बुरा शासन करनेवाले राजा को गद्दी से उतार तक देंगे और उसके स्थान पर दूसरे को बैठावेंगे।''

अँगरेज़ी सरकार ही देशी रियासतों के कुप्रबन्ध और सुप्रबन्ध का निर्णय करनेवाली है। इस बड़ी बात को देशी रजवाड़ों को कभी न भूलना चाहिए। उन्हें सदा ध्यान रखना चाहिए कि अँगरेज़ी सरकार को इस बात का पूरा इत्मिनान रहे कि वे अच्छी तरह राज्य कर रहे हैं, कम से कम उनका शासन बुरा नहीं है।

इससे यह जान लेना ज़रूरी है कि किसको अँगरेज़ी सरकार अच्छा शासन समझती है, किसको बुरा। देशी राजा महाराजों को शासन के उन सिद्धान्तों को समझ लेना चाहिए जिन्हें अँगरेज़ी सरकार मानती है।

मैं उन बड़े सिद्धान्तों को आगे लिखता हूँ जो अच्छे शासन के लिए आवश्यक हैं। राजा महाराजों को उन पर पूरा ध्यान देना चाहिए क्योंकि उन्हीं पर चलने से उन्हें यश और सुख मिलेगा।

सबसे मुख्य सिद्धान्त यह है। राजाओं का पहला धर्म प्रजा के सुख की वृद्धि करना है।

प्रजा का सुख किसमें है और वह सुख किस प्रकार बढ़ सकता है, हम आगे चलकर कहेंगे। यह बात बहुत ब्योरे की है जिसमें थोड़ा बहुत मतभेद भी है। पर इस सिद्धान्त को सब मानते हैं कि राजा का धर्म प्रजा के सुख की वृद्धि करना है।

इस सिद्धान्त को बार बार मनन करना चाहिए। इसे राजकाज के काम में लाना चाहिए। दीवान से लेकर जितने कर्मचारी हों सब पर इस बात का जोर देना चाहिए कि वे सदा सब कहीं इस सिद्धान्त का पालन करें।

बहुत से राजा महाराजा इस सिद्धान्त को मानते हुए भी राजकाज के व्यवहार में उसके अनुसार नहीं चलते। ऐसा नहीं चाहिए।

मैं दो एक ऐसे कार्यों का दृष्टान्त देता हूँ जो इस महत् सिद्धान्त के विरुद्ध हैं।

मान लीजिए कि किसी राजा साहब को जवाहरात खरीदने के लिए बहुत-सा रुपया चाहिए। इसके लिए वे राज्य के खजाने में से बहुत सा रुपया लेते हैं। अर्थात् जितना मालगुजारी में से अपने खानगी खर्च के लिए उन्हें लेना चाहिए उससे कहीं अधिक लेते हैं। यहाँ वे उस सिद्धान्त के विरुद्ध आचरण करते हैं जिसे मैंने बतलाया है क्योंकि वे सर्वसाधारण के उस रुपये को स्वार्थ में लगाते हैं जो किसी न किसी तरह प्रजा के सुख की वृद्धि में लगता।

मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि राजा-महाराजा जवाहरात न ख़रीदें। जब उचित और आवश्यक हो तब जवाहरात भी ख़रीदे जायँ पर एक हिसाब से।

दूसरा दृष्टान्त लीजिए। कोई राजा हैं जो विना किसी आवश्यकता के एक महल के बाद दूसरा महल बनवाते चले जा रहे हैं और इसके लिए वे राज्य के ख़ज़ाने

से बहुत सा रुपया लेते हैं अर्थात् मालगुज़ारी में से जितना अपने ख़ानगी ख़र्च के लिए उन्हें लेना चाहिए उससे कहीं अधिक लेते हैं। वे उक्त सिद्धान्त के विरुद्ध कार्य्य करते हैं। उनके पास काफ़ी महल होने चाहिए। पर उनकी भी हद है। रूम के सुलतान और मिस्र के ख़दीव ने महल बनवाते बनवाते राज्य का ख़ज़ाना ख़ाली कर दिया। यह भी मूर्खता ही है कि आज एक नया महल बनवाना और कल उसे छोड़ना।

इसी प्रकार कोई राजा अपने सम्बन्धियों और कृपापात्रों का खूब घर भरना चाहते हैं और इसके लिए राज्य के ख़ज़ाने से बहुत सा रुपया लेते हैं जो प्रजा के सुख की वृद्धि में लगता। यह भी इस सिद्धान्त का उल्लंघन है। सम्बन्धियों और कृपापात्रों की ख़ातिर मुनासिब है पर एक ठिकाने से।

जिस सिद्धान्त का मैं समर्थन कर रहा हूँ उसके अनुसार धर्म्मार्थ और परोपकार में जो दान दिए जायँ उनकी भी उचित सीमा होनी चाहिए। ऐसे दान भी एक हिसाब से दिए जायँ जिसमें प्रजा की सुख वृद्धि के साधन खण्डित न हों।

सारांश यह कि जब कभी राजा महाराजा कोई भारी खर्च करने को हों तब वे इस सिद्धान्त को स्मरण कर लें और मन में सोचें "क्या इस ख़र्च से प्रजा के सुख की कुछ वृद्धि होगी?" यदि उनके मन में आवे कि 'नहीं' तो उन्हें इस ख़र्च को उक्त सिद्धान्त के विरुद्ध समझकर रोक देना चाहिए।

बहुत से खर्च ऐसे होते हैं जिनसे प्रजा को कोई सुख नहीं होता पर राजा लोग अपने सुख के लिए उसे उठाना चाहते हैं। वे लोग इस प्रकार का ख़र्च करें; पर मालगुज़ारी के उस अंश में से जो उनके निज के ख़र्च के लिए मुक़र्रर है, अर्थात् खानगी मद से।

कोई राजा जो उक्त सिद्धान्त का पालन करता है ऐसा कभी नहीं समझता कि "हमें अधिकार है कि हम राज्य की मालगुज़ारी को जिस तरह चाहें उस तरह ख़र्च करें।" राज्य राजा की निज की सम्पत्ति नहीं है बल्कि प्रजा की धरोहर है। प्रजा की मालगुज़ारी उसके हाथ में इसलिए दी गई है जिसमें वह उसे प्रजा के हित में लगावे। इस कर्त्तव्य का उसे ध्यान रखना चाहिए।

इस कर्त्तव्य का यह मतलब नहीं कि राजा महाराजों को ठीक ठिकाने से जैसा भी चाहे वैसा खर्च करने की स्वतन्त्रता न रहे। जैसा मैंने ऊपर कहा है राजा महाराजा अपने मालगुज़ारी के अंश में से अर्थात् खानगी मद से बेधड़क ख़र्च करे।

अतः यदि देखा जाय तो राजाओं के निज सुख से और उक्त सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं पड़ता है। राजा लोग अपनी प्रजा को भी सुखी कर सकते हैं और साथ ही अपने को भी सुखी कर सकते हैं। बचाने की बात यह है कि राजा लोग अपने सुख के लिए प्रजा के सुख की हानि न करें।

प्रजा से मेरा अभिप्राय सब जातियों और सब सम्प्रदायों के लोगों से है। जहाँ

तक हो सके राजा महाराजों को सब जातियों और सम्प्रदायों का बराबर मान रखना चाहिए। ऐसा न हो कि कुछ जातियों और सम्प्रदायों का जी दुखाकर कुछ जातियों और सम्प्रदायों पर विशेष कृपा दिखाई जाय। राजाओं को चाहिए कि अपने राज्य के सब मनुष्यों के सुख की वृद्धि करें चाहे वे हिन्दू हों वा मुसलमान, धनी हों, गरीब, सरदार हों वा काश्तकार। सारांश यह है कि राजाओं को अपनी सारी प्रजा का पिता वा पालनकर्ता होना चाहिए न कि किसी विशेष जाति का।

यह केवल उचित और न्यायसंगत ही नहीं है बल्कि बड़ी पक्की नीति की बात है। जो राजा अपनी सारी प्रजा पर समान अनुग्रह रखते हैं उन्हें सारी प्रजा का बल रहता है। पर जो राजा अपनी प्रजा के किसी विशेष वर्ग पर ही अनुग्रह रखते हैं उनका बल दूसरे वर्गों के विरोध के कारण घट जाता है। राजकाज में यह बात बहुत ध्यान रखने की है।

जो कुछ मैंने अभी कहा है उसके अनुसार एक बात तो यह होनी चाहिए कि रियासत की नौकरियों के लिए जनसंख्या के हिसाब से सब जातियों और सम्प्रदायों में से आवश्यक योग्यता रखनेवाले मनुष्य लिये जायँ। यह भूल होगी कि केवल दक्षिणी, वा केवल गुजराती, वा केवल मुसलमान, वा केवल पारसी ही रक्खे जायँ। इन सब जातियों के लोग हिसाब से रक्खे जाएँ।

दूसरी बात यह होनी चाहिए कि प्रजा के किसी एक वर्ग पर दूसरे की अपेक्षा अधिक कर न लगाया जाय।

तीसरी बात यह होनी चाहिए कि सब लोगों के साथ समान न्याय किया जाय चाहे वे किसी धर्म व सम्प्रदाय के हों। मान लीजिए कि एक ब्राह्मण और मुसलमान के बीच कोई मुकदमा है। उसमें किसी हिन्दू राजा का ब्राह्मण का पक्षपात करना वा किसी मुसलमान शासक का मुसलमान का पक्षपात करना भारी भूल है। इसी प्रकार मित्रों, कृपापात्रों, सम्बन्धियों आदि का पक्षपात भी नहीं होना चाहिए। अच्छे राज्य का एक बड़ा लक्षण यह है कि वहाँ सबके साथ समान न्याय होता है।

देशी रियासतों में बहुत से सरदार यह कहनेवाले मिलते हैं कि "राज्य तो महाराज के और हमारे वास्ते है ही; मन्त्रियों का यह काम है कि जहाँ तक मालगुज़ारी वसूल करते बने करें जिससे महाराज और हम लोग खूब सुख करें।" ऐसे लोग प्रजा के सुख दुःख को कोई चीज नहीं समझते। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनका यह सिद्धान्त बिलकुल पोच है। राजा महाराजों को ऐसे लोगों की बातों पर कुछ भी ध्यान न देना चाहिए। कुछ दिनों में शिक्षा बढ़ने पर ऐसे विचार के लोग न रह जायँगे।

सरदार लोग प्रजा के एक अंग क्या प्रधान अंग हैं और अवश्य मान और रक्षा के अधिकारी हैं। पर यह नहीं हो सकता कि थोड़े से सरदारों के सुख के लिए बड़ी भारी प्रजा के सुख की हानि की जाय।

इतिहास अनुभव का बड़ा भारी भाण्डार है। इतिहास के अनुभव से यह देखा

जाता है कि जिन राज्यों ने प्रजा के सुख का ध्यान रक्खा है वे सबसे अधिक काल तक रहे हैं और जिन्होंने प्रजा के सुख का ध्यान नहीं रक्खा है वे जल्दी मिट गए हैं।

इस समय हम लोगों की आँख के सामने एक अच्छा नमूना मौजूद है। अँगरेज़ी सरकार की ओर देखिए। यद्यपि भारत में उसका राज्य विदेशी है पर अब से पहले जितने राज्य यहाँ हुए हैं उन सबसे कहीं बढ़कर शक्तिमान् और कहीं अधिक दृढ़ है। क्यों? इसलिए कि उसका पहला सिद्धान्त अपनी सारी प्रजा के सुख की वृद्धि करना है। सम्भव है कि यहाँ वहाँ अँगरेज़ी सरकार से कोई भूल भी बन पड़ी हो और उसकी आलोचना भी हुई हो। पर सब बातों को देखते यही भाव उठता है कि भारत को अँगरेज़ी राज्य से बढ़कर वा उसके समान दूसरा उत्तम राज्य नहीं मिल सकता। इसी भाव पर अँगरेजी राज्य की दृढ़ता स्थिर है। जब तक यह भाव बना है तब तक अँगरेज़ी राज्य भी बना है और लोग चाहते हैं कि यह बना रहे, और यह भाव बराबर बना रहेगा क्योंकि अँगरेज़ी राज्य की व्यवस्था इस प्रकार की है कि उसमें उक्त सिद्धान्त का कभी परित्याग न होगा। जहाँ तक होगा जातीय हित और जातीय कर्त्तव्य के बढ़ते हुए विचार से तथा सर्वसाधारण का मन रखने और हौसला पूरा करने के नीयत से अँगरेज़ी सरकार उक्त सिद्धान्त को दिन-दिन और अधिक काम में लाती जायगी।

अब यदि एक विदेशी सरकार को उक्त सिद्धान्त से इतनी शक्ति और दृढ़ता प्राप्त हुई है तो देशी राजा महाराजों को भी चाहिए कि अपने यहाँ इस सिद्धान्त का पूरा आदर करें। इसके अनुसार उन्हें अपने राज्यों में जान और माल की हिफ़ाज़त के लिए पुलिस का अच्छा प्रबन्ध करना चाहिए। मामलों को तै करने और अपराधियों को दण्ड देने के लिए न्यायालय स्थापित करने चाहिए। व्यर्थ प्रजा को पीड़ित करने वाले करों को उठा देना चाहिए।

**प्रजा का सुख**–प्रजा का सुख दो प्रकार का है। एक तो वह जो हर एक आदमी अपने परिश्रम से अपने लिए प्राप्त कर सकता है और दूसरा वह जिसे वह अपने परिश्रम से नहीं प्राप्त कर सकता बल्कि जो राज्य की ओर से उसे पहुँचाया जाता है।

अब मैं इन दोनों प्रकार के सुखों के थोड़े से दृष्टान्त देता हूँ।

नीचे उस प्रकार के सुख का दृष्टान्त दिए जाते हैं जो हर एक आदमी अपने परिश्रम से प्राप्त कर सकता है, जैसे वह सुख–

* जो पूरा भोजन वस्त्र आदि मिलने से होता है।
* जो अच्छा घर मिलने से होता है।
* जो बरतन, असबाब, गाड़ी घोड़े आदि से होता है।
* जो स्वास्थ्य का ध्यान रखने से होता है।

* जो सदाचार से होता है।
* जो धर्म पर चलने से होता है।

इसी तरह और भी समझिए। सच तो यह है कि मनुष्य का बहुत सा सुख तो उसी के हाथ है, अर्थात् उसी की मिहनत, किफ़ायत, बुद्धि और दूरदर्शिता आदि पर निर्भर है।

नीचे उस प्रकार के सुख के दृष्टान्त दिए जाते हैं जो प्रत्येक मनुष्य अपने परिश्रम से नहीं प्राप्त कर सकता बल्कि जो सारे समुदाय की प्रतिनिधि सरकार की ओर से पहुँचाया जाता है, जैसे वह सुख—

* जो इस निश्चय से होता है कि हमें कोई लूटेगा नहीं, हमारा माल न कोई ज़बरदस्ती छीनेगा, न धोखा देकर उड़ावेगा।
* जो इस निश्चय से होता है कि वह मारे वा घायल नहीं किए जायँगे, हमारा अंगभंग नहीं होगा।
* जो इस निश्चय से होता है कि औरों से हमसे जो झगड़ा होगा उसकी पूरी जाँच होगी और उसका ठीक निर्णय किया जायगा।
* जो इस निश्चय से होता है कि हम अपने लाभ के लिए परिश्रम करने में स्वतन्त्र हैं, कोई उसमें विघ्न बाधा न डालेगा।
* जो यह देखकर होता है कि बनिज व्यापार तथा आने जाने के लिए देश में अच्छी अच्छी सड़कें आदि हैं।
* जो यह देखकर होता है कि शहरों, क़सबों और गाँवों में स्वास्थ्य रक्षा का अच्छा प्रबन्ध है जिससे रोग व्याधि का भरसक बचाव होता है।
* जो यह देखकर होता है कि रोग व्याधि की शान्ति के अच्छे उपाय पहुँच के भीतर हैं।
* जो यह देखकर होता है कि लड़कों को पढ़ाने के लिए स्कूल पाठशालाएँ हैं। इसी प्रकार और भी समझिए।

इस प्रकार लोगों के सुख के दो विभाग हुए। पहला वह सुख जो हर एक आदमी अपने लिए प्राप्त कर सकता है और दूसरा वह जिसे हर एक आदमी स्वयं नहीं प्राप्त कर सकता बल्कि जो राज्य की ओर से पहुँचाया जाता है।

इस विभाग को ध्यान में रखकर मुझे यही कहना है कि पहले प्रकार का सुख तो प्रजा ही के ऊपर छोड़ देना चाहिए अर्थात् राज्य को उसके विषय में कोई तरद्दुद न करनी चाहिए, पर दूसरे प्रकार के सुख की व्यवस्था कर्त्तव्य समझकर राज्य ही को करनी चाहिए।

यह बात अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि इस कर्त्तव्य के पालन से प्रजा को केवल दूसरी प्रकार का ही सुख न होगा बल्कि पहले प्रकार का सुख भी होगा। यदि राज्य इस कर्त्तव्य का पालन न करेगा तो अपने परिश्रम से सुख प्राप्त करना

भी प्रजा की शक्ति के बाहर होगा। सारांश यह कि यदि राज्य इस कर्त्तव्य का पालन न करेगा तो प्रजा को किसी प्रकार का सुख न होगा। अतः सब देशी रजवाड़ों को अपना यह मुख्य धर्म समझना चाहिए कि अपने सुख के लिए प्रजा जो नहीं कर सकती उसे वे करें।

**राजाओं का कर्त्तव्य**–यदि अदालत किसी राजकर्मचारी वा ख़ास नौकर का हाज़िर होना आवश्यक समझे तो राजा महाराजों को अदालत की पूरी सहायता करनी चाहिए। अदालत में जिन जिन बातों की आवश्यकता हो उन्हें पूरा कराना चाहिए। ऐसे कर्म्मचारी और नौकर बराबर यह समझें कि हम अदालत की पहुँच के बाहर नहीं हैं, हमें अदालत के सामने अवसर पड़ने पर जाना पड़ेगा और हमें दूसरों के स्वत्व का वैसा ही ध्यान रखना पड़ेगा जैसा और प्रजा को। वे यह समझे रहें कि अदालत की ओर से उनके साथ कोई रिआयत नहीं की जायगी। ऐसे लोग प्रायः बड़े चालाक होते हैं। वे राजाओं का मिज़ाज परखते रहते हैं और उसी के अनुसार चलते हैं।

राजा महाराजों को चाहिए कि वे स्वयं न्याय की मानमर्य्यादा रक्खें। जैसे, वे अपने नौकर चाकरों को भी स्वयं न मारें पीटें और न किसी तरह की चोट पहुँचावें। वे स्वयं किसी के क़ैद करने, माल असबाब ज़ब्त करने की आज्ञा न दें। राजा महाराजों को चाहिए कि जितने जुर्म के मामले वा दीवानी के झगड़े हों उन्हें अदालतों को सुपुर्द करें, वे जैसा उचित समझेंगी करेंगी। राजा महाराजों को जिसका जितना देना हो बराबर दे देना चाहिए। जिसके साथ जो व्यवहार हो उसको उन्हें उसी तरह पूरा करना चाहिए जिस तरह और आदमी करते हैं। जिसका जो कुछ चाहता हो जहाँ तक हो सके साफ़ कर देना चाहिए। ऐसा न हो कि उसे उससे हाथ धोना पड़े वा उसके लिए अदालत में जाना पड़े। यदि राजा महाराजा ऐसा करेंगे तो वैर विरोध से बचे रहेंगे, सर्वप्रिय रहेंगे और साथ ही अदालतों की मान मर्य्यादा भी दृढ़ करेंगे।

बड़ी भारी बात यह है कि राजा महाराजों को यह ध्यान रखना चाहिए कि उनका कर्त्तव्य बहुत ऊँचा और राज काज की सब बातों की देखभाल रखना है। छोटे छोटे कामों में स्वयं हाथ डालना उनका काम नहीं है। राजा महाराजों को अपने राज कर्त्तव्य के पालन की अभिलाषा होनी चाहिए, अमलों और कारकुन लोगों के छोटे छोटे काम करने की नहीं। जो राजा अपना राज कर्त्तव्य नहीं जानते हैं अथवा राज कर्त्तव्य के पालन करने में असमर्थ हैं वे ही अपने राज कर्त्तव्य को छोड़कर ऐसे छोटे छोटे कामों को करने जाते हैं जिन्हें अमले और कारकुन उनसे कहीं अच्छी तरह और सोच-समझकर कर सकते हैं।

मनुष्यों पर शासन करनेवाले राजा की योग्यता इसमें नहीं है कि वह सब काम आप करे। इस बात का हौसला करना एक छोटी बात है। यह आशा करना भी व्यर्थ ही है कि लोग समझेंगे कि महाराज सब काम कर सकते हैं। राजा राज्य का शरीर नहीं है आत्मा है। उसके प्रभाव से और उसके आदेश पर हाथों को काम करना

चाहिए और पैरों को चलना चाहिए। उसे सोचना भर चाहिए कि क्या क्या करना होगा, पर उसके करने के लिए औरों को नियुक्त करना चाहिए। उसकी योग्यता तो युक्तियों वा उपायों को सोचने में और साधकों (करनेवालों) को चुनने में है। उसे न तो उनके (साधकों) काम के किनारे जाना चाहिए और न उनको अपने काम में हाथ डालने देना चाहिए। राजा को काम करनेवालों के विश्वास पर भी बहुत अधिक न रहना चाहिए। उसे समय समय पर उनके कामों को देखते रहना चाहिए। उसमें उनकी भूल चूक पकड़ने की योग्यता होनी चाहिए। अच्छा राज्य वही करता है जो लोगों की योग्यता और प्रवृत्ति को पहचानता है और उन्हें उन कार्य्यों पर नियुक्त करता है जो उनकी योग्यता के अनुकूल हैं। राज्य के अधिपति की योग्यता राज्य के काम करनेवालों का शासन करने में है। जो आधिपत्य रखता है उसे काम करनेवालों की जाँचना, रोकना और ठीक करना चाहिए; उसे उन्हें उत्साहित करना, बढ़ाना, बदलना और हटाना चाहिए, उसे सदा उन पर दृष्टि रखनी चाहिए और उनको अपने हाथ में रखना चाहिए। पर राज्य के प्रत्येक विभाग के छोटे छोटे ब्योरों में हाथ डालने से ओछापन और अविश्वास प्रकट होता है और मन में छोटी छोटी बातों की चिन्ता बनी रहती है जिससे राजाओं के ध्यान देने योग्य बड़ी बड़ी युक्तियों को सोचने विचारने की छुट्टी ही नहीं मिलती। बड़ी बड़ी युक्तियों को सोचने के लिए तो पूरी शान्ति और स्वतन्त्रता चाहिए। काम काज के पेंचीले ब्यौरों की हैरानी न हो, छोटी छोटी बातों की ओर ध्यान न बँटा हो। जो चित्त छोटे छोटे ब्यौरों में फँसता है वह उस मद्य के समान है जिसमें न तो कोई स्वाद है और न शक्ति। वह राजा जो अपने नौकरों का काम करने में लगता है, सदा सामने आई हुई बातों का ध्यान रखता है, भविष्य की ओर दृष्टि नहीं फैलाता। वह दिन के दिन जो काम आया उसी में फँसा रहता है। उसका उद्देश्य उसी तक रहता है, इससे उस काम को बड़ी प्रधानता प्राप्त हो जाती है। पर उस काम को यदि और कामों के साथ मिलान किया जाय तो उसकी वह प्रधानता न रह जाय। जो चित्त एक बार एक ही बात को ग्रहण करेगा वह संकुचित हो ही जायगा।

बिना कई बातों को विचारे, उन्हें एक दूसरे के साथ मिलाए और इस क्रम से मन में बैठाए कि उनकी एक दूसरे से प्रधानता प्रकट हो, किसी एक बात के विषय में ठीक ठीक निर्णय करना असम्भव है। वह जो राजकाज में इस नियम का पालन नहीं करता उस गवैये के समान है जो अलग अलग कई सुर निकालकर रह जाता है और उनको मिलाकर कोई राग नहीं उत्पन्न करता जो कानों को भी अच्छा लगे और जी को भी लुभावे। अथवा यों कहिए कि वह उस कारीगर के समान है जो बिना अपनी इमारत का हिसाब किताब समझे और नक्काशी आदि का क्रम मन में बैठाये रंग बिरंग के कटे हुए पत्थरों और खम्भों का ढेर लगाता चला जाता है। ऐसा कारीगर कोठरी बनाते समय यह ध्यान नहीं रक्खेगा कि इसमें सीढ़ी भी लगानी

होगी, भवन उठाते समय यह ध्यान न रक्खेगा कि बीच में आँगन छोड़ना होगा और इधर उधर फाटक रखने होंगे। उसका बनाया हुआ काम ऐसे जुदे जुदे खण्डों का ऊटपटाँग ढेर होगा जिनका एक दूसरे से कुछ मेल नहीं और जो मिलकर कोई पूरा रूप नहीं खड़ा करते। ऐसे काम से उसे यश मिलना तो दूर रहा, सब दिन के लिए कलंक मिलेगा। ऐसे काम से समझा जायगा कि उसकी सूझ इतनी दूर तक की न थी कि वह अपने सोचे हुए ढाँचे के सब पुरजों को एक साथ मन में बैठाकर रखता अर्थात् उसकी ग्रहण शक्ति संकुचित थी और उसका गुण दूसरे का आश्रित था। क्योंकि वह जो एक एक अंग को ही एक साथ देख सकता है केवल दूसरों के सोचे हुए ढाँचे पर काम करने के योग्य होता है। यह निश्चय रखना चाहिए कि राज्य चलाने में भी संगीत के समान मेल मिलाने और गृह निर्माण के समान हिसाब किताब बैठाने की ज़रूरत होती है। वह जो गाने में किसी एक साज़ को लेकर बैठता है, साधारण गवैया ही समझा जाता है पर जो सारे साज़बाज का मिलान देखता है वही गाने का आचार्य वा उस्ताद माना जाता है। इसी प्रकार वह जो खम्भा गढ़ता है वा दीवार जोड़ता है केवल संगतराश वा थवई है पर जो सारी इमारत का ढाँचा मन में सोचता है और उसके एक एक अंग को मन में बैठाता है, वही शिल्पी है। अस्तु, जो राजा बहुत फँसे रहते हैं और सबसे अधिक ब्योरे निपटाते हैं वे यथार्थ में राज्य नहीं करते हैं बल्कि मज़दूरों वा नौकरों का काम करते हैं। राज्य को चलानेवाली आत्मा तो वह है जो कुछ न करके भी सब कुछ कराती है, जो सोचती और युक्ति भिड़ाती है, जो आगा पीछा देखती है, जो हिसाब किताब (इसका कि कहाँ कौन वस्तु कितनी कितनी चाहिए) बैठाती है, जो सब वस्तुओं को क्रम से लगाती है और न जानें कब कैसा पड़े इसके लिए प्रबन्ध रखती है।

**नियम और व्यवस्था**—अँगरेज़ी राज्य में वा और कहीं जो अच्छे नियम हों उन्हें राज्य में प्रचलित कर लेना चाहिए। केवल स्वतन्त्रता वा नवीनता दिखाने के लिए भेद रखना ठीक नहीं। लोगों के इस कहने की कुछ परवाह न करनी चाहिए कि महाराज तो बात बात में नक़ल कर रहे हैं। यदि नियम अच्छा हो और प्रजा की रहन सहन के अनुकूल हो तो उसकी नक़ल करने में कोई बुराई नहीं है। एक देश दूसरे देश की अच्छी बातों को ग्रहण कर सकता है। सभ्य से सभ्य जातियाँ, जिन्हें अपने गौरव और स्वतन्त्रता का बहुत अभिमान होता है, इस मार्ग का अनुसरण करती हैं। यदि वे ऐसा न करें तो एक देश का संचित ज्ञान और अनुभव दूसरे देश के किसी काम का ही न ठहरे।

अपढ़, मूर्ख और स्वार्थी लोग बराबर राजा महाराजों से कोई न कोई कार्रवाई नियम वा क़ानून के विरुद्ध कराने वा औरों से करवाने की प्रार्थना किया करते हैं। वे यहाँ तक कहते हैं "क्या महाराज जो चाहें सो नहीं कर सकते? क्या महाराज को भी कोई रोकनेवाला है? यदि राज्य में महाराज की कुछ चलती नहीं है तो महाराज

किस बात के हैं?'' इस प्रकार की बातें बराबर किसी न किसी रूप में राजा महाराजों से कही जाती हैं। उनको चाहिए कि ऐसी ऐसी बातें सुनकर ज़रा भी ताव में न आवें बल्कि हँसते हुए यह उत्तर दें।

''शिक्षा और विचार से यह विश्वास मेरे मन में अच्छी तरह बैठ गया है कि वही राजा सचमुच बड़ा है जो उन नियमों का आदर करता है जो प्रजा के हित के लिए बनाये गए हैं। मैं इसी विश्वास के अनुसार कार्य करूँगा।'' इसी रीति पर चलने से राजा महाराजा बड़े और प्रजापालक कहे जा सकते हैं तथा देश के इतिहास में कुछ नाम छोड़ सकते हैं।

**राज-कर्त्तव्य**–जो बड़े बड़े सिद्धान्त मैंने बतलाए हैं वे मेरे मन में अच्छी तरह बैठे हुए हैं। मुझे भिन्न भिन्न रियासतों में दीवानी करते करते बीस वर्ष से ऊपर हुए। इस बीच में राज्यप्रबन्ध करने में ये ही सिद्धान्त मेरे आधार रहे हैं। इन सिद्धान्तों के अनुसार प्रजा का हित करने में मेरी आत्मा को जो सन्तोष प्राप्त हुआ है वह वर्णन नहीं किया जा सकता। राजा महाराजों को इन सिद्धांतों के अनुसरण से और भी अधिक सन्तोष प्राप्त होगा। मनुष्य के लिए इससे बढ़कर शुद्ध और श्रेष्ठ कोई आनन्द ही नहीं है। यह आनन्द ऐसा है जो जीवन भर रहता है। वेदों का यह उज्ज्वल सिद्धान्त है कि वही मनुष्य जीता है जो दूसरों की भलाई के लिए जीता है। देश में राजा से बढ़कर, जिसके हाथ में सबसे अधिक धन और सबसे अधिक शक्ति रहती है, दूसरों की भलाई और कौन कर सकता है? यदि मेरे ऐसे साधारण मनुष्य को प्रजा की सुख वृद्धि के लिए सच्चा प्रयत्न करने के कारण इतना मान और यश प्राप्त हुआ है तो राजा महाराजों को प्रजा का हित करने के कारण कितनी उज्ज्वल और अचल कीर्ति प्राप्त हो सकती है समझने की बात है। पर सांसारिक यश और कीर्ति से कहीं बढ़कर फल उनके लिए रक्खा है। मैं वहाँ की बात कहता हूँ जहाँ की प्रेरणा से राजा महाराजा इतने ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित होते हैं और उन्हें उपकार करने का इतना अवसर मिलता है।

सुन्दर शासन के सम्बन्ध में परामर्श देते हुए मैं वेथल नामक एक यूरोपियन ग्रन्थकार की बातों की ओर ध्यान दिलाता हूँ जो 18वीं शताब्दी में हुआ है और जिसके उपदेश मनुष्य मात्र के, विशेष कर राजाओं के, बहुत काम के हैं। नीचे उसके कुछ विचार उद्धृत किए जाते हैं–

''समाज को चलानेवाले बुद्धिमान् राजा को यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि उसके हाथ में राज शक्ति केवल राज्य की रक्षा और सारी प्रजा की भलाई के लिए दी गई है। राजकाज चलाने में उसे यह न समझना चाहिए कि जो कुछ है सो हमारे लिए ही तो है। उसे अपना ही सन्तोष वा अपना ही लाभ न देखना चाहिए बल्कि अपनी सारी विद्या बुद्धि राज्य वा प्रजा के हित में लगानी चाहिए जो उसके अधीन है।

"पर बहुतेरे राज्यों में चापलूसी का पाप बहुत दिनों से घुसा है जिसके कारण यह मूल मन्त्र ध्यान में नहीं रहने पाता। बहुत से जूती चाटनेवाले दरबारी अहंकारी राजाओं के मन में यह जमा देते हैं कि जनसमूह उनके लिए बना है, वे जनसमूह के लिए नहीं बनाए गए हैं। ऐसे राजा राज्य को अपनी बपौती वा निज की सम्पत्ति समझने लगते हैं। वे प्रजा वा जनसमूह को समझते हैं कि भेड़ बकरी के झुण्ड हैं, इनसे जिस प्रकार हो रुपया निकालो और मनमानी मौज उड़ाओ। इसी कारण अहंकार, असन्तोष और विरोध से भरे हुए सत्यानाशी युद्ध होते हैं। इसी कारण वे खलनेवाले टैक्स वा कर लगाए जाते हैं जिनकी आमदनी सत्यानाशी ठाट बाट वा भोग विलास में खपती है अथवा कृपापात्रों वा रखैली स्त्रियों पर फूँकी जाती है। इसी कारण अच्छी अच्छी जगहें अयोग्य कृपापात्रों को मिलती हैं, योग्यता और गुण का कुछ भी विचार नहीं किया जाता तथा जिन बातों में राजाओं को रुचि नहीं होती वे दीवान मुसद्दियों पर छोड़ दी जाती हैं। ऐसे अभागे राज्य में कौन कह सकता है कि राजशक्ति सर्वसाधारण की भलाई के लिए प्रतिष्ठित है? एक महान् राजा अपने सतोगुण की वृत्तियों तक से चौकस रहता है, कुछ ग्रन्थकारों के समान मेरा यह कहना नहीं है कि सर्वसाधारण का सतोगुण राजाओं के लिए गुण नहीं है। ऐसा सिद्धान्त तो गम्भीर विचार न करनेवाले राजनीतिज्ञों का है। भलाई, मित्रता, कृतज्ञता आदि राजा के लिए भी गुण ही हैं पर बुद्धिमान् राजा आँख मूँदकर इन्हीं की प्रेरणा पर नहीं चलता। वह इन गुणों को धारण करता है और परस्पर के (ख़ानगी) व्यवहार में उनका पालन करता है पर राजकाज के व्यवहार में वह केवल न्याय और पक्की राजनीति का ध्यान रखता है। क्यों? इसलिए कि वह जानता है कि 'राज्य मुझे समाज के सुख के लिए दिया गया है अतः मुझे राजशक्ति का प्रयोग करने में अपना सुख वा सन्तोष न देखना चाहिए।' वह अपनी भलमनसाहत को बुद्धि के अधीन रखता है। वह अपने मित्रों को जो लाभ पहुँचाता है वह निज की ओर से (राज्य की ओर से नहीं)। वह राज्य की जगहों और नौकरियों को योग्यता के अनुसार देता है। राज्य की ओर से वह जो कुछ इनाम देता है वह राज्य की सेवा के लिए, सारांश यह कि वह सर्वसाधारण की शक्ति सर्वसाधारण ही की भलाई में लगाता है।

"इसी शक्ति के सहारे पर राजा क़ानून वा शास्त्र की मर्य्यादा का रक्षक होता है। जबकि उसका यह धर्म है कि वह उस मर्य्यादा को भंग करनेवाले प्रत्येक धृष्ट मनुष्य को रोके तब क्या उसके लिए यह उचित होगा कि वह स्वयं उसे पददलित करे?

"जब तक जो क़ानून वा नियम हैं तब तक राजा को उनका पालन और उनकी रक्षा करनी चाहिए। वे ही सर्वसाधारण की शान्ति के मूल और राजशक्ति के दृढ़ आधार हैं। जिस अभागे राज्य में मनमानी शक्ति का अधिकार है वहाँ किसी बात का ठिकाना नहीं, बलवा, उत्पात जो न चाहे सो हो जाय। अतः राजा का धर्म्म और

लाभ इसी में है कि वह क़ानून वा नियम का पालन करे, स्वयं उसके अधीन हो। यह न कहना चाहिए कि राजा राज्य में प्रचलित क़ानून के वश में नहीं है। सब जातियों में ठीक इसका उलटा सिद्धान्त बर्ता जाता है अर्थात् यह कि राजा क़ानून के अधीन है। यद्यपि चापलूस समय समय पर इस (सिद्धान्त) के विरुद्ध चक्र चलाते रहते हैं पर बुद्धिमान् राजा देवता के समान उसका आदर करते हैं।"

अब मैं मनु के दो एक वाक्य उद्धृत करता हूँ—उनका वचन है "राजा को प्रजा का पालन उसी प्रकार करना चाहिए, जैसे पिता-पुत्र का करता है।"

"राजा भले मानसों को उचित पुरस्कार और दुष्टों को उचित दण्ड दे। न्याय का उल्लंघन उसे कभी न करना चाहिए।"

"जो राजा दण्ड के योग्य मनुष्य को छोड़ता है और दण्ड के अयोग्य मनुष्य को दण्ड देता है वह अन्यायी है। न्यायी वही है जो शास्त्र की व्यवस्था के अनुसार दण्ड देता है।"

इन सबसे प्रकट है कि राजाओं को कठिन धर्म का पालन करना रहता है, उन्हें बड़े बड़े सिद्धान्तों और नियमों पर चलना रहता है। उन्हें बनैले पशुओं की तरह मनमाना नहीं चलना रहता। उनका सबसे बड़ा कर्त्तव्य उस प्रजा के सुख की वृद्धि करना है जिसके ऊपर परमात्मा ने उन्हें प्रतिष्ठित किया है।

प्रजा के सुख की वृद्धि करना इस बात को मोटे तौर पर समझ लेना तो बहुत सहज है पर आजकल के समय में इसको पूरा कर दिखाना गहरे मनन और स्वार्थ त्याग का काम है, क्योंकि आजकल लोगों को न जाने कितनी तरह की भलाइयाँ चाहिए और शासन पद्धति भी एक ख़ासी विद्या हो गई है जो बिना सीखे नहीं आती। सुन्दर शासन के नियमों और सिद्धान्तों को ध्यानपूर्वक सीखना, पढ़ना पड़ता है। अस्तु, राजाओं के लिए इतना ही बस नहीं है कि वह यह कहकर कि "मैं जानता हूँ कि प्रजा का पालन करना मेरा धर्म है" बिना कुछ सीखे पढ़े अपनी मनमानी मौज वा समझ के अनुसार जो जी में आवे करने लगे। बात यह है कि राजा को भी अपना काम सीखना पड़ता है और उसके गूढ़ नियमों ओर सिद्धान्तों के अनुसार उसे करना पड़ता है। जो राजा इन नियमों और सिद्धान्तों को नहीं मानता और उन पर नहीं चलता वह उस माँझी के समान है जो बिना पतवार की नाव चलाता है।

मैं आगे उन पत्रों के कुछ अंशों को दूँगा जो अवध की नवाबी से सम्बन्ध रखते हैं।

मैंने इस बात पर बहुत ज़ोर दिया है कि प्रजा के जीवन, धन आदि की रक्षा करना राजा का धर्म है और इस धर्म के पालन के उपाय भी बतलाए हैं। अवध के नवाब इस बात में बहुत चूके और यही कारण था कि उनका राज्य अँगरेज़ी राज्य में मिला लिया गया।

अवध के रेज़िडेंट ने लिखा है—"मैंने बहुतेरा कहा पर हज़रत सलामत (नवाब

वाजिद अलीशाह) राजकाज के सब व्यवहार उन्हीं निकम्मे और अयोग्य कुपात्रों के ऊपर छोड़े हुए हैं, अपना सारा समय भोग विलास और धूम धड़क्के में बिताते हैं और अपने उच्च कर्त्तव्य के पालन में वैसी ही बेपरवाही दिखाते हैं। उनके राज्य के सब भागों में धन प्राण की वैसी ही अरक्षा बनी है और सब मुहकमों में वैसा ही कुप्रबन्ध और वैसी ही अन्धेर फैली हुई है।''

दूसरे स्थान पर रेज़िडेंट फिर लिखते हैं–''यह कोई अचम्भे की बात नहीं है कि अधिकार पाकर जवान नवाब साहब क्षुद्र लोगों के साथ में पड़कर और उतनी ही शिक्षा पाकर जितनी देशी राजकुमार पाते हैं यह समझने लगें कि संसार में मुझे जो चाहें सो करने का सबसे बढ़कर सुबीता मिला है और बादशाह की इच्छा को रोकनेवाला कोई नियम वा बन्धन नहीं।''

आगे चलकर रेज़िडेंट बड़े लाट साहब को लिखते हैं–''अदालत और कहीं तो हैं नहीं, राजधानी में हैं, सो भी किसी काम की नहीं।''

इसका फल यह था कि अवध में न्यायालय की दशा बहुत ही बुरी थी। देखना चाहिए कि अँगरेज़ सरकार ने एक मामले की ओर कैसा ध्यान दिया जिसमें एक आदमी मेल मुलाक़ात के ज़ोर से सजा से साफ़ बच गया यद्यपि इस बात का पक्का सबूत था कि उसने हत्या की है। उस अवसर पर भारत सरकार ने लखनऊ के रेज़िडेंट को इस प्रकार लिखा–

''आप बादशाह से भेंट करें। आप हज़रत सलामत को सूचित करें कि लखनऊ में अभी भी जो यह घोर अन्याय हुआ है कि साफ़ सबूत रहने पर भी हत्यारा छोड़ दिया गया इस पर गवर्नर जनरल साहब बहुत ही असन्तुष्ट हैं। आप यह भी कहें कि बादशाह के राज्य में ऐसे ऐसे मामले बराबर हो रहे हैं जिनका फल यही होगा, जैसा कि उन्हें कई बार चेताया जा चुका है, कि बादशाही अधिकार बिलकुल ले लिया जाय।''

रेज़िडेंट ने यह भी शिकायत की कि अवध में न्यायालयों की ठीक व्यवस्था न होने के कारण अँगरेज़ सरकार की जो प्रजा वहाँ है वह भी कष्ट पा रही है तब अँगरेज़ सरकार चुप नहीं रह सकती।

रेज़िडेंट ने साफ़ लिखा कि ''अवध में पुलिस का कोई ठीक प्रबन्ध ही नहीं है। वर्तमान राज्य प्रणाली में अवध में धन और प्राण की रक्षा का लेश भी नहीं है। देश के इस भाग में बिना बहुत से हथियारबन्द आदमी साथ लिए लोगों का रास्ता चलना असम्भव है।''

मैं समझता हूँ कि मैंने जितनी बातें लिखी हैं और जितने दृष्टान्त सामने रखे हैं उनसे यह बात मन में अच्छी तरह बैठ गई होगी कि अच्छी पुलिस रखना और अच्छे न्यायालयों का स्थापित करना कितना आवश्यक है। इसके बिना धन, प्राण और स्वतन्त्रता की रक्षा हो नहीं सकती। और बिना इस रक्षा के राज्य रह नहीं सकता,

किसी न किसी दिन जायगा, चाहे जल्दी या देर में।

मैं देशी राज्यों का बड़ा भारी शुभचिन्तक हूँ। मैं चाहता हूँ कि वे बराबर बने रहें। अतः मेरा कहना है कि राजा महाराजा इन सब बातों को स्वयं ही मन में धारण करके न रह जायँ बल्कि जैसे हो तैसे इन्हें अपनी सन्तानों को भी बतलावें और साथ ही ऐसा उपदेश दें कि उनकी सन्तान भी अपनी सन्तानों को इसी प्रकार बतलावे जिसमें इन बातों का तार न टूटे, पीढ़ी दर पीढ़ी ये बातें मन में बैठती रहें। देशी रजवाड़े जब तक अपने में धन, प्राण और स्वतन्त्रता की रक्षा बनाए रक्खेंगे तब तक वे अचल रहेंगे।

**स्वास्थ्य**—राज्य का दूसरा बड़ा कर्त्तव्य जहाँ तक हो सके प्रजा के स्वास्थ्य की रक्षा करना है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति का स्वास्थ्य अधिकतर उसी पर निर्भर है—अर्थात् उसके भोजन, वस्त्र, व्यायाम, चिकित्सा आदि पर। हर एक को भला चंगा रहने की स्वाभाविक इच्छा होती है इससे वह अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखता ही है। पर सर्वसाधारण के स्वास्थ्य से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनका प्रबन्ध एक एक व्यक्ति नहीं कर सकता। वे ऐसी बातें हैं जिनका प्रबन्ध राज्य ही की ओर से हो सकता है। यदि राज्य उनका प्रबन्ध अपने हाथ में न लेगा तो उनका प्रबन्ध होगा ही नहीं। मैं इन बातों में जो मुख्य मुख्य हैं उन्हें बतलाता हूँ।

जहाँ बहुत से लोग पास पास बसते हैं, जैसे शहरों और कस्बों में वहाँ सफ़ाई का सबसे पहले ध्यान रखना चाहिए। गलियों में से गलीज और कूड़ा करकट दूर होना चाहिए। नल दुरुस्त रहने चाहिए। अच्छी ताज़ी हवा खूब आनी चाहिए, इत्यादि। यही सब स्वास्थ्य प्रबन्ध कहलाता है। इसके सिवाय लोगों के आराम, सुबीते और रक्षा आदि के लिए भी अनेक प्रबन्ध रहें। जैसे गाड़ी, घोड़े आदि आने जाने के लिए अच्छी अच्छी सड़कें हों। सड़कों पर छिड़काव हो, रोशनी हो। आग बुझाने की कलें हर समय तैयार रहें।

सर्वसाधारण के स्वास्थ्य के लिए एक और आवश्यक बात यह है कि लोगों को नित्य के खर्च के लिए साफ़ और काफ़ी पानी मिले। गरम देशों के लिए तो यह एक बड़ी भारी नियामत है। जो राजा महाराजा इसका प्रबन्ध करेंगे उन्हें बहुत दिनों तक लोग आशीर्वाद देंगे।

सर्वसाधारण की स्वास्थ्य रक्षा के लिए यह भी आवश्यक है कि नगर की घनी बस्ती में रहने वाले लोगों के लिए कुछ खुली और सुहावनी जगहें हों जहाँ वे गाड़ी घोड़े पर हवा खा सकें व पैदल टहल सकें और जहाँ वे संध्या सबेरे अपने अवकाश का समय बितावें जिससे उनके स्वास्थ्य को लाभ पहुँचे।

सर्वसाधारण की स्वास्थ्य रक्षा के लिए टीका लगाने का प्रबन्ध भी होना चाहिए। जिससे लोग शीतला के भयानक रोग से बचे रहें।

लोगों की स्वास्थ्य रक्षा का एक उपाय यह भी है कि बस्तियों के बीच में

अस्पताल और औषधालय स्थापित हों जहाँ रोगियों को सहज में दवाएँ मिल सकें, उनके रोग की देखभाल हो सके।

जिस राज्य को अपनी प्रजा के सुख की चिन्ता होती है वह इन सब बातों का प्रबन्ध करता है। ऐसी बातों में जो रुपया खर्च होता है वह सफल ही होता है। प्रजा का यह स्वत्व है कि उसके स्वास्थ्य की इस प्रकार रक्षा की जाय। जो राजा अपनी प्रजा का पालन करता है वह लोगों की स्वास्थ्य रक्षा का पूरा प्रबन्ध रखता है।

इस सम्बन्ध में मुझे यही कहना है कि राज्य की ओर से लोगों का स्वास्थ्य बढ़ाने, रोग दूर करने और क्लेश हटाने के लिए जो कुछ किया जायगा वह सुराज्य का लाभ समझा जायगा। अच्छा राजा सर्वसाधारण के स्वास्थ्य का बहुत ध्यान रखता है जो कि सर्वसाधारण के सुख का प्रधान अंग है और राजा का प्रधान कर्त्तव्य है।

पर इस बात का भी ध्यान रहना चाहिए कि सर्वसाधारण का स्वास्थ्य बढ़ाने की चिन्ता में कहीं राजा महाराजा व्यर्थ एक एक आदमी की स्वतन्त्रता में न बाधा डालें। स्वतन्त्रता एक बड़ी अनमोल वस्तु है। किसी पर यह ज़ोर न डालना चाहिए कि तुम झख मारकर यही भोजन करो, यही दवा खाओ, या यही कसरत करो। इन सब बातों को तो हर एक आदमी अपने आप समझ बूझ लेगा। राज्य की कार्रवाई तो उन्हीं मामलों तक रहनी चाहिए जिनमें मोटे तौर पर सबकी भलाई है, जैसे—सफ़ाई कराना, अच्छे नल लगवाना, साफ़ पानी पहुँचाना, अस्पताल खोलना, टीका लगाने का प्रबन्ध करना इत्यादि, इत्यादि। ऐसे मामलों में राज्य जो कुछ करता है वह समाज की ओर से और समाज के भले के लिए।

इस ढंग से चलने में भी राज्य को यह ध्यान रखना चाहिए कि वह कहीं लोकोपकार करने की झोंक में बहुत न बढ़ जाय। लोगों की विद्या वृद्धि की जो वर्तमान अवस्था है और उसके अनुसार उनके जो विचार हैं उनसे बहुत आगे न बढ़ा जाय। किसी मामले में राज्य को कहाँ तक बढ़ना चाहिए और कहाँ तक जाना चाहिए, इसका विचार समय समय पर यह देखकर करना चाहिए कि किसी कार्रवाई से लोगों की भलाई कितनी होगी और लोगों की ओर से विरोध कितना होगा।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि स्वास्थ्य के मामले में व्यर्थ एक एक आदमी की स्वतन्त्रता में बाधा न पड़ने पावे। पर राज्य यह कर सकता है कि बिना लोगों की स्वतन्त्रता में बाधा डाले अपनी राय प्रकाशित करे। जैसे यदि हैज़ा फैला हो तो स्वास्थ्य विभाग द्वारा राज्य की ओर से लोगों को यह सूचना दी जाय कि इन इन युक्तियों से हैज़े से बच सकते हैं, ये ये दवाएँ हैज़े में उपकारी पाई गई हैं तथा इन इन उपायों से हैज़े का फैलना रुक सकता है।

जब कभी हैज़ा, मरी, शीतला आदि रोग फैलें तो राज्य को उनकी रोक और चिकित्सा के लिए विशेष प्रबन्ध करना चाहिए। जिन जिन स्थानों में ये रोग फैले

हों वहाँ कुछ अधिक वैद्य, डॉक्टर तैनात करके भेजे जायँ। वहाँ के लोगों को दवा आदि का अधिक सुबीता कर दिया जाय। यदि स्वास्थ्य विभाग प्रस्ताव करे कि यहाँ ये ये कार्रवाइयाँ हों तो राज्य को चाहिए कि उन्हें चटपट मंजूर कर ले।

सर्वसाधारण के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में स्वास्थ्य विभाग ही की सम्मति पर राज्य को चलना चाहिए।

**प्रजा की प्राण रक्षा**—ऊपर कहा जा चुका है कि राजा का कर्त्तव्य प्रजा का स्वास्थ्य बढ़ाना है। स्वास्थ्य-वृद्धि के मुख्य मुख्य उपाय भी बतलाए जा चुके हैं। राजा का दूसरा भारी कर्त्तव्य यह है कि जहाँ तक हो सके प्रजा को भरपूर भोजन इत्यादि प्राप्त करने का सुबीता कर दे। यह प्रत्यक्ष है कि भरपूर भोजन के बिना लोग सुखी नहीं रह सकते।

सबसे पहले तो यह कहना है कि राज्य इस विषय में कुछ अधिक नहीं कर सकता। बहुत कुछ तो लोगों के निज के परिश्रम के ऊपर है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपने और अपने परिवार के लिए कोई न कोई काम करना पड़ता है और उसके द्वारा जीविका प्राप्त करनी पड़ती है। प्रकृति ने हर एक के लिए भोजन इतना आवश्यक रक्खा है कि वह आप अपने भोजन के लिए भरसक सब कुछ करता है। इसके लिए उस पर कोई ज़ोर डालने की ज़रूरत नहीं, इस विषय में तो स्वाभाविक प्रवृत्ति ही पूरा काम करती है।

स्वाभाविक प्रवृत्ति केवल भोजन ही प्राप्त करने के लिए नहीं बल्कि सुख पहुँचानेवाली और बहुत सी वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए उभाड़ती है। अब राज्य का धर्म यह है कि इस प्रवृत्ति को उचित स्वच्छन्दता के साथ काम करने दे। राज्य इस बात का ध्यान रक्खे कि इस स्वाभाविक प्रवृत्ति में मनुष्यों की उत्पन्न की हुई कोई बाधा वा रुकावट न पड़ने पावे। राजा को यह कर्त्तव्य साफ़ साफ़ समझना और दृढ़ता के साथ पूरा करना चाहिए।

अब यहाँ पर यह देखना है कि राजा को क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए कि इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार पूरा पूरा कार्य हो और उसका अच्छा फल हो।

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, समाज के प्रत्येक व्यक्ति में अपने सुख के साधन इकट्ठे करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति के अनुसार वह धन कमाने के लिए भरसक पूरा प्रयत्न करेगा। राज्य को चाहिए कि धन, प्राण, शरीर और स्वतन्त्रता की रक्षा करके इस स्वाभाविक प्रवृत्ति की भी भरपूर रक्षा करे। इन प्रयत्नों के लिए पूरी राह खोल दे और कमानेवाले को उस धन का सुख भोगने दे। यदि धन, प्राण, शरीर और स्वतन्त्रता की रक्षा न रहे तो क्या हो, सोचिए तो, बहुत से लोग मन में यही कहें—"मैं धन क्यों कमाऊँ और कमाकर क्यों बचाऊँ जब कि इस बात का कोई ठिकाना ही नहीं कि मैं कब मार डाला जाऊँ, घायल कर दिया जाऊँ, क़ैदख़ाने

में डाल या लूट लिया जाऊँ''?

इससे सिद्ध हुआ कि धन, प्राण, शरीर और स्वतन्त्रता की रक्षा समाज के धनोपार्जन और धनसंचय के लिए आवश्यक है। लोगों को किसी बात का डर नहीं रहना चाहिए।

इस बात को थोड़े और ब्योरे के साथ मैं कहता हूँ। लोगों को डर न रहना चाहिए कि हम शहर में, दिहात में वा सड़क पर लूट लिए जायँगे। सेठ साहूकार अपना रुपया अपने पास बेखटके रख सकें। किसान अपने अनाज का ढेर बेखटके रख सकें। एक तरकारी बेचनेवाली ग़रीब बुढ़िया को भी इस बात का खटका न रहे कि मेरी तरकारी कोई छीन लेगा। सारांश यह कि छोटे बड़े, ग़रीब अमीर सबको इस बात का निश्चय रहे कि हमारी सम्पत्ति हमारे पास रहेगी और हम उसका सुख उठावेंगे। लोगों को इस बात का कुछ भी खटका न रहे कि हमारे साथ ज़बरदस्ती होगी, हमें कोई धोखा देगा, हम झूठे मामले मुक़दमों में फँसेंगे, हमारे साथ राज्य कोई मनमानी कार्रवाई करेगा।

ये सब बातें उन उपायों से प्राप्त हो सकती हैं जिन्हें मैं पहले कह चुका हूँ अर्थात् शहरों और गाँवों में अच्छी पुलिस रखने से, योग्य अदालतों को बैठाने से और अच्छे अच्छे क़ानून जारी रखने से।

**प्रजा के सुख सम्पत्ति की वृद्धि**—राज्य को धन की बढ़ती के लिए और भी बहुत सी बातें करनी चाहिए जिनमें से कुछ मैं आगे बतलाता हूँ।

राज्य के लोगों को अपने धन का पूरा उपभोग स्वच्छन्दतापूर्वक अर्थात् बिना व्यर्थ की रुकावट वा भय के करने देना चाहिए, जैसे—किसी के लिए यह रोक न होनी चाहिए कि वह गाड़ी घोड़े पर चढ़कर न चले। किसी को सड़क के किनारे भारी मकान बनाने से न रोकना चाहिए। इसी प्रकार, कोई बढ़िया कपड़े वा क़ीमती गहने पहनने से न रोका जाय। सारांश यह कि लोगों को इस बात की पूरी स्वतन्त्रता रहे कि वे जिस प्रकार चाहें अपने धन को भोगें वा दिखावें। राजा महाराजा अपनी प्रजा को जितना ही सुखी देखें उतना ही उन्हें सुखी होना चाहिए।

एक बड़ी भारी बात और है। हमारे यहाँ के लोग अधिकांश खेती ही पर निर्वाह करते हैं। धरती धन को देनेवाली है। किसान भूमि पर परिश्रम करते हैं और भूमि उन्हें फल देती है। इससे सिद्ध हुआ कि भूमि के सम्बन्ध में और किसानों के सम्बन्ध में जो राज्य प्रबन्ध होगा उसका प्रजा के सुख के साथ बहुत कुछ लगाव होगा।

यह स्मरण रखना चाहिए कि अधिकांश लोग तो स्थिर भाव से देश में बसे हैं अर्थात् खेती का काम करते हैं। जिस प्रकार वह भूमि, जिसे वे जोतते हैं, अचल है उसी प्रकार वे भी अचल हैं। अधिकतर किसान जब तक उन पर लगातार जुल्म न हो अपनी भूमि को छोड़ने का कभी विचार नहीं करते। किसान हमारे यहाँ की स्थिर जनसंख्या के एक प्रधान अंग हैं और जो फ़सल वे हर साल पैदा करते हैं

वह हमारे देश के धन का एक प्रधान भाग है। इसी से रैयत और भूमि के सम्बन्ध में बहुत ठीक प्रबन्ध रहना चाहिए।

किसानों को सुखी रखने और भूमि से धन की बढ़ती करने के लिए यह आवश्यक है कि ज़मीन की मालगुज़ारी बहुत ज्यादा न हो, इतनी जितने में रैयत अपना और अपने बाल बच्चों का पालन सुख से कर सके। बहुत सी देशी रियासतों में इस सिद्धांत का पालन ठीक ठीक नहीं होता है। बहुत सी रियासतें रैयत से जहाँ तक हो सकता है मालगुज़ारी ऐंठती हैं और इससे जनसंख्या का एक बड़ा भाग दरिद्र हो जाता है। यह बात उस मूल सिद्धान्त के बिलकुल विरुद्ध है जिसकी ऊपर चर्चा हुई है अर्थात् राज्य का पहला उद्देश्य प्रजा के सुख की वृद्धि करना है।

दूसरी बात जो प्रजा को सुखी करने और भूमि से धनोपार्जन की वृद्धि करने के लिए आवश्यक है वह यह है कि किसानों के कब्ज़े में काश्त अच्छी हो। किसानों को यह पूरा विश्वास रहे कि जब तक रियासत को लगान बराबर देते जायँगे तब तक हम बेदख़ल न किए जायँगे। किसानों को यह भरोसा रहे कि यदि हम लगान बराबर समय पर देते जायँगे तो ज़मीन हमारे क़ब्ज़े में पीढ़ी दर पीढ़ी चली जायगी। बुद्धि से भी यह बात ठीक ठहरती है और अनुभव से भी यह बात पाई गई है कि कब्जे का ठीक ठिकाना न रहने से खेती की वृद्धि नहीं हो सकती।

एक और बात जो प्रजा को सुखी करने और भूमि से धन बढ़ाने के लिए आवश्यक है वह यह है कि जब किसानों की पूँजी और परिश्रम लगने से भूमि की उपज बढ़ जाय तब राज्य को उसके कारण अपना कर बढ़ाकर किसानों को उस उचित फल से वञ्चित न करना चाहिए जो उन्हें अपनी पूँजी और परिश्रम के कारण प्राप्त हुआ है। यदि रियासत ऐसा करेगी तो किसान कहेंगे कि हमें क्या पड़ी है कि भूमि को अधिक उपजाऊ करने के लिए अधिक परिश्रम और पूँजी लगावें। इससे भूमि की उपज बढ़ेगी नहीं, चाहे घट भले ही जाय।

जबकि भूमिकर ऊपर लिखी व्यवस्था के अनुसार ठीक ठीक अर्थात् न बहुत थोड़ा न बहुत अधिक एक बार निश्चित हो गया तब राजा महाराजों को और मनमाने ऊपरी कर जैसे गद्दी और ब्याह शादी आदि के नज़राने न लगाने चाहिए।

एक बुराई और है जिसे बचाना चाहिए। प्रायः ऐसा हुआ है कि राजा महाराजों के पास साधु संन्यासी वा ऐसे ही और लोग आए हैं और कुछ वार्षिक सहायता की प्रार्थना की है। राजा महाराजों ने क्या किया कि उन्हें सनद दे दी कि इन इन गाँवों और परगनों से असामी पीछे वा हल पीछे इतना रुपया वसूल कर लिया करो। इस प्रकार का अधिकार देना बहुत ही बुरा है, क्योंकि इससे किसानों को हानि पहुँचती है।

जिन उपायों से भूमि की उपज बढ़े वा अच्छी हो उनको काम में लाना चाहिए।

खेती की उपज इन इन उपायों से बढ़ती है, जैसे अच्छी जोताई, अच्छी खाद

और अच्छी निराई।

सिंचाई का प्रबन्ध करने से भी भूमि की फसल बहुत अच्छी हो सकती है। इस उपाय से जिस भूमि में पहले कोई मोटा अन्न होता था उसमें ईख हो सकती है, जहाँ 100 रुपये बीघे की फसल होती थी वहाँ 500 रुपये बीघे की फसल हो सकती है। इससे किसानों को और सारी प्रजा को लाभ पहुँचेगा।

इसलिए राज्य को चाहिए कि सिंचाई के लिए ताल कुएँ खुदवावे, नहर बनवावे तथा और जो प्रबन्ध हो सके करे।

किसी देश में भूमि की उपज बढ़ाने का एक और उपाय यह है—ऐसे नियम बनें, जिनसे किसानों को ऊसर ज़मीन सुबीते में और पक्के क़ब्ज़े के साथ मिले।

भूमि के अतिरिक्त धन के और भी मार्ग हैं। इनमें से मुख्य कारीगरी है। कारीगरी से बहुत से लोगों का पालन होता है। इससे कारीगरी को पूरा बढ़ावा देना चाहिए। यह आजकल और भी ज़रूरी है क्योंकि आबादी दिन दिन बढ़ रही है, इतनी ज़मीन कहाँ से आवेगी कि जिसमें सबका निर्वाह हो। जिन लोगों को खेती के लिए भूमि न मिल सके उनके लिए तरह तरह की कारीगरी का मैदान खुला रहना चाहिए।

अस्तु, लोगों की जीविका की बढ़ती करने और देश में धनोपार्जन की वृद्धि करने के लिए ये बातें आवश्यक ठहरीं—

(क) लोगों के प्राण, धन, शरीर और स्वतन्त्रता की रक्षा रहे।

(ख) लोग अपने धन का पूरा सुख भोगने पावें।

(ग) भूमि धन का एक प्रधान मार्ग है इससे मालगुज़ारी बहुत अधिक न होनी चाहिए।

(घ) भूमि के अधिकार की पूरी रक्षा रहनी चाहिए।

(च) किसान अपनी पूँजी और अपना परिश्रम लगाकर ज़मीन की पैदावार में जो बढ़ती करें उस पर राज्य की ओर से कर न बढ़ाया जाय, यदि बढ़ाया भी जाय तो बहुत दिनों के पीछे।

(छ) ज़मीन की ठीक ठीक नाप और बन्दोबस्त हो।

(ज) नज़राना आदि मनमाने ऊपरी कर न लगाए जायँ।

(झ) साधु पुरोहित आदि को गाँवों में जाकर असामी पीछे वा हल पीछे कुछ वसूल करने का अधिकार न दिया जाय।

(ट) पैदावार की रफ़्तनी पर महसूल न लिया जाय। यदि लिया भी जाय तो थोड़ा।

(ठ) अनाज पर किसी तरह का महसूल न लगाया जाय।

(ड) भूमि की अच्छी जोताई, अच्छी खाद और अच्छी निराई के लिए जहाँ तक सुबीते हो सकें कर दिए जायँ।

(ढ) सिंचाई के लिए कुएँ आदि खुदवाये जायँ।

(त) सड़क और रेल बने जिससे मनुष्यों के और माल के आने जाने में ख़र्च कम पड़े।

(थ) किसानों को ऊसर ज़मीन सुबीते में और पूरे क़ब्ज़े के साथ मिले।

**राज्य की इमारतें**—राज्य की इमारतों को बनवाने का एक अलग मुहकमा चाहिए। जिसका एक ऐसा योग्य अफ़सर हो जिसे इंजीनियरी की पूर्ण शिक्षा मिली हो।

इस मुहकमे का हिसाब रखने और जाँचने का पूरा प्रबन्ध चाहिए जिससे एक एक रुपये का ख़र्च दर्ज रहे और उसकी जाँच हो।

इस मुहकमे को जितने रुपयों की आवश्यकता हो उतना रुपया चट मिलना चाहिए। यदि ऐसा न किया जायगा तो यह मुहकमा सुस्त पड़ जायगा। ऐसी किफ़ायत से कोई लाभ नहीं।

यदि कोई बड़ी, भड़कीली और लागत की इमारत खड़ी करनी हो, विशेष कर राजधानी में, तो उसका ढाँचा आदि तैयार करने के लिए अच्छे से अच्छे शिल्पी नियत किए जायँ। यह बहुत ही आवश्यक है। यदि इसका ध्यान न रक्खा जायगा तो लाखों रुपए व्यर्थ बरबाद होंगे और भद्दी इमारतें खड़ी कर दी जायँगी जिनसे बनानेवालों का अनाड़ीपन ही प्रकट होगा।

इमारत बनवाने में आँख मूँदकर यूरोपियन ढंग की नक़ल न करनी चाहिए। यूरोपियन ढंग योरप ही के लिए ही ठीक है। हम लोगों को वही ढंग काम में लाना चाहिए जो हमारे देश के अनुकूल हो और जिसका व्यवहार सब दिन से हमारे यहाँ चला आया है। बड़ौदे में कालिज महल और जमनाबाई अस्पताल अच्छे ढाँचे पर बने हैं।

नियम यह होना चाहिए कि इमारत बनने का काम तब तक शुरू न हो जब तक कि ढाँचा और तख़मीना पेश न किया जाय और मंजूर न हो जाय।

राज्य की ओर से जो काम बने वह अच्छे ढंग पर बने। काम पुख़्ता और सुन्दर हो जिससे कई पीढ़ियों तक उसकी क़दर रहे। इसमें जो ख़र्च और तरद्दुद हो उसे उठाना चाहिए।

जहाँ तक हो सके काम ठेके पर बनवाए जायँ। ठेके का नियम कई बातों में अच्छा है।

राज्य में जो-जो काम बने उनसे राज्य के मज़दूरों और कारीगरों का गुज़ारा हो बाहरियों की अपेक्षा उन्हें लगाना अच्छा है। बाहर से सामान मँगाने की अपेक्षा अपने राज्य से सामान लेना अच्छा है।

राज्य की इमारतों, सड़कों और पुलों की मरम्मत में जो ख़र्च लगे उसे लगाना चाहिए। यदि राजा महाराजा कोई नए काम न बनवावें तो जो पहले के बने हुए हैं कम से कम उनकी तो रक्षा करें। किसी रियासत की इमारतों का बेमरम्मत रहना उस रियासत के लिए बदनामी की बात है।

जहाँ मरम्मत का वार्षिक व्यय प्रतिवर्ष बहुत घटता बढ़ता न रहता हो वहाँ सालाना मरम्मत का बँधा ख़र्च मंजूर हो जाना चाहिए जिसमें बार बार का झंझट न रहे, समय का बचाव हो और मरम्मत भी ठीक वक्त पर हो जाया करे।

अच्छे ढाँचे पर बनी हुई बड़ी और लागत की इमारतों की मरम्मत करने और उनको बढ़ाने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो काम नया बने वह पुराने के मेल में हो। देशी रियासतों में प्रायः इसका ध्यान नहीं रक्खा जाता।

कचहरी, अदालत, जेल, स्कूल आदि की इमारतें सभ्य राज्य के लिए आवश्यक हैं। पर ये मुनाफ़े के काम नहीं हैं। इनसे लोगों के धन की बढ़ती सीधे नहीं हो जाती। पर ये अत्यन्त आवश्यक और ध्यान देने योग्य हैं।

कचहरी मुनाफ़े का काम नहीं है क्योंकि इससे न तो देश के धनोपार्जन में वृद्धि होती है और न व्यय की बचत होती है। सींचने का कुआँ मुनाफ़े का काम है, क्योंकि उससे फसल की बढ़ती होती है। इसी प्रकार सड़क बनाना भी मुनाफ़े का काम है, क्योंकि इससे माल की रवानगी के ख़र्च में बहुत कुछ बचत होती है।

अस्तु, राज्य में मुनाफ़े के कामों को खूब बढ़ाना चाहिए। जितने ही ये काम अधिक होंगे उतनी ही देश की बढ़ती होगी। राजा महाराजा आजकल नए देश नहीं जीत सकते हैं; पर जो देश उनके अधिकार में हैं उनका मोल वे इन मुनाफ़े के कामों से बढ़ा सकते हैं।

इस देश में सबसे मुख्य काम सींचने के लिए कुएँ, तालाब खुदवाना और अच्छी अच्छी सड़कों का बनवाना है।

कम लागत में ऐसी कच्ची सड़कें बहुत सी बन सकती हैं जिन पर सूखे दिनों में बैलगाड़ी, छकड़े आदि मजे में चल सकें।

भारतवर्ष में पोखरे और तालाब बड़े काम के होते हैं। राज्य को चाहिए कि वह इनकी मरम्मत रक्खे।

यदि बहुत ख़र्च न हो तो दलदल की ज़मीन निकालने और ऊसर भूमि को उपजाऊ करने का भी राज्य को प्रबन्ध करना चाहिए।

मन्दिर, धर्मशाला तथा ऐसी ही सबके काम आनेवाली और और इमारतों की मरम्मत का भी ध्यान राज्य को रखना चाहिए।

**शिक्षा**—मैं अब यहाँ कुछ ऐसे मोटे मोटे सिद्धान्तों का वर्णन करूँगा जिनके अनुसार राज्य के शिक्षा विभाग को चलना चाहिए।

अँगरेज़ी भाषा के द्वारा जो उच्च शिक्षा पाना चाहते हों उन्हें उस प्रकार की शिक्षा मिलने का प्रबन्ध होना चाहिए। जो लोग अँगरेज़ भाषा के द्वारा उच्च शिक्षा पावेंगे वे समाज में अत्यन्त उन्नत विचार के मनुष्य होंगे। वे उन्नति साधन में सबसे अधिक सहायक होंगे, वे मूर्खता और अन्धविश्वास की बातों को दूर करने में सबसे आगे रहेंगे। मेरा तो विश्वास क्या दृढ़ निश्चय है कि भारतीय जन समाज बिना ऊपर

लिखी बातों के समावेश के जहाँ का तहाँ पड़ा रहेगा, एक डग आगे न बढ़ेगा।

अँगरेज़ी, साहित्य, विज्ञान और दर्शन अँगरेज़ अच्छा पढ़ा सकते हैं। इससे स्कूलों और कॉलिजों में अँगरेज़ अध्यापक रहने चाहिए। स्वदेशानुराग के कारण वा किफ़ायत के ख्याल से देशी आदमियों ही को रखना ठीक नहीं है। देशी लोग अँगरेज़ अध्यापकों के सहायक के रूप में बहुत अच्छा काम करेंगे, विशेष कर गणित और पदार्थ विज्ञान पढ़ाने में।

धर्म सम्बन्धी शिक्षा ज्ञान मूलक हो, अर्थात् किसी विशेष मत की शिक्षा न दी जाय।

मेरी समझ में छोटी छोटी चुनी हुई पुस्तकों द्वारा स्कूलों में सर्वदेशीय सदाचार की शिक्षा होनी चाहिए। इसी प्रकार उस सदाचार की शिक्षा भी हो जिसका पालन राज्य में दण्डभय से कराया जाता है। यह बहुत आवश्यक है कि लड़कों को आरम्भ से ही यह बतलाया जाय कि कौन कौन सी नीयत और कौन कौन से काम बुरे हैं और किनके लिए राज्य से दण्ड मिलता है। इसके सिखाने में थोड़ा ही समय लगेगा पर इसके द्वारा बहुत से युवा पुरुष ऐसे कर्म्मों से बचे रहेंगे जो नीति विरुद्ध हैं वा न्याय से दण्डनीय हैं।

राजा महाराजों को चाहिए कि वे अपने यहाँ के सरदारों, सेठ साहूकारों पर इस बात का दबाव डालें कि वे अपने लड़कों को स्कूल भेजें।

ऐसे लोगों के अनुकरण के लिए राजा महाराजों को चाहिए कि वे अपने तथा अपने सम्बन्धियों के लड़कों को भी स्कूल भेजें।

यह स्मरण रखना चाहिए कि शिक्षितों को अधिक आश्रय देने से शिक्षा को बहुत उत्तेजना मिलती है। राज्य के भिन्न भिन्न विभागों के अधिकारियों को इस बात की ताकीद रहे कि उनके यहाँ जो जगहें खाली हों उन्हें वे कार्य्य की उत्तमता के विचार से शिक्षितों को दें।

स्कूलों वा कॉलिजों में जो अपनी शिक्षा समाप्त कर चुके हों उनमें से कुछ को छात्रवृत्तियाँ दी जायँ जिसमें वे प्रयाग, कलकत्ता, बम्बई आदि जाकर और ऊँची शिक्षा प्राप्त करें। छात्रवृत्तियाँ योग्य लोगों को दी जायँ और कुछ उचित शर्तों के साथ।

राजा महाराजों को मुख्य मुख्य परीक्षाओं और इनाम बाँटने के उत्सवों में सभापति का आसन ग्रहण करके तथा उत्साहपूर्ण व्याख्यान देकर अपनी रुचि विद्या की ओर दिखानी चाहिए। यह उनके राजकर्त्तव्यों में से है।

सर्वसाधारण के लिए पुस्तकालय, सुबोध व्याख्यान तथा शिक्षा के ऐसे ही और और साधनों को सहायता पहुँचानी चाहिए और उनको वृद्धि करनी चाहिए।

इन उपायों को धीरता के साथ काम में लाने से धीरे धीरे प्रजा की बुद्धि और विवेक की वृद्धि होगी और राज्य का बड़ा भारी कर्त्तव्य पूरा होगा।

राजा अपने राज्य में सबसे बड़ा और शक्तिमान् पुरुष होता है इससे वह लोगों की चाल सुधारने के लिए बहुत कुछ कर सकता है। राजा के आचरण का प्रभाव दिन रात और हर घड़ी पड़ता रहता है। राजा की बातचीत तक का बहुत कुछ फल होता है।

अतः राजा को बात-बात में यह जताना चाहिए कि उसे सदाचार से प्रेम और बुराई से चिढ़ है। जब जैसा अवसर पड़े, राजा को कोई न कोई बात इस तरह की कहनी चाहिए। जैसे श्रीमान कहें—"मैं ऐसे लोगों को बिलकुल नहीं चाहता जो झूठ बोलते हैं" वा "मुझे ऐसे कर्म्मचारियों से बड़ी चिढ़ है जो घूस लेते हैं।" वा "मुझे इधर-उधर की लगानेवालों से बड़ी घिन है" अथवा "कोई यह न समझे कि मैं चालबाजियों से बढ़ूँगा" इत्यादि। ये बातें इस ढंग से भी कही जा सकती हैं "जो सच्चे हैं मैं उनका सम्मान करता हूँ" "मैं सच्चे और ईमानदार कर्म्मचारियों पर बहुत प्रसन्न होता हूँ" इत्यादि।

निश्चय समझिए कि बहुत से लोग राजा की ऐसी ऐसी बातों पर बड़ा ध्यान रखेंगे और उन्हें दूर दूर तक फैलावेंगे। ऐसी ऐसी बातों का बड़ा प्रभाव पड़ेगा। इनसे भले लोगों को उत्साह होगा और बुरे लोगों की चाल सुधरेगी। इनसे सबको चेतावनी मिलती रहेगी। इस प्रकार मैं समझता हूँ कि राजा एक बड़े प्रभावशाली उपदेशक का काम कर सकता है। उसे थोड़े ही दिनों में लोगों की सत्प्रवृत्ति बढ़ाने का यश प्राप्त हो सकता है। यह समझ रखना चाहिए कि लोगों की प्रवृत्ति जितनी ही अच्छी होगी उतना ही शासन कार्य्य सुगम और अच्छा होगा तथा प्रजा का सुख बढ़ेगा।

संक्षेप यह है कि राजा का यह बड़ा भारी कर्त्तव्य है कि वह अपने अधिकार और प्रभाव का प्रयोग सदाचार को बढ़ाने और बुराई को दबाने के लिए करे। वह जो कुछ कहे, जो कुछ करे, जो पद और प्रतिष्ठा प्रदान करे सबका लक्ष्य इस बड़े उद्देश्य की ओर हो।

**महल**—मैं अब महल के प्रबन्ध के विषय में कुछ कहना चाहता हूँ। जिस प्रधान उद्देश्य से महल का सारा प्रबन्ध होना चाहिए वह यह है कि महाराज और उनके परिवार के लोग आराम और सुख से रहें तथा अपना आवश्यक राजसी ठाटबाट बनाए रहें।

इस काम में जो खर्च पड़े वह ठीक ही है और उसे उठाना चाहिए। यह ख़र्च यूरोपीय राज्यों की अपेक्षा एशिया के राज्यों में कुछ अधिक होता है, क्योंकि वहाँ और यहाँ की चालढाल, रीति व्यवहार और आचार विचार में भेद है। भारतवर्ष के लोग बहुत काल से तड़क भड़क की शक्ति का अंग समझते आए हैं। यहाँ तक कि ठाटबाट ही देखकर लोग शक्ति का अन्दाज करते हैं।

पर साथ ही यह भी है कि महल का ख़र्च रियासत की आमदनी के हिसाब से हो। यदि यह ख़र्च हिसाब से अधिक होगा तो क्या होगा? प्रजा के सुख की वृद्धि

करने के जो साधन हैं, उनमें कमी होगी, अर्थात् प्रजा के सुख का कुछ अंश न्योछावर हो जायगा। पर जहाँ तक हो सके प्रजा को सुखी करना राजा का पहला कर्त्तव्य है।

महल के एक एक विभाग के एक एक मद का खर्च बँधा वा निर्धारित हो। राजा साहब यह देखते रहें कि जिस काम के लिए जितना ख़र्च मुकर्रर है उतना ही होता है। बड़ा भारी सिद्धान्त तो यह है कि जहाँ तक हो सके बहुत कम ऐसे मद हों जिनका ख़र्च बँधा वा मुक़र्रर न हो। जो खर्च बिना बँधा छोड़ा जायगा वह बराबर हर साल बढ़ता ही जायेगा।

पर कुछ थोड़े से मद ऐसे अवश्य होंगे जिनका खर्च बाँधा नहीं जा सकता। ऐसे मदों की देखभाल राजा महाराजा स्वयं करें और किसी खास ख़र्च को मंजूर करने का अधिकार अपने हाथ में रक्खें।

महल का वा ख़ानगी ख़ज़ाना अलग होना चाहिए। जो रुपया ख़ानगी ख़र्च के लिए मुकर्रर हो वह समय समय पर रियासत के बड़े ख़ज़ाने से इसमें आया करे। इन दोनों ख़ज़ानों को गड्ड्बड्ड न करना चाहिए।

महल की सारी आमदनी और ख़र्च महल के ख़ज़ाने के नाम हो जिसमें इस ख़ज़ाने की बही उठाते ही महल के सारे जमा ख़र्च का पता चल जाय।

रुपये पैसों के मामलों में जहाँ तक हो सके, लिखकर आज्ञाएँ दी जायँ, जबानी हुक्मों का कुछ ठीक ठिकाना नहीं। कुछ दिनों पीछे उनमें बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ और सन्देह पड़ते हैं। लिपिबद्ध आज्ञा की उस समय विशेष आवश्यकता होती है जब कोई बड़ा और असाधारण ख़र्च आ पड़ता है।

तनख़ाह और देना बराबर ठीक समय पर चुकाया जाय। इससे रियासत के छोटे बड़े सब कर्मचारियों तथा व्यापारियों आदि को बड़ा सुबीता होगा।

महल के ख़ज़ाने से किसी को रुपया उधार न दिया जाय। महल का ख़ज़ाना बैंक नहीं है। इस सिद्धान्त पर बड़ी दृढ़ता से स्थिर रहना चाहिए, नहीं तो बहुत बुरी और सत्यानाशी रीति चल पड़ेगी।

महल का हिसाब किताब बड़े विश्वासपात्र और योग्य कर्म्मचारी के जिम्मे रहना चाहिए। हिसाब किताब लिखने में किसी प्रकार की ढिलाई न होने पावे। जो ख़र्च हो वह तुरन्त टाँक लिया जाय। जहाँ तक हो सके, हिसाब में एक वर्ष के ख़र्च के अन्दर उस वर्ष का सारा ख़र्च आ जाय। यह न हो कि किसी एक वर्ष का ख़र्च दूसरे वर्ष में डाल दिया जाय। यदि इस बात का ध्यान रक्खा जायगा तभी एक वर्ष के ख़र्च का मिलान दूसरे वर्ष के ख़र्च से हो सकेगा।

हिसाब की जाँच रियासत के आडिटर वा हिसाब जाँचनेवाले द्वारा बराबर होती रहे, किसी प्रकार की रोकटोक न रहने से बड़ी गड़बड़ी होगी।

महाराज का कोई ख़ानगी ख़र्च रियासत के ख़ज़ाने से न लिया जाय और न उसके हिसाब में डाला जाय। महल का ख़र्च कम दिखाने के लिए ऐसा प्रायः किया

जाता है। पर यह चाल धोखे की है और बन्द होनी चाहिए।

साधारण नियम यह होना चाहिए कि किसी मद का ख़र्च, जब तक किसी और मद से बचत न हो, न बढ़ाया जाय। यदि ख़र्च एक तरफ बढ़ता है तो दूसरी तरफ घटना चाहिए। यदि इस सीधे सादे सिद्धान्त का ध्यान बराबर रहेगा तो महल का औसत ख़र्च सदा बराबर रहेगा। मान लीजिए कि कोई चोबदार कुछ तनख़ाह बढ़ाने की प्रार्थना करता है। उसे आँख मूँदकर मंजूर न कर लेना चाहिए। चोबदार बहुत से रहते हैं। इनमें से यदि किसी की जगह खाली हो तो या तो वह जगह तोड़ दी जाय या उसकी तनख़ाह घटा दी जाय। इस प्रकार जो रुपया हाथ में आवे उससे उस चोबदार की तनख़ाह, यदि आवश्यक हो, बढ़ा दी जाय। सारांश यह कि जब किसी की तनख़ाह बढ़ानी हो तो यह देख लेना चाहिए कि हाथ में कुछ रुपया फाज़िल है, यदि हो तो उसी में से तनख़ाह बढ़ाई जाय। ऐसे मामलों में महल का हिसाब किताब रखनेवाले कर्मचारी से राय ली जाया करे और उसे यह आज्ञा रहे कि वह आय व्यय की अवस्था महाराज को सूचित करता रहे।

महीने महीने महल के ख़जाने की बाकी की जाँच होनी आवश्यक है। महल के दो वा तीन बड़े अफसर यह जाँच खुद किया करें और यह निश्चयपत्र महाराज को दिया करें कि बाकी की रकम इतनी है जो हिसाब से मिलान खाती है। ये निश्चयपत्र एक बही में टाँक लिए जायँ और वह बही बराबर रक्खी रहे।

पण्डित, पुजारी, ज्योतिषी तथा इसी वर्ग के और लोग सदा ख़र्च बढ़ाने की फिक्र में रहा करते हैं इससे उन पर कड़ा दबाव रहना चाहिए। व्यवहार उनके साथ अच्छा हो पर वे अपनी सीमा का उल्लंघन न करने पावें।

महल की रानियाँ भी राज्य की आर्थिक अवस्था का कुछ ध्यान नहीं रखतीं और बराबर किसी न किसी ढंग से ख़र्च बढ़ाना ही चाहती हैं। उनकी इस प्रवृत्ति को रोकना चाहिए।

इन रानियों तथा और लोगों को यह अच्छी तरह निश्चय करा देना चाहिए कि वे जो ऋण करेंगी उसका देनदार महल न होगा। पहले तो वे कर्ज लें नहीं, यदि लें भी तो उसे उसी रुपये से चुकावें जो उन्हें ख़र्च के लिए मिलता है।

गोदान इत्यादि बहुत से दान हैं जो राजा महाराजों तथा उनके परिवार की ओर से दिए जाते हैं। ऐसे दानों में बहुत सी बुराइयाँ घुस गई हैं। राजा महाराजों को इनकी ओर ध्यान देना चाहिए और यह देखना चाहिए कि जो भारी भारी दान हों उनसे कोई सच्चा लाभ वा उपकार हो, विद्या की वृद्धि हो, दोनों का कष्ट दूर हो।

**जवाहिरात वगैरह**—राजा महाराजों के महल में बहुत से जवाहिरात और सोने चाँदी की चीजें रहती हैं। जिन पर उनकी पूरी निगरानी रहनी चाहिए।

इन सबकी एक सूची महल के दफ्तर में रहनी चाहिए। राजा महाराजों को

चाहिए कि वे जाकर स्वयं एक बार देख लें कि संग्रह में क्या क्या चीजें हैं। उनके इस देखने का बड़ा अच्छा फल होगा।

जब महाराज ने एक बार सब देखकर सहेज लिया तब कुछ लोगों को नियत करने का प्रबन्ध होना चाहिए जो समय समय पर उनकी जाँच करते रहें और महाराज को निश्चयपत्र देते रहें कि सब ठीक है। जाँच करनेवाले यह भी देख लें कि बहुमूल्य पत्थर और मोती इत्यादि बराबर वही हैं बदले नहीं गए हैं।

इन सब चीजों की ताली विश्वासपात्र मनुष्यों के हाथ में रहे। एक आदमी से काम न चलेगा, क्योंकि न जाने कब वह बीमार पड़े, मर जाय। इससे अच्छा यह होगा कि कई आदमियों की एक कमेटी बना दी जाय।

पहले जवाहिरात छोटी छोटी अँधेरी कोठरियों में इधर उधर बिखरे रहते थे। प्रबन्ध ढीला रहता था। अब भारी भारी चीजें लोहे की कोठरियों के भीतर अलग अलग सन्दूकों में रहती हैं। यह प्रबन्ध अच्छा है।

ये वस्तुएँ पुरखों की संचित हैं। इन्हें अच्छी तरह रखने में मर्य्यादा है। इनमें से व्यर्थ बहुत सी चीजें इनाम वा भेंट में न दी जायँ। यदि कभी देना आवश्यक हो तो हलकी चीजें दी जायँ।

जौहरी लोग नए जवाहिरात खरीदने के लिए राजा महाराजों से बड़ी लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं जिनसे उन्हें सावधान रहना चाहिए। वे सुन्दर सुन्दर नए केसों (खानों) में जड़ाऊ गहने रनिवास में दिखाते हैं और अनेक ऐसी युक्तियाँ रचते हैं कि जिसमें रानियाँ उन्हें मोल लेने के लिए जोर दें। कभी कभी तो वे ऐसे लोगों को घूस तक देते हैं जिनका रानियों पर कुछ जोर रहता है। ऐसे फेरों में कभी न पड़ना चाहिए। ऐसी ही बातों में तो दृढ़ता दिखानी चाहिए। रानियों को समझा देना चाहिए कि इस प्रकार की चीजें तो महल में बहुत सी हैं अथवा महल में प्रस्तुत सामग्रियों से थोड़े दिनों में तैयार हो सकती हैं।

गाड़ी घोड़े तथा महल के और सामान अच्छे और दुरुस्त रहें। साधारण नियम यह होना चाहिए कि जिन वस्तुओं का महाराज स्वयं व्यवहार करते हों वे बहुत अच्छे मेल की हों, क्योंकि बीस रद्दी गाड़ियों से दस अच्छी गाड़ियों का रखना अच्छा है। इसी सिद्धान्त का पालन महल की और और बातों में भी करना चाहिए। जैसे कि महाराज के जो अर्दली और नौकर चाकर हों वे चुने हुए और अच्छे कपड़े पहने हुए हों।

महल में स्वास्थ्य रक्षा की बातों का पूरा ध्यान रहना चाहिए। बहुत से नौकर चाकर एक ही बन्द जगह में गन्दगी से न रहने पावें।

राजा महाराजों के यहाँ बहुत सी अलभ्य और अद्भुत वस्तुएँ रहती हैं। वे इधर उधर पड़ी न रहने पावें, एक जगह ठिकाने से रख दी जायँ, जिनमें राजा महाराजों को मालूम रहे कि कौन सी चीजें हैं और वे उन्हें काम में ला सकें।

महल में नित्य की बातों का लेखा रखने के लिए एक दिनचर्य्या वा रोज़नामचे की पुस्तक रहे। इसमें जो बातें याद रखने लायक हों दर्ज कर ली जाया करें। ऐसी पुस्तक बड़े काम की होगी, विशेषकर नज़ीर वा दृष्टान्त रखने के लिए।

महल का जो अफसर वा कामदार हो वह बहुत योग्य और निपुण हो। उसे महल के लिए मामूली ख़र्च करने, नौकरों को रखने, छुड़ाने आदि का पूरा अधिकार रहना चाहिए।

महल का कामदार हर एक वर्ष के अन्त में महल के प्रबन्ध का एक विवरण वा रिपोर्ट उपस्थित किया करे। यह रिपोर्ट बड़े काम की होगी।

**राज्य का मन्त्रिमण्डल**–राजा राज्य की शक्ति है और राज्य की सभा वह यन्त्र है जिसे वह शक्ति चलाती है। इन्हीं पर प्रजा के हित का भार है।

इस सभा वा कचहरी को नीति बल और बुद्धि बल होना चाहिए। इस कचहरी का प्रधान अधिष्ठाता दीवान होता है अतः उसे बहुत योग्य होना चाहिए। उस पर महाराज का विश्वास होना चाहिए, प्रजा का विश्वास होना चाहिए और अँगरेज़ सरकार का विश्वास होना चाहिए। उसे शासनकार्य में विशेषतः देशी राज्यों के शासनकार्य में निपुण होनी चाहिए। वह निपुणता उसे यदि उसी रियासत में काम करते करते प्राप्त हुई है तो और भी अच्छी बात है।

रियासत की कचहरी में सदा कुछ ऐसे योग्य और नीतिपरायण मनुष्य रहें जो शासनकार्य में दक्षता प्राप्त कर चुके हों। इन्हीं में से समय समय पर दीवान चुने जाया करें तो बहुत ही अच्छा है।

यदि इस बात का ध्यान नहीं रक्खा जायगा तो जब-जब दीवान की जगह खाली होगी तब तब महाराज को बड़ी कठिनता होगी। अपनी रियासत के कर्मचारियों में किसी को योग्य न पाकर उन्हें किसी बाहरी आदमी को बुलाना पड़ेगा जो ठीक नहीं है।

अपरिचित व्यक्ति को दीवान बनाना राजा महाराजों के सुबीते की बात नहीं है। जिससे कभी की जान पहचान नहीं, जिसका स्वभाव और रंग ढंग मालूम नहीं, जो उस स्थान और वहाँ के लोगों को नहीं जानता, जिसे रियासत के भिन्न भिन्न स्थानों के शासनक्रम और ब्योरे से जानकारी नहीं, जिसको महाराज का इतना जोर नहीं जितना बाहर के लोगों का, ऐसे आदमी का दीवान बनना ठीक नहीं।

दीवान को अँगरेज़ी भाषा पर पूरा अधिकार होना चाहिए। इसके बिना किसी बड़ी रियासत का प्रबन्ध चार दिन भी नहीं चल सकता।

दीवान दृढ़ पर शान्तिप्रिय हो, न्यायी पर शीलवान् हो, तत्पर पर धीर हो, उत्साही पर विचारवान् हो, मान अपमान का ध्यान रखनेवाला हो पर झगड़ालू न हो, महाराज को प्रिय हो पर समय पर साफ बात कहनेवाला हो। वह शासन के प्रत्येक विभाग में उन्नति का पक्षपाती हो पर साथ ही उसमें इतना विवेक हो कि जो बातें पुरानी,

स्वाभाविक और उपयोगी हों उन्हें वह बनी रहने दे।

राजा महाराजों के लिए बिना भारी कारण के जल्दी जल्दी दीवान बदलना अच्छी नीति नहीं है। दीवान को यह विश्वास रहना चाहिए कि वह अपने पद पर कम से कम पाँच वर्षों तक रहेगा। किसी राजा का जल्दी जल्दी दीवान बदलना दुर्वलता का लक्षण है।

दीवान के नीचे राज्य के जो और विभाग हों उनके अधिकारी भी बहुत सोच समझकर चुने जायँ। उनमें अपना काम करने की पूरी योग्यता हो, वे अँगरेज़ी अच्छी तरह जानते हों। वे कई जातियों और धर्मों के हों।

भिन्न भिन्न विभागों के अधिकारियों के साथ अच्छा व्यवहार होना चाहिए। अच्छे प्रबन्ध और शासन के लिए उनकी प्रशंसा होनी चाहिए। राजा महाराजों की कभी कभी उचित प्रशंसा कर देना सौ इनाम से बढ़कर है, क्योंकि प्रतिष्ठित लोग मान के भूखे रहते हैं।

अधिकारी और मन्त्री लोग राजा के नौकर ही हैं। पर उनसे कुछ कहने में चतुर राजा ऐसे शब्दों को बचाते हैं जिनसे हुकूमत टपके। उच्चाशय लोग तो छोटे छोटे नौकर चाकरों के साथ भी ऐसा ही करते हैं।

रियासत की कचहरी का काम बहुत बड़ा है। उसमें व्यवस्था और नियम की बड़ी आवश्यकता है। देशी रियासतों में व्यवस्था और नियम प्रायः ढीले पड़ जाते हैं और तोड़ दिये जाते हैं। राजा महाराजों को ऐसा न होने देना चाहिए। व्यवस्था का यह मतलब है कि सारा काम कई उचित विभागों में बाँटा जाय, एक एक कर्म्मचारी के जिम्मे एक एक विभाग कर दिया जाय और उस विभाग के काम को पूरा कराने के लिए उसके नीचे और कार्य्यकर्ता रखे जायँ। मुहर्रिर से लेकर दीवान तक किसी न किसी के अधीन हों। ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत रियासत का सारा कारख़ाना आ जाय, उसका प्रत्येक अंग दूसरे अंग के अधीन काम करे। नियम का मतलब यह है कि कार्य्य विभाग की सब श्रेणियों में एक दूसरे की अधीनता बनी रहे।

केवल यही ढंग है जिससे बहुत से मनुष्य अपनी अपनी शक्तियों को दूसरों की शक्तियों के अनुकूल रखते हुए किसी बड़े उद्देश्य की सिद्धि में लगा सकते हैं। नियम और व्यवस्था के बिना सब बातें गड़बड़ रहेंगी। लोगों पर इस बात का कोई दबाव न रहेगा कि वे सदा एक उद्देश्य पर दृष्टि रखकर काम करें। यही नहीं कि उनके काम एक-दूसरे के मेल में होंगे बल्कि एक दूसरे के विपरीत होंगे।

राजा महाराजों को रियासत के कामों में नियम और व्यवस्था का पूरा ध्यान रखना चाहिए। 'क' नाम का कर्म्मचारी जो 'ख' नामक कर्म्मचारी के अधीन है, महाराज से आकर कहता है। "मैं 'ख' की आज्ञा पर काम नहीं करना चाहता, मैं या तो महाराज की या कम से कम दीवान की आज्ञा पर चलना चाहता हूँ।" ऐसा कभी न होने देना चाहिए। इसी प्रकार कोई मुहर्रिर अपने अफ़सर से छुट्टी न माँगकर

सीधे महाराज के पास छुट्टी का प्रार्थनापत्र भेजता है। महाराज को ऐसा प्रार्थनापत्र लौटा देना चाहिए और प्रार्थी से कहना चाहिए कि "तुमने नियमविरुद्ध कार्य्य किया है। तुम अपनी अर्ज़ी अपने अफसर के पास भेजो।"

देशी रियासतों में दीवान और मन्त्रियों के विरुद्ध गुमनाम अर्ज़ियाँ बहुत आया करती हैं। दीवान और मन्त्री प्रतिष्ठित आदमी होते हैं इससे ऐसी अर्ज़ियों पर बहुत समझ बूझकर कार्रवाई होनी चाहिए।

साधारण नियम तो यह होना चाहिए कि जो चिट्ठियाँ गुमनाम वा झूठे नामों से आवें उन पर कुछ ध्यान ही न दिया जाय।

राजा साहब को चाहिए कि वे अपने दीवान और भिन्न भिन्न विभागों के मन्त्रियों पर विश्वास रक्खें और उन्हें सहारा दें तथा सर्वसाधारण पर यह बात प्रकट कर दें कि हम उन पर विश्वास रखते हैं और उन्हें हर बात में सहारा देते हैं। जहाँ इसके विरुद्ध लोगों की धारणा हुई कि चट भाँति भाँति के कुचक्र चलने लगेंगे, राज्य की सारी व्यवस्था शिथिल हो जायगी और हानि पहुँचेगी।

ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए कि मन्त्रियों में मेल रहे। उन्हें इसलिए लड़ा देना जिसमें उन्हें एक दूसरे का डर रहे अच्छी नीति नहीं है। यदि मन्त्री बुरे आदमी हों तो उनकी चौकसी के लिए यह भद्दी युक्ति ठीक है। पर ऊपर अच्छे लोगों को ही मन्त्री चुने जाने की व्यवस्था है। चोट्टे आपस में लड़ें, भले आदमी क्यों ऐसा करें।

राजाओं को तो चाहिए कि मन्त्रियों में मेल बनाए रहें। जब देखें कि कुचक्री लोग उनमें फूट डालना चाहते हैं तब उन्हें रोकें।

मन्त्रियों में मेल बढ़ाने और उन्हें एक साथ जवाबदेह बनाने के लिए प्रबन्ध करना चाहिए कि प्रत्येक मन्त्री भारी मामले में अपने और सहयोगियों के साथ विचार करके तब सबकी सम्मति से कोई बात स्थिर करे। इस ढंग से हर एक बड़े मामले पर पूरा पूरा विचार होगा और सब मन्त्री एक दूसरे की कार्रवाई के जवाबदेह रहेंगे। तब कोई मन्त्री यह न कह सकेगा कि अमुक मन्त्री ने यह बुराई की है। इस प्रकार बुरी कार्रवाइयों की सम्भावना बहुत कम हो जायगी।

इससे एक लाभ और होगा। जबकि एक मन्त्री किसी भारी मामले पर दूसरे मन्त्रियों के साथ विचार किया करेगा तब हर एक मन्त्री को, न कि केवल अपने ही विभाग के काम से जानकारी रहेगी बल्कि, और और विभागों के काम से भी जानकारी हो जायगी। ऐसा होने पर, यदि कभी किसी विभाग का मन्त्री न रहेगा तो जो उसके स्थान पर होगा वह और मन्त्रियों से अपना काम बहुत जल्दी सीख लेगा।

**राज्य के भिन्न भिन्न विभाग**–रियासत की कचहरी में कई विभाग रहते हैं, जैसे माल विभाग, सेना विभाग, न्याय विभाग और इंजीनियरी विभाग आदि।

माल विभाग का अधिकारी अपने कार्य के सारे ब्योरे और सिद्धान्त समझता हो। आमदनी के जितने द्वार हैं, जैसे चुंगी, आबकारी, ज़मीन, उसे उन सबकी जानकारी रखनी चाहिए। इन सबके विषय में उसे इतनी बातें जाननी चाहिए–1. प्रत्येक का पिछला वृत्तान्त। 2. उसकी वर्तमान अवस्था। 3. अँगरेज़ी राज्य में उसकी अवस्था। 4. उसके ज्ञाताओं के निश्चित किए हुए सिद्धान्त। उसे अर्थ प्रबन्ध में निपुण होना चाहिए। पहले इस विभाग के जो अधिकारी रक्खे जाते थे उन्हें इन सब बातों का ज्ञान नहीं होता था। वे यह समझते थे कि प्रजा से जहाँ तक मालगुजारी ऐंठते बने ऐंठनी चाहिए। कहीं की प्रजा तो मालगुजारी के बोझ से दबती थी और कहीं ठीक ठीक मालगुजारी भी नहीं वसूल होती थी। तहसीलदार और इजारदार लोग मनमाने महसूल लगाया और बढ़ाया करते थे। इससे व्यापार की वृद्धि नहीं होने पाती थी।

इस विभाग से हजारों आदमियों को नित्य काम पड़ता है, अतः इसका प्रबन्ध बहुत सन्तोषदायक होना चाहिए।

न्यायविभाग का अधिकारी बुद्धिमान् तथा कानून का अच्छा जाननेवाला हो। वह न्याय के सिद्धान्तों तथा न्याय शासन के ब्योरों को अच्छी तरह समझता हो।

इंजीनियरी वा स्थापत्य विभाग भी राज्य के बड़े काम का है। इसका अधिकारी वा मन्त्री भी बहुत योग्य होना चाहिए। वह अँगरेज़ी में निपुण हो तथा स्थापत्य विषय की पुस्तकें बराबर देखता रहता हो, क्योंकि उसे इंजीनियर से लिखा पढ़ी करनी रहती है।

**तनख़्वाह**–पहले यह समझा जाता था कि राज्य का हर एक काम हर एक आदमी कर सकता है। इससे रियासत के लिए कर्मचारी मिलना कोई कठिन बात नहीं थी। जहाँ कुछ जगहें खाली हुईं कि कोड़ियों आदमी टूट पड़ते थे और बहुत ही कम तनख़्वाह पर नौकरी कर लेते थे।

बात यह थी कि पहले कर्म्मचारी लोग तनख़्वाह के ऊपर बहुत रुपया पैदा करते थे। उनकी आमदनी इस प्रकार की थी जिसे आजकल शिक्षित लोग बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते हैं। साफ बात यह है कि वे लोग घूस लेते थे। वे लोग नौकरी तनख़्वाह के लिए नहीं करते थे, प्रजा को लूटने के लिए करते थे, इसी से थोड़ी तनख़्वाह पर काम करते थे।

आजकल की अवस्था और है। उत्तम शासन अब बिना शिक्षितों के नहीं हो सकता है। अब रियासत की नौकरियों के लिए ऐसे शिक्षित पुरुषों की जरूरत है जिनमें काम की पूरी योग्यता हो और जो इतने खरे और ऊँचे विचार के हों कि कभी अनुचित लाभ उठाने की ओर ध्यान ही न दें। पर जो अच्छी चीज़ चाहे वह अच्छा दाम लगावे। अतः देशी रियासतों की तनख्वाहें ज्यादा देनी चाहिए।

देशी रियासतों को अपने यहाँ के कर्म्मचारियों की तनख्वाह निश्चित करने में एक बात का और ध्यान रखना चाहिए। अँगरेज़ी राज्य में ऐसे खरे और सुशिक्षित

आदमियों की बड़ी माँग है। अतः जितना वेतन उन्हें अँगरेज़ी सरकार देती है उससे कम देशी रियासतों को न देना चाहिए।

अँगरेज़ी सरकार की नौकरी में पेंशन मिलती है। देशी रियासतों में नहीं। इस विचार से भी तनख़्वाह अधिक होनी चाहिए।

अँगरेज़ी सरकार की नौकरी बड़ी पक्की होती है। जब तक कर्म्मचारी कोई भारी कुचाल न करे तब तक उसे किसी प्रकार का खटका नहीं, उसकी नौकरी बराबर बनी रहेगी। पर देशी रियासतों का ढंग कुछ और ही है। वहाँ नौकरी का कुछ ठिकाना नहीं। अच्छे से अच्छा काम करनेवाला कर्म्मचारी भी यह नहीं कह सकता कि वह बराबर रियासत में बना रहेगा। प्रायः यह देखा गया है कि जितना ही जो कर्म्मचारी योग्य और अच्छा काम करनेवाला होता है उतना ही महाराज उसे कम पसन्द करते हैं, क्योंकि अपने उच्च सिद्धान्तों के कारण वह झूठ मूठ इधर उधर की खुशामद तथा और गन्दे काम नहीं कर सकता। देशी रियासतों की यही सब बातें देखकर अच्छे और योग्य आदमी अँगरेज़ी राज्य की अपेक्षा वहाँ अधिक तनख्वाह चाहते हैं।

अब हम यहाँ थोड़े में उस रीति की हानि और लाभ पर विचार करेंगे जिसके अनुसार देशी रियासतों में अँगरेज़ी सरकार के कर्म्मचारी बुलाये जाते हैं।

पहली बात तो यह है कि रियासत को ऐसे कर्म्मचारियों को उससे अधिक तनख्वाह देनी पड़ती है जितनी वे सरकारी नौकरी में पाते हैं। उसके अतिरिक्त उनकी पेंशन की रकम भी रियासत को भरनी पड़ती है।

वे जब होगा तब रियासत की नौकरी छोड़कर अपनी सरकारी जगह पर वापस चले जायँगे।

यदि उनमें से कोई कुचाल करेगा और छुड़ दिया जायगा तो रियासत को इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि उसके छुड़ाए जाने का कारण ऐसा प्रबल हो जिससे अँगरेज़ी सरकार को सन्तोष हो जाय।

ऐसा लोग राजनीति में प्रायः कच्चे होते हैं क्योंकि अँगरेज़ सरकार के यहाँ वे बहुत छोटी जगहों पर रहते हैं। वे नीचे से ऊपर तक सरकारी राज्य के सारे ढाँचे को नहीं समझे रहते।

दूसरी ओर जो देखते हैं तो अँगरेज़ी सरकार ने अपने यहाँ से कर्म्मचारी देने का जो सुबीता देशी रियासतों के लिए कर दिया है उससे लाभ भी कई दिखाई पड़ते हैं। देशी रियासतों को कर्म्मचारी चुनने के लिए बहुत मैदान मिल जाता है। इसके सिवाय उन्हें ऐसे सीखे सिखाए कर्म्मचारी मिल जाते हैं जो स्थानिक सम्बन्ध व ईर्ष्या द्वेष से रहित होते हैं। ऐसे कर्म्मचारियों से रियासतों को बहुत लाभ पहुँच जाता है।

यहाँ दो एक बातों की चेतावनी भी आवश्यक है। राज्य के सब कार्य्य विभागों को बुराई से बचाये रखना पहला कर्त्तव्य है। अतः देशी रियासतों को किसी ऐसे आदमी को अपने यहाँ न लेना चाहिए जो किसी भारी अपराध के कारण सरकारी

नौकरी से अलग किया गया हो। ऐसे लोग बहुत कम तनख्वाह पर काम करने के लिए मुस्तैद होंगे। वे राजा महाराजों पर कई तरह का जोर डालेंगे। कभी वे कहेंगे कि 'हम कुछ तनख्वाह नहीं चाहते; केवल महाराज के साथ रहकर कुछ इस तरह के काम यों ही किया चाहते हैं, जैसे इधर उधर की बातों की खबर देना, मामलों में राय देना, अखबारों में लिखना इत्यादि।' पर ऐसे लोगों को एकदम फटकार देना चाहिए।

ऐसे सरकारी नौकरों को रखना भी ठीक नहीं जो पेंशन पा चुके हों। जो सरकारी काम के लिए असमर्थ हैं वे देशी रियासतों का काम कैसे अच्छा करेंगे। हाँ, यदि कोई बड़ा अनुभवी और योग्य मनुष्य, और उसमें कार्य्य करने की पूरी शक्ति हो, तो उसे ले लेना चाहिए।

पहले रियासत के नौकरों को तनख्वाह, ज़मीन, पालकी खर्च, इनाम इत्यादि कई तरह की रकमें दी जाती थीं। इससे बहुत सी धोखेबाजी और गड़बड़ी होती थी। अब नौकरों की केवल नकद तनख्वाह बँधनी चाहिए।

**रियासत की नौकरियाँ**—ज़बकि भिन्न भिन्न विभागों के अधिकारी योग्य चुने गए हैं तब उन्हें लोगों को मुकर्रर करने और तरक्की देने आदि का पूरा अधिकार देना चाहिए। जुरमाना करके मुअत्तल करने और बरखास्त करने का अधिकार भी उन्हीं के हाथ में रहना चाहिए। बिना इस अधिकार के वे सुन्दर प्रबन्ध और व्यवस्था नहीं रख सकते। इसका यह अभिप्राय नहीं कि वे अपने इस अधिकार का मनमाना प्रयोग करें।

किसी विभाग का अधिकारी ही यह ठीक ठीक जान सकता है कि उस विभाग की किसी जगह के लिए कैसी योग्यता चाहिए और किसी उम्मेदवार में वह योग्यता है वा नहीं। वही ठीक ठीक विचार कर सकता है कि उसके मातहतों में से किसे तरक्की मिलनी चाहिए। अतः नौकरी आदि देने के विषय में उसी की राय पक्की माननी चाहिए।

मूर्ख और स्वार्थी लोग राजाओं को सुझाते हैं कि नौकरी आदि देने का सारा अधिकार महाराज ही अपने हाथ में रक्खें, अधिकारियों पर न छोड़ें। चतुर राजा ऐसी सलाह को नियम और व्यवस्था के विरुद्ध समझ कभी नहीं मानते।

जबकि प्रधान उद्देश्य अत्यन्त योग्य मनुष्यों को ही रखना और तरक्की देना है तब इस उद्देश्य के विरुद्ध जो सिफारिशें पहुँचें उन पर कुछ ध्यान न देना चाहिए, चाहे वे कहीं से आवें। ऐसी सिफारिशें मित्रों वा सम्बन्धियों के यहाँ से आ सकती हैं, सरकारी अफसरों के यहाँ से आ सकती हैं, पर राजा को अपने उद्देश्य पर दृढ़ रहना चाहिए।

रियासत के काम के कई विभाग वा मुहकमे होते हैं। प्रत्येक विभाग के लिए एक विशेष प्रकार की योग्यता चाहिए। अतः यह बात नहीं है कि जो आदमी एक

विभाग के लिए उपयुक्त है वह अवश्य दूसरे के लिए भी उपयुक्त है। अतः कर्म्मचारियों की बदली एक विभाग से दूसरे विभाग में बिना समझे बूझे न कर देनी चाहिए। जैसे किसी माल के मुहकमे के अफसर को न्याय विभाग में चटपट न बदल देना चाहिए।

राजा महाराजा मुकर्ररी वा तरक्की के लिए किसी प्रकार का नजराना न लें। वे अपने किसी कर्म्मचारी को मुकर्ररी वा तरक्की के लिए किसी से घूस न लेने दें। उत्तम राज्य शासन के लिए वह बड़ा भारी विष है, इससे बचना चाहिए। जो कर्म्मचारी इस सिद्धान्त के विरुद्ध कोई कार्रवाई करे वह निकाल बाहर कर दिया जाय और यदि आवश्यक हो तो फौजदारी सुपुर्द किया जाय।

अच्छे अच्छे पदों पर रखे जाने के लिए लोग और कई तरह की चालें चलते हैं। जैसे कोई महाराज से आकर कहता है, "यह जगह मुझे मिल जाय तो मैं मालगुजारी चौगुनी कर दूँ।" यदि महाराज रुपए के भक्त हुए तो बात में आ गए। फल क्या हुआ कि प्रजा को पीड़ा पहुँचने लगी : आय बढ़ाने का उत्तम उपाय यह नहीं है। आय वही ठीक है जो सुराज्य के कारण हो, प्रजा के धन धान्य की वृद्धि के कारण हो, न कि गला दबाने से।

**अँगरेज़ी सरकार का सम्बन्ध**–यह तो प्रत्यक्ष है कि हिमालय से कन्याकुमारी तक और रंगून से पेशावर तक अँगरेज़ी सरकार ही का एकाधिपत्य है। इस आधिपत्य के अन्तर्गत अँगरेज़ी अमलदारी भी है तथा वे प्रदेश भी हैं जिनमें देशी रजवाड़े राज्य करते हैं। अँगरेज़ी सरकार ही इस इतने बड़े भूखण्ड पर शान्ति रखती है।

इस बड़े कार्य्य को अँगरेज़ी सरकार ऐसी शक्ति के साथ करती है जो अनिवार्य है। यह ऐसी शक्ति है जो विरोध करनेवालों का बात-की-बात में ध्वंस कर सकती है।

अँगरेज़ी सरकार की यह शक्ति इस कारण और भी अनिवार्य है कि उसमें बाहुबल, बुद्धिबल और नीतिबल तीनों का संयोग है। इसी सुख संयोग के कारण अँगरेज़ी राज्य अपने से पहले के राज्यों की अपेक्षा अधिक शक्तिसम्पन्न और स्थिर है।

इससे सिद्ध है कि प्रत्येक देशी रजवाड़े को उस अँगरेज़ी सरकार से मिलकर चलना चाहिए जिसकी इतनी अनिवार्य शक्ति है। जो देशी राजा उसे कुपित करे उसकी बड़ी भारी मूर्खता है। अँगरेज़ी सरकार को प्रसन्न रखना राजा महाराजों के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है। इस आवश्यकता को वे जहाँ तक समझें वहाँ तक उनके लिए अच्छा ही है।

आनन्द की बात यह है कि अँगरेज़ी सरकार के गुण और व्यवहार ऐसे हैं कि उसे प्रसन्न रखने में कोई बड़ा खर्च वा कठिनता नहीं है। जिस प्रकार अँगरेज़ सरकार का बाहुबल अदमनीय है उसी प्रकार बुद्धि, नीति और न्याय का बल भी

अदमनीय है। वह अनीति, अन्याय और नासमझी की बातों से सदा बचती है। यदि उसे यह अच्छी तरह दिखला दिया जाय कि यह काम अनीति और अन्याय का है तो वह उससे किनारे हो जायगी। यह अँगरेज़ी सरकार में बड़ा भारी गुण है। इसी गुण को देख देशी रियासतों को भरोसा है कि वे सुख और मान मर्यादा के साथ बराबर बनी रहेंगी।

इन सब बातों को विचार कर देशी रजवाड़ों को चलना चाहिए। उन्हें उन लोगों से कुछ भी सम्बन्ध न रखना चाहिए जो अँगरेज़ सरकार के विरुद्ध हों। उन्हें ऐसे राजनीतिक आन्दोलनों में सहायता न देनी चाहिए जो अँगरेज़ी सरकार के सरासर विरुद्ध हों।

आजकल देशी रजवाड़ों के लिए अँगरेज़ी सरकार को प्रसन्न रखने की सबसे अच्छी युक्ति यही है कि वे अपने राज्य का शासन अच्छा करें और इसका ध्यान रक्खें कि उनका प्रबन्ध ऐसा न हो जिससे अँगरेज़ी सरकार के प्रबन्ध में किसी प्रकार की बाधा पड़े।

यदि अँगरेज़ी सरकार से किसी बात में मतभेद हो तो राज्यों को अपने पक्ष की युक्तियों को उसके सामने उपस्थित करना चाहिए। अपने स्वत्व, मान और अधिकार की रक्षा के लिए उन्हें अँगरेज़ी सरकार के न्याय और नीति की दुहाई देनी चाहिए। अतः राजा महाराजों तथा उनके दीवानों को उसके न्याय और नीति के मुख्य मुख्य सिद्धान्तों को जान लेना चाहिए। इनमें से कुछ थोड़े से यहाँ बतलाए जाते हैं।

पहले हम महारानी विक्टोरिया के 1858 वाले घोषणापत्र को लेते हैं। उसका एक पैरा इस प्रकार है—"हम अपने वर्तमान राज्य को और बढ़ाना नहीं चाहतीं और जिस प्रकार हम अपना राज्य किसी को दबाने और अपना हक किसी को मारने न देंगी उसी प्रकार दूसरों के राज्यों पर किसी प्रकार के अतिक्रमण की अनुमति न देंगी।"

ऊपर के वाक्यों से एक बड़ा सिद्धान्त तो यह निकलता है कि अँगरेज़ सरकार ने दृढ़ प्रतिज्ञा की है कि हम किसी देशी रियासत की कोई ज़मीन न लेंगे। किसी कारण वा किसी बहाने से अँगरेज़ी सरकार किसी देशी रियासत की कोई जमीन न लेगी। इस प्रकार देशी राज्यों का एक बड़ा भारी खटका तो छूट गया। उन्हें इस बात का निश्चय दिलाया गया है कि उनका राज्य बराबर बना रहेगा। इस निश्चय प्रदान के लिए देशी रजवाड़ों को अँगरेज़ी सरकार का अनुगृहीत होना चाहिए।"

पर इस निश्चय दिलाने का यह मतलब नहीं कि अँगरेज़ी सरकार किसी राजा को कभी गद्दी से उतारेगी ही नहीं, यदि कोई राजा घोर कुप्रबन्ध का अपराधी होगा तो अँगरेज़ी सरकार से विद्रोह वा शत्रुता करेगा अथवा उसके शत्रुओं से मिलेगा तो भी वह उतार दिया जायगा। पर ऐसी दशा में भी अँगरेज़ी सरकार उस गद्दी पर से उतारे हुए राजा का राज्य अपने राज्य में मिला न लेगी, राजा चाहे उतार दिया

जाय पर वह राज्य बना रहेगा। उस राज्य की गद्दी पर कोई दूसरा पुरुष, भरसक उतारे हुए राजा को कोई उत्तराधिकारी वा सम्बन्धी, बिठा दिया जायगा।

महारानी के घोषणा पत्र का यह पैरा भी ध्यान देने योग्य है—"हम देशी रजवाड़ों के स्वत्व और मान मर्य्यादा का वैसा ही ध्यान रक्खेंगी जैसा अपने स्वत्व और मान मर्य्यादा का। और हमारी इच्छा है कि वे तथा हमारी प्रजा उस सुख समृद्धि का भोग करें जो भीतरी शान्ति और सुराज्य से प्राप्त होती है।"

इस सम्बन्ध में एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि देशी रजवाड़े कोई ऐसा अधिकार वा ऐसी प्रतिष्ठा न चाहें जो अति वा विलक्षण हो वा जो सभ्य समाज वा सभ्य राज्य के प्रतिकूल हो, जैसे किसी राजा का यह अधिकार चाहना ठीक नहीं है कि वह जिस स्त्री को चाहे जबरदस्ती अपने महल में रख ले, जिसे चाहे उसे अकारण कैद कर दे। किसी राजा का यह अधिकार माँगना ठीक नहीं है कि वह जहाँ कहीं जाय उसके सामने कोई चारपाई पर बैठा न रहने पावे, कोई छाता लगाकर न चलने पावे। इसी प्रकार कोई राजा यह अधिकार नहीं माँग सकता कि हम ऊपर गद्दी पर बैठा करें और सरकारी रेजिडेंट बिना कुरसी के नीचे फर्श पर बैठा करे। किसी देशी रियासत के साथ जो सन्धियाँ हुई हैं उनके विरुद्ध कोई अधिकार माँगना भी ठीक नहीं है।

महारानी के इन शब्दों से कि "हम देशी रजवाड़ों के स्वत्व और मान का वैसा ही ध्यान रक्खेंगी जैसा अपने स्वत्व और मान का" यह न समझना चाहिए कि महारानी ने देशी रजवाड़ों को अपनी बराबरी का बनाया है। यह बराबरी कभी हो नहीं सकती। अँगरेज़ी सरकार संसार की एक बड़ी भारी शक्ति है। महारानी का अभिप्राय केवल यही है कि वे देशी रजवाड़ों का जो जैसा अधिकार वा जो जैसी प्रतिष्ठा है उसका वैसा ही ध्यान रक्खेंगी जैसा अपने अधिकार और प्रतिष्ठा का।

महारानी ने अपने घोषणा पत्र में यह भी कहा है कि देशी रजवाड़ों के साथ जो जो सन्धियाँ हुई हैं उनका यथोचित पालन किया जायगा, और यह आशा प्रकट की है कि देशी रजवाड़े भी उनका यथोचित पालन करेंगे।

महारानी ने अपना घोषणा पत्र समाप्त करते हुए जो संकल्प प्रकट किया है वह प्रत्येक छोटे बड़े शासक के ध्यान देने योग्य है। महारानी ने कहा है—"यह हमारी प्रबल इच्छा है कि भारतवर्ष के उद्योग व्यवसाय की वृद्धि करें, सर्वसाधारण के लाभ और उन्नति के काम बढ़ावें और अपनी सारी प्रजाओं की भलाई के लिए राज्य करें। उनकी बढ़ती से हमारा बल है, उनके सन्तोष से हमारी रक्षा है, और उनका धन्यवाद ही हमारा सबसे बड़ा इनाम है।" इसी प्रकार प्रत्येक राजा को अपनी सारी प्रजा के लाभ से लिए राज्य करना चाहिए, न कि केवल अपने और अपने थोड़े से मित्रों और आश्रितों के भोग-विलास और सुख के लिए।

अँगरेज़ी सरकार यह अपना कर्त्तव्य समझती है कि वह एक रियासत को दूसरी

रियासत की ज़मीन दबाने वा उस पर जोर जुल्म न करने दे। इसी कर्त्तव्य के विचार से अँगरेज़ी सरकार यह भी देखती है कि कोई रियासत ऐसा काम न करे जिससे दूसरी रियासत उसकी ज़मीन दबाने वा उस पर जोर जुल्म करने के लिए तैयार हो। यही कारण है कि जिससे अँगरेज़ी सरकार प्रत्येक रियासत से कहती है कि किसी दूसरी रियासत के साथ सीधे पत्र व्यवहार न करो। दो रियासतों के बीच जो लिखा पढ़ी हो वह अँगरेज़ी सरकार के अफसरों द्वारा हो।

अँगरेज़ी सरकार प्रत्येक देशी रियासत से कहती है कि यदि तुम्हारे और किसी दूसरी रियासत के बीच कोई झगड़ा हो तो उसे हमसे कहो। इसका भार अँगरेज़ी सरकार के ऊपर है कि वह ऐसे झगड़ों का ठीक ठीक निपटेरा करे।

अँगरेज़ी सरकार ने देशी रियासतों को रूस, फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका आदि दूसरी शक्तियों के जोर जुल्म से बचाने का भार भी अपने ऊपर लिया है। इसीलिए वह इस बात को भी देखती रहती है कि कहीं कोई देशी रियासत इन शक्तियों में से किसी को चिढ़ा न दे जिससे वह जोर जुल्म करने पर उतारू हों। इसीलिए वह कहती है कि देशी रियासतें दूसरी शक्तियों के साथ पत्र व्यवहार न रक्खें। इसीलिए यदि किसी दूसरी शक्ति को किसी देशी रियासत से किसी प्रकार की हानि पहुँच जाय तो अँगरेज़ी सरकार तुरन्त उस देशी रियासत से उस हानि को भरवा देगी। जैसे यदि कोई देशी रियासत किसी दूसरी शक्ति की प्रजा को झूठ मूठ कैद करेगी, उसकी धन सम्पत्ति छीनेगी तो वह शक्ति उस रियासत से हर्जाना माँग सकती है।

अँगरेज़ी सरकार ने देशी रियासतों को उनकी प्रजा के जोर जुल्म से बचाने का भार भी अपने ऊपर लिया है। इसी से वह यह भी देखती रहती है कि कोई रियासत कुनीति करके अपनी प्रजा को बिगड़ने न दे।

अँगरेज़ी सरकार के एक उच्च अधिकारी ने इस विषय पर साफ कहा है "देशी रजवाड़ों को भीतरी उपद्रव वा बलवे से बचाने का यदि भार लिया गया है तो साथ ही उन कार्रवाइयों में हस्तक्षेप करने का अधिकार भी हाथ में रक्खा गया है जिनसे उपद्रव वा बलवा खड़ा होता है। इस हस्तक्षेप की आवश्यकता इस कारण और अधिक पड़ती है कि प्रायः सब रियासतों में एक व्यक्तिगत शासन है जिससे शासन का भला वा बुरा होना राजा ही के गुण और आचरण पर रहता है।"

लॉर्ड नार्थब्रुक ने बड़ौदा के महाराज मल्हारराव गायकवाड़ के पास 25 जुलाई, 1874 को जो खरीता भेजा था उसमें उन्होंने साफ लिखा था—"मेरे मित्र! मैं अँगरेज़ी फौज़ किसी बुराई करते हुए आदमी को बचाने के लिए नहीं भेज सकता। किसी राज्य की कुनीति को यदि ब्रिटिश शक्ति सहारा देगी तो वह भी उस कुनीति के दोष की भागी होगी! इसलिए अँगरेज़ी सरकार यह देखना अपना अधिकार क्या कर्त्तव्य समझती है कि किसी राज्य का बिगड़ा हुआ प्रबन्ध सुधर जाय और उसकी बुराइयाँ दूर हो जायँ। यदि ये बातें न पूरी होंगी, यदि घोर कुव्यवस्था बनी रहेगी, यदि बड़ौदे

की प्रजा के साथ उचित न्याय न होगा, यदि धन और प्राण की रक्षा न होगी, यदि प्रजा और देश के हित पर इसी तरह बराबर ध्यान न दिया जायगा तो अँगरेज़ी सरकार अवश्य बीच में पड़ेगी और इन बुराइयों को दूर करने और सुराज्य स्थापित करने के जो उपाय उसे उचित समझ पड़ेंगे वह करेगी। राज्य का नाश करने वाली इन बुराइयों को दूर करने के लिए यदि अँगरेज़ी सरकार बीच में पड़ी तो यह समझना चाहिए कि उसने गायकवाड़ के साथ भी मित्रता का काम किया और उनकी प्रजा के प्रति भी अपने कर्त्तव्य का पालन किया।''

यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए जब तक कोई कारण न मिलेगा, अँगरेज़ी सरकार देशी रियासतों के प्रबन्ध में कभी दखल न देगी।

यदि किसी दूसरे राजा से मिलना हो तो बड़ी शिष्टता और सभ्यता के साथ मिलना चाहिए जिसमें उसे अँगरेज़ी सरकार से इस विषय में किसी प्रकार की शिकायत करने का अवसर न मिले।

यदि किसी दूसरी रियासत का कोई असामी वा अपराधी रियासत में आ जाय तो अपने यहाँ की पुलिस द्वारा उसे पकड़ाने का पूरा बन्दोबस्त करना चाहिए।

फौजदारी और दीवानी के मामलों में तथा बनिज व्यापार के सम्बन्ध में दूसरी रियासत की प्रजा के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा अपनी प्रजा के साथ। उनमें कोई भेदभाव न रखना चाहिए।

जहाँ तक हो सके, सरहदी झगड़े न उठने पावें। और यदि कभी इस तरह का कोई झगड़ा उठ भी खड़ा हो तो शान्ति भंग कभी न होने दें। झगड़े की जाँच और निपटारे के लिए अँगरेज़ी सरकार को लिखें।

जहाँ लट्ठे गाड़कर सरहद बाँधी गई है वहाँ उन लट्ठों की पूरी रक्षा करनी चाहिए।

यदि किसी दूसरे राजा की कुछ निज की ज़मीन रियासत में हो तो असामियों से लगान इत्यादि वसूल करने में उसे पूरी सहायता पहुँचानी चाहिए।

ऐसी सड़कों वा पुल आदि के बनवाने में जिनसे दोनों रियासतों को लाभ है पूरा योग देना चाहिए।

दूसरे राजाओं के स्वत्व और मान मर्य्यादा का वैसा ही ध्यान रखना चाहिए जैसा अपने स्वत्व और मान मर्य्यादा का।

इंग्लैण्ड, फ्रांस, जरमनी, रूस, अमेरिका आदि बहुत से साम्राज्यों के लोग घूमते घामते देशी रियासतों में आ जाते हैं जिनमें से अधिकांश यूरोपियन होते हैं। यह समझ रखना चाहिए कि यूरोपियन कैसा ही हो जहाँ कहीं रहेगा उसकी गवर्नमेण्ट उसकी रक्षा करेगी। वह उस पर किसी प्रकार का अन्याय वा अत्याचार न होने देगी। इससे देशी रियासतों को अपने राज्य में आए यूरोपियनों का बड़ा ध्यान रखना चाहिए। जहाँ तक हो सके, राजा महाराजों को यूरोपियनों के साथ ज्यादा रगड़ा न करना

चाहिए। यदि कोई यूरोपियन राजा महाराजों से मिलना चाहे तो उन्हें उससे तभी मिलना चाहिए जब वह कोई ठीक परिचय पत्र उपस्थित करे, अन्यथा उसे रेजिडेंट के पास भेज देना चाहिए। यदि कोई यूरोपियन परिचय पत्र के साथ आवे तो उसका पूरा सम्मान करना चाहिए।

देशियों की प्रकृति और रीति भाँति न जानने के कारण प्रायः यूरोपियन लोग देशी रियासतों में आकर भूल चूक करते हैं। इसके लिए उनसे बुरा न मानना चाहिए। जैसे कभी कोई यूरोपियन किसी मन्दिर में घुस जाय, किसी पवित्र स्थान पर शिकार करे वा मछली मारे तो उसे दण्ड देने का प्रयत्न न करना चाहिए, धीरे से समझा देना चाहिए। यदि समझाने से न माने तो रेजिडेंट को सूचना देनी चाहिए।

इस बात का बन्दोबस्त रहे कि कोई यूरोपियन देशी रियासत में लूटा न जाय। यदि किसी यूरोपियन के साथ कोई बुराई की गई हो तो अपराधियों को उचित दण्ड देना चाहिए। इसमें ढिलाई करने से रियासत की बदनामी हो जायगी।

यदि कोई यूरोपियन अफसर रियासत में कोई छोटा-मोटा अपराध करे, किसी को मारे पीटे, रियासत के अधिकारियों का अपमान करे तो मामले की ठीक ठीक इत्तला रेजिडेंट को देनी चाहिए, वह उचित कार्रवाई करेगा। या तो वह अफसर बदल दिया जायगा, या मुअत्तल कर दिया जायगा अथवा और कोई दण्ड पावेगा।

सम्भव है कि कभी अँगरेजी सरकार से शत्रुता रखने वाले यूरोपियन देशों के भेजे हुए गुप्तचर अँगरेज़ी सरकार के प्रति विद्वेष फैलाने के लिए रियासत में आ जायँ। ऐसे गुप्तचरों से बहुत चौकस रहना होगा। उनके विषय में जो जो बातें मालूम हों, सबकी खबर सरकारी रेजिडेंट को पहुँचानी होगी।

देशी रियासतों को चाहिए कि वे प्रजा के धर्म वा मत में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें क्योंकि धर्मभाव बहुत प्रबल होता है।

किसी बहुत दिनों से चली आती हुई रीति को एकबारगी न बदल देना चाहिए। जिस अधिकार को बहुत से लोग बहुत दिनों से भोगते आ रहे हों उससे उन्हें एकबारगी न वंचित कर देना चाहिए।

सारांश यह कि कोई ऐसा काम न करना चाहिए जिससे बहुत से लोगों में घोर असन्तोष फैले।

अँगरेज़ी सरकार के शत्रु और मित्र देशी रियासतों के भी शत्रु और मित्र हैं। यदि अँगरेज़ी सरकार से किसी दूसरी शक्ति से लड़ाई हो रही है तो कोई देशी रियासत उस शक्ति के साथ मित्रता का व्यवहार नहीं रख सकती। इसी प्रकार यदि कोई आदमी अँगरेज़ी सरकार के विरुद्ध कार्रवाई करता हो, उसके विरुद्ध किसी राजनीतिक आन्दोलन में सम्मिलित होता हो तो देशी रियासतों को ऐसे आदमी को किसी प्रकार का आश्रय न देना चाहिए।

इसी प्रकार यदि कोई आदमी किसी देशी रियासत के विरुद्ध कोई कार्रवाई

करता होगा, वहाँ उपद्रव खड़ा करना चाहता होगा तो अँगरेज़ी सरकार ऐसे आदमी को किसी प्रकार का आश्रय न देगी, जहाँ तक होगा उसे दबावेगी।

अँगरेज़ी सरकार के साथ जो सन्धियाँ हुई हैं उनके अनुसार अब वे लड़ाइयाँ सब दिन के लिए दूर हो गईं जो देशी रियासतों के बीच हुआ करती थीं और जिनसे सारा देश दुःखी था।

सन्धि के अनुसार प्रत्येक देशी रियासत को चाहिए कि अँगरेज़ी सरकार जो कुछ उसके भले के लिए सलाह दे उसे मान ले।

यहाँ पर यह समझ लेना भी आवश्यक है कि कौन सलाह अँगरेजी सरकार की समझनी चाहिए और कौन सलाह उसके मातहत अधिकारियों की। सन्धि के अनुसार जो सलाह वाइसराय वा बड़े लाट देंगे वही अँगरेज़ी सरकार की सलाह समझी जायगी और उसी को मानने को देशी रियासतें बद्ध हैं।

मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि कमिश्नर, कलक्टर आदि मातहत अँगरेज अधिकारियों की राय मानी ही न जाय। ऐसी राय कभी कभी बड़े काम की होती है। कहने का प्रयोजन यह है कि उनकी राय न मानने से देशी रियासतों पर सन्धि भंग का दोष नहीं लग सकता। बात भी ठीक है। यदि देशी रजवाड़ों के लिए प्रत्येक श्रेणी के अफसरों की राय का मानना आवश्यक हो तब तो वे कुछ कर ही न सकेंगे।

भारत सरकार जो सलाह देगी वह या तो पत्र द्वारा सीधे महाराज के पास भेजेगी अथवा रेजिडेंट के मारफत। यदि रेजिडेंट के मारफत भारत सरकार सलाह देगी तो रेजिडेंट कह देगा कि मैं यह सलाह भारत सरकार की आज्ञानुसार देता हूँ। यदि भारत सरकार को अपनी सलाह पर जोर देना होगा तो वह कभी कभी इस बात का आभास भी दे देगी कि यह सलाह सन्धिपत्र के अनुसार दी जा रही है।

यह तो प्रत्यक्ष है कि सन्धि के अनुसार भारत सरकार जो सलाह देगी वह रियासत के भले के लिए होगी। अतः कोई ऐसी सलाह न दी जायगी जिससे रियासत की कुछ हानि हो या जो रियासत की मान मर्य्यादा के विरुद्ध हो। जैसे किसी राजा या महाराजा को यह सलाह न दी जायगी कि वे अपनी कुछ ज़मीन छोड़ दें या दीवानी वा फौजदारी का इख्तियार अपने हाथ में ना रक्खें, इत्यादि।

यह हो सकता है कि भारत सरकार जिस सलाह से राज्य की भलाई समझती हो उससे महाराज कुछ भलाई न समझते हों। ऐसी दशा में महाराज को अपनी राय सरकार को अक्ष्छी तरह समझानी चाहिए। अँगरेज़ी सरकार में यही तो बड़ा भारी गुण है कि यदि उसे कोई बात युक्ति के साथ समझा दी जाय तो वह उसे मान लेती है।

तर्क वितर्क के उपरान्त जो सम्मति सरकार स्थिर करे उसे सन्धि के अनुसार मान लेना चाहिए। हाँ, यदि कभी कोई ऐसा ही भारी मामला आ पड़े तो वह भारत सेक्रेटरी के पास भी विचार के लिए भेजा जा सकता है।

यह बात भी अच्छी तरह समझ रखनी चाहिए कि अँगरेज़ी सरकार जब

आवश्यकता देखेगी तभी इस प्रकार की सलाह देगी। यह आवश्यकता उस समय होगी जब कोई रियासत जान बूझकर वा अनजान में ऐसी बात की ओर ध्यान न देगी जिससे उसकी भलाई है। पर जब कोई रियासत अपना काम बुद्धि और विवेक के साथ कर रही है तब उसके साथ किसी प्रकार की छेड़छाड़ न की जायगी। भारत सरकार बराबर यही चाहती है कि देशी रियासतें जो उन्नति करें आप से आप करें, बाहरी दबाव के कारण नहीं, पर यदि कोई रियासत सरासर भूल करेगी तो अँगरेज़ी सरकार का यह कर्त्तव्य होगा कि वह सन्धि के अनुसार दखल दे।

अँगरेज़ी सरकार देशी राज्यों के लिए इतने उच्च शासन का आदर्श न रक्खेगी जिसका वे निर्वाह न कर सकें। इसी प्रकार वह इस बात का भी दबाव न डालेगी कि देशी राज्य एकदम से अँगरेज़ी राज्य प्रणाली की नकल करें। अँगरेज़ी नमूने पर कहाँ तक चलना उचित होगा यह प्रत्येक रियासत आप देख लेगी।

अँगरेज़ी सरकार इस प्रकार की सलाह जब कोई भारी मामला होगा तभी देगी, थोड़ी थोड़ी बातों में नहीं, जिससे रियासत के हाथ पाँव बँध जायँ। सन्धि के अनुसार अँगरेज़ी सरकार जो सलाह देगी वह प्रसंग के अनुसार जहाँ तक होगा बड़े सुदृढ़ और कोमल भाव से देगी। भरसक इस बात का ध्यान रक्खा जायगा कि ऐसी सलाह कठोर शब्दों में न हो और उससे देशी राजा के अधिकार में बट्टा न लगे।

अँगरेज़ी सरकार की प्रवृत्ति के विषय में एक बड़ा भारी सिद्धान्त जान रखना चाहिए। जहाँ (देशी) राजा और उसकी प्रजा दोनों को साथ ही सन्तुष्ट करना सम्भव होगा वहाँ तो अँगरेज़ी सरकार दोनों के लाभ का ध्यान रक्खेगी पर जहाँ दोनों के लाभों में परस्पर विरोध होगा वहाँ अँगरेज़ी सरकार प्रजा ही का लाभ देखेगी।

**आदर-सम्मान**—सरकारी रेजिडेंटों और राजा महाराजों के बीच पूरा मेल रहना चाहिए। इसके लिए दोनों ओर से प्रयत्न होना चाहिए। इस विषय में जो दस्तूर चला आता हो उसका बराबर ध्यान रखना चाहिए, जैसे रेजिडेंट यदि मिलने आवें तो उन्हें कहाँ ज़ाकर लेना चाहिए, किस प्रकार बैठाना चाहिए, इन सब बातों का पूरा विचार रक्खा जाय। सारांश यह कि रेजिडेंट को हर तरह से निश्चय रहे कि महाराज उनके उचित सम्मान का बराबर ध्यान रखते हैं। रेजिडेंट के मन में यह विचार कभी न हो कि यदि अवसर पावेंगे तो महाराज उनके सम्मान में कुछ कसर करेंगे। एक उदाहरण से अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिए कि यह दस्तूर चला आता है कि किसी विशेष अवसर पर रेजिडेंट महाराज के दाहिने बैठें। यदि भूल से या यों ही रेजिडेंट साहब महाराज के बाएँ बैठ गए तो महाराज को यह न चाहिए कि वे चुपचाप रह जायँ बल्कि उन्हें तुरन्त रेजिडेंट साहब को अपने दाहिने बैठाना चाहिए।

यदि इतना ध्यान रखने पर भी कभी कोई भूल हो जाय तो महाराज को तुरन्त उसके लिए खेद प्रकट करना चाहिए।

रेजिडेंट को भी महाराज को राज्य का शासक समझ उनके उचित सम्मान का

बराबर ध्यान रखना होगा। सारांश यह कि दोनों को एक दूसरे के साथ उचित व्यवहार रखना पड़ेगा। इस विषय में उनके बीच किसी प्रकार की ईर्ष्या वा आशंका न होनी चाहिए।

डाली इत्यादि भेजने का जो दस्तूर है उसके सिवाय रेजिडेंट को और किसी तरह की भारी नज़र देने की कोशिश न करनी चाहिए। अँगरेज़ी अफसरों को बहुमूल्य भेंट स्वीकार करने का निषेध है और प्रायः उनमें इतना विवेक होता है कि वे छिपाकर भी इस निषेध का उल्लंघन नहीं करना चाहते। सारांश यह कि किसी अँगरेज़ी अफसर पर गुप्त वा अनुचित रीति से निहोरा डालने का यत्न न करना चाहिए।

रेजिडेंट को जो बातें बतलाई या लिखी जायँ वे बिलकुल जँची हुई और सच्ची हों। इसमें कसर होने से विश्वास की हानि होती है।

रेजिडेंट को जो बात बतलाई या लिखी जाय वह पूर्ण शिष्टता और शान्ति के साथ। जहाँ मतभेद प्रकट करना हो वहाँ इसका और भी अधिक ध्यान रक्खा जाय।

कभी कभी कुछ बातों में मतभेद भी होगा। बहुत सी बातें तो जाँच, पूछताछ और सोच विचार करने से तय हो जायँगी। कुछ बातों में मिलकर निपटेरे की राह निकालनी होगी। बाकी और छोटे छोटे मामलों में एक को दूसरे की बात मानने ही से बनेगा।

पर कुछ मामले ऐसे भी आन पड़ेंगे जिनमें भारी भारी बातों का वारा न्यारा होगा और जिनमें मतभेद भी अधिक होगा। ऐसे मामलों में गहरी लिखापढ़ी की जरूरत होगी। ऐसे मामलों में महाराज की ओर उनका मत प्रकट करने के लिए जो पत्र भेजे जायँ वे बड़ी सावधानी से लिखे जायँ जिसमें जब वे अँगरेज़ सरकार के ऊँचे अधिकारियों के हाथ में जायँ तब उनका अभिलषित प्रभाव पड़े। ऐसे पत्र पूर्ण और अभिप्रायगर्भित हों; उनकी भाषा और ध्वनि शिष्ट और नम्र हो, उनमें लिखी बातें और दलीलें ठीक और स्पष्ट हों, और उनमें जिन सिद्धान्तों की आड़ ली गई हो वे ऐसे हों जिन्हें अँगरेज़ी सरकार स्वीकार करती हो।

यहाँ पर यह भी बतला देना आवश्यक है कि ऐसी लिखा पढ़ी के लिए वकील बैरिस्टर उपयुक्त नहीं होते जब तक उन्हें राजनीतिक पत्र व्यवहार का भी अभ्यास न हो। जिस ढंग से एक वकील जज को सम्बोधन करता है वह उससे कहीं भिन्न है जिस ढंग से राजा महाराजा अँगरेज़ सरकार को सम्बोधन करते हैं। कानूनी दलीलें काम में लाई जायँ पर ऐसी लिखा पढ़ी शासन विभाग के अनुभवी अधिकारियों ही के द्वारा होनी चाहिए।

जिन मामलों में मतभेद होगा उन्हें सेक्रेटरी ऑफ स्टेट आदि अँगरेज़ी राज्य के प्रधान अधिकारियों के पास भेजने से कभी कभी मनमोटाव हो जाना भी सम्भव है, पर इस इतने के लिए राजा महाराजों को अपना पक्ष न छोड़ना चाहिए। अपने

अधिकार और मान मर्यादा तथा प्रजा के हित की रक्षा के लिए उन्हें ऐसे मामलों को प्रधान अधिकारियों तक ले जाना चाहिए। इसके लिए अँगरेज़ी सरकार उन्हें किसी प्रकार का दोष न देगी, क्योंकि वह भी उनके मान और अधिकार को उसी तरह रक्षित रखना चाहती है जिस तरह अपने मान और अधिकार को।

यदि रेजिडेंट की न्याय बुद्धि में आवेगा तो जिन बातों के लिए महाराज प्रधान अधिकारियों के पास लिखेंगे उनका वह भी अपने पत्र में अनुमोदन कर देगा। क्योंकि सच पूछिए तो रेजिडेंट दोनों ओर का प्रतिनिधि है। अँगरेज़ी सरकार का नफा नुकसान देखनेवाला भी वही है और देशी रियासत का भी। यदि देशी रियासत की ओर से कोई और प्रतिनिधि अँगरेज़ी सरकार के यहाँ होता तो बात दूसरी थी। पर रेजिडेंट ही सरकार का नफा नुकसान महाराज को बतलाता है और महाराज का नफा नुकसान सरकार को। इस कारण उसे दोनों पल्ले बराबर रखने चाहिए और निष्पक्ष रहना चाहिए। काम पड़ने पर उसे देशी रियासत के हित की भरसक रक्षा करनी चाहिए। हर्ष की बात है कि बहुत से रेजिडेंट ऐसे उच्चाशय देखे गए हैं कि उन्होंने अधिकारियों का थोड़ा बहुत कोप सहकर भी देशी रियासतों के हित की पूरी पूरी रक्षा की है।

बात यह है कि देशी रियासत को रेजिडेंट ही से काम पड़ता है। जैसा रेजिडेंट होगा अँगरेज़ी सरकार भी उन्हें वैसी ही समझ पड़ेगी। बादशाह की सारी घोषणाएँ और बड़े लाट के सारे उदार संकल्प उन्हें वहीं तक ठीक जान पड़ेंगे जहाँ तक रेजिडेंट उन्हें अमल में लावेगा। अतः रेजिडेंट को वह निःस्वार्थता, वह उदारता और वह न्यायप्रियता पूरी पूरी दिखानी चाहिए जिसके लिए अँगरेज़ी सरकार प्रसिद्ध है। जैसा स्वामी हो वैसा उसका प्रतिनिधि होना चाहिए।

सब भारी मामलों में महाराज के सामने उनकी कौंसिल वा सभा की पक्की सम्मति उपस्थित की जाय। यदि इस पर भी कोई भारी सन्देह की बात बनी रहे तो रेजिडेंट से सलाह लेनी चाहिए; वह निःस्वार्थ सम्मति देगा। यदि कोई भारी मामला हो तो उसके विषय में कोई सन्देह न रहने पर भी रेजिडेंट से राय ले लेना अच्छा ही होगा। पर जरा जरा सी बातों के लिए रेजिडेंट को तंग करना भी विचार और शासन शक्ति की न्यूनता प्रकट करेगा।

रेजिडेंट और महाराज के बीच कोई भारी बात झटपट जबानी न तय हो जानी चाहिए। दीवान को इतना समय मिलना चाहिए कि वह आगा पीछा विचारे, कुछ बातें बतलावे तथा कुछ अपनी सम्मति प्रकाशित करे।

यदि कोई बात जबानी तय भी हुई हो तो वह झटपट लिख ली जाय नहीं तो पीछे से बड़ी गड़बड़ी, भ्रान्ति और विरक्ति होगी। नियम तो यह होना चाहिए कि जब तक कोई बात कागज पर लिख न ली जाय तब तक यह तय न समझी जाय।

जब राजा महाराजा अपनी रियासत के कर्मचारी विवेक और सावधानी के साथ

चुनेंगे तब रेजिडेंट को उनकी मुक़र्ररी तरक्क़ी आदि के बारे में किसी तरह दख़ल देने की ज़रूरत न होगी।

रेजिडेंट के पत्रों के जवाब जल्दी भेजे जायँ। पर जो पत्र भारी मामलों के सम्वन्ध में हों उनका उत्तर सोच विचार कर दिया जाय।

इस नियम का ध्यान रखना चाहिए कि महाराज की ओर से अँगरेज़ सरकार के प्रधान अधिकारियों के पास जो पत्र भेजे जायँ वे रेजिडेंट की मारफत, बाला बाला नहीं।

राजा महाराजों को गुप्त कार्रवाइयों पर कभी विश्वास न करना चाहिए। कोई आकर महाराज से धीरे से कहेगा "मेरा बड़े लाट साहब पर बहुत कुछ ज़ोर है, मैं महाराज का काम करा सकता हूँ।" कोई कोई तो यहाँ तक आकर कहेंगे कि उनका जोर विलायत के अधिकारियों तक पर है। ऐसे लोग प्रायः ओछे होते हैं और झूठी बातें बनाकर रुपया झँसना चाहते हैं। ऐसे लोगों को पास न फटकने देना चाहिए क्योंकि वे केवल रुपया ही नहीं लेंगे बल्कि महाराज की बदनामी करेंगे।

रियासतों में सरकारी रेजिडेंट और उनके सहकारियों को कुछ अधिकार प्राप्त रहते हैं। राज्य तथा उसके कर्म्मचारियों को उनके इन अधिकारों में हस्तक्षेप न करना चाहिए।

सारांश यह कि राजा महाराजों को चाहिए कि सरकारी रेजिडेंट का उचित सम्मान करें, उससे मित्रता का व्यवहार रक्खें, और अपनी खरी और स्थिर नीति के द्वारा उसे अपना विश्वासी और सहायक बनावें।

**अन्तिम वक्तव्य**–अब यह अच्छी तरह स्पष्ट हो गया होगा कि भारी शक्ति वा अधिकार के साथ भारी जवाबदेही भी है। आजकल महाराजा का पद न अखण्ड सुख और भोग विलास के लिए है, न इसलिए है कि जनसमूह का जितना रुपया जिस तरह चाहे उस तरह उड़ाया जाय, न इसलिए है कि राज शक्ति का प्रयोग बिना किसी प्रकार के अवरोध के किया जाय और न इसलिए है कि जो महाराज के मन में आवे वही क़ानून हो जाय। आजकल राजसिंहासन पर एक प्रचण्ड ज्योति जग रही है। यह ऐसी ज्योति है जो प्रत्येक दोष को जनसमूह के सामने झलकाती है। यह ऐसी ज्योति है जिसने राजाओं के ऊपर कर्त्तव्य का भार बढ़ा दिया है।

आजकल राजा-महाराजा अपने कामों के लिए कई ओर जवाबदेह हैं, वे परमात्मा और अपनी आत्मा के निकट जवाबदेह हैं। वे निर्धारित सिद्धान्तों के निकट जवाबदेह हैं, वे अपनी प्रजा के निकट जवाबदेह हैं। वे अँगरेज़ी सरकार के निकट जवाबदेह हैं। वे शिक्षित समाज के निकट जवाबदेह हैं।

राजा महाराजों को सदैव अपने कर्त्तव्य का उच्च आदर्श रखना होगा। इसके लिए यह आवश्यक होगा कि उनके चारों ओर ऐसे सलाहकार हों जिनके कर्त्तव्य के आदर्श उच्च हों।

## तअल्लुकेदारों के लिए कुछ अलग बातें

**हिसाब किताब**–रसीद और चुकता हिसाब सब एक बही पर दर्ज होना चाहिए। पर खर्चों का सब ब्योरा अलग-अलग बहियों पर रहना चाहिए। जैसे इमारत का सब ख़र्च एक बही में रहे, अदालत का दूसरी बही में, भण्डारखाने का तीसरी में, निज का खर्च चौथी में, इसी प्रकार और भी। हर एक विभाग के लिए जितना रुपया दरकार हो वह छपे हुए चेक द्वारा, जिस पर मालिक का दस्तखत हो, राज्य के ख़ज़ाने से मँगा लिया जाय और जितना रुपया ख़ज़ाने से लिया जाय उस विभाग की बही पर चढ़ा लिया जाय। एक एक विभाग का हिसाब किताब एक एक मुहर्रिर के जिम्मे कर दिया जाय और वही उसका जवाबदेह रहे। अदालत के ख़र्च बर्च का हिसाब रखने के लिए अलग मुहर्रिर रखने की जरूरत नहीं है। जो रियासत का मुख़्तार आम हो वही अदालत के ख़र्च का सारा हिसाब किताब अपने जिम्मे रक्खे और महीने महीने उसे जाँच के लिए सदा कचहरी में भेजा करें। मुख़्तार आम हर महीने उन मुकदमों के ख़र्च की सूची भेजे जिनकी डिगरी हो गई हो, जो खारिज हो गए हों, और जो दायर हों।

इस ढंग पर चलने से सब हिसाबों का एक में गड्डबड्ड न रहेगा और मालिक एक एक मद के हिसाब की जाँच के लिए एक एक दिन मुकर्रर कर सकेगा।

फसल के समय अनाज भण्डारखाने में बराबर जमा हुआ करे। जो जिस भण्डारखाने में न हो वह बनियों से मोल ली जाय। जितनी चीजें बनियों से ली जायँ सबके लिए उन्हें छपे चेक दिए जायँ जिसमें हिसाब के समय यह झगड़ा न रह जाय कि किसके यहाँ से कितनी चीज आई है। बनिए बहुत समझ बूझकर लगाए जायँ। उन्हें लगाने का काम मुंशी मुहर्रिरों पर न छोड़ दिया जाय क्योंकि वे अपने ही मेल जोल के आदमियों को लगावेंगे। रियासतों में एक बात बड़ी विलक्षण देखने में आती है। हिसाब किताब रखने के लिए मुहर्रिर तो बहुत से रक्खे जाते हैं पर उनकी जाँच करनेवाला ख़ुद मालिक ही रहता है। विचारने की बात है कि उसके लिए इतने हिसाबों को ठीक ठीक जाँचना कितना कठिन है। इसलिए यह आवश्यक है कि हिसाब किताब जाँचने के लिए कई विश्वासपात्र आडिटर रक्खे जायँ।

भारी भारी चीजों की खरीददारी के लिए बड़ी बड़ी दूकानों ही से व्यवहार रखना ठीक है। जो चीजें मँगानी हों उनके लिए मालिक खुद अपने हाथ का पुरजा भेज दे जिसमें बीच के लोगों को खाने की जगह न रहे। भारी भारी दूकानें दाम तो जरूर थोड़ा अधिक लेती हैं पर चीजें बढ़ियाँ देती हैं जिससे खरीददार घाटे में नहीं रहता। चीजें मँगाने के लिए जो चिट वा आर्डर भेजे जायँ उनकी नकल एक बही पर रहे।

**प्रबन्ध-समिति**–बड़े बड़े योग्य और विश्वासपात्र कर्मचारियों का भी बिना डर दाब के रहना ठीक नहीं और मालिक हर एक काम के ब्योरों की जाँच आप नहीं

कर सकता इसलिए यदि रियासत के कर्मचारियों और प्रतिष्ठित रईसों में से कुछ लोगों को चुनकर एक प्रबन्धसमिति वा कमेटी बना दी जाय तो मालिक सब हिसाब किताब और कागज पत्रों को देखने के झंझट से बच जायगा। रियासत के निवासी यदि अच्छी तरह शिक्षित न होंगे तो भी उस जगह की सब बातें उनकी जानी बूझी रहेंगी इससे वे बड़े काम के होंगे। मालिक को कमेटी के मेम्बरों की राय जानने से बहुत लाभ होगा और वे निश्चय भी कर सकेंगे कि कौन राय ठीक है। ऐसी कमेटी बनाने में कुछ ख़र्च भी नहीं है, क्योंकि रियासत के जो प्रतिष्ठित रईस हैं उन्हें कुछ न कुछ लाभ रियासत से पहुँचता ही है अतः उन्हें वेतन देने की आवश्यकता नहीं है।

**गाँवों का ठेका**–काश्तकारों से सीधे लगान वसूल करने की अपेक्षा गाँवों को ठेके पर देना अच्छा है। इससे जमा भी सहज में वसूल हो जाती है, हिसाब किताब जाँचने का उतना बखेड़ा नहीं रहता और रियासत के नौकरों को रुपया कमाने का भी अवसर नहीं मिलता। कुछ लोग ठेकेदारों के जुल्म के कारण इस रीति को अच्छा नहीं समझते पर मेरी समझ में जमींदारों के सिपाही जितनी आफत मचाते हैं उतनी ठेकेदार नहीं, यदि वे समझ बूझकर चुने जायँ। यदि किसी गाँव का ठेका देना है तो उस गाँव में जो सबसे सम्पन्न और भलामानुस काश्तकार हो उसी को ठेका दे दिया जाय, यदि आवश्यकता हो तो उससे कुछ जमानत भी ले ली जाय। जहाँ तक हो सके छोटी छोटी मियाद के ठेके न दिये जायँ। ठेकेदार रियासत के बाहर के आदमी न हों। अपने नौकरों और सम्बन्धियों को ठेका न देना चाहिए। जहाँ तक हो सके ठेके छोटी जाति के लोगों को, जैसे – कुरमी, काछी, कोयरी आदि को दिए जायँ, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि ऊँची जाति के लोगों को नहीं। ठेकेदार से गाँव के मुनाफे की पाईपाई न वसूल कर ली जाय कुछ गुंजाइश उसके लिए भी रक्खी जाय। यदि ठेके में कुछ लाभ रहेगा तो एक के छोड़ने पर उसके लिए कई आदमी दौड़ेंगे। इस प्रकार लगान वसूल करने के ख़र्च की बचत होगी, उपजाऊ जमीन भी अधिक निकलेगी हर तरह रियासत को लाभ ही होगा। किसी ठेके की मियाद जब पूरी हो जाय तब यदि कोई हर्ज न हो तो पहले ही ठेकेदार को फिर ठेका दिया जाय। थोड़े से और मुनाफे के लिए किसी नए आदमी को देना ठीक नहीं।

ठेका देते समय गाँव का मुनाफा देख लिया जाय फिर उसमें से ठेकेदार के लिए कुछ परता निकालकर ठेका दे दिया जाय। जितने पट्टे और कबूलियत हों सब स्टैंप पर हों, और फाइल की किताब में अक्षर क्रम से लगे रहें।

**नौकरों को लगाना**–आदमी कैसा ही योग्य हो वह सब काम आप नहीं कर सकता। अच्छा काम कराने के लिए अच्छे नौकर चाहिए और अच्छे और विश्वासपात्र नौकर मिलना सहज बात नहीं है। अच्छे नौकर भी बिना डर दाब के अच्छा काम नहीं करेंगे। स्वामी की बुद्धिमानी इसी में है कि वह एक एक जगह के लिए उपयुक्त

नौकर चुने, क्योंकि यह सम्भव नहीं कि एक ही आदमी में सब आवश्यक गुण हों। कोई आदमी एक काम के लिए उपयुक्त है और दूसरे काम के लिए नहीं। समझदार मालिक अपने नौकर की कदर एक गुण के लिए भी करेगा और उसके उसी गुण से लाभ उठावेगा। जिस तरह चतुर बढ़ई यह जानता है कि अपने किस किस औजार से कौन कौन काम लेना चाहिए। उसी तरह चतुर स्वामी इस बात को जानता है कि अपने किस किस नौकर से कौन कौन काम लेना चाहिए। पर वह एकबारगी उन्हीं के विश्वास पर सब काम नहीं छोड़ देता। वह उनका नित्य का काम देखकर उन पर धीरे धीरे विश्वास करता है। जहाँ तक हो पुश्तैनी नौकर रखना अच्छा है। चाहे वे योग्यता में औरों से कुछ घटकर भी हों, क्योंकि नए आदमियों की अपेक्षा पुश्तैनी नौकर मालिक से अधिक प्रेम रखते हैं। जबकि कोई नौकर अपना काम अच्छी तरह कर रहा है तब उसके विरुद्ध छोटी छोटी शिकायतों को न सुनना चाहिए। छोटे बड़े हर एक राज्य में कुछ कुचक्री धूर्त रहते हैं जो सदा अपने लाभ के लिए इन्तजाम में अदल बदल चाहते रहते हैं। ये कुटिल नीतिवाले लोग इसी यत्न में रहते हैं कि मालिक सब काम अपने हाथ में ले ले, क्योंकि वे जानते हैं कि ऐसा होने से खूब अँधाधुंध रहेगी और अपना अर्थ साधने का अच्छा मौका मिलेगा।

कुचक्री नौकर को निकाल देना चाहिए, क्योंकि यदि एक आदमी ऐसा रहेगा तो वह सब आदमियों को बिगाड़ देगा। यहाँ तक कि वह धीरे धीरे सब नौकरों का अगुवा और सलाहकार हो जायगा और सब नौकर उसके पास यह सीखने जाया करेंगे कि मालिक को कब और किस ढंग से धोखा देना चाहिए। वह अपने नए चेलों को सिखा देगा कि यदि कोई नौकर मालिक को लूटने का कोई ढंग रचता हो तो उसका भेद न खोलना।

पूरे ईमानदार और योग्य नौकरों का मिलना बहुत कठिन है, क्योंकि सब मालिकों की अवस्था ऐसी नहीं होती कि वे नौकरों को भरपूर तनख्वाह दे सकें। यदि कोई नौकर अपने मालिक के लाभ का बराबर ध्यान रखता है और थोड़ा अपना भी लाभ करता है तो उसे छेड़ना न चाहिए। पूरे ईमानदार नौकरों को छोड़ दो प्रकार के और नौकर होते हैं। कुछ तो ऐसे होते हैं जो बराबर अपने मालिक का लाभ देखते हैं और दूसरों को उसे लूटने नहीं देते, चाहे आप थोड़ा बहुत लाभ उठा लें। पर कुछ ऐसे होते हैं जो मालिक को आप भी लूटते हैं और दूसरों को भी लूटने देते हैं। ऐसे लोगों पर उनके मातहत और साथी बड़े प्रसन्न रहते हैं। कोई कभी उनकी शिकायत नहीं करता। कुछ नौकर ईमानदार तो होते हैं पर चिकनी चुपड़ी बातों में आ जाते हैं। ऐसे लोग रिश्वत लेनेवालों से भी बुरे होते हैं। दो चार चिकनी चुपड़ी बातें ही जिनके लिए रिश्वत है उन पर कहाँ तक विश्वास रखा जा सकता है।

यह भी आवश्यक है कि नौकर कई भिन्न भिन्न जातियों और धर्मों के रखे जायँ जिसमें वे गुट न बाँधने पावें। सब बुराइयाँ खाली बैठने से होती हैं। इससे

नौकरों को पूरा काम देना चाहिए जिसमें उन्हें तरह तरह की चालें सोचने का समय न मिले।

चालबाज नौकरों का यह भी एक ढंग है कि वे दिखाने के लिए आपस में झूठमूठ की लड़ाई किया करते हैं, यद्यपि भीतर ही भीतर सब एक रहते हैं। सब विभागों के अलग अलग अफसर हों। मातहत नौकरों को जो शिकायतें करनी हों उन्हीं की मारफत करें। मालिक उन्हीं से सब बातें सुने। जहाँ ऐसी ही कोई बात आ जाय वहाँ मातहत नौकरों को सीधे अपने पास आकर कहने सुनने दे। छोटे नौकर औरों को अपना महत्त्व दिखाने के लिए जो बात हुई उसे सीधे मालिक के पास जाकर कहना बहुत पसन्द करते हैं। जहाँ वे एक बार ऐसा करने पाये कि नाकों दम कर देंगे। फिर मालिक को रसोईदारों, खिदमतगारों, चपरासियों, कोचवानों और साईसों के झगड़े आप निपटाने पड़ेंगे और यदि सबके सब सलाह करके नौकरी छोड़ देंगे तो नौकर भी खुद ढूँढ़ना पड़ेगा। पर यदि ऐसे छोटे मोटे काम वह भिन्न भिन्न विभागों के अफसरों पर छोड़े रहेगा तो उसे अच्छे अच्छे काम करने का समय मिलेगा।

**संगत**–यह एक पुरानी कहावत है कि "जैसी संगत वैसी बुद्धि"। इससे साथी चुनने में बड़ी सावधानी करनी चाहिए जो लोग दिहात में रहते हैं उन्हें अच्छी संगत मिलना बड़ा कठिन होता है, इससे बड़े बड़े धनियों और रियासतदारों को भी अपने नौकर चाकरों का साथ करना पड़ता है जिसका फल बहुत बुरा होता है। इस देश के रईसों के यहाँ यह बड़ी बुरी चाल है कि वे अपने लड़कों को नौकर चाकरों के लड़कों का साथ करने देते हैं। धीरे धीरे नौकर चाकरों के ये ही लड़के मालिक के लड़कों के गहरे दोस्त हो जाते हैं और उन पर बहुत कुछ जोर रखने लगते हैं। उनके माँ बाप इसके लिए उन पर बहुत प्रसन्न होते हैं और उनके द्वारा अपना काम निकालना चाहते हैं। खिदमतगारों के ये लड़के आगे चलकर इतने इतरा जाते हैं कि अपने को मालिकों के बराबर समझने लगते हैं और राजकाज के मामलों में दखल देने लगते हैं। फिर तो बिना इनके माने जाने योग्य से योग्य मैनेजर वा सेक्रेटरी की खैरियत नहीं।

मालिक की लड़कियों का जब ब्याह होता है तब उनके साथ उनसे हिली मिली कुछ लौंड़ियाँ वा नौकरों की लड़कियाँ की जाती हैं। ये वहाँ भी अपना जोर रखना चाहती हैं और कभी कभी घर के प्राणियों में झगड़ा लगा देती हैं।

अस्तु, उत्तम उपाय तो यह है कि अपने सम्बन्धियों वा प्रतिष्ठित पड़ोसियों के लड़कों में से कुछ अच्छे लड़कों को चुनकर उन्हें अपने लड़कों के साथ शिक्षा पाने के लिए कर दे। यदि यह न हो सके तो अपने कर्मचारियों के लड़कों में से चुनें। सारांश यह कि छोटे छोटे नौकर चाकरों को अपने लड़कों के साथ बहुत हेल मेल न बढ़ाने देना चाहिए।

**मनबहलाव**–केवल समय काटने के लिए ही नहीं बल्कि स्वास्थ्य के लिए भी

थोड़ी बहुत कसरत, खेलकूद वा मनबहलाव जरूरी है। पर ध्यान इस बात का रहे कि कहीं इन बातों की धुन न हो जाय। कसरत और खेलकूद का मतलब इतना ही है कि स्वास्थ्य की रक्षा रहे जिससे काम अच्छी तरह हो सके और मनबहलाव इसलिए है कि लगातार एक ही काम को करते करते जी भी न ऊबे और समय भी बिलकुल खाली न जाय। जहाँ मनबहलाव का कोई उचित प्रबन्ध नहीं रहता वहाँ लोग, विशेषकर रईसों के लड़के, बुरी संगत में पड़ जाते हैं और धीरे धीरे उन्हें कुछ ऐसे व्यसन लग जाते हैं जिनके कारण वे अपना और अपने घर का सत्यानाश करके रख देते हैं। इसी से कसरत और खेलकूद के सिवाय लिखना, पढ़ना, चित्रकारी और संगीत आदि भी मनबहलाव के लिए चाहिए। राजाओं और रियासतदारों के लड़कों को प्रायः दिहात में रहना पड़ता है इससे इसका ध्यान रखना चाहिए कि उनके मनबहलाव के लिए अच्छी अच्छी बातें हों और वे नौकर चाकरों के लड़कों के साथ बहुत हेल मेल न बढ़ाने पावें।

□□□

## आ. रामचन्द्र शुक्ल

**जन्म**–4 अक्टूबर 1884 ई., अगौना, बस्ती (उ.प्र.)
प्रारम्भिक शिक्षा घर पर। मिर्जापुर (उ.प्र.) के एंग्लो-संस्कृत जुबली स्कूल से 1898 ई. में मिडिल और लंदन मिशन स्कूल से 1901 ई. में स्कूल फाइनल परीक्षा पास।

1901 ई. में इलाहाबाद के कायस्थ पाठशाला में इंटरमीडिएट के लिए नामांकन पर असफल।

1902 ई. में प्लीडरशिप परीक्षा की तैयारी पर असफल। 1903 में आनंदकादंबिनी के सम्पादक।

1904 ई. में लंदन मिशन स्कूल मिर्जापुर में ड्राइंग टीचर। 1908 ई. में हिन्दी शब्दसागर के सहायक सम्पादक। 1919 ई. में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अध्यापक, 1937 ई. में हिन्दी विभागाध्यक्ष।

**मृत्यु**–2 फरवरी सन् 1941, रात्रि साढ़े नौ बजे के आसपास।

**साहित्य सर्जना**–मधुस्रोत, ग्यारह वर्ष का समय, श्री राधाकृष्णदास, गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, मलिक मुहम्मद जायसी, रसमीमांसा, हिन्दी साहित्य का इतिहास, चिंतामणि (चार भागों में)।

**अनुवाद कार्य**–मेगास्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन, राज्यप्रबन्ध शिक्षा, आदर्श जीवन, विश्वप्रपंच, बुद्धचरित, शशांक।

अंगरेजी में भी कुछ लेख और एक पुस्तिका प्रकाशित। कई गम्भीर अंगरेजी लेखों का हिन्दी अनुवाद।

## ओमप्रकाश सिंह

**जन्म**–सन् 1958 ई., टड़वाँ, जौनपुर (उ.प्र.)

आरम्भिक शिक्षा गाँव और आसपास के विद्यालयों में। उच्च शिक्षा काशी विश्वविद्यालय वाराणसी में। अक्टूबर 1988 से नवम्बर 1990 ई. तक एनसीईआरटी, नयी दिल्ली में कार्य।

दिसम्बर 1990 ई. से ज.ने.वि., नयी दिल्ली के भारतीय भाषा केन्द्र में अध्यापन और शोध।

**रचनाएँ**

* आदिकाल एवं मध्यकाल के प्रमुख हिन्दी कवि,
* प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में हिन्दू-मुसलिम सम्बन्ध,
* प्रेमचन्दोत्तर कथा-साहित्य और साम्प्रदायिक समस्याएँ,
* आधुनिक काव्यधारा : विचार और दृष्टि
* चिंतामणि भाग-4 (सम्पादन)

**सम्पर्क**–वार्डेन फ्लैट-II, नर्मदा, ज.ने.वि., नयी दिल्ली-67।